નૈયાયિકપ્રવરાણાં શ્રીવાસિષ્ઠત્રિપાઠિમહોદયાનાં
કરકમલયોઃ સાદરં સમર્પયતિઃ—
મહાપ્રભુલાલ ગોસ્વામી
25/8/93

मिथिला शोध संस्थान ग्रन्थमाला

नवीन ग्रन्थावली

संख्या–१०

मिथिला शोध संस्थान ग्रन्थमाला नवीन ग्रन्थावली–१०

"विवरण का समीक्षात्मक एवं भामती के साथ तुलनात्मक अध्ययन"

लेखक

डा० महाप्रभु लाल गोस्वामी,

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट

भूतपूर्व प्राध्यापक,

मिथिला संस्कृतशोधसंस्थान, दरभंगा ।

भूतपूर्व आचार्य एवम् अध्यक्ष, तुलनात्मक दर्शनविभाग,

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

डा० श्रीधर त्रिपाठी

एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

निदेशक,

मिथिला संस्कृतशोधसंस्थान, दरभंगा द्वारा प्रकाशित ।

शकाब्द–1909 विक्रमाब्द–2044 सन्–1987

Mithila Institute Series Modern Text No.-10

VIVARAṆA KĀ SAMĪKṢĀTMAKA EVAIN BHĀMATĪ KE SĀTHA TULANĀTMAKA ADHYAYANA

By
Dr. MAHAPRABHULAL GOSWAMI
M. A., Ph. D., D. Litt.
Former Lecturer,
Mithila Research Institute, Darbhanga
and
Ex-Prof. & Head of the Deptt.,
Comparative Philosophy,
Sampoornanand Sanskrit University, Varanasi

Published by
Dr. SHRIDHAR TRIPATHI
M. A., Ph. D., D. Litt.

Director,
Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, Maheshanagar, Darbhanga.
1987

Copies of this Volume can be had of the Director, Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, Maheshanagar, Darbhanga on payment of Rs. 45=00 by M. O. or Postal Order or Cash.

[Thesis approved for the award of Ph. D. degree of the University of Bihar, Muzaffarpur in 1968.]

Printed at Hindsutan Press, Laheriasarai, Mithila Press, Darbhanga and Shree Lakshmi Press, Muzaffarpur and Published by Dr. S. Tripathi, Director, Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning, Maheshanagar, Darbhanga.

THE GOVERNMENT OF BIHAR established the *Mithila Institute* of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga in 1951 with the object, *inter-alia*, to promote advanced studies and research in Sanskrit learning, to bring together the traditional Pandits with their profound learning and the modern scholars with their technique of research and investigations, to publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the five others planned by this Government as a token of their homage to the tradition of learning and scholarship for which ancient Bihar was noted. Apart from the Mithila Institute, three others have been established and have been doing useful work during the last three or four years—Nalanda Institute of Research and Post-Graduate Studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda, K. P. Jayaswal Research Institute at Patna, and the Bihar Rashtra Bhasha Parishad for research and advanced studies in Hindi at Patna. In the establishment of the Mithila Institute the State Government received a generous donation from the Maharajadhiraja of Darbhanga for construction of the building on a plot of land also donated by him.

As part of this programme of rehabilitating and re-orientation of ancient learning and scholarship, the editing and publication of this volume has been undertaken with co-operation of scholars in Bihar and outside. The Government of Bihar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fulness of time.

जैमिनीय कर्ममीमांसा में उपवर्षवृत्ति और शाबर भाष्य में जैमिनीय सूत्रों की वृत्ति और अन्यथा प्रतिपादन देखा गया है। शबरस्वामी ने अपने भाष्य में स्पष्ट कहा है कि "लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि, तानि सति सम्भवे तदर्थान्येव सूत्रेषु इति अवगन्तव्यम्।" (शा० भा० पृ० १) शाङ्करभाष्य में भी इसी का अनुसरण है, कुछ नवीन अन्यथा आचरण नहीं है।

यह विचारणीय है कि वेदान्त में उपदिष्ट ब्रह्म के विषय में किसी को द्वैतबुद्धि, किसी को अद्वैतबुद्धि तथा किसी को द्वैताद्वैत बुद्धि होती है। कर्मोपासना के विषय में भी इसी प्रकार मतभेद उपलब्ध होता है। अतः, व्यास की वेदार्थविषयिणी बुद्धि, उनके संस्कार के अनुरूप स्वीकार करने में क्या आपत्ति है? संस्कार को छोड़कर सामान्याकार बुद्धि सम्भव नहीं है। इसलिए, वेदान्तार्थ का अनुसरण करते हुए व्यास ने स्वमत का ही प्रदर्शन किया है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं हैं। ज्ञेय वस्तु में दो मत देखे जाते हैं। (१) ज्ञेयनियत, (२) आपेक्षिक। घट में घटत्व ज्ञेयनियत है, और क्षुद्रत्व वृहत्त्व आदि एवं हेयत्व उपादेयत्व आदि परापेक्ष है। घटत्व में ऐकमत्य है और हेयत्वादि में ज्ञानभेद प्रसिद्ध है। इसलिए वेदान्त का अद्वैतब्रह्म में तात्पर्य यदि तात्पर्य है, तब वहाँ अद्वैतबुद्धि ही उचित है, इसमें संस्कार के अनुप्रवेश की कल्पना ठीक नहीं है। ज्ञाता के अधीन धर्मों से वस्तु के स्वरूप की अन्यथा कल्पना उचित नहीं है। यदि वेदान्त का द्वैतब्रह्म या विशिष्टाद्वैत ब्रह्म में तात्पर्य है तो उसका वैसा ही ज्ञान क्यों नहीं होता है। संस्कार के बल पर घट को पट नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि वेदान्तार्थ में पौरुषेयत्वगन्धलेश प्रवेश की शङ्का सम्भव नहीं है। इसीलिए आचार्य शङ्कर ने कहा है— "वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणामिति"। (शा० भा० १।१।२)

व्यास ने ही श्रुति के अर्थ की अवगति की, अन्य ने नहीं—इसमें क्या प्रमाण है? श्रुति का अवलम्बन कर ही ऋषियों में मतभेद देखा जाता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि श्रुति के अर्थ के विषय में ऋषियों का मतभेद अपरिहार्य स्वमतप्रवेश के कारण है, अतः जो अधिगत होता है, वह स्वमतप्रभाव से प्रभावित रूप में ही अधिगत होता है। ब्रह्मसूत्रों में इच्छा या

अनिच्छा से व्यासमत का ही प्रकाश किया गया है। आपात दृष्टि से यह रमणीय होने पर भी ऊहापोह करने पर यह मत असङ्गत ही है। क्योंकि सर्वमान्यश्रुत्यर्थज्ञान प्रमाणसापेक्ष है, इच्छासाध्य या आकस्मिक नहीं है। आत्मसंयुक्त मनःसंयुक्त इन्द्रियसन्निकृष्ट घट से उसका ज्ञान अवश्यम्भावी है। जैसे घटज्ञान के साथ ही सकलघटसाधारण घटत्व का भी ज्ञान होता है, वैसे ही श्रुतियों के अर्थों में श्रुति के तात्पर्य के रूप में कुछ ज्ञान अवश्य ही होता है। इसलिए यह मानना होगा कि व्यासमत ही ब्रह्मसूत्र के द्वारा व्यक्त है—यह कल्पना ठीक नहीं है।

व्यास का कथन ही श्रुति के अर्थ का अनुसरण करता है, यह सर्वथा समीचीन है। क्योंकि, व्यास ने श्रुति का ही प्रामाण्य कहा है, अनुमानादि को उसका सहकारी ही माना है, फलस्वरूप श्रुति की ही प्रधानता सिद्ध होती है, अतः, श्रुत्यर्थ में पुरुषबुद्धि के प्रवेश का अवसर ही नहीं आता है। कपिल आदि महर्षियों ने श्रुतिभिन्न योगिप्रत्यक्ष और अनुमानादि के आधार पर अपने सिद्धान्त को स्थिर किया है। बादरायणसूत्रों में उनका खण्डन अपनी प्रज्ञा के आधार पर प्रदर्शित सिद्धान्तों का ही किया गया है, जो श्रुत्यर्थविरोधी है। श्रुत्यनुकूल सिद्धान्त में विरोध का अवसर ही कहाँ है।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय है कि सांख्य आदि दर्शनों के प्रणेता कपिल आदि को श्रुति के अर्थों का ज्ञान नहीं था या भ्रान्त ज्ञान था—यह कल्पना उचित नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के प्रति अतिशय अनुराग रखनेवाले एवं श्रुति के स्वरूपों से अनभिज्ञ साधारण व्यक्तियों के लिए मोक्षमार्गप्रदर्शन तथा सहज बुद्धिगम्य अर्थों के प्रदर्शन के लिए सामान्य अंशों का ही विश्लेषण प्रस्तुत किया है। श्रुतिप्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से बलवान है, यह साधारण व्यक्तियों के लिए बोधगम्य नहीं है। तत्त्वज्ञान मोक्ष का उपाय और निरतिशय तथा अशेष दुःखनिवृत्ति मोक्ष का उदय है। दार्शनिक दृष्टि से इसके पुरुषार्थ मानने में कोई मतभेद नहीं है। अनावृत्तिदुःखराहित्यरूप पुरुषार्थ में कपिल आदि का भी समर्थन प्राप्त है। किन्तु, अलौकिक विषय में श्रुति के समान ही योगिप्रत्यक्ष और अनुमानादि को भी

प्रमाण माना है। वेदान्त में सूक्ष्मदृष्टि, चित्तैकाग्र्य, गुरुभक्ति, वैराग्य शास्त्र-विश्वासादि की श्रुतितात्पर्यभूतनिर्विशेष ब्रह्म ज्ञानाधिकार सम्पादन के लिए एकान्तरूप से अपेक्षा है। अतः, प्राकृतजनों की दृष्टि प्रदर्शित अकिञ्चित्कर सिद्धान्तों का ही खण्डन यहां किया गया है। इसीलिए श्रुति के अर्थों की अनभिज्ञता उनमें नहीं है। श्रुतिप्रतिपाद्य अलौकिक विषय लौकिक प्रमाण-गोचर नहीं है। श्रुति से प्रतिपाद्य ब्रह्म असङ्ग, निर्विशेष, अद्वैतवस्तु है, पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय और प्रमेय नहीं है। ज्ञेयत्व और प्रमेयत्वज्ञाता, ज्ञेय प्रमाता और प्रमेय के भेद के अस्तित्व के अधीन है। श्रुति का भी प्रामाण्य निषेध-मुख से है, विधिमुख से नहीं है। अद्वैत ब्रह्मज्ञान घटादि ब्रह्मज्ञान के समान ज्ञान नहीं है। ब्रह्म वृत्तिव्याप्य है फलव्याप्य नहीं है। घटादि दोनों ही है। वृत्तिविषयता ही वृत्तिव्याप्यता है और भग्नावरणचिद्विषयता फलव्याप्यता है। ब्रह्म स्वप्रकाश एवं सर्वावभासक है, अतः उसमें फलव्याप्यता नहीं है। वृत्ति ब्रह्माकार होने की दशा में क्रमशः विलुप्त हो जाती है, क्योंकि, ब्रह्म निराकार है। आंशिक वृत्तिविलोपानुभवजन्य संस्कार के बल से सम्यक् अद्वैत ब्रह्मज्ञान होने पर वृत्ति के निरवशेष विलोप का अनुमान या कल्पना की जाती है। श्रुति के प्रमाण से ही विलोपात्मिका पुनरावृत्ति से परिशून्य अद्वैत ब्रह्माकारता सम्भावित है। युक्ति से इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। असङ्ग, अद्वैत, अखण्ड, अनन्त, निर्गुण, निष्क्रिय, अवाङ्मनस-गोचर, अज्ञेय, अप्रमेय, निर्विशेष आदि निषेधमुख से से ब्रह्मपरिचायक श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म की वृत्तिव्याप्यता सम्भव है। अतः, यह मानना होगा कि श्रुतितात्पर्यभूत अद्वैत ब्रह्म में श्रुति का ही प्रामाण्य है। इसी दृष्टि से ब्रह्म प्रमेय श्रुतिप्रमाणक है। इसीलिए 'तं तु औपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' यह श्रुति और 'शास्त्रयोनित्वात्' यह समन्वित होता है।

ब्रह्मसूत्रों में जैमिनि, कार्ष्णाजिनि, बादरि, काशकृत्स्न आत्रेय औडुलोमि आदि महर्षियों के साथ बादरायण ने अपना नाम देकर स्वमत का भी प्रवेश किया है। अतः ब्रह्मसूत्रों में वेदान्तमत ही वर्णित है, व्यास के स्वमत का वर्णन वहाँ नहीं है—यह कथन समीचीन नहीं है। शिष्यबुद्धिवैशद्य के लिए ही जिन श्रुतियों में अर्थविश्लेषण में मतभेद है, उन मतों का निर्देश

कर उनका खण्डन प्रस्तुत किया गया है। अपने नाम का उल्लेख ऋषियों के विभिन्न मतों के साथ श्रुतितात्पर्य के अविरोधस्थल में ही स्वमतप्रदर्शन के लिए किया गया है, अन्यत्र नहीं किया गया है। जिन श्रुतियों के अर्थ-विश्लेषण में मतभेद नहीं है वहाँ श्रुति का तात्पर्य ही ब्रह्मसूत्रों में विवृत है, स्वमत का उल्लेख नहीं है। अतः व्यासमत के प्रदर्शन करने में उनके स्वनामोल्लेख का तात्पर्य नहीं है। वादरायण के मत में यदि श्रुतिसिद्धान्त का विरोध रहने पर वह मत भी आदरणीय होगा। श्रुतितात्पर्य ही व्यासमत हैं। किम्वदन्ती भी यही प्रमाणित करती है कि श्रुतितात्पर्य ही व्यासमत है। हिमालय प्रदेश के उत्तर काशी स्थान में शङ्कर और व्यास में सूत्रार्थ का पर्यालोचन हुआ था; व्यास ने शाङ्करभाष्य देखकर कहा था—मेरी सूत्ररचना में दोपारोपण किया है। किन्तु, मुझे इसका दुःख नहीं है, क्योंकि, आपने मेरे आशय को ही उद्‌घाटित किया है। ("अहो मम सूत्ररचनासु दोषारोपः कृत इति क्वचिद् दृश्यते, तथाप्ययं न दुनोति माम्, यतो भवता मदाशय एव उद्‌घाटितः।) सभी आचार्यों ने यह तो स्पष्ट कहा है कि वेदान्तसम्मतयुक्ति के आधार पर विचार ही सकलवादिसम्मत है। रामानुजाचार्य प्रभृति ने भी वेदान्तव्याख्यानपूर्वक ही वेदान्तमत की स्थापना की है। सांख्य, योग, वैशेपिक बौद्ध जैन, शैव आदि मतों का खण्डन वेदान्तसिद्धान्त विरुद्ध होने से ही किया गया है। यद्यपि जैन, बौद्ध, ने वेदान्तमीमांसा नहीं की है, किन्तु बुद्ध से पूर्व २२ बुद्ध हो चुके हैं, गौतम का स्थान तेइसवाँ हैं। महावीर की परम्परा में भी ऋपभदेव से तेइस तीर्थङ्कर हुए, जिनमें अन्तिम महावीर हैं। ऋपभदेव की कथा श्रीमद्‌भागवत में भी उपलब्ध है। पाँच हजार वर्ष पूर्व कलि के आरम्भ में क्रकुच्छन्द नामक कोई बुद्ध था। इनके बाद कनकमुनि, अनन्तर कश्यप, अनन्तर गौतम बुद्ध हुए। लङ्कावतारसूत्र, महावस्तु, ललितविस्तर आदि ग्रन्थ दर्शनीय हैं। ब्रह्मसूत्र में प्राचीन बौद्धमत का खण्डन है, अतः इस आधार पर इसके आधुनिकत्व का सन्देह व्यर्थ हैं। विष्णुपुराण के तृतीयांश का १७ और १८ अध्याय द्रष्टव्य है। वेदान्तसार के अनुसार कतिपय, वैदिक बौद्धों की चर्चा उपलब्ध होती है। "बौद्धस्तु अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः (तै० २/४/१) इत्यादिश्रुतेः, कर्तुःअभावे कारणस्यशक्त्यभावात्, अहं

कर्त्ता, अहं भोक्ता इत्याद्यनुभवाच्च बुद्धिः आत्मा इति वदति। अपरो बौद्धः असदेव इदमग्र आसीत् (छा० ६/२/१) इत्यादिश्रुतेः, सुषुप्तौ सर्वाभावात् 'अहं सुप्तः सुषुप्तौ नासम्' इति उत्थितस्य स्वभावपरामर्शविषयानुभवात् च 'शून्यम् आत्मा' इति वदति।[१]

आचार्य मधुसूदन ने भी वेदान्तकल्पलतिका में मोक्ष के विषय में २१ मतों का संग्रह प्रस्तुत किया है। प्राकृतलोक का अनुसरण करनेवाला लोकायतिक मनुष्यत्वादिविशिष्टभूतचतुष्टयसंघात को ही चैतन्य मानकर अनेक आगम, पुराण, अनुमान आदि प्रमाणों से समर्थित तथा प्रसिद्ध देह आदि से व्यतिरिक्त चेतन को बन्धमोक्ष के भागी चेतन का अपलाप करते हैं, क्योंकि, अशुद्ध ज्ञान एवं प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण की अस्वीकृति ही उनके मतिभ्रम का कारण है। इस दर्शन में मोक्ष की आशा ही व्यर्थ है।

डा० महाप्रभु लाल गोस्वामी
भूतपूर्व, प्राधाध्यापक
मिथिला संस्कृत शोध संस्थान,
दरभंगा।

---

(१) इसके विशेष विवरण की जानकारी के लिए वेदान्तसार पर मेरा हिन्दी व्याख्यान का अवलोकन करें।

विषय–सूची

			पृष्ठसंख्या
१.	भूमिका		i—xiii
२.	वाचस्पति मत में श्रवणविधि विचार	...	१—२८
३.	विधि विचार और कल्पतरु परिमल	...	२९—६८
४.	स्वाध्यायविधि का अक्षरग्रहणार्थकत्वविवेचन	...	६९—१३३
५.	स्वाध्यायविधि और प्रभाकर-मत	...	१३३—१४९
६.	ब्रह्म साक्षात्कार में भामती एवं विवरणमत की समीक्षा	...	१५०—१७४
७.	शब्दापरोक्षमीमांसा	...	१७५—२०३
८.	ब्रह्मजिज्ञासासूत्र में अध्यास का मूलाधारत्व-विवेचन	...	२०४—२१७
९.	विवरणाचार्य-मत-सम्मत अध्यास का पूर्व-पक्ष	...	२१८—२६१
१०.	अध्यास में उपादान का निरूपण	...	२६२—२८०
११.	ब्रह्मजिज्ञासा में वाचस्पति मिश्र के अनुसार मूलाधारत्व का विवेचन	...	२८१—३६२
१२.	विवरणानुसार अध्यास का सिद्धान्त-पक्ष	...	३६३—४७६
१३.	भामती-मत में कर्म का उपयोग	...	४७७—५२८
१४.	विवरणाचार्य के मत में अविद्या के आश्रयत्व-विषयत्व का निरूपण	...	५२९—५६५
१५	अवच्छेदवाद एवं प्रतिबिम्बवाद का विवेचन	...	५६६—६२१

पुरोवाक्

अद्वितीय, सत्यज्ञानानन्दस्वरूप, अनन्त, असङ्ग नित्य ब्रह्म और उसके ज्ञानसे मोक्ष ये अलौकिक विषय हैं। इस अलौकिक विषय में अनादि श्रुति ही प्रमाण है। श्रुतिसिद्धान्त के ज्ञापन के लिए भगवान् नारायणावतार कृष्णद्वैपायना-परनामक महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की। द्वापर के अन्त, कलि के प्रारम्भ में ही इनका अवतार हुआ था।

इन ब्रह्मसूत्रों की अनेक आचार्यों ने व्याख्या भाष्य के रूप में की। आचार्य शङ्कर का भाष्य उपलब्ध भाष्यों में प्राचीनतम है। प्राय: तेरह सौ वर्ष पूर्व की यह रचना, प्राचीन विषयमें अर्वाचीन की अपेक्षा प्राचीन ही प्रमाणित होती है, अत: बादरायणसम्मत सिद्धान्तनिर्णय में उपलब्ध ग्रन्थों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान मानना उचित है।

शाङ्कर भाष्य के अनुसार ब्रह्मसूत्रों की संख्या ५५५ है। मतान्तर से ५५६ संख्या भी मानी गई है। अधिकरणों की संख्या १९१ और मतान्तर से १९२ हैं। विचारविशेष को अधिकरण कहा गया है।

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
प्रयोजनं सङ्गतिश्च प्राञ्चोऽधिकरणं विदुः॥

(भाट्टदीपिका—पृ० ५)

प्रथम अधिकरण :—

इस शास्त्र का प्रथम अधिकरण जिज्ञासाधिकरण है।

१. श्रुतिमीमांसारूप श्रुतिसङ्गति।
२. श्रौतब्रह्म का विचाररूप शास्त्रसङ्गति।
३ उस ब्रह्म का श्रुतिवाक्यों में समन्वयरूप अध्यायसङ्गति।
४. स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गक श्रुतिवाक्यों का समन्वयरूप पादसङ्गति।

प्रथम अधिकरण होने से अधिकरणसङ्गति का प्रसङ्ग नहीं है।

विषय :—

वेदान्तवाक्य विचारविषय है। या 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य:' (बृ० २/४/५) इत्यादि श्रुतिवाक्यजन्य विषय है।

संशय :—ब्रह्म विचार्य है या नहीं।

पूर्वपक्ष :—ब्रह्म विचार्य नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष :—ब्रह्म विचार्य है।

प्रयोजन :—पूर्वपक्ष :-इस शास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए। सिद्धान्त-पक्ष :—इस शास्त्र का आरम्भ करना चाहिए। इन बहु अङ्गों से संवलित विचार ही अधिकरण है।

इस ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं, इस प्रकार इस ग्रन्थ में सोलह पाद हैं। अध्याय और पादविभाजन में आचार्यों का मतभेद नहीं है। किन्तु सूत्रसंख्या, सूत्रपाठ, सूत्रार्थ, अधिकरणविभाग, पूर्व और उत्तर पक्ष के सूत्रों के निर्देश में भाष्यकारों में महान् मतभेद है। ब्रह्म-सूत्र के प्रमुख भाष्यकार के रूप में निम्नलिखित आचार्यों के नाम लिये जाते हैं :—

१. शङ्कराचार्य, २. भास्कराचार्य, ३. रामानुजाचार्य, ४. निम्बार्काचार्य, ५. मध्वाचार्य, ६. श्रीकण्ठाचार्य, ७. श्रीकराचार्य, ८. वल्लभाचार्य, ९. आचार्य विज्ञानभिक्षु, १०. बलदेवाचार्य।

आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकारों का मतभेद देखकर यह आशङ्का स्वाभाविक है कि आचार्य शङ्करकृत व्याख्यान सूत्रकारसम्मत है या नहीं। क्योंकि सभी आचार्यो ने अपने भाष्य को व्याससम्मत माना है। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इस कालिदास के उक्ति के अनुसार प्राचीनता किसी की साधुता का परिचायक नहीं होती है, अत: शाङ्कर भाष्य की प्राचीनता ही उसकी समीचीनता के लिए प्रबल प्रमाण नहीं है। जो भाष्य सूत्रकारसम्मत होगा वही प्रामाणिक होगा और उसी के द्वारा सूत्रार्थनिर्णय भी मान्य होगा। वेदान्तवाक्यार्थ-निरूपण व्याससूत्रार्थनिरूपण के अधीन है। क्योंकि, वेदार्थज्ञानसम्पन्नों में व्यास ही श्रेष्ठ है। वेदान्तार्थज्ञान ही मोक्षसाधन है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
सन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
(मु० उ० ३/२/६)

आपातदृष्टि से व्याससूत्रों की ओर दृष्टिपात करने से यह सिद्ध होता है कि सूत्रकार ने इस ओर किसी प्रकार सङ्केत नहीं किया है। किन्तु यह भी सत्य है कि सूत्रकार को वह कभी भी अभीष्ट नहीं होगा कि सूत्रों की विविध व्याख्याएँ हों, मेरे कथन को कोई भी अवगत न कर सकें, अपितु मेरी उक्ति को लेकर विवाद चलता रहे। **"व्यास सम्प्रदाय"** के रूप में गुरुशिष्यपरम्परा क्रम में कोई सर्ववादिसम्मत सम्प्रदाय भी नहीं है। इस स्थिति में गुरुमुख से प्राप्त विद्या ही सफल होती है अतः शिष्यगण गुरुमुख से अर्थ की अवगति करें यही व्यासदेव को अभीष्ट है। सूत्र की रचना के बाद उसकी दुरुहता की निवृत्ति के लिए स्वयं व्याख्या करना सूत्रकार को अभीष्ट नहीं होगा। वैसा करने पर तो वह सूत्र ही नहीं रह जायगा, क्योंकि सूत्र का लक्षण है :—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखं
अस्तोभमनवद्यंच सूत्रं सूत्रकृतो विदुः ॥

सूत्र सन्दिग्ध अर्थ का प्रतिवादक नहीं होता है। कुछ लोगों ने शङ्कर-सम्प्रदाय को व्याससम्प्रदाय अनुसारी माना है। उस मत में शाङ्कर भाष्य ही व्यासमतानुसारी भाष्य माना होगा। किन्तु जिनकी इसमें विप्रतिपत्ति है, उनके अनुसार सूत्रार्थनिर्णय शङ्कर के अनुसार करना निष्फल ही है। सर्वान्तर्यामी के विना किसी चिन्ता को निश्चितरूप में जानना सम्भव नहीं है। अतः व्यासमत की दुर्बोधता तो निश्चित ही है, किन्तु, शाङ्करसिद्धान्त के अनुसार तात्पर्यनिर्णय ही प्रकृत भूमिका है।

विभिन्न भाष्यों के देखने से यह विचार स्वाभाविक ही है कि किसका प्रामाण्य स्वीकार किया जाय। आचार्य ने अपने प्राचीन वृत्तिकार के व्याख्यानों का अनेक स्थलों में खण्डन प्रस्तुत किया है। खण्डन के प्रसङ्ग में सबल युक्तियों

का भी प्रदर्शन किया है, किन्तु इस प्रसङ्ग में वृत्तिकार के पूर्व व्याख्यानों का आलम्बन कर ऐसा नहीं किया है। आचार्य रामानुज भास्कर आदि के भाष्य के साथ जहाँ आचार्य का मतभेद है, वहाँ अधिकरण पूर्वोत्तर पक्षविभाग सूतार्थनिर्णय आदि में वोधायन एवं उपवर्ष से भी मतभेद होगा ही—ऐसी कल्पना की जा सकती है। किन्तु आचार्य ने वोधायनादि के वाक्यों का अवलम्बन कर इस अनभीष्ट मत का खण्डन नहीं किया है। यह उचित था, किन्तु, ऐसा नहीं किया है। प्राचीन भाष्य का प्रमाण के रूप में उद्धरण भी मतखण्डन के अवसर पर आवश्यक था, किन्तु, यह भी नहीं किया है। तात्त्विक मतभेद का निरास करने के लिए केवल एक स्थल में वृत्तिकार से प्राचीनतर स्वसम्प्रदायप्रवर्त्तक शुक शिष्य ने गौडपादाचार्यप्रणीत एक कारिका को प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है। इसका स्पष्ट कारण अवगत नहीं होता है। आचार्य शङ्कर के समय प्राचीनवृत्ति भाष्यों की उपलब्धि न हो—यह भी सम्भावित है। इसीलिए उनके वचनों को उद्धृत नहीं किया। अथवा अतिशय सुलभ प्रसिद्ध होने से उसका उद्धरण अनावश्यक समझा। यह भी सम्भव है कि भास्कर और रामानुज आदि का भी मत वोधायन उपवर्षादिप्रणीत प्राचीनवृत्ति एवं भाष्यों के अनुगत न हो। अतः, परवर्त्ती इन आचार्यों के साथ विरोध होने पर भी वोधायन आदि के साथ आचार्य का विरोध नहीं था। आश्चर्य की बात है कि शङ्कर के पूर्वपक्ष को रामानुज भास्कर आदि ने सिद्धान्त के रूप में संगृहीत किया है। यह सत्य है कि ये पूर्वपक्ष वोधायन उपवर्ष आदि के ही नहीं थे, टीका में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। भाष्य में कौन मत वोधायन का है, कौन स्वयं उद्भावित या अन्याचार्यों के हैं यह निश्चितरूप में कहना सम्भव नहीं है। रामानुज एवं भास्कर ने भी वृत्ति और भाष्य के वचनों को नहीं दिया है। शङ्कराचार्य के अधिकरण विभागादिविषयों में मतभेदप्रदर्शन-प्रसङ्ग में यदि उनको वे ग्रन्थ सुलभ थे, उन्हें प्रमाणस्वरूप अवश्य ही उद्धृत करना चाहिए था। स्वबुद्धिपरिकल्पित अधिकरणादि विभाग एवं सूत्रार्थव्याख्यान उचित प्रतीत नहीं होता है।

रामानुजाचार्य ने द्वित्रा वृत्तिकारवाक्यों को उद्धृत किया है, किन्तु वे वाक्य यामुनाचार्य के द्वारा वृत्तिकारवाक्य के रूप में उद्धृत हैं। भास्कर ने एक ही

वृत्तिकारवाक्य को संगृहीत किया है, अतः यह सन्दिग्ध ही मानना होगा कि उन्होंने वृत्तिग्रन्थ को देखा था। रामानुजाचार्य ने तो लिखा भी है—

"विस्तीर्णां बोधायनवृत्तिं पूर्वाचार्याः सञ्चिक्षिपुः तन्मतानुसारेण सूत्राक्षराणि व्याख्यास्यन्ते" इति। यदि बोधायनवृत्ति सुलभ रहती तो "तदनुसारेण" यही लिखना उचित था।

सूक्ष्मदृष्टि से तत्त्वान्वेषण करने पर यही अवगत होता है कि शङ्कराचार्य ने वृत्तिग्रन्थ का अवलोकन कर विरोधस्थल में उस मत का खण्डन किया। आदि से अन्त तक खण्डन ग्रन्थ के अवलोकन के विना सम्भव नहीं है। अतः, यह सिद्ध होता है कि जिस प्रसङ्ग में खण्डन नहीं है, वहाँ दोनों का समान मत है। रामानुज और भास्कर मत शङ्कर में प्रयुक्त वृत्ति का ही व्याख्यान है, साथ ही अन्य आचार्यों के मतभेद को भी वृत्तिकार के मत के रूप में संग्रह कर अपने मत की अवतारणा प्रस्तुत की है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि वृत्तिकार का मत ही व्यास का मत है। ऐसी स्थिति में व्यास के मत का अवधारण करना दुःसाध्य तो मानना होगा। किन्तु, सूत्रकार के अभिमत अर्थ का निर्णय करना सर्वथा असम्भव नहीं है। विषय का सन्निवेश ग्रन्थकार की इच्छा के अधीन होता है और विषयादि का सन्निवेश युक्ति के अधीन रहता है। अतः युक्ति के आधार पर सूत्रकार के मतों का निर्णय कठिन नहीं है। ग्रन्थकर्त्ता के तात्पर्यनिर्णय के लिए ही आचार्यों की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

तात्पर्यनिर्णायक इन लिङ्गों के आधार पर व्यास के आशय का निर्णय कर किस आचार्य का भाष्य सूत्रकार के अनुकूल है, इसका निर्णय करना दुष्कर नहीं है।

इस ग्रन्थ के नाम, ग्रन्थकर्त्ता, प्रतिपाद्यविषय है—यह भी एक विचारणीय है। क्योंकि—भिक्षुसूत्र, ब्रह्मसूत्र, शारीरकमीमांसा, ब्रह्ममीमांसा, शारीरकसूत्र, व्याससूत्र, वेदान्तदर्शन, उत्तरमीमांसा, ये नाम तो सुपरिचित हैं, इनसे अतिरिक्त भी इनकी संज्ञा हो सकती है। ग्रन्थकर्त्ता के विषय में भी कोई

बादरायणव्यासप्रणीत, कोई कृष्णद्वैपायनव्यासप्रणीत, किसी ने दोनों को अभिन्न और किसी ने भिन्न माना है। प्रतिपाद्य विषय में भी मतभेद है। ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मोपासना, उभय आदि अनेक मतभेद हैं।

श्रुति के अर्थों के निर्णय के लिए कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा का जैमिनि एवं व्यास ने प्रणयन किया है। अनेक सिद्धान्तों की दोनों मीमांसाओं में सामान्यरूप से मान्यता प्राप्त है। ब्रह्म एवं वेद से अतिरिक्त कोई भी सर्वज्ञ नहीं है। वेदज्ञान के विना कोई भी सम्पूर्ण रूपसे सर्वज्ञ पदवी पर आरूढ़ नहीं हो सकता है। अपौरुषेय, अभ्रान्त वेद ही एकमात्र यागादिकर्म, निर्विशेषाद्वैत ब्रह्म एवं अलौकिक विषयों में प्रमाण है। इन अंशों में वेदानुकूल होकर ही प्रत्यक्ष आदि प्रमाण भी प्रमाणपदवी प्राप्त करते हैं, स्वतन्त्ररूपसे नहीं। अद्वैत ब्रह्म एवं याग लौकिक विषय नहीं है। वेद के विना न तो इनके अस्तित्व की और न स्वरूप की ही कल्पना की जा सकती है। सकल विशेषशून्य ब्रह्म सभी चराचर विश्व का कारण है, यह कल्पना कोई भी नहीं कर सकता है। अतः कर्म और ब्रह्म दोनों ही आलौकिक वस्तु है। वेदान्त मत में एक सर्वज्ञ ईश्वर है, इस ईश्वर के ज्ञानज्ञापक शब्दराशि वेद है। मीमांसामत में कर्म विषय में वेद प्रमाण है, अनुमानादिक अप्रमाण है, ब्रह्म-मीमांसामत में ब्रह्मविषय में वेद ही प्रमाण है, अनुमानादिक सहकारी है, क्योंकि, ब्रह्म भूतवस्तुविषय है। आचार्य शङ्कर ने भी कहा है—"न धर्म-जिज्ञासायामिव श्रुत्यादय एव प्रमाणं ब्रह्मजिज्ञासायाम्, किन्तु श्रुत्यादयः अनुभवा-दयश्च यथासम्भवमिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूतवस्तुविषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य" १९ सू० २.

अलौकिक विषय में अभ्रान्त सत्यतत्त्वोपदेश के लिए सम्पूर्ण सर्वज्ञ नित्येश्वरवाणी वेद का अवलम्बन कर भगवान नारायण के अवतार बादरायण वेदव्यास ने इन ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन किया, अपने किसी स्वतन्त्र सिद्धान्त की विवेचना के लिए उसकी रचना नहीं हुई है। लौकिक विषय में अभिज्ञों के वाक्य या आप्तवाक्य ही अभ्रान्त सत्य के रूप में माने जाते हैं, अलौकिक विषय में ईश्वर से अतिरिक्त व्यक्ति का वचन मान्य नहीं हो सकता है, क्योंकि, अन्य वाक्यों में ऐसी सम्भावना ही नहीं है। ऋषि या सिद्धयोगी तप के द्वारा

सर्वज्ञ हुए हैं—ऐसा पुराणादि के अध्ययन से सिद्ध होता है। किन्तु, उनकी सर्वज्ञता वेदज्ञान की सहायता से ही प्राप्त है। यदि उपदेशादि में मतभेद उपलब्ध होता है तो यह मानना ही पड़ेगा कि उस अंश में वेद का समर्थन न होने पर अप्रामाण्य ही रहेगा। कुमारिल ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

निर्दोषैकवाक्यत्वं क्व वा लोकस्य दृश्यते।
सापवादाः यतः केचिन्मोक्षस्वर्गावपि प्रति॥
(श्लो० वा० १/६)

सत्य में मतभेद नहीं हो सकता है, अतः अपौरुषेय वेद एवं ईश्वरवाक्य-भूत वेद के आधार पर ही अलौकिक विषय में ऐकमत्य हो सकता है। भ्रमप्रमादादिदोष से शून्य अद्वितीय ईश्वर है।

तपःपूत व्यास ने अपनी दृष्टि से तत्त्वोपदेश न कर वेदसिद्धान्त के अनुसार ही तत्त्वोपदेश किया है। यही कारण है कि वेदान्त मीमांसा है। वेद का उत्तरभाग उपनिषद्सिद्धान्त ही वेदान्त है। अन्य भागमें भी याग-होमादि और ब्रह्मज्ञान की चिन्ता है, किन्तु उपनिषदादि में प्रधानरूप से इसी की चिन्ता है। वेदान्त तत्त्वोपदेश दृष्टविरुद्ध होने पर भी वेदमूलक होने से भ्रमप्रमादशून्य है। ब्रह्मसूत्र की रचना का मुख्य उद्देश्य उपनिषदों के तात्पर्यसंशय को दूर कर वेदान्तसिद्धान्तों का प्रकाशन है। अतः, यह सिद्ध होता है कि उपलब्ध भाष्यों में जिस भाष्य में मुख्यरूप से उपनिषद् प्रमाण का अवलम्बन कर औपनिषदार्थ का मुख्यरूप से स्पष्टीकरण है, वही व्यासाभिमत है। उपनिषद् सिद्धान्त के अनुकूल सिद्धान्त का प्रतिपादन ही व्यास का अभिप्रेत है।

आचार्य शङ्कर ने श्रुति की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए सूत्रों के व्याख्यान में आपातदृष्टि से प्रतीत अर्थ का विभिन्न रूप में युक्तियुक्त संलापन भी किया है। "आनन्दमयोऽभ्यासात्"—इस सूत्र के व्याख्यान में आचार्य ने कहा है कि आनन्दस्वरूप ब्रह्म को आनन्दमयत्ववर्णन करने पर ब्रह्म में आनन्द की आधारता सिद्ध होती है, अर्थात् आनन्दधर्मवत्त्व ब्रह्म में सिद्ध होता है। किन्तु, श्रुति का यह तात्पर्य नहीं है। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्", "विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म", आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते", "सच्चिदानन्दं ब्रह्म"

इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के आनन्दमय स्वरुप आनन्दधर्मिता के बोधन का निवारण कर रही हैं। आचार्य ने अपने व्याख्यान कौशल से ब्रह्म की आनन्दस्वरूपता का प्रतिपादन किया है। सूत्रसंहिता में भी कहा है—

तथाऽऽनन्दमयश्चापि ब्रह्मणान्येन साक्षिणा।
सर्वान्तरेण सम्पूर्णो ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥ (४/३/४५)
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानद्वयात्मकम्।
स रसः सर्वदा साक्षान्नान्यथा सुरपुङ्गवाः ॥ (४/३/४६)

अतः व्यास के समान ही शङ्कर का मत भी श्रुति के अनुरूप है। यह सुस्पष्ट है कि सूत्रों के द्वारा श्रुति के अर्थों को अभिव्यक्त करना ही व्यास का लक्ष्य है।

महामहोपाध्याय रार्मामिश्र शास्त्री एवं डाक्टर थिबो आदि ने रामानुज भाष्य को सूत्रार्थानुकूल मानते हुए कहा है कि शाङ्करभाष्य "वेदतात्पर्य के अनुकूल है, सूत्रों का स्पष्ट अनुसरण नहीं करता है, अतः व्यासमत के अनुगत नहीं है।" इनलोगों का यह कथन ही अनिच्छापूर्वक भी शाङ्करभाष्य को व्याससम्मत सिद्ध किया है। क्योंकि, व्याससूत्र श्रुत्रि के अर्थों को मीमांसापूर्वक तत्त्वोपदेशार्थं विरचित हैं—यह उनलोगों का ही मत है। श्रुति के अर्थों का अनुसरण ही मुख्य रूप में ब्रह्मसूत्ररचनाकौशल है। वेदाविरुद्ध ही स्मृतियाँ प्रमाण हैं। अतः सूत्रों के आपातप्रतीत अर्थों का श्रुति के अनुरोध से अन्यथाकरण उचित ही है। क्योंकि, श्रुति और स्मृति के विरोध में श्रुति ही श्रेष्ठ है। द्वितीयाध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र में "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्" सर्वज्ञ कपिलस्मृतिसिद्धान्तनिरासन में यही सिद्धान्त किया है। इस विषय में भट्टकुमारिल का मत अवलोकनीय है।

वैदिकं जैमिनीयञ्च यत्र वाक्यं विरुध्यते।
यथाश्रुतगृहीतेऽर्थे तत्रेदमुपदिश्यते ॥
अध्याहारादिभिः सूत्रं वैदिकञ्च यथाश्रुतम्।
नेयं, विरोधेऽन्योऽन्यस्य वैदिकानां भवन्तु ते।

वाचस्पतिमत में श्रवणविधिविचार

वाचस्पतिमिश्र ने श्रवणादि में कोई विधि नहीं है यही स्वीकार किया है। यह सत्य है कि वाचस्पति का यह मत स्वतन्त्र उद्भावित नहीं है। वार्तिककार सुरेश्वराचार्य ने भी यही स्वीकार किया है।

इस मत की विशेषता यही है कि अन्य मत में श्रवण शब्द का जो अर्थ गृहीत किया है वह इस मत में श्रवण का अर्थ गृहीत नहीं होता है। इस मत में श्रवण का अर्थ--तत्त्वमसि आदि महावाक्य जन्य जीव और ईश्वर का अभेद विषयक ज्ञान-विशेष है। इसका कारण यही है कि "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इस श्रुतिवाक्य में मनन और निदिध्यासन को जिस प्रकार ज्ञान-विशेष स्वीकार किया जाता है वैसे ही उनके साथ पठित श्रवण को भी ज्ञानस्वरूप विशेष ही स्वीकार करना उचित है।

यदि कहा जाय कि मनन और निदिध्यासन इस मत में ज्ञानरूप है इसमें कौन सी युक्ति है? आलोचनार्थक मन् धातु एवं चिन्तार्थक ध्यै धातु से निष्पन्न मनन और निदिध्यासन का यथाक्रम में आलोचनरूप एवं चिन्तारूप मानस व्यापार ही अर्थ होना उचित है। यदि इन दो शब्दों का यही अर्थ स्वीकार किया जाय तब निःसन्दिग्ध मनन एवं निदिध्यासन को ज्ञान परक नहीं कहा जायगा। अतः, दृष्टान्त की असिद्धि होने से मनन एवं निदिध्यासन के समान ही श्रवण को भी ज्ञान परक नहीं कहा जा सकता।

इसका उत्तर यही है कि—वार्त्तिककार ने मैत्रेयी—ब्राह्मणवार्त्तिक[1] में

---

१ आगमार्थविनिश्चित्यै मन्तव्य इति भण्यते।
वेदशब्दानुरोध्यत्र तर्कोऽपि विनियुज्यते॥
पदार्थविषयस्तर्कस्तथैवानुमितिर्भवेत्।

बृ० वा० म० ब्रा०

आत्मा (पक्ष)
ब्रह्म-स्वभाव है (साध्य)
चिद्रूप होने से (हेतु)
जैसे ब्रह्म (उदाहरण)

अथ वा

बुद्ध्यादिवस्तु (पक्ष)
कल्पित है (साध्य)
दृश्य होने से (हेतु)
जैसे शुक्तिरजत प्रभृति (उदाहरण)

निदिध्यासन भी वार्तिककार के मत में ध्यान स्वरूप न होकर ज्ञानस्वरूप ही माना गया है। वार्तिककार ने इस प्रसंग में लिखा है कि "आत्मवाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इसको बृहदारण्यक में चतुर्थाध्याय एवं षष्ठाध्याय के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा है। इसके बाद चतुर्थ ब्राह्मण में मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन और षष्ठ में मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते यह कहा है। इन दोनों स्थलों पर आक्षेप वार्तिक में आचार्य सुरेश्वर ने कहा है कि आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः इत्यादि के द्वारा उक्त विषय का ही अनुवाद किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में दर्शन आदि के मध्य में निदिध्यासन शब्द का विज्ञान पद के द्वारा अनुवाद क्यों किया गया है? दर्शन एवं मनन का श्रवणेन मननेन इस पद से अनुवाद देखते हैं किन्तु निदिध्यासन का निदिध्यासनेन इस पद के द्वारा अनुवाद न कर विज्ञानेन विज्ञाते इन पदों के द्वारा अनुवाद देखा जाता है। किन्तु इसका निदिध्यासनेन इसी पद से व्याख्यान उचित था[1]। इस प्रकार आक्षेप कर समाधान करते हुए वार्तिककार ने कहा है कि निदिध्यासन

१ अनुवादे यथोक्तानां प्रक्रान्ते दर्शनादिषु।
विज्ञानेनेत्यथ कथं निदिध्यासनमुच्यते ॥
बृ० वा०

पद ध्यान-वाचक है एवं श्रवण और मनन के बाद अनुभव के अंग रूप से निदिध्यासितव्यः इससे विहित हुआ है। इस तरह की आशंकाएँ पूर्वपक्षी न कर सकें इसलिए अनुवाद के समय पूर्ववाक्य में निदिध्यासन विज्ञानपरक ही विवक्षित है ध्यान-परक नहीं इसको सूचित करने के लिये निदिध्यासन शब्द का निदिध्यासन-शब्द से अनुवाद न कर विज्ञान शब्द से अनुवाद किया गया है[1]।

निदिध्यासन को यदि ध्यानपरक नहीं माना जाय तो निदिध्यासन क्या है? पुरुषप्रयत्नानपेक्ष ज्ञान को ही निदिध्यासन कहा जाता है[2]। इसी को दृढ़ करते हुए आगे लिखा है कि साक्षात्कारात्मक ज्ञान की उत्पत्ति जब तक नहीं होती है तब तक श्रवणादि क्रिया की अपेक्षा रहती है[3]। श्रवण और मनन के द्वारा उत्पन्न तत्त्वं पद के लक्ष्यार्थ निर्णय के बाद वाक्य के द्वारा ब्रह्मात्मक ज्ञान की अपरोक्षता होती है[4]। वृत्त्यात्मकज्ञान होने के बाद ब्रह्मतत्त्व का स्फुरण होता है और इसके बाद कुछ भी अपेक्षित नहीं रहता है[5]।

अब यह शंका होती है कि वार्तिककार के मत में निदिध्यासितव्यः का द्रष्टव्यः के साथ पौनरुक्त्य प्राप्त होता है क्योंकि निदिध्यासन का अर्थ ज्ञान स्वीकार

---

१ ध्यानाशंकानिवृत्त्यर्थं विज्ञानेनेति भण्यते।
निदिध्यासनशब्देन ध्यानमाशंक्यते यतः॥
बृ० वा०

२ अपरायत्तबोधोऽत्र निदिध्यासनमुच्यते।
बृ० वा०

३ यावद्यथोक्तविज्ञानमाविर्भवति भास्वरम्।
श्रवणादिक्रिया तावत् कर्तव्येह प्रयत्नतः॥
बृ० वा०

४ श्रुत्वा मत्वाथ तं साक्षादात्मानं प्रतिपद्यते।
बृ० वा०

५ अनन्यायत्तविज्ञाने श्रवणादेरुपायतः।
जाते नापेक्षते किंचित् प्रतीचोऽनुभवात् परम्॥
बृ० वा०

करने पर द्रष्टव्यः का भी ज्ञान ही अर्थ होता है, अतः दोनों ही समानार्थक हो जायेंगे। दर्शन को उद्देश्य कर श्रवण और मनन का विधान करने के बाद पुनः फलकीर्तन के रूप में ज्ञान का उपसंहार होता है, अथ वा द्रष्टव्यः यह विचार प्रयोजक आपात दर्शन का अनुवाद है[२]। अतः इन दोनों में किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं है। इस प्रकार मनन और निदिध्यासन की ज्ञानरूपता सिद्ध होने से इनके साथ पठित श्रवण को भी ज्ञानार्थक मानना उचित है।

वार्तिककार के मत में श्रवण को भी ज्ञानार्थक मानने पर यही सिद्ध हुआ कि आगम एवं आचार्य के उपदेश से उत्पन्न जो आत्मविषयक ज्ञान वही यहां श्रवण है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यदि यह सिद्ध होता है कि श्रवण शब्द ज्ञानार्थक है तब श्रवण में किसी प्रकार की विधि सम्भव नहीं है, कारण, ज्ञान प्रमाण का फल होता है, वह पुरुष प्रयत्न से साध्य नहीं होता है। विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर पुरुष प्रयत्न रहे अथवा नहीं ज्ञान होता ही है। अर्थात् प्रमाण की उपस्थिति में पुरुष प्रयत्न के बिना ही ज्ञान होता है। पुरुष जिसके करने न करने एवं अन्यथा करने में समर्थ होता है उसी में विधि होती है, किन्तु जिसके करने न करने एवं अन्यथा करने में पुरुष समर्थ नहीं होता है उसमें विधि नहीं हो सकती है। अर्थात् विधि पुरुष प्रयत्न पारतन्त्र्य रहने पर ही होती है। ज्ञान प्रमाण एवं विषय तन्त्र है, अतः ज्ञान में विधि नहीं होती है। फलतः ज्ञानार्थक श्रवण में भी विधि संभव नहीं है।

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि "तत्तु समन्वयात्" इस वेदान्त के चतुर्थ सूत्र में भाष्यकार ने कहा है कि आत्मा वाऽऽरे इत्यादि वचन क्यों कहे

१ दर्शनोद्देशेन श्रवणमननविधानानन्तरं पुनः फलकीर्तनस्य तदुपसंहारपरत्वोपपत्तेः।

कृष्णाल० पृ० ३५

२ द्रष्टव्यः इति विचारप्रयोजकापातदर्शनानुवादः, निदिध्यासितव्यः इति तु विचारफलभूतसाक्षात्कारानुवादः।

कृष्णाल० पृ० ३५

गये हैं[1] ? विधि रूप न मानने पर तव्य प्रत्यय घटित विध्यर्थक प्रयोग निरर्थक हो जायगा। यह अध्येतव्यः के समान विधितुल्य है विधिरूप नहीं है। तव्य प्रत्यय के द्वारा दर्शन और श्रवण की प्रशंसा का आशय यह है कि श्रवण में यदि विधि नहीं रहे, तब विधिच्छायायुक्त ये वचन किस प्रकार संगत होंगे ? इसका उत्तर यही है कि पुरुषों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने पर उनलोगों को विमुख करने के लिए ही इन वाक्यों की आवश्यकता है।

इसका निगूढ़ आशय यह हुआ कि मुमुक्षु व्यक्ति आत्मा का दर्शन एवं श्रवणादि को मुक्ति का साधन जान कर भी सन्न्यास एवं ब्रह्मचर्यादि नियम के साथ श्रवणादि के अनुष्ठान में सम्यक् उत्साह सम्पन्न होकर प्रवृत्त नहीं होंगे, प्रत्युत पूर्व-अभ्यस्त वर्णाश्रम के अनुरूप कर्म एवं उपासना के अनुष्ठान करने में ही स्थिर रहेंगे। फलतः आत्यन्तिक-निवृत्ति लाभ करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं होंगे। अतः सभी मुमुक्षु व्यक्तियों को आत्यन्तिक पुरुषार्थ लाभ कर उपाय में प्रवृत्ति को दृढ़तर कराने के लिए श्रवणादि की प्रशंसा की गई है। इस श्रोतव्य इत्यादि वाक्य की विधि रूपता आपाततः प्रतीयमान होने पर भी इसका उद्देश्य प्रशंसा ही समझना चाहिये—यही इस उपनिषत्प्रकरण का आशय है।

यदि पूर्व आचार्यों के मतों का अनुसरण कर यह कहा जाय कि श्रवण शब्द का अर्थ—वेदान्त तात्पर्य-विचार है। इसकी क्रियारूपता वार्तिककार ने भी स्वयं कही है—श्रवणादि क्रिया को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिए[1]। यहां पर आदि पद से मनन का ग्रहण है। यह तात्पर्य-विचार तात्पर्य निश्चय को द्वार करके वेदान्त तात्पर्य-विषय में भ्रान्ति एवं संशय रूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति करता है। वेदान्त तात्पर्य निश्चय के प्रतिबन्धक भ्रान्ति या संशय की निवृत्ति ही श्रवण का फल है।

---

१ किमर्थानि तर्हि आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादीनि वचनानि विधिच्छायानि—स्वाभाविकप्रवृत्तिविषयविमुखीकरणार्थानि इति क्रमः

शां० भा० पृ० १००

१ श्रवणादिक्रियाः तावत्कर्तव्येह प्रयत्नतः। कृष्ण लं० पृ० ३५

जन्मान्तरीण दुष्कृति रूप प्रतिबन्धकान्तर का निवृत्ति — निराकरण, अथ वा ब्रह्मज्ञान इस श्रवण का साक्षात् फल नहीं है, कारण, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। अत एव तात्पर्य विचार रूप श्रवण का फल जो तात्पर्य विषय में भ्रान्ति या संशय का निराकरण है, इन विषयों को लौकिक प्रमाण के सहायता से ही अवगत कर सकते हैं। अतः श्रवण में विधि स्वीकार को आवश्यकता नहीं है। लौकिक प्रमाणादि के द्वारा अनधिगत विषय को अवगत कराना ही विधि का स्वभाव है, श्रवण में विधि स्वीकार करने पर जब विधि के इस पूर्वोक्त स्वभाव को व्याहति है, तब श्रवण में विधि स्वीकार कराना सम्भव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि इस पूर्वोक्त विश्लेषण से श्रवण में अपूर्व विधि नहीं हो सकती है—यही सिद्ध होता है।

अपूर्व विधि न होने पर भी श्रवण में नियम विधि या परिसंख्या विधि मानने में क्या आपत्ति है ? इसका समाधान यही है कि पाक्षिक अप्राप्ति रहने पर एक की प्राप्ति के निराकरण के लिए परिसंख्या विधि होती है — यह विधि प्रसंग में ही कहा गया हैं। प्रकृति स्थल में ये दोनों सम्भव नहीं है। कारण, तात्पर्य विषय में संशय और भ्रान्ति के निराकरण रूप फल के पक्ष में तात्पर्य-विचारव्यतिरिक्तअन्य किसी कारण की प्राप्ति नहीं है, सुतरां नियम अथवा परिसंख्या इन दोनों में कोई भी विधि इस स्थल में नहीं हो सकती है।

यदि यह कहा जाय कि गुरु के अधीन श्रवण के समान ही गुरु के बिना विचार रूप श्रवण के द्वारा भी तात्पर्य-निर्णय हो सकता है। गुरुमुखाधीन

---

१ यदि च वेदान्ततात्पर्य-विचाररूपं श्रवणं तदा नास्य तात्पर्य-निर्णयद्वारा वेदान्त-तात्पर्यभ्रमसंशयरूप-प्रतिबन्धकनिरास एव फलं न प्रतिबन्धकान्तरनिरासो ब्रह्मावगमो वा। तत्फलकत्वं च तस्य लोकत एव प्राप्तम्। साधनान्तरं च किंचिद्विकल्प्य समुच्चित्य वा न प्राप्तमिति न तत्र विधित्रयस्याप्यवकाशः।

सि० ले० सं० पृ० ३७—३८

विचार के समान ही गुरु मुखाधीन विचार के बिना स्वतः विचार की आंशिक प्राप्ति होती है[२]। ऐसी स्थिति में गुरु के अधीन विचार की पाक्षिक अप्राप्ति होती है। इसका परिहार करने के लिए गुरुमुखाधीन विचार की ही सर्वत्र प्रसक्ति है इसलिए इस स्थल में श्रोतव्य वाक्य में नियम विधि ही होना उचित है।

इस प्रकार की शंका ठीक नहीं है। कारण, गुरुमुखाधीन विचार रूप वेदान्त श्रवण में विधि न रहने पर भी गुरूपसदन अर्थात् गुरु के समीप गमन में जो विधि है, उसके द्वारा ही स्वप्रयत्नसाध्य जो गुरु के बिना विचार है उसका निषेध हो जायगा। कारण, गुरु के समीप उपस्थित होने के लिए जो विधि है, उस विधि की कोई दृष्ट-फल की कल्पना करना उचित नहीं है। प्रकृत स्थल में गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार ही साक्षात् दृष्ट फल होता है। इसी दृष्ट फल को द्वार करके वह ब्रह्मविज्ञानरूप विधि- वाक्यावगत फल का साधक होगा। गुरुके समीप गमन का फल ब्रह्म विज्ञान ही होता है यह श्रुति के द्वारा स्पष्ट कहा गया है।....ब्रह्म विज्ञान के लिए वह व्यक्ति गुरु के समीप गमन करे "विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" ब्रह्मज्ञान के लिए गुरु के निकट गमन करना चाहिए,....यह जो विधि है, इसके द्वारा अगवत किया जाता है कि गुरु के निकट गमन ब्रह्मज्ञान का कारण है। यही श्रुति अभिमत अर्थ है। जैसे यात्रादि अदृष्ट रूप फल उत्पन्न कराकर स्वर्ग फल का जनक होता है। वैसे ही यह गुरूपगमन विधि किसी अदृष्ट फल को उत्पन्न कराकर ब्रह्म ज्ञान का कारण होती है इस कल्पनाकरने की अपेक्षा गुरुमुखाधीन वेदान्त विचार रूप दृष्टफल को उत्पन्न कराकर यह विधि ब्रह्मज्ञान का जनक होती है—यह कल्पना करना उचित है। यागादि स्थल में तो किसी प्रकार का दृष्ट फल नहीं देखा जाता है, अतः अगत्या अदृष्टफल रूप व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है, किन्तु प्रकृत स्थल में तो ऐसी बात नहीं है यहां वेदान्त वाक्य-विचार रूप

२ ननु गुर्वधीनविचारेण सह गुरुरहिताविचारस्य विकल्पेन प्राप्तिरस्ति।
कृ० लं० पृ० ३९

दृष्टफल देखा जाता है, अतः अदृष्ट फल की व्यापार रूप में कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। इसलिए गुरुमुखाधीन विचार ही ब्रह्मज्ञान का जनक होता है, स्वाधीन भाव से विचार की ब्रह्मज्ञानजनकत्व रूप में सम्भावना ही नहीं रह जाती है, फलतः, पक्ष में अप्राप्त गुरुमुखाधीन विचार की निवृत्ति के लिए श्रवण में नियमविधि की कोई आवश्यकता नहीं है। गुरूपसदन में जो नियम विधि है उसी के द्वारा इष्ट लाभ हो जाता है। अतः श्रवण में नियम विधि स्वीकार करना व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में श्रोतव्यः आदि वाक्य पूर्वोक्त विश्लेषण क्रम में स्तुतिमात्र हैं[1]।

इस तरह विचार करने पर यह शंका होती है कि इस पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार गुरूपसदन के द्वारा विचार तक की सिद्धि होने पर ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इसकी वेदाध्ययन में पृथक् विधि स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि गुरूपसदन द्वारा ही तो उसकी भी चरितार्थता हो जाती है, पुनरपि उसमें विधि क्यों स्वीकार की गई है?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यह कथन है कि इन दोनों स्थलों में वैषम्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों समान स्थल नहीं है,यदि केवल गुरूपसदन में ही विधि स्वीकार किया जाय, तब गुरु के निकट रह वेदकण्ठस्थ कर पदार्थ ज्ञान न करने पर भी— स्वतन्त्र उक्त विधि चरितार्थ हो जायगी। यदि अध्ययन में स्वतन्त्रविधि रहती है और इस विहित अध्ययन का फल वेदार्थ ज्ञान रूप दृष्ट फल होता है, तब गुरूपसदन विधि का वेद कण्ठस्थ करने के साथ वेदार्थ विचार रूप दृष्टफल की कल्पना करनी पड़ेगी। गुरूपसदन का विचार रूप दृष्टफल स्वीकार करने पर ही अध्ययन विधि का दृष्ट फल जो वेदार्थ ज्ञान है वह चरितार्थ होता है। इसलिए वेदार्थ ज्ञान के लिए अध्ययन में पृथक् विधि आवश्यक है। प्रकृतस्थल में ऐसी बात नहीं है, कारण, इस स्थल में वेदाध्ययन विधि के द्वारा ही वेद का एक देश वेदान्त

१ विचारविध्यभावेऽपि विज्ञानार्थतया विधीयमानं गुरुपसदनं दृष्टद्वारसम्भवे अदृष्टकल्पनायोगात् गुरुमुखाधीनवेदान्तविचारव्यावृत्तिः।

सि० ले०सं० पृ० ३९

शास्त्र कण्ठस्थ हो जाता है। इसके बाद इस वेदान्त शास्त्र का प्रतिपाद्य जो ब्रह्म उस ब्रह्म के ज्ञान के लिए जब पुनः गुरूपसदन की पृथक् विधि दृष्ट होती है, तब उसे गुरूपसदन विधि के द्वारा ही गुरुमुखाधीन विचार भी सिद्ध हो जायगा, अतः गुरुमुखाधीन विचार रूप श्रवण में पृथक् विधि स्वीकार की आवश्यकता नहीं है, इसलिए श्रवण विधि अध्ययन विधि के समान नहीं होती है। फलतः अध्ययन विधि की व्यर्थता प्रदर्शन करके श्रवण में नियम विधि स्वीकार की कोई आवश्यकता नहीं है[1]।

यदि यह कहा जाय कि वेदान्त विचार करने वाला व्यक्ति किसी समय द्वैतशास्त्र के अध्ययन में भी प्रवृत्त हो जायगा, कारण अपने अनुरूप अर्थ में योजना करके द्वैतवादी आचार्य वेदान्त शास्त्र के विचार में प्रवृत्त होते हैं ऐसा देखा गया है। यह देखकर मुमुक्षु व्यक्ति भी द्वैतशास्त्र की आलोचना में प्रवृत्त हो सकता है—यह असम्भव नहीं है। ऐसे स्थल में मुमुक्षु व्यक्ति को, भिन्न आत्मज्ञान मुक्ति का साधन है इस प्रकार की भ्रान्ति भी हो सकती है। जिस पक्ष में इस भ्रान्तिवश द्वैत विचार में मुमुक्षु की प्रवृत्ति होगी और इस भ्रान्ति के कारण अद्वैत आत्मपरक वेदान्त-विचार रूप श्रवण में पाक्षिक अप्राप्ति होगी, और इसी पाक्षिक अप्राप्ति के निवारण के लिए अद्वैतात्मपरक वेदान्त विचार रूप श्रवण में नियम विधि आवश्यक है। श्रवण में नियम विधि स्वीकार करने से अद्वैतात्म विचार में ही मुमुक्षु व्यक्ति की प्रवृत्ति होगी। मुक्तिसाधन के रूप में भिन्न आत्मज्ञान में प्रवृत्ति नहीं होगी।

यह विचार भी युक्ति संगत नहीं है, कारण जो स्वयं ही तात्पर्य भ्रम का हेतु है, वह कभी भी स्वविषयक तात्पर्यभ्रम का निरासक नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से साधनान्तर प्राप्ति के निरास के लिए प्रकृत वेदान्त श्रवण में नियम विधि नहीं हो सकती है।

---

१ अध्ययनविध्यभावे तूपगमनं विधीयमानमक्षरावाप्त्यर्थत्वेनाविनीयमानत्वान्न तदर्थं गुरुमुखोच्चारणं द्वारीकरोतीति लिखितपाठादिव्यावृत्त्यसिद्धेः सकलोऽध्ययननियमविधिः।

सि० ले० सं० पृ० ३९, ४०

अद्वैत- परक वेदान्त को द्वैत-परक अवगत कर यदि भ्रान्ति हो और उस भ्रान्ति के वश होकर द्वैतवादी के अनुसार वेदान्त शास्त्र की आलोचना करता है तब इस आलोचना से निवृत्त करने के लिए अद्वैत पर वेदान्त विचार रूप जो श्रवण उस श्रवण में नियम विधि स्वीकार की जाती है।

इसके उत्तर में मिश्र मतानुयायिओं का यही कथन है कि अद्वैत शास्त्र में जो श्रद्धा है वह विशेष ईश्वरानुग्रह का ही फल है। उस प्रकार की श्रद्धा से रहित जो व्यक्ति है,उसकी दृष्टि से श्रोतव्य वाक्य में जो विधि है वह भी द्वैत पर वेदान्त विचार की विधि के रूप में गृहीत होगी। उनके पक्ष में सैकड़ों विधियों के द्वारा भी अद्वैत पर वेदान्त विचार रूप श्रवण में प्रवृत्ति नही हो सकती है। सुतरां इस प्रकार भ्रान्तिकल्पना करके श्रवण में नियम विधि संचार की कोई सम्भावना नहीं है।[1]

यदि यह कहा जाय कि मुमुक्षु व्यक्ति को व्यापारान्तर से निवृत्त कराने के लिए श्रवण में परिसंख्या विधि को ही मानना चाहिये--यह विचार भी संगत नहीं है।कारण, मुमुक्षु व्यक्ति यदि सन्यासी नही रहे, वह यदि गृहस्थ अथवा वनवासी रहे तब गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ के लिए विहित कार्य भी करना ही होगा। ऐसी स्थिति में व्यापारान्तर की निवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं होगी और यदि वह मुमुक्षु व्यक्ति सन्नयासो रहे तब तो सन्यासी के लिए सन्नयास विधायक जो 'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' यह वाक्य है यही वाक्य व्यापारान्तर से निवृत्त करा देगा। सन्नयासी के लिए श्रवण में विधि स्वीकार करना निरर्थक है, अतः श्रवण में परिसंख्या विधि भी सम्भव नहीं है[2]।

---

१ न च तात्पर्यादिभ्रमनिरासाय वेदान्तविचारार्थिनः कदाचिद्द्वैतशास्त्रेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्—भ्रमप्रयुक्ताया अन्यत्र प्रवृत्तेर्विधिशतेनाप्यपरिहार्यत्वात्।

सि० ले० सं० पृ० ४०-४१

२ न च व्यापारान्तरनिवृत्त्यर्था परिसंख्येति वाच्यम्। असन्नयासिनो व्यापारान्तरनिवृत्तेरशक्यत्वात्। सन्नयासिनस्तन्निवृत्तेर्ब्रह्मसंस्थया सह सन्नयासविधायकेन ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति इति श्रुत्यन्तरेण सिद्धतया सन्नयासविधायकश्रुत्यन्तरमपेक्ष्य श्रोतव्यवाक्येन तस्य व्यापारान्तरनिवृत्त्युपदेशस्य व्यर्थत्वात्।

सि० ले० सं० पृ० ४१

पूर्वपक्षी यदि यह कहें कि वेदान्त श्रवण इस वाक्य का अर्थ वेदान्त तात्पर्य विचार यह न होकर विचार्य विषय वह वेदान्त रूप शब्द—राशि-ज्ञान-शास्त्र होता है। विचार्य विषय रूप वेदान्तशास्त्र शब्द राशि होने से इसकी शब्द प्रमाण के मध्य में ही गणना होगी। अतः शब्द प्रमाण ही ब्रह्म ज्ञान के कारण रूप में गृहीत होता है। फलतः शब्द से अतिरिक्त जो अनुमानादि प्रमाण एवं भाषा प्रबन्ध रूप शब्दप्रमाण है, उनकी ब्रह्मज्ञान के प्रति कारणता को निवृत्त करने के लिए वेदान्त श्रवण में परिसंख्या विधि को स्वीकार करना आवश्यक होगा।

किन्तु विचार करने पर पूर्वपक्षी का यह विश्लेषण भी सुसंगत प्रतीत नहीं होता है। कारण, भाषाप्रबन्ध एवं अनुमानादि की ब्रह्मज्ञान के प्रति कारणता अध्ययन विधि के द्वारा ही निराकृत हो गई है। क्योंकि, अध्ययन विधि की सहायता से यह अवगत होता है कि वेदार्थज्ञान के लिए वेद ही एकमात्र साधन होता है। जैसे धर्म वेदार्थ होता है। धर्म का स्वरूप क्या है इसकी अवगति के लिए वेदव्यतिरिक्त अन्य कोई भी प्रमाण अपेक्षित नहीं होता है, एकमात्र वेद ही धर्मरूप प्रमेय के अवगत करने के लिए प्रमाणरूप से परगृहीत किया जाता है— इसकी अवगति हमलोगों को 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वेदाध्ययन विधिकी सहायता से ही होती है, इसी प्रकार प्रकृत-स्थल में ब्रह्मज्ञान करने के लिए वेदान्त व्यतिरिक्त किसी भी प्रमाण की अपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है—यह अवगत होता है। ब्रह्म यदि वेदार्थ का एकदेश है, तब उस ब्रह्म ज्ञान के लिए वेदान्तरूप वेदप्रमाण व्यतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण के निराकरण के लिए वेदान्त श्रवण में विधि स्वीकार करना निष्प्रयोजन है, क्योंकि यह अध्ययन विधि के द्वारा ही सिद्ध हो जाता है।

पूर्वपक्षी शंका करते है कि श्रवण में विधि अंगीकार नहीं करने पर सूत्र एवं भाष्य के साथ विरोध उपस्थित होता है। कारण, सहकार्यन्तरविधिः (ब्र० सू०) (३-४-४७) इस सूत्र में एवं इस सूत्र के भाष्य में श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन में विधि स्वीकार की गयी है। अतः श्रवणादि में विधि ही है। पूर्वोक्त

सूत्र के भाष्य में लिखा है कि तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद् बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः (बृ० उ०-५-१) आशय यह है कि पूर्व में ब्राह्मण आत्मज्ञान करने की इच्छा से रहित होकर भिक्षा चरण करते थे। इसलिए इस समय भी श्रवण एवं मनन करे अनन्तर निदिध्यासन परक हो जाय। प्रकृत श्रुति में पाण्डित्य का अर्थ श्रवण होता है। क्योंकि पण्डा शब्द अध्ययन-जन्य-ब्रह्मबुद्धि अर्थ का प्रतिपादक है, इस तरह की बुद्धि जिसमें है वह पण्डित कहा जाता है। पण्डित का कृत्य पाण्डित्य अर्थात् श्रवण है। उस श्रवण का अच्छी तरह सम्पादन कर ज्ञानबल अर्थात् युक्ति से असम्भावना एवं विपरीत-भावना निरास रूप मनन से अथवा शुद्ध ज्ञान से स्थिति करने की इच्छा करे। बाल्य का अर्थ मनन है। श्रवण और मनन के बाद मुनि अर्थात् मननशील व्यक्ति निदिध्यासन करे। मौन से अन्य पाण्डित्य = श्रवण और बाल्य = मनन मौन और अमौन निदिध्यासन दृढ़तया लाभ करके ये तीनों हेतु ब्रह्मज्ञान के हेतु होने से मैं ब्रह्म हूँ ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला ब्राह्मण हूँ। इस श्रुति में संशय होता है कि मौन में विधि है या नहीं ? क्योंकि बाल्येन तिष्ठासेत् इसमें विधि का श्रवण है वैसे ही मौन में भी विधि रहती तो इसमें विधि बोधक पद का प्रयोग रहता। अतः विधि पद का प्रयोग नहीं रहने के कारण इसमें विधि नही है यही पूर्वपक्ष होता है।

इसके समाधान में कहा है कि विद्या सहकारी मौन में बाल्य एवं पाण्डित्य के समान विधि का ही आश्रयण करना चाहिए।

भामती में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि बाल्य का भी यहां विधान किया गया है मौन तो प्राप्त है अतः उसी को प्रशंसा के लिए अनुवाद करते हैं। ठीक है

---

१ तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः बृ० (३।५।१) इति बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र संशयः, मौनं विधीयते न वेति। न विधीयते इति तावत्प्राप्तम्—एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति।

ब्र० सू० शां भा० पृ० ४१७

यदि पिण्डत का अपर पर्याय मुनि शब्द होता तब यह स्वीकार किया जाता, किन्तु ज्ञान मात्र पाण्डित्य है और ज्ञानातिशय सम्पत्ति मौन है। इसलिए अपूर्व होने से बाल्य और पाण्डित्य की अपेक्षा तृतीय इस मौनज्ञानातिशय रूप का विधान होता है[1]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया कि श्रवण में विधि भाष्य को अभिमत है। अतः भाष्य विरोध से विधि खण्डन समीचीन नहीं है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त सन्देह समीचीन नहीं है। कारण, विधि है यह कथन मात्र से ही तो विधि अंगीकृत नहीं हो सकती है। विधि का जो स्वभाव है, उस स्वभाव से आक्रान्त होने पर ही विधि है यह स्वीकार किया जा सकता है। विधि का स्वरूप है—प्रमाणान्तर के द्वारा अनभिगत जो वस्तु, उसका स्वरूपबोधन। प्रकृत स्थल में विधि का यह प्रदर्शित स्वरूप संगत नहीं होता है। कारण, वेदान्त श्रवण वेदान्त प्रतिपाद्य अर्थ विषयक जो ज्ञान उस ज्ञान का हेतु है। वेदान्त प्रतिपाद्य अर्थ-विषयक ज्ञान के लिए वेदान्त श्रवण करना चाहिए इस प्रकार विधि न रहने पर भी लौकिक युक्ति के द्वारा भी अनायास अवगत किया जा सकता है—शास्त्र का जो प्रतिपाद्य अर्थ है उसको अवगत करने के लिए उस शास्त्र का श्रवण करना चाहिए। फलतः वेदान्त प्रतिपाद्य अर्थ की अवगति के लिए वेदान्त का श्रवण लौकिक-युक्ति से ही सिद्ध है। अतः इसके लिए विधि के द्वारा अवगत कराने के लिए कुछ शेष नही रह जाता है। इसलिए श्रवण विधि की संभावना नहीं हो सकती है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि आपके कथनानुसार विधिस्वरूप वहां सम्भव नहीं होता है फिर भी सूत्र में एवं भाष्य में जो विधि निर्देश किया गया है, उसका

१ तस्माद्बाल्यमेवात्र विधीयते। मौनं तु प्रशंसार्थमनूद्यत इति युक्तम्। भवेदेवं यदि पण्डितपर्यायो मुनिशब्दो भवेत्। अपि तु ज्ञानमात्रं पाण्डित्यं ज्ञानातिशयसंपत्तिस्तु मौनं तत्रैव तत्प्रसिद्धेः—तस्मादपूर्वत्वान्मौनस्य बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते।

भामती पृ० ८१८

सामंजस्य किस प्रकार संभव होगा ? सूत्र एवं भाष्य का विरोध सर्वथा अपरिहार्य अवगत हो रहा है।

सिद्धान्ती का कथन है कि सूत्र एवं भाष्य में जो विधि का उल्लेख है वह वस्तुतः विधि नहीं है अपि तु अर्थवादमात्र है। कारण, प्रयोजनवश अनेक स्थलों में आचार्यों ने अर्थवाद को भी विधि के रूप में निर्देश किया है। इसका दृष्टान्त उपांशुयाग के प्रकरण में उपलब्ध होता है—वहां प्रथम में कहा गया है कि 'उपांशुयागमन्तरा यजति' आग्नेय एवं अग्नीषोम नामक यागद्वय के मध्य में उपांशु नामक याग करना चाहिए। इसके बाद आगे कहा गया है कि "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" उपांशु नामक विष्णु देवता सम्बन्धी याग करना चाहिए। इस स्थल में प्रथम वाक्य हा यथार्थ विधि वाक्य हैं। कारण, इसके द्वारा अन्य प्रमाण के द्वारा अप्राप्त जो उपांशुयाग उसी का विधान किया गया है। इसके आगे जो 'विष्णु-रुपांशु यष्टव्यः' यह वाक्य कहा गया है, इस वाक्य में विधि बोधक तव्य प्रत्यय-घटित यष्टव्यः यह प्रयोग रहने पर भी इसको विधि वाक्य नहीं कहा जा सकता है। कारण, यह "उपांशुयाजमन्तरा यजति" इस पूर्व वाक्य से ही प्राप्त है, अतः मानान्तर से प्राप्त होने के कारण यह विधि नहीं अर्थवाद मात्र है। "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" यह वाक्य विधि के समान प्रतीयमान वाक्य प्रशंसापरक वाक्य है और इस प्रशंसापरक वाक्य का फल लोक की प्रवृत्ति को उत्तेजित करना मात्र है क्योंकि याग का विधान तो पूर्वाभ्यास से ही हो गया है।

इस स्थल में प्रशंसा का प्रकार निम्नलिखित है—वेद के मन्त्र भाग में उपांशु याग के प्रकरण में तीन देवताओं का परिचय मिलता है। किन्तु मन्त्र भाग वेद के व्याख्या ग्रन्थ ब्राह्मण भाग में इन तीन देवताओं को उद्देश्य कर इस उपांशु याग का विधान किया गया है। ये तीन देवता विष्णु, प्रजापति और अग्नी-षोम हैं। इन देवताओं में किसी एक देवता को उद्देश्य करके उपांशु याग के अनुष्ठान करके की विधि कही गई है। ऐसी स्थिति में "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" प्रजा-

पतिरुपांशु यष्टव्यः "अग्नीषोमौ उपांशु यष्टव्यः" इत्यादि वाक्य उक्त विष्णु आदि देवताओं के साथ उपांशुयाग का उल्लेख पूर्वक पुनः विधान किया गया है। उनमें देवता के सम्बन्ध के द्वारा पूर्वोक्त उपांशु याग की ही प्रशंसा की गई है। यह द्वितीय विष्णु उपांशु यष्टव्यः इत्यादि वाक्य विधिवाक्य नहीं है, अर्थवाद होने से प्रशंसा वाक्य है। प्रकृतस्थल में भी लौकिक युक्ति के द्वारा अवगत हो जाता है कि वेदान्त प्रतिपाद्य ब्रह्मज्ञान के लिए विचार ध्यान-सहकृत वेदान्त श्रवण ही आवश्यक है। लोगों की प्रवृत्ति को उत्तेजित करने के लिए ही श्रोतव्यः आदि विधि के समान प्रतीयमान अर्थवाद के द्वारा श्रवण आदि की प्रशंसा की गई है। यदि लोक के द्वारा यह सिद्ध नहीं रहता, तब श्रोतव्य आदि वाक्य अर्थवाद न होकर वास्तविक विधि होता है। किन्तु इसके द्वारा मानान्तर प्राप्त का ही विधान हो रहा है। अतः यह विधि न होकर विधि की छायामात्र है। यदि यह कहा जाय कि यह "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस अध्ययन विधि के अन्तर्गत अवान्तर विधि है, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह उपांशु याग के समान अर्थवाद ही है।

पूर्वपक्षी प्रकारान्तर से पुनः श्रवण में नियम विधि की उत्थापना करते हैं, उस ब्रह्मलाभ का कारण जो ज्ञान वह सांख्य अथवा योगशास्त्र के द्वारा हो सकता है[1]। इस अर्थ को कहनेवाली श्रुति में जो योगशास्त्र कहा गया है, इससे योग शास्त्रोक्त विचार भी ब्रह्मज्ञान के कारण रूप में गृहीत हो सकता है और योगशास्त्र का ब्रह्मज्ञान के कारण रूप में ग्रहण होने से ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्तशास्त्र विचार की पक्ष में अप्राप्ति होगी[2] और इसी अप्राप्ति के निवारण के लिए नियम विधि संगत है।

१ कृ० ल० पृ० ४३।

२ तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नम् इति श्रुतौ योगपदोपात्तस्य व्यावर्त्यस्य सम्भवाद्वि-चारसमर्थाधिकरणं प्रति तद्व्यावृत्तिफलको नियमविधिः संभवतीति।

कृ० ल० पृ० ४३

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यही कथन है कि पूर्वपक्षी का यह कथन संगत नहीं है। कारण, जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो कर विचार में उद्यत होता है, वह विचार में समर्थ है–यह स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसा होने पर वही व्यक्ति काल क्रम में स्वयं ही अवगत कर लेगा कि योगशास्त्र मोक्ष लाभ के लिए प्रकृत प्रस्ताव में अनुकूल नहीं है। मोक्ष लाभ का एकमात्र कारण अद्वैततत्त्वज्ञान ही है। योगशास्त्र में द्वैत का ही उपदेश है, अद्वैत- तत्त्व योगशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। फलतः वह व्यक्ति कालक्रम में योगशास्त्र को परित्याज्य ही अवगत करेगा और स्वयं ही अभिनिवेशपूर्वक अद्वैततत्त्वविचार में प्रवृत्त होगा। अत एव विचार समर्थ अधिकारी के पक्ष में वेदान्त श्रवण की पाक्षिक अप्राप्ति की संभावना नहीं है। अतः नियम विधि स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि––वेदान्त में सगुण और निर्गुण इन दोनों प्रकार के ब्रह्म का परिचय है। भाष्यकार ने भी इसे स्वीकार किया है। सुतरां सगुण अवगत ब्रह्म में ही वेदान्त का तात्पर्य है ऐसा माना जाय, तब निर्गुण अद्वैत ब्रह्म विचार रूप श्रवण में पाक्षिक अप्राप्ति होगी। अतः इस पाक्षिक अप्राप्ति के परिहार के लिए ही वेदान्त श्रवण में नियम विधि स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार नियम-विधि का विश्लेषण कुछ लोगों ने प्रदर्शित किया है।

सिद्धान्ती का कथन है कि यह भी ठीक नहीं है। कारण, श्रवण विधि में जो अधिकारी व्यक्ति है, वह सर्वथा निःस्पृह रहता है। ऐहिक एवं पारलौकिक फल-योग के प्रति विराग के बिना कोई भी व्यक्ति ब्रह्म-विषयक श्रवण का अधिकारी नहीं होता है। अतः परम सुखमय ब्रह्म लोक प्राप्ति रूप मुक्ति का साधन ब्रह्मो- पासना एवं उस सुखमय ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनुकूल सगुण ब्रह्मविचार में प्रवृत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। अतः श्रवणविधि के अधिकारी के लिए पूर्वोक्त प्रकार से नियम विधि कभी भी सम्भव नहीं हो सकती है।

इस स्थल में और भी विचारणीय यह है कि श्रवण विधि के द्वारा सगुणोपासना करने पर इसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म विचार हो सिद्ध होगा, क्योंकि सगुणोपासना निर्गुण उपासना का द्वार है और जो द्वार रहता है, उसके साथ साध्य की पाक्षिक अप्राप्ति की सम्भावना नहीं होती है। अतः सगुणोपासना के निराकरण के लिए निर्गुण ब्रह्म रूप वेदान्त श्रवण में नियम विधि स्वीकार की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि सगुणोपासना के द्वारा श्रवणादि के अभाव में जैसे सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है वैसे श्रवणादि के अभाव में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार भी तो सम्भव है। अतः श्रवणादि को विधि रूप में अथवा विधि की छाया रूप में ही स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का यह कथन है कि श्रवणादि प्रमाण और प्रमेय की असम्भावना विपरीत भावनादि रूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति करके सच्चा निश्चय रूप ब्रह्मज्ञान का उपाय है—यह पूर्व में कहा गया है, अतः सच्चा निश्चय के लिए श्रवणादि नितान्त आवश्यक है। सुतरां सगुणोपासना क्रमशः परममुक्ति की साधक होती है, इस प्रकार का शास्त्र वाक्य श्रवणादि को द्वार करके निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान की उत्पत्ति कराता है अर्थात् वह परम्परा क्रम में मोक्ष प्राप्ति का कारण होता है—यही सिद्ध होता है।

और भी विचारणीय यह है कि केवल सगुणोपासना से निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार होता है—यह स्वीकार करने पर वेदान्त के देवता-अधिकरण में देवतादि का शरीर नहीं है यह स्वीकार कर उनलोगों की सगुणब्रह्मोपासना या निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार का साधन श्रवणादि है, किन्तु उस श्रवणादि में यह सामर्थ्य ही नहीं है, सुतरां इन सब विषयों में उनलोगों का अधिकार भी नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष कर सिद्धान्त किया गया है कि मन्त्र, अर्थवाद, इतिहास और पुराण प्रमाण के द्वारा उनलोगों का भी शरीर है यह अवगत होता है, अतः उनलोगों को भी उक्त अधिकार है। उस स्थल में पूर्वपक्षी का उद्देश्य यह था कि देवत्तादि

का श्रवणादि में अधिकार न रहने पर भी परम्परा क्रम में मुक्ति जिसका फल है ऐसी ब्रह्मोपासना के द्वारा जो व्यक्ति देवभाव प्राप्त करते हैं, वे लोग भी श्रवणादि नहीं कर सकते है। फलतः उनलोगों के लिए भी निर्गुण ब्रह्मज्ञान का उदय असम्भव हो जायगा। इसलिए पुनः उनको संसार में आना अनिवार्य हो जायगा। अतः क्रममुक्ति की कामना करनेवाले व्यक्ति की सगुण ब्रह्मोपासना में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

इसके उत्तर में कहते है कि देवता को भी शरीर है, अतः स्वर्ग में जीव देवता का शरीर लाभ कर उस स्थान में श्रवणादि के द्वारा मुक्त होते हैं। ऐसी स्थिति में सगुण ब्रह्मोपासना में व्यक्ति की प्रवृति होने में किसी तरह की बाधा नहीं है। फलतः सगुण ब्रह्मोपासना श्रवणादि के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार का कारण होने से सगुणब्रह्मोपासना के साथ श्रवणादि का विकल्प होगा यह नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् श्रवण की पाक्षिक अप्राप्ति की सम्भावना यहां पर नहीं है और श्रवणादि की पाक्षिक अप्राप्ति नहीं रहने पर उसके परिहार के लिए श्रवणादि में नियम विधि की भी सम्भावना नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि सभी सगुण ब्रह्मोपासकों को श्रवणादि के द्वारा ही ज्ञान होगा ऐसी व्याप्ति (नियम) तो नहीं है। कारण, बृहदारण्यक भाष्य में पुरुषविध इत्यादि व्याख्या ग्रन्थ में देखा जाता है कि श्रवणादि एवं प्रणिपातादि के अभाव में सगुणोपासक हिरण्यगर्भ को भी ज्ञानोत्पत्ति प्रतिपादित की गई है। अतः श्रवण की ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति नियत कारणता नहीं है, किन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है। कारण, हिरण्यगर्भको श्रवण के द्वारा ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है—यही इस उपनिषद् भाग का आशय है, क्योंकि उक्त भाष्य में कहा है कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन साक्षात् ज्ञेय विषय रहते हैं। इस वाक्य में साक्षात् पद का प्रयोग है इस साक्षात् पद के द्वारा श्रवणादि को प्रणिपातादि की अपेक्षा की आवश्यकता सूचित होती है। इसलिए जन्मान्तरीय श्रवण कल्पना ही भाष्यकार को अभिप्रेत है। इसलिए इसके पूर्ववर्ती भाष्य में कहा गया है कि

श्रवणादि के अभाव में विशुद्ध चित्त होने से हिरण्यगर्भ को निर्गण ब्रह्मज्ञान होता है—यह अभ्युपगमवाद से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त वाक्य नहीं है। हिरण्यगर्भावस्था में श्रवण नहीं होता है—इसी का यह बोधक है। किन्तु इससे वामदेव के समान इनको जन्मान्तरीण श्रवण नहीं है यह अवगत नहीं होता है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि श्रवणादि के बिना निर्गुण ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता है। फलतः सगुण ब्रह्मोपासना के साथ इसका विकल्प सम्भव नहीं है। जब श्रवण की पाक्षिक अप्राप्ति की सम्भावना ही नहीं है तब उसके परिहार के लिए श्रवण में नियम विधि स्वीकार करना व्यर्थ है।

यदि यह कहा जाय कि ज्ञान की उत्पत्तिस्थल में सर्वत्र श्रवणादि रहता ही है, ऐसा नियम नहीं है। क्योंकि, योगमार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति का श्रवणादि के अभाव में भी तत्त्व साक्षात्कार होता है यह स्वीकार किया गया है। जिस पक्ष में योग का अनुष्ठान कर श्रवण नहीं करता है, उस योग के अनुष्ठान के पक्ष में श्रवण की अप्राप्ति होती है। अतः पाक्षिक अप्राप्ति के परिहार करने के लिए श्रवणादि में नियम स्वीकार करना आवश्यक है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि यह पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, "ओमित्यात्मानं युंजीत" "ओमित्येव ध्यायनात्मानम्" इत्यादि ध्यानविधि के बल से एवं "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम् विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्" इत्यादि योग ज्ञापक श्रौतलिंग के द्वारा यही अवगत होता है कि विचार में असमर्थ-व्यक्ति का ही योगमार्ग में अधिकार है, सिद्धान्तलेशसंग्रह के तृतीय परिच्छेद में इसी आशय को व्यक्त करते हुए कहा है कि—अनेक मुमुक्षुगण जिसको सुन भी नहीं सकते हैं—[१] यह श्रुति में उपलब्ध होता है। अत्यन्त

---

१ श्रवणायापि यो न लभ्यः सि० ले० पृ० ४४८

अत्यन्तबुद्धिमान्द्याद्वा सामग्र्या वाऽप्यसम्भवात्

यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥

कृष्णा० पृ० ४४७

बुद्धिमान्द्य सामग्री के नहीं होने से जो विचार नहीं कर सकते हैं वह ब्रह्मोपासना करें।

अतः असमर्थता के कारण जो श्रवणादि नहीं कर सकते हैं उनका योग मार्ग में अधिकार है। इस उपर्युक्त विश्लेषण से फलितार्थ यही हुआ कि जो साधन, अदृष्ट को द्वार करके तत्त्वज्ञान के साधन शास्त्र में विहित किये गये हैं, वे सभी सगुण उपासना के समान कभी दृष्ट सामग्री को द्वार कर, कभी असमर्थ स्थिति में शुभ अदृष्ट का उत्पादन कर तत्त्वज्ञान का साधन होता है—यही कल्पना करनी होगी। ज्ञान के साधन में निरपेक्ष होकर केवल अदृष्ट के द्वारा ज्ञानलाभ हो जायगा—यह कल्पना करना संगत नहीं है। कारण, अदृष्टकारण, दृष्टकारण की उपेक्षा कर भी कार्य का जनक होता है—यह स्वीकार किया जाय, तब सद्यः उत्पन्न बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति उसके जीवनादृष्ट के द्वारा ही सिद्ध हो जायगी, उसके लिए उसके जन्मान्तरीय स्तन्यपान विषयक इष्टसाधनता ज्ञान की कल्पना करना आवश्यक प्रतीत नहीं होगा। किन्तु यह सत्य है कि सभी आस्तिक दार्शनिक इस स्थल में जन्मान्तरीय इष्ट साधनता ज्ञानजन्य बालक की स्तन्यपान स्मृति की कल्पना करते हैं। अतः इसके द्वारा यही सिद्ध होता है कि ज्ञानोत्पत्ति के लिए लोक प्रसिद्ध कारण श्रवणादि को छोड़कर सगुणोपासनाजनित अनुष्ठानमात्र से ज्ञानोत्पत्ति हो जायगी—यह युक्ति संगत नहीं है। सुतरां योगादि के अनुष्ठान के द्वारा साक्षात् निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो सकता है, किन्तु वह अदृष्ट को द्वार कर श्रवणादि का उत्पादन करेगा और इस श्रवणादि रूप दृष्ट उपाय के द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान होगा। फलितार्थ यही हुआ कि योगादि का विकल्प है, अतः योग के द्वारा ब्रह्म ज्ञान होने पर श्रवणादि की पाक्षिक अप्राप्ति है। इसलिए पाक्षिकमात्र श्रवणादि में नियम विधि स्वीकार करना पड़ेगा—यह नहीं कह सकते हैं।

प्रकृत विवेचन का सारांश यही हुआ कि त्रैवर्णिक विद्याधिकारी और विचारसमर्थ व्यक्ति के लिए किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न रहने पर वेदान्त

श्रवणादि ही अनुष्ठेय है। प्रतिबन्ध के सद्भाव में इतिहास, पुराण और भाषादि प्रबन्ध का श्रवण अनुष्ठेय है। विचार में असमर्थ विद्याधिकारी त्रैवर्णिक के लिए योग शब्द वाच्य निर्गुण ब्रह्मोपासना ही अनुष्ठेय है। फलतः विद्याधिकारी विचार समर्थ व्यक्ति के लिए वेदान्त श्रवण की नित्य प्राप्ति है। इस वेदान्त श्रवण की किसी अन्य ब्रह्मज्ञान जनक उपाय के साथ विकल्प प्राप्ति की संभावना नहीं है। अतः किसी उपाय के साथ वेदान्त श्रवण की विकल्प प्राप्ति को सम्भावना न होने से इस वेदान्त श्रवण की पाक्षिक अप्राप्ति की किसी तरह भी प्रसक्ति नहीं हो पाती है। पाक्षिक अप्राप्ति की प्रसक्ति न होने से श्रवण में नियम विधि मानने की आवश्यकता ही नहीं होती है। अतः श्रवण में नियम विधि नहीं है। इसी प्रकार विद्याधिकारी विचारसमर्थ प्रतिबन्धकयुक्त व्यक्ति के लिए इतिहासादि अध्ययन अनुष्ठेय होने से उनलोगों के लिए श्रवण में अधिकार ही नहीं है। अतः इस पक्ष में भी उनलोगों के लिए नियमविधि स्वीकार्य नहीं है। उनलोगों के अन्य जन्म में जब प्रतिबन्धक की निवृत्ति होगी तब स्वतः ही वेदान्त श्रवण मे प्रवृत्त होंगे। अतः उनलोगों के लिए भी विधि स्वीकार को आवश्यकता नहीं है। विद्याधिकारी विचार में असमर्थ व्यक्ति का श्रवण में अधिकार ही नहीं है। अतः इस पक्ष में भी श्रवण में किसी तरह की विधि नहीं हो सकती है। योगशास्त्र के द्वारा उनलोगों में विचार सामर्थ्य उत्पन्न होने पर वे सब स्वयं ही वेदान्त-श्रवण करेंगे। अतः अधिकारी रहने पर वेदान्त श्रवण नित्य प्राप्त है। इसलिए किसी प्रकार की विधि श्रवण में सम्भव नहीं है। फलतः वेदान्त श्रवण में कोई विधि नहीं है। स्थल विशेष में श्रोतव्यः आदि जो विधि घटितःप्रयोग है वह विधि छाया से अतिरिक्त कोई विधि नहीं है। यही भाष्य का आशय स्पष्ट करते हुए वाचस्पति मिश्र ने भामती में स्वमत को संक्षेप में व्यक्त किया है।

विधिविचार एवं वेदान्तकल्पतरु

आचार्य शंकर ने सहकार्यन्तरविधिः इस सूत्र के व्याख्यान में मुक्त कण्ठ से श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन के अपर पर्याय बाल्य-पाण्डित्य एवं मौन में विधि स्वीकार किया है। भाष्य का आशय यह है कि बृहदारण्यक में नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः यह कहकर तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं विर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च विर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं निर्विद्याथ ब्राह्मणः (बृ० ३।५।१) इसमें पाण्डित्य श्रवण है, बाल्य मनन है श्रवण करके ज्ञान बल से युक्ति के द्वारा असंभावना निरास रूप मनन से या शुद्ध हृदय से रहने की इच्छा करे। अनन्तर मननशील मुनि निदिध्यासन युक्त होकर अन्तर में ब्रह्म हूं यह अवगत करता है[1]।

इसमें सन्देह होता है कि मौन में विधि है या नहीं ? जहां विधि विभक्ति सुनी जाती है वही विधेय होता है। बाल्येन तिष्ठासेत् यहां विधि विभक्ति सुनी जाती है। मौन में कोई विधि विभक्ति नहीं है, अतः यहां विधि नहीं हो सकती है। जैसे अथ ब्राह्मणः में ब्रह्म हूं इसमें विधि नहीं है वैसे ही मौन में भी विधि नहीं हो सकती है। फलतः अथ ब्राह्मणः इसके समान मौन भी प्रशंसावाक्य है इसमें विधि नहीं है। मौन यह प्रशंसा के लिए अनुवाद मात्र है और पाण्डित्य एवं बाल्य का ही यहां विधान है। इस प्रकार शंका उत्थापित कर समाधान भाष्य में कहा गया है कि बाल्य और पाण्डित्य के समान मौन में भी अपूर्वविधि है। इसके आगे पुनः शंका करते हुए कहा है कि पण्डित शब्द से ही मौन की भी अवगति हो रही है। अतः पण्डित में विधि मानने से मौन में भी विधि सिद्ध हो जायगी। इसलिए मौन में पृथक् विधि स्वीकार की आवश्यकता ही नहीं होती है और यह प्रशंसा के लिए अनुवाद मात्र है। इस शंका के समाधान में कहा गया है कि पाण्डित्य में विधि होने से मौन का विधि-

---

१ वे० कल्प पृ० ९१८

निरास एवं उसकी अनुवाद रूपता तो तब सम्भव होती यदि मौन और पाण्डित्य ये दोनों अपर पर्याय होते किन्तु स्थिति इससे भिन्न है। ज्ञान मात्र को ही पाण्डित्य का अर्थ माना गया है और ज्ञानातिशय सम्पत्ति को मौन कहा जाता है, क्योंकि मौन शब्द का इसी अर्थ में व्यवहार के द्वारा प्रयोग प्रचलित है। पाण्डित्य शब्द पण्डा अध्ययनजा ब्रह्मधीस्तद्वान् पण्डितः, तस्य कृत्यं पाण्डित्यं और मुनि शब्द मनन से सिद्ध होता है। मन् धातु से मनेरुच (उ०सू० ५६२) इस सूत्र के द्वारा अकार को उकार एवं इ प्रत्यय होता है। इसीलिए गीता में कहा है कि मुनियों में व्यास हूँ।[1] अतः मौन और पाण्डित्य अपर पर्याय न होने से बाल्य पाण्डित्य के अतिरिक्त इस तृतीय ज्ञानातिशय रूप जो मौन है उसमें भी विधि है क्योंकि बाल्य में ही विधि का पर्यवसान नहीं है वरन् ज्ञानातिशय रूप जो मौन है वह भी अपूर्व होने से मुनिः स्यात् मुनि हो इस रूप में मौन में भी विधि है जहां विधि विभक्ति श्रुत है वहां पूर्व में भी विधि है इसके बाद विधि विभक्ति का श्रवण न होने पर भी मौन अपूर्व होने से विधेय है। स्वर्ग की कामना करनेवाला दर्श एवं पूर्ण मास याग करे—इसमें विधि है, क्योंकि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत् स्वर्गकामः यहां विधि विभक्ति का श्रवण है, किन्तु इसके अतिरिक्त इन कर्मों के सहकारी अंगभूत अग्नि के अन्वाधान आदि में भी विधि स्वीकार की जाती है, यद्यपि इनमें विधि विभक्ति का निर्देश नहीं है। अतः यहां भी विधि विभक्ति के न रहने पर भी अपूर्व होने से ही विधि स्वीकार करना पड़ेगा।

भामती में वाचस्पति मिश्र ने इसका व्याख्यान इसी रूप में किया है। मिश्रजी ने विधि का श्रवण न होने पर भी अपूर्व होने से बाल्य और पाण्डित्य के समान मौन में भी विधि है—यही कहा है[2]।

---

१ मुनीनामप्यहं व्यासः गी० अ० १० श्लो० ३७

२ तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इति। यत्र हि विधिविभ-

कल्पतरुकार ने भी इस भाष्य भामती के संलापन में बहुत ही क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं-- कल्पतरु में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि किसी अवगत वस्तु का वैशद्य ही निदिध्यासन के द्वारा होता है। अवगति की विशदता के प्रति निदिध्यासन की कारणता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। अतः निदिध्यासन में विधि नहीं हो सकती है। कारण, यह अन्वय - व्यतिरेक गम्य होने से अपूर्व नहीं है। इसलिए निदिध्यासन में विधि सर्वथा असम्भव है। इसी आशय से निदिध्यासन की अविधेयता समन्वय सूत्र में कही गई है। प्रकृत में अपूर्व होने से निदिध्यासन में जो विधि कही गई है वह श्रवण और मनन से जो शब्द-जन्य ज्ञान होता है उसी से व्यक्ति अपने को कृतकृत्य मानकर ज्ञानातिशय रूप जो निदिध्यासन है उसमें प्रवृत्त नहीं होगा। ऐसी स्थिति में ज्ञातातिशय के प्रति निदिध्यासन की कारणता होने पर भी किसी किसी की निदिध्यासन में प्रवृत्ति नहीं होगी। निदिध्यासन में प्रवृत्ति नहीं होने से निदिध्यासन श्रवण मनन से अप्राप्त ही है, अतः निदिध्यासन का विधान होता है। कल्पतरु के इस विश्लेषण से अप्राप्तांश का पूरक होने से निदिध्यासन में नियम विधि ही स्वीकृत होती है किन्तु इस विश्लेषण से विधि का निरास न होने से कल्पतरुकार को पूर्वापर विरुद्धार्थ

क्तिः श्रूयते स विधेयः। बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्र च सा श्रूयते न श्रूयते तु मौने। तस्माद्यथाथ ब्राह्मण इत्येतदश्रूयमाणविधिकमविधेयमेवं मौनमपि। न चापूर्वत्वाद्विधेयम्, तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्येति पाण्डित्यविधानादेव मौनसिद्धेः, पाण्डित्यमेव मौनमिति। अथवा भिक्षुवचनोऽयं मुनिशब्दस्तत्र दर्शनात् गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम् इत्यत्र। तस्यान्यतो विहितस्यायमनुवादः। तस्माद्बाल्यमेवात्र विधीयते मौनं तु प्राप्तं प्रशंसार्थमनूद्यत इति युक्तम्। भवेदेवं यदि पण्डितपर्यायो मुनिशब्दो भवेत्, अपि तु ज्ञानमात्रं पाण्डित्यम् ज्ञानातिशयसंपन्नस्तु मौनम्, तत्रैव तत्प्रसिद्धेः, आश्रमभेदे तु तत्प्रवृत्तिर्गार्हस्थ्यादिपदसंनिधानात्। तस्मादपूर्वत्वान्मौनस्य बाल्यपाण्डित्यापेक्षाया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं विधीयते। एवं च निर्वेदनीयत्वमपि विधानं आंजसं स्यादित्याह—

भामती पृ० ९१७-९१८

प्रतिपादन होने से पूर्ण संतोप नहीं हो रहा है। अतः अथवा कल्प से अन्यथा समाधान में उद्यत होते हैं[१]।

कल्पतरुकार का कथन है कि निदिध्यासन में विधि नहीं है यह अर्थवाद मात्र है। यह अर्थवाद वाक्य निदिध्यासन के प्रसंशा के द्वारा निदिध्यासन में प्रवृत्ति के अतिशयत्व का सूचन करता है। अतः प्रसंशा वाक्य होने से यह अर्थवाद वाक्य है। इसमें यह शंका होती है कि यदि यह अर्थवाद वाक्य है तब इसको विधि स्वरूप में भाष्य एवं भामती में निर्देश क्यों किया जाता है? इस शंका का समाधान करते हुए कहा है कि इसमें विधित्व इस आशय से कहा गया है—निदिध्यासन पाण्डित्य एवं बाल्य से प्राप्त नहीं होता है। अतः अप्राप्तिरूप जो अपूर्वत्व है वह निदिध्यासन में वर्तमान है। वस्तुगत्या प्रवृत्त्यतिशयकारक वाक्य होने से अर्थवाद वाक्य ही है। इसीलिए समन्वय सूत्र में इसको विधिच्छाया कहा विधि नहीं कहा गया[२]।

कल्पतरुकार ने अन्य युक्ति के आधार पर भी श्रवणादि में नियमादि विधि का खंडन किया है। व्रीहीन् अवहन्ति आदि में नियम विधि मानी गई है। धान्य के निष्तुपीकरण के द्वारा तण्डुल सम्पादन करना अभिष्ट है। तण्डुल निष्पत्ति अर्थात् निष्तुपीकरण नख-विदलन एवं अवघात के द्वारा हो सकता है। केवल अवहनन ही तण्डुल सम्पादन का उपाय नहीं है वरन् नखविदलन आदि उपायान्तर

---

१ अपूर्वत्वाद्विधिरोस्येय इति समन्वयसूत्रे निदिध्यासनादेर्वस्त्वगमवैशयं प्रत्यन्वय-व्यतिरेकसिद्धत्वादविधेयत्वमुक्तम्, इह स्वन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वेऽपि शाब्दज्ञानात् कृतकृत्यतां मन्वानो यदि कश्चित् ज्ञानातिशयरूपे निदिध्यासने न प्रवर्तेत, तं प्रत्य-प्राप्तं तद्विधीयते इत्युच्यते। अत एव श्रुतिः तस्यै भयं विदुषो मन्वानस्येति।

कल्पतरु पृ० ९१९

२ अथवा पाण्डित्यादिशब्दान्तरादप्राप्तिरपूर्वत्वं विधित्वं चार्थवादस्यैव सतो वाक्यस्य प्रशंसाद्वारेण प्रवृत्त्यतिशयकरत्वम्। अत एव समन्वयसूत्रे भाष्यं—विधिच्छायानि वचनानीति।

कल्पतरु पृ० ९१९

की भी वहां प्राप्ति है। अतः जब नखविदलन आदि उपायान्तर से निष्तुपीकरण होगा वहां अवघात की प्राप्ति नहीं है। अतः अवघात की पाक्षिक प्राप्ति होती है। पक्ष में अप्राप्त अंश के पूरण के लिए व्रीहीन् अवहन्ति को नियम विधि माना है। इससे यह सिद्ध होता है कि अवघात के द्वारा ही निष्तुपीकरण अदृष्ट का साधक होने से अवघात से ही निष्तुपीकरण होता है। फलतः पक्ष में अप्राप्त अंश का पूरण इस नियम विधि के द्वारा सम्पन्न हो जाता है। इसी प्रकार इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य यहां अग्निमृणम् रशना के आदान से गर्दभ रशना एवं अश्व रशना उभय के आदान की प्राप्ति होती है। तब अश्वामिधानीमादत्ते इसमें परिसंख्या विधि स्वीकार करने से गर्दभ रशना के आदान से इसकी व्यावृत्ति करता है। अतः यहां उभय के आदान की प्राप्ति होने से गर्दभ रशना के आदान की व्यावृत्ति करने से परिसंख्या विधि सिद्ध होती है। क्योंकि पाक्षिकी प्राप्ति होने से नियम विधि रहती है तथा इष्ट एवं अतिरिक्त में प्राप्ति होने पर परिसंख्या विधि रहती है। नियम विधि में पक्ष में अप्राप्त अंश का पूरण होता है और परिसंख्या विधि में अभिष्ट से अतिरिक्त स्थल में जो प्राप्ति है उसकी व्यावृत्ति होती है। प्रकृतस्थल में श्रवण से साध्य ब्रह्म साक्षात्कार है। इस स्थल में ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन श्रवण है। ब्रह्म साक्षात्कार में कोई अन्य उपाय की सम्भावना ही नहीं है। यदि इससे अतिरिक्त अन्य उपाय भी ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए रहता तब उपायान्तर से साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार के पक्ष में श्रवण की अप्राप्ति होने से नियम विधि रहती या उस उपायान्तर की व्यावृत्ति के लिए परिसंख्या विधि रहती किन्तु प्रकृति में दोनों में एक भी विधि सम्भव नहीं है। यह शंका होती है कि ब्रह्मसाक्षात्कार विशेष में उपायान्तर के असम्भव होने पर भी अत्यन्त अप्राप्ति होने से अपूर्व विधि ही यहां हो जायगी किन्तु विश्लेषण करने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह शंका समीचीन नहीं है। कारण, व्यक्ति में अन्वय व्यतिरेक नहीं माना जाता। सामान्यरूप उपाधि में ही अन्वय व्यतिरेक स्वीकार किया गया है। प्रकृति में एक ब्रह्मव्यक्ति है इसमें उपायान्तर के असम्भव का परिज्ञान होने से

अपूर्व विधि नहीं हो सकती है। एक व्यक्ति रहने पर उपायान्तर का असम्भव-ज्ञान तो स्वभाविक ही है। यदि उपायान्तर के असम्भवज्ञान मात्र से अपूर्व विधि रहे तब तो अवघात व्यक्ति साध्य तण्डुल व्यक्ति में उपायान्तर का असम्भव परिज्ञान वर्तमान ही है। अतः वहां भी अपूर्व विधि ही मानी जायगी। कारण, तण्डुल सामान्य में नखविदलन आदि उपायान्तर की प्राप्ति है किन्तु अवघात व्यक्ति साध्य तण्डुल व्यक्ति में तो नखविदलन आदि उपायान्तर का असम्भव ज्ञान विद्यमान है। अतः यहां अपूर्व विधि भी सम्भव नहीं है।

इस प्रकार विधि त्रय की सम्भावना का निराश कर पुनः वार्तिककार के मत का उत्थापन करते हुए उसकी निराकरण के द्वारा विधि का खण्डन कल्पतरुकार ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

वार्तिककार ने कहा है कि द्रष्टव्यः इसके द्वारा दर्शन रूप फल ही यहां स्वीकार किया गया है। दर्शन रूप फल जैसे वेदान्त श्रवण अर्थात् शब्द प्रमाण का फल है वैसे ही अन्य प्रमाण का भी दर्शन ही फल है। दर्शन यह सभी प्रमाण का साधारण फल है। अतः सभी प्रमाणों की आत्मदर्शन रूप फल के प्रति अनियत रूप से प्राप्ति होने से **श्रोतव्यः** इसके द्वारा वेदान्त श्रवण में ही आत्म-दर्शन के लिए साधन कहा गया है। फलतः **श्रोतव्यः** में नियम विधि की सिद्धि वार्त्तिक वचनों से होती है।

इसके खण्डन प्रसंग में कल्पतरुकार ने कहा है—प्रमाण-फल दर्शन = साक्षात्कार के प्रति सभी प्रमाणों की अनियत एक रूप से प्राप्ति होने से वेदान्त नियम के द्वारा प्रमाण का ही नियम वार्तिककार ने कहा है। श्रवण का नियम-कथन वार्त्तिककार को अभीष्ट नहीं है। अब यह शंका होती है कि वार्तिककार ने यदि प्रमाणनियम ही कहा वेदान्त का नियम नहीं कहा है तब वेदान्त-श्रवण में नियत प्रवृत्ति ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए किस प्रकार होगी।

इसके समाधान में इनका यह कथन है कि प्रमाण नियम होने पर भी योग्यतावश से वेदान्त श्रवण में ही नियम सिद्ध होता है क्योंकि ब्रह्मात्मैक्य वेदान्त से ही वेद्य है। अतः वेदान्तातिरिक्त प्रमाण में ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान कराने की योग्यता न होने से स्वतः निवृत्ति हो जाती है और वेदान्तश्रवण में नियम का स्वतः लाभ होता है। इसलिए श्रोतव्य में नियम विधि नहीं है। प्रमान वेद्य इतने अंश में ही वार्त्तिक का तात्पर्य है। अर्थात् प्रमाण नियम ही यहां वार्त्तिककार का विवक्षित है श्रवण नियम नहीं। पौराणादि की ब्रह्मात्मैक्यज्ञान के प्रति प्रसवित होने पर इस पूर्वोक्त वेदान्त श्रवण के नियम से ही उसकी व्यावृत्ति हो जाती है। अतः वाचस्पति के मत में पूर्वापर विरोध एवं भाष्य के आशय की अनभिज्ञाता नहीं है[1]।

---

१ नात्रापूर्वविधिः प्राप्तेरन्यौपायतो न च।
न च नियमः परिसंख्या वा श्रवणादिषु संभवेत् ॥
अवघातो हि दलनाद्युपायान्तरसंभवे च सति पाक्षिक्यमप्राप्तौ तत्परिपूरणेन नियम्यते इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येति मन्त्रश्चागृभ्णान्नित्यादानलिंगाद् रशनाशब्दाच्चाश्वगर्दभरशनयोरुभयत्र प्राप्तौ अश्वाभिधानीमादत्त इति गर्दभरशनातो व्यावर्त्यते, न तु श्रवणादिसाध्ये ब्रह्म साक्षात्कारे स्त्युपायान्तरसम्भवो यतः श्रवणादेर्नियमः परिसंख्या वा स्यात्। न च ब्रह्मसाक्षात्कारव्यक्तावुपयान्तरासम्भवादपूर्वविधित्वमाशंकनीयम्, यतः सामान्योपाधावन्वयव्यतिरेकी स्यात्। निविशेते,न व्यक्तौ, इतरथा वघातव्यक्तिसाध्यतण्डुलव्यक्तावुपायान्तरासम्भवपरिज्ञानादपूर्वविधित्वप्रसंगात्। यत्तु वार्त्तिककृद्भिरुक्तम्—सर्वमानप्रसक्तौ च सर्वमानफलाश्रयात्। श्रोतव्य इत्यतः प्राह वेदान्तावरुरुत्सया। इति। प्रमाणफलं साक्षात्कारं प्रति सर्वमानप्राप्तौ वेदान्ता नियम्यन्ते इत्यत्रापि प्रमाणानियम उक्तो न श्रवणनियमः। न च स एव विधेर्विषयः, संनिधानादेव वेदान्तलाभात्। एतेन पुराणादिप्राप्तौ वेदान्तनियमं व्याचक्षीत। तस्मान्न वाचस्पतेः पूर्वापरव्याहतभाषिता नापि सूत्रभाष्यनभिज्ञतेति।

कल्पत० पृ० १२०-१२१

विधि विचार और कल्पतरु परिमल

बृहदारण्यक उपनिषद् में जो **पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्** कहा गया है। यहां बाल्य शब्द का अर्थ परिमलकार ने कल्पतरु सिद्धान्त का अनुसरण कर प्रदर्शित किया है। **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः** ऐसा श्रुति में कहा गया है। इसका आशय यह है कि सांगवेदाध्ययन जन्य आपाततः जो ब्रह्मज्ञान होता है वह श्रवण कहा जाता है। उस श्रवण का जो प्रतिष्ठापक है (युक्ति के द्वारा अनुचिन्तन रूप) वही बल है। यह बल युक्ति के द्वारा अनुचिन्तनरूप मनन है। बल एवं मनन पर्याय है किन्तु बाल्य एवं मनन ये दोनों अपर पर्याय नहीं है। बल के द्वारा जो असम्भावना का निराश होता है उसी को बल का भाव (बाल्य) रूप में उपचरित निर्देश किया गया है। जैसे पूर्वोक्त बल से जो असम्भावना निराश उत्पन्न होता है उसका जिस तरह बाल्यत्व के रूप में उपचार किया गया है उसी तरह पूर्वोक्त असम्भावना निराश मनन का कार्य होने के कारण मनन के रूप में उपचरित निर्देश किया जाता है। बाल्य शब्द का इस प्रकार व्याख्यान कल्पतरुकार ने जो प्रदर्शित किया है वह बृहदाण्यक भाष्य अनुसार ही समझना चाहिए। ब्रह्मसूत्र के **अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्** इस अधिकरण में बाल का कर्म बाल्य है यही व्युत्पत्ति बाल्य शब्द की प्रदर्शित की गई है। इसलिए कल्पतरुकार ने बाल्येन इस शब्द का अर्थ शुद्ध हृदयत्वेन वा यह किया है। भाष्यकार शंकराचार्य ने **तद्वतोविध्यादिवत्** इस ब्रह्मसूत्र के तद्वतः शब्द का विश्लेषण **विद्यावतः सन्यासिनः** यह कहा है। इसी का व्याख्यान करते हुए कल्पतरुकार ने पूर्वपक्ष के मतानुसार तद्वतः शब्द का अर्थ **साक्षात्कारवतः** यह

प्रदर्शित किया है। पूर्वपक्षी इस प्रकार व्याख्यान प्रदर्शन का कारण यह है कि **तं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च····भिक्षाचर्यं चरन्ति।** इसके द्वारा पूर्व प्रकृति विद्वत्सन्यास का ही ग्रहण करना चाहिए। कारण, प्रदर्शित उपनिषद् वाक्य में जो विभित्वा पद का व्यवहार किया गया है इसका तात्पर्य विद्वत्सन्यास अवगत करना ही है। पूर्वपक्ष के अनुसार कल्पतरुकार ने भाष्यवाक्य का जो व्याख्यान किया है उसका निष्कर्ष यही है कि विद्वत्सन्यास में साक्षात्कार-वती विद्या का अतिशय किया है परन्तु इस प्रकार का अर्थ अनुचित है। कारण, विद्यावतः सन्यासिनः इसका अर्थ यदि साक्षात्कारवतः इस प्रकार किया जाय तब तो यही सिद्ध होता है कि ऐसे विद्वत्सन्यासी का विद्यातिशय सिद्ध है और इससे विद्यातिशय रूप निदिध्यासन में विधि स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। अतः प्रकृति में विद्वत्सन्यास अर्थ विवक्षित नहीं है। **ऐतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः** प्रजन्तीति इस श्रुतिवाक्यान्तर के द्वारा सिद्ध जो विविदिषु सन्यास है उसी का ग्रहण किया गया है। कारण, जहां पदार्थ का सामान्यरूप से ग्रहण किया जाता है वहां प्रकरण की अपेक्षा होती है। प्रकरण के द्वारा प्राप्त होने से ही सन्यास सामान्य का ग्रहण किया जाता है, परन्तु जब सन्यास विशेष का ग्रहण विवक्षित है तब प्रकरण की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रकृतिस्थल में **विविदिषुसन्यास** सन्यास विशेष होने के कारण प्रकरण की अपेक्षा नहीं रखता है। यह मात्र विद्यातिशय रूप जो विधि है उसी का अनुगामी होता है।

आशय यह है कि प्रकृति में यदि इस प्रकार विशेष अर्थ का ग्रहण नहीं किया जाय तब ज्ञानातिशय यही अर्थ यहां मानना होगा। ज्ञानातिशय रूप मौन में विधि सिद्ध नहीं हो सकेगी इसलिए परिमलकार ने पूर्वोक्त स्थल में विविदिषु सन्यास इसी अर्थ का ग्रहण किया है। विविदिषु सन्यास ज्ञानातिशय रूप नहीं है। अतः ज्ञानातिशय रूप मौन में विधि मानना सर्वथा समीचीन है।

प्रश्न हो सकता है कि विद्यावतः सन्यासिनः इस भाष्य वचन का विविदिषु सन्यास यह अर्थ कैसे हो सकता है ? कारण, इसका तो कोई यहां प्रकरण ही नहीं है। इसके उत्तर में परिमलकार का कथन है कि सामान्यतः प्राप्त में ही प्रकरण की अपेक्षा होती है विशेष रूप में जिसका अभिधान किया जाता है उसमें प्रकरण की अपेक्षा नहीं होती है। इसलिए प्रकृतिस्थल में प्रकरण के अनुसन्धान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। विद्यावतः सन्यासिनः इस भाष्य का आशय प्रदर्शन प्रसंग में भामतीकार ने कहा है—विद्यावान इसके द्वारा विद्यातिशय विवक्षित नहीं है वरन् विद्या की उत्पत्ति में जो अभ्यास है उसमें जो प्रवृत्ति है वही भाष्यमत में विद्यावान् है। उत्पन्न विद्यातिशय सन्यासी विद्यावतः सन्यासी का अर्थ नहीं है[1]।

भाष्यकार शंकराचार्य सहकार्यान्तरविधिः इस सूत्र में पक्षेन पद कहा है। इसका आशय प्रदर्शन करते हुए कहा है कि भेदज्ञान के प्रावल्य से जब पुरुषों की ज्ञानातिशय रूप मौन में पाक्षिक अप्राप्ति होती है उस पक्ष में वहां पर मौन में विधि स्वीकार की गई है। किन्तु इसमें यह शंका होती है कि भाष्यकार का पूर्वोक्त कथन विचार संगत प्रतीत नहीं होता है। कारण, जहां अन्वयव्यतिरेक के द्वारा फल का साधन यह अवगत होता है वहां फलार्थी की यदि व्यामोह के कारण कदाचित् प्रवृत्ति हो जाए उस स्थल में उस व्यक्ति की प्रवृत्ति के निर्वाह कराने के लिए विधि की कोई अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार की शंका को हटाने के लिए कल्पतरुकार ने जो कुछ कहा है उसका आशय हमलोगों नें पूर्व में ही प्रदर्शित कर दिया है।

---

१ विद्यावानिति न विद्यातिशयो विवक्षितः, अपि च विद्योदयाभ्यासे प्रवृत्तो न पुनरुत्पन्नविद्यातिशयः ।

भाम० पृ० ९१९

परिमलकार ने इसका आशय निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है—जहां एक व्यक्ति को पत्न्यन्तर है वहां दूसरी पत्नी का जो पुत्र है उस के द्वारा ही अपने को कृतकृत्य समझ कर पत्न्यन्तर में अनुराग प्रयुक्त अथवा पत्न्यन्तर में रोष प्रयुक्त अनुगमन की अप्राप्ति होने से वहां नियम किया जाता है कि ऋतुकाल में अनुगमन करना ही चाहिए[1]। इसी प्रकार प्रकृतिस्थल में भी समझना चाहिए।

कल्पतरुकार ने जो **अपूर्वत्वाद्विधिरास्थेयः** इस भामतीकार के वचन का व्याख्यान करते हुए कहा है... ....निदिध्यासन से वस्तु का अवगमवैसद्य होता है यह अन्वयव्यतिरेक सिद्ध है अतः वह अविधेय है। यही **तत्त समन्वयात्** (१-१-४) इस सूत्र में भाष्य एवं भामती का निष्कर्ष है। इस स्थल में जो भामतीकार ने अपूर्वत्वाद्विधिरास्थेयः यह कहा है इसका आशय यही है कि निदिध्यासन के वस्तु का अवगम वैसद्य अन्वय व्यतिरेक सिद्ध होने पर भी जहां पुरुष वेदान्त वाक्य के ज्ञान से ही अपने को कृतकृत्य मानकर ज्ञानातिशय रूप निदिध्यासन में प्रवृत नहीं होता है उसके लिए निदिध्यासन अप्राप्त होने के कारण निदिध्यासन का विधान किया गया है।

भामतीकार ने जो अपूर्वत्वात् कहा है इसका अर्थ अप्राप्त होता है। इसी का आशय उद्घाटन करने के लिए परिमलकार ने कहा है कि कल्पतरुकार ने भामती के आशय प्रदर्शन प्रसंग में अविधेयत्व शब्द का उल्लेख किया है। उसका अर्थ अपूर्वविधि का अविषयत्व है। पूर्वोक्त स्थल में अपूर्वविधि नहीं हो सकती है यही इसका अर्थ है। समन्वय सूत्र में विधि का जो निषेध किया गया है इसका आशय यही है कि वहां अपूर्व विधि का विषय नहीं है। वर्तमान

---

१ यथा दारान्तरपुत्रैः कृतकृत्यता मन्वानस्य दारान्तररागेण रोषेण वा अनुगमनाप्राप्तो ऋतावुपेयादेवे ति, नियमविधिः, तथैहापीति भावः।

कल्प० पृ० ९१९

अधिकरण में ज्ञानातिशय रूप मौन नियम विधि का विषय है यही भामतीकार कहना चाहते हैं। इससे भामती के पूर्वापर वचन का विरोध हट जाता है[1]।

इसमें पुनः शंका होती है कि अपूर्वोक्त व्याख्यान से भामतीकार के वचन में पूर्वापर विरोध का परिहार करने पर भी यह शंका बनी रहती है कि समन्वय सूत्र के भाष्य में जो विविच्छाया पद का प्रयोग किया गया है एवं उस स्थल पर व्याख्या। में भामतीकार ने भी जो कहा है उसके साथ भाष्य और भामतीकार के वर्तमान कथन का सामंजस्य नहीं होता है। कल्पतरुकार ने इसी शंका को मन में स्थिर कर भिन्नरूप का व्याख्यान प्रदर्शन करते हुए परिहार दिखाया है। उसका आशय परिमलकार ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है—पत्न्यन्तर के पुत्र के द्वारा जैसे अपने को कृतकृत्य समझ सकता है इसी प्रकार वेदान्त वाक्य ज्ञान के द्वारा कृतकृत्य समझने का कोई कारण नहीं है। इन दोनों में दृष्टान्त-द्रार्ष्टान्तिक भाव सर्वथा अनुपपन्न है। कारण, दारान्तर पुत्र के द्वारा पुरुष पितृऋण से मुक्त हो सकता है परन्तु वेदान्त शब्द के ज्ञान मात्र से ही ध्यान के विना ही ब्रह्म साक्षात्कार लाभ नहीं कर सकता है इसलिए पूर्वोक्त दृष्टान्त में नियम विधि की अपेक्षा रहने पर भी यहाँ नियम विधि की अपेक्षा नहीं है। इसी बात की सूचना देने के लिए सूत्रकार ने पक्षेण इस पद का प्रयोग किया है एवं वहाँ का भाष्य ग्रन्थ भी दिया गया है। इसका तात्पर्य यही है कि भेदज्ञानरूप व्याहमोह प्रयुक्त जो पुरुष ध्यान में उत्साहशून्य हो जाता है उसी के उत्साह को उत्पन्न करने के लिए पूर्वोक्त उपनिषद् वाक्य में विध्याभास रूप अर्थवाद है यही तात्पर्य समझना चाहिए। इस प्रकार भाष्य भामतीकार विरोध परिहार करने के लिए जो प्रयास किया इससे उनको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। अतः वस्तुतः मौन में विधि नहीं है यही वाचस्पति का सिद्धान्त है यह उसका आशय प्रदर्शन किया है। इसके गूढ़ तात्पर्य

---

१ एवं चाविधेयत्वमुक्तमित्यस्थापूर्वविध्यविषयत्वमुक्तम्, इह तु नियमविधिविषयत्वमुच्यत इति पूर्वापरविरोधपरिहारो द्रष्टव्यः।

कल्प० प० पृ० ९१९

को परिमलकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है:—श्रवण, मनन एवं ध्यान क्रमिक रूप में उत्पन्न होता है एवं इन सबों का ब्रह्म साक्षात्कार में पर्यवसान होने से ब्रह्म-साक्षात्कार ही इन तीनों का फल है यह कहा गया है। इसमें जो श्रवण पद है वह तो स्वाध्यायो ध्येतव्यः इस विधि के अधीन जो सांगवेदाध्यन है उसी सांग-वेदाध्यन अन्य आपात ज्ञान रूप है। अतः इसमें किसी विधि की अपेक्षा नहीं कर सकते हैं। पूर्वोक्त श्रवण ही फलवत जो अर्थ निर्णय है उस अर्थ निर्णय के लिए जो विचार है उस विचार रूप मनन में प्रवर्तन कराता है। इसलिए फल-वत अर्थ निर्णय के लिए जो विचार उस विचार रूप मनन में भी किसी विधि की अपेक्षा नहीं है।

इसमें प्रश्न हो सकता है कि कोई पुरुष गुरु आदि से निरपेक्ष होकर ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए स्वतन्त्ररूप से मनन रूप विचार में प्रवृत्त हो सकता है अथवा द्वैतरूप विचार में भी वह प्रवृत्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में इन दोनों की प्राप्ति होने से इन दोनों की प्राप्ति स्थल में अप्राप्त्यंश पूरण के लिए नियम विधि का अवकाश रह जाता है। किन्तु इस प्रकार शंका करना समीचीन नहीं है। कारण, श्रुति में कहा गया है कि तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्। इसके द्वारा जो गुरु के सम्मुख गमन में नियम किया गया इस नियम के द्वारा ही निरपेक्ष स्वतन्त्र रूप से जो विचार की प्राप्ति है उसकी निवृत्ति हो जाती है। द्वैतशास्त्र विचार अद्वितीय ब्रह्मसाक्षात्कार का उपाय नहीं है, अतः उसकी भी पक्ष में प्राप्ति नहीं है। इसलिए विचार रूप मनन में विधि स्वीकार करने की कोई युक्ति नहीं है।[१]

इसमें प्रश्न होता है कि द्वैतशास्त्र विचार मोक्ष जनक ब्रह्मज्ञान का उपाय है ऐसी भ्रांति तो हो सकती है और इस युक्ति के द्वारा द्वैतशास्त्र विचार की प्राप्ति हो सकती है। यह भी कथन अनुचित है, कारण भ्रान्तिप्रयुक्त प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ नियमविधि के द्वारा भी वारण नहीं किया जा सकता है। ऐसे

---

१ कल्प० प० पृ० ९१९

स्थल में तो जो नियम विधि है उसको द्वैतवादीगण द्वैतशास्त्रविचार में नियम करके ग्रहण कर सकते हैं। द्वैतियों को ऐसा भ्रम हो सकता है कि पूर्वोक्त नियम का द्वैतशास्त्र विचार ही विषय है। इसमें पुनः शंका होती है कि पुराण एवं भाषा प्रबन्धादि में तो वेदार्थ प्रतिपाद्य विषय का ग्रथनकिया गया है। इसलिए पुराण एवं भाषा प्रबन्ध आदि की भी पक्ष में प्राप्ति होती है। ऐसे स्थल में वेदान्त वाक्य ही विचार करना चाहिए इस प्रकार की नियम विधि की अपेक्षा रहती है। यह भी कहना अनुचित है। कारण, अध्ययनविधि में ही कहा गया है कि वेद के द्वारा ही वेदार्थ ज्ञातव्य है जब इस प्रकार नियम विद्यमान है तब पूर्वोक्त नियम स्वीकार का कोई प्रयोजन नहीं है और विशेष बात यही है इतिहास एवं पुराण के द्वारा वेद का उपबृंहण के लिए कहा गया है इसलिए वेदोपबृंहण में ही पुराणादि का विनियोग है। म्लेच्छ भाषा नहीं सीखना चाहिए इस श्रुति वाक्य के द्वारा भाषा प्रबन्ध का निषेध किया गया है अतएव पुराण एवं भाषा प्रबन्ध का विचार पक्ष में प्राप्त ही नहीं हो सकता है। इसलिए वेदान्त वाक्य विचार में नियम स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है[1]।

प्रश्न हो सकता है कि न्याय विचार को छोड़कर इस वेदान्त वाक्य का यह अर्थ है इस प्रकार वाक्य न्याय सिद्ध जो अर्थ है—उस अर्थ विषयक गुरुपदेश को भी तो पक्ष में प्राप्ति है। कारण, पूर्व में वाक्य न्याय के द्वारा सिद्ध जो अर्थ है तद्विषयक गुरू का उपदेश ही पूर्व में अपेक्षित होता है। आपाततः ज्ञान के बाद हो विचार प्रवृत्त होता है। न्याय विचार (मनन) में प्रवृत्त न होकर केवल इस वाक्य का यह अर्थ है इस प्रकार वाक्य न्याय के द्वारा सिद्ध जो वाक्यार्थ विषयक गुरुपदेश है। उसकी जिस पक्ष में प्राप्ति होती उस पक्ष में मनन रूप न्याय विचार की प्राप्ति नहीं है। अतः अप्राप्त अंश पूरण के मनन में नियम विधि होगी। इस प्रकार का कथन भी अनुचित है। लक्षण के द्वारा ब्रह्म स्वरूप-

---

१ कल्प प० पृ० ९१९

निर्धारित करके ध्यान के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार सम्पादन करना चाहिए। ब्रह्म का अस्तित्वमात्र ज्ञान काराकर वह ब्रह्म क्या है ? इस प्रकार ब्रह्म यही है—यह निर्धारण करने के लिए समागत भृगु ऋषि को यतो वा इत्यादि ब्रह्म लक्षण के द्वारा ब्रह्म स्वरूप का उपदेश देकर तद्विजिज्ञासस्व अर्थात् उक्त ब्रह्म को विशेष रूप से ज्ञान करने के लिए इच्छा करो। इस प्रकार जो उपनिषद् वाक्य की उक्ति है इस उक्ति में सामर्थ्य से यही ज्ञात होता कि लक्षण के द्वारा ही ब्रह्म का निर्धारण करके ज्ञान करना चाहिए—इस प्रकार नियम का उन्नयन किया जाता है। गुरु का शृंगग्रादि भी रूप से जो उपदेश वह उपदेश यदि ध्यान के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के उपयोगी ब्रह्म निर्धारण का उपाय होता तब तो लक्षण के द्वारा ब्रह्मनिर्धारण रूप जो गुरुभूत उपाय है उसमें गुरु, शिष्य की प्रवर्तित नहीं करा-येगा। जहां गुरुपदेश ब्रह्म स्वरूप निर्धारण का उपाय है और इससे ध्यान के द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार भी हो सकता है वहां ब्रह्म के लक्षण के द्वारा ब्रह्म का निर्धारण कराकर बाद उसका ध्यान के द्वारा साक्षात्कार करना तो गुरुभूत उपाय है। जहां लघु उपाय सम्भावित होता है वहां गुरु उपाय का आदर नहीं किया जाता है। लक्षण के द्वारा ब्रह्म-निर्धारण का प्रयोजन यही है कि प्रधानादि में जिस प्रकार अति व्याप्ति नहीं हो जाय एवं असम्भव आदि दोष नहीं हो जाय यही इसका प्रयोजन है। अतिव्याप्ति एवं असम्भव निरास के द्वारा लक्षण मुखेन जो ब्रह्म स्वरूप निर्धारण वह लक्षण को दृढीकरण करने के लिए सर्ववेदान्तार्थ निर्णायक न्याय विचार की अपेक्षा करता है। सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य का विवेचन करके निर्गुण ब्रह्म प्रतिपादक वाक्य के द्वारा ज्ञात आनन्दादिगुण एवं स्थू-लत्व आदि का निषेध में उपसंहार करके वेदान्त वाक्य अखण्ड अर्थ का प्रतिपादक है यह निर्धारण भी सर्ववेदान्त वाक्यार्थ—निर्णायक न्याय विचार की अपेक्षा करता है।

---

१ किसी पशु का जब शृंग ग्रहण यह मेरी गौ है यह कथन हो सके।

न्यायानुसन्धान के बिना यह वाक्य सगुण विषय नहीं है। यह वाक्य निर्गुण विषयक है यह निर्णय सम्भव नहीं है। क्योंकि उपनिषद् में उभयविध वाक्य उपलब्ध होते हैं, उन वाक्यों का पूर्णविचार नहीं किया जाय तब तो सांकर्य रहेगा, सर्वथा निर्णय नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि यह सगुण विषयक वाक्य नहीं है। यह निर्णय होने पर भी यह वाक्य निर्गुण विषयक है यह सगुण विषय है यह निर्णय हो जायगा। असंकीर्ण निर्णय नहीं हुआ तब यह वाक्य सगुण विषय है और यह वाक्य निर्गुण विषयक यह सम्भिन्न निर्णय भी नहीं हो सकता है। यह वाक्य सगुण विषयक नहीं है यह निर्णय होने पर भी यह वाक्य निर्गुण विषयक यह सम्भिन्न निर्णय हो सकता है क्योंकि पूर्व में विचार के बिना जो अपातज्ञान होगा उस ज्ञान में यह सगुण विषयक नहीं है यह असंकीर्ण ज्ञान नहीं होता है और जब सगुण और निर्गुण विषयक ज्ञान संकीर्ण रहेगा तो स्वयं ही निर्गुण विषयक वाक्य में अनुपपत्ति उपस्थित होने से या द्वैत वादियों के आक्षेप से अनुपपत्ति के प्रतिसन्धान होने पूर्व निर्णय का अन्यथाभाव हो जायगा। अतः न्यायानुसन्धान की अपेक्षा रह ही जाती है। यदि किसी को पूर्वजन्म के न्याय विचार की अतिशयता के कारण निश्चल निर्धारण हो जाता है तब उसको शृंग ग्रहण के द्वारा उपदेश पक्ष में मनन के बिना भी कार्य चल सकता है।

अब यह शंका होती है कि न्याय विचाररूप मनन में नियम विधि का खण्डन नहीं हो सकता है। कारण, इस वाक्य का यह अर्थ है इस प्रकार के गुरु के उपदेश से भी तो न्यायसिद्ध अर्थ का उपदेश हो सकता है। विचाररहित गुरु के उपदेश को भी पक्ष में प्राप्ति है। इसलिए पक्ष में अप्राप्तांश के पूरण के लिए मनन में नियम विधि की आवश्यकता रह जाती है। इस प्रकार पूर्व पक्ष कर इसके समाधान में परिमलकार ने कहा है कि लक्षणा के द्वारा ब्रह्म का निर्धारण कर ध्यान से ब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए। वेदाध्ययन से ब्रह्म की सत्ता सम्पन्न हो जाने पर उस ब्रह्म का क्या स्वरूप है इस प्रकार की जिज्ञासा से गुरु

के समीप में उपस्थित शिष्य के प्रति गुरु यतो वा''''इत्यादि लक्षण के कथन से ब्रह्म स्वरूप का उपदेश कर उसको जानने की इच्छा करो ऐसा कहकर लक्षण से ही ब्रह्म का निर्धारण कर ध्यान करना चाहिए भिन्न रूप से नहीं यह नियम उन्नयन होता है। लक्षण मुख के द्वारा ही ब्रह्म का निर्धारण कर ध्यान करना चाहिए। यह नियम नहीं मानने पर शृंग्राहिक उपदेश से भी जो ध्यान वह ब्रह्मसाक्षात्कार के उपयोगी ब्रह्म निर्धारण रूप उपाय में प्रवृत्त कराता है। लक्षण मुख से ब्रह्म से ब्रह्म निर्धारण की अपेक्षा यह उपाय लघुभूत होने के कारण इस उपाय से ही ब्रह्म निर्धारण में गुरु शिष्य को प्रवृत्त करता है। किन्तु लक्षण मुख से ही ब्रह्म स्वरूप का निर्धारण कर ध्यान करना चाहिए। **तद्विजिज्ञासस्व** इस लक्षण के उपसंहार वचन से यह नियमोन्नीत हो जाता है। इसलिए अतिरिक्त उपाय की प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में लक्षण मुख से ही ब्रह्म निर्धारण की गुरु-उपदेश पक्ष में भी प्राप्ति रहती है। लक्षण मुख से ब्रह्म निर्धारण के विना न्याय विचार सम्भव ही नहीं हो सकता है। कारण, ब्रह्म लक्षण की सांख्य-सम्मत प्रधान में भी अतिव्यप्ति है। सांख्यमत में प्रधान से ही भूत की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। इसलिए ब्रह्म लक्षण की अतिव्याप्ति को हटाने के लिए एवं लक्षण में असम्भव के निरसन करने के लिए तथा लक्षण के दृढ़ीकरण के लिए न्याय विचार की गुरु- उपदेश के पक्ष में भी बनी हुई है। अतः मनन की पाक्षिक प्राप्ति नहीं है। जिस प्रकार तटस्थ लक्षण में अतिव्याप्ति आदि निरसन के लिए न्याय-विचार की अपेक्षा है उसी प्रकार स्वरूप लक्षण में भी न्याय विचार की अपेक्षा है क्योंकि स्वरूप लक्षण में भी यह निर्गुण वाक्य है सगुण वाक्य नहीं है इस विवेचन निर्गुण वाक्य में स्थित आनन्दादिगुण एवं अस्थूलत्वादि निषेध के उपसंहार से अखण्डार्थ बोधक वाक्य है इस निर्णय के लिए न्याय विचार की अपेक्षा रह जाती है। न्यायानुसन्धानार्थ यह वाक्य सगुण विषयक नहीं है यह निर्गुण विषयक है तह ज्ञात नहीं हो सकता है। कारण, न्यायानुसन्धान के विना यह असंकीर्ण निर्धारण सम्भव नहीं हो सकता है। जब यह सगुण विषयक नहीं है

यह असंकीर्ण निर्धारण नहीं हो जाता है तब तक यह वाक्य निर्गुण विषयक है यह सगुण विषयक है यह न्यायानुसन्धान के बिना असंकीर्ण अर्थात् दृढ़ धारण नहीं हो सकता है। इस प्रकार धारण सम्भव नहीं होने पर गृहीत पक्ष में अनुपपत्ति के अनुसन्धान के बल से अथवा अन्य परपक्षवाले व्यक्ति के आक्षेप करने से अनुपपत्ति का प्रतिसन्धान होने से क्षोभित हृदय में प्राचीन निर्णय का अन्यथा भाव होना सम्भव है। पूर्वजन्म कृत न्यायविचार की वासना से न्यायविचार रहित गुरु-उपदेश में यदि निश्चल रूप से पूर्वोक्त धारण हो जाने से मनन की अपेक्षा न होने पर भी कोई दोष नहीं है। कारण, सामान्यतया गुरु-उपदेश मात्र में मनन की नियम प्राप्ति है इसीलिए तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यम् इस श्रुति के अनुसार सांख्य और योग शब्द से विचार के उपदेश को ब्रह्मज्ञान के प्रति दो उपाय के रूप में कहा गया है। आशय यह है कि सांख्य और योग के द्वारा किसी अन्य उपाय की प्राप्ति नहीं हो रही है जिससे मनन की पक्ष में अप्राप्ति है और मनन के द्वारा अप्राप्त्यंश के पूराण के लिए मनन में नियम स्वीकार करना आवश्यक होगा। सांख्य और योग के द्वारा विचार की ही ब्रह्मज्ञान के प्रति नित्य प्राप्ति है। अतः उपायान्तर की सांख्य और योग शब्द में प्राप्ति नहीं है वरन् विचार की ही नित्य प्राप्ति है[1]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से मनन में नियम विधि की अप्राप्ति होने पर भी निम्नलिखित प्रकार से उपायान्तर की ब्रह्मज्ञान के प्रति कारण रूप में प्राप्ति होने

---

१ न च न्यायविचारं विना स्व वाक्यस्यायमर्थ इति न्यायसिद्धार्थविषयगुरूपदेशस्यापि पक्षे प्राप्तिरस्तीति—शंकनीयम्, लक्षणमुखेन हि ब्रह्मनिर्धार्थ ध्यानेन तत्साक्षात्कारः सम्पादनीयम्। ... ...

... .अतएव तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं इति श्रुत्या सांख्ययोगशब्दितं विचारोपदेशमात्रपूर्वकब्रह्मप्रतिपत्त्युपायद्वयमुक्तम्।

कल्प० प० पृ०—१२०

से मनन में नियम विधि स्वीकार करना पड़ेगा—उपाधियुक्त आत्म साक्षात्कार करने के लिए मन को ही कारणता निश्चित है कारण, श्रुति में मन के द्वारा ही ब्रह्मसाक्षात्कार करना चाहिए। यह कहा गया है। इसी प्रकार गीता शांकरभाष्य में भी आचार्य ने कहा है कि श्रवणादि संस्कृत मन ही आत्म दर्शन में कारण है, अतः श्रुति के द्वारा मनोव्यापार की सोपाधिक आत्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता प्राप्त होती है। ऐसी स्थिति में जब मनो व्यापार की सोपाधिक आत्म साक्षात्कार के प्रति कारणता प्राप्त होगी उस पक्ष में मनन को प्राप्ति नहीं होगी इसलिए पक्ष में अप्राप्ति अंश के पूरण के लिए मनन में नियम विधि स्वीकार करना आवश्यक है। इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रदर्शन कर परिमलकार ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान के प्रति मनन की कारणता प्राप्त होती है ऐसी बात नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि ज्ञानमात्र के प्रति मन की कारणता निश्चित है विशेषकर आत्म दर्शन में कहा है कि समाहित होकर ब्रह्म का ज्ञान करे। फलतः सोपाधिक आत्म साक्षात्कार के प्रति मन की कारणता विशेषरूप से अपेक्षित है। नियत प्राप्ति रूप में श्रुति इस कारणता की नियम के द्वारा व्यावृत्ति नहीं हो सकती है।

इसमें पुनः शंका होती है कि ज्ञानमात्र में मन की कारण रूप से प्राप्ति होने पर भी सोपाधिक आत्म साक्षात्कार के प्रति मन की कारण रूप से पाक्षिक प्राप्ति है अतः अप्राप्त्यंश पूरण के लिए मन में नियम विधि की आवश्यकता है किन्तु विचार करने पर यह भी कथन ठीक नहीं प्रतीत होता है कारण, श्रुति एवं भाष्य के द्वारा ही मन की आत्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता नियत रूप से प्राप्त है। श्रुति में कहा है कि मन के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार करना चाहिए (मनसेवानुद्रष्टव्यम्) एवं भगवद् गीता भाष्य में भी कहा है कि श्रवणादि से संस्कृत मन ही आत्मसाक्षात्कार में कारण है। अतः मन को कारणता नियम से प्राप्त है। श्रवण एवं मनन रहने पर भी आत्मसाक्षात्कार में मन की कारणता सर्वथा नियत है इसलिए इसकी पाक्षिकी प्राप्ति नहीं है। इसलिए मनन में नियम

मानने पर भी अप्राप्त्यंश पूरण नहीं होता है। कारण, इसकी नियत कारणता निर्दिष्ट है। जब पाक्षिक उपायान्तर की प्राप्ति ही असम्भव है तब उपायान्तर के रूप में मन की आत्म दर्शन के प्रति कारणता है। अतः उसके व्यावर्त्तन के लिए मनन में परिसंख्या विधि है यह भी नहीं कह सकते हैं। मन में कारणता नियत प्राप्त है इसलिए इसकी व्यावृत्ति नहीं हो सकती। फलतः मनन में परिसंख्या विधि की चर्चा सर्वथा व्यर्थ है[1]।

नखविदलन आदि उपायान्तर के रहने से अवधात की पाक्षिकी प्राप्ति होती है। अतः अवधात में नियम विधि स्वीकार की गई है। इस कल्पतरु का आशय विश्लेषण परिमल में इन शब्दों के द्वारा हुआ है—व्रीहिभिर्यजेत इस श्रुति के द्वारा व्रीहि को योग के साधन के रूप में कहा गया है। किन्तु दर्शपूर्णमासयगों में व्रीहि की साक्षात् साधनत्वरूप से प्राप्ति नहीं है। क्योंकि व्रीहि साक्षात् व्रीहिरूप से याग का साधन नहीं है। पुरोडास निमार्ण के विना आग्नेयादि याग की सम्पत्ति नहीं हो सकती है, अतः पुरोडास द्वारा व्रीहि का अन्वय होता है। फल यह होता है कि—पुरोड़ास का साधन है तण्डुल, इसलिए तण्डुल के द्वारा व्रीहि का अन्वय होता है। तण्डुल निष्पत्ति के लिए अवधात अपेक्षित होता है।

---

१ न च सोपःधिकात्मसाक्षात्कारत्कमकरणभावमनोव्यापारस्य पक्षे प्राप्तिरस्तीति शंकनीयम्, ज्ञानमात्रे बल्पकारणभावप्य समाहितो मूत्वे ति विशिष्यात्मदर्शते नितरामपेक्षितत्वेन श्रुतस्य च तस्य नियतप्राप्ततया व्यावर्तनायोगात्,। तथापि मनसः करणतया प्राप्तिः पाक्षिकीति चेद्, न, मनसैवानुद्रष्टव्यामि ति श्रुतेः श्रवणादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणमि ति गीताभाष्यदर्शनाच्च मनस एव करणतया पि नियमेन प्राप्तेः। एवं पाक्षिकस्यास्युपायान्तरस्य प्रप्त्यसंभवे समुच्चयेनोपायाव्तरस्य व्यावर्तनयोग्यस्य प्राप्तिर्दूरापास्तेति नोपायपरिसंख्या शंकार्हा।

कल्प० प० पृ०—६२०

अतः प्रत्यक्षविधि की अपेक्षा के बिना ही सामर्थ्यवश से अवघात की प्राप्ति है किन्तस जिस तरह तण्डुल के प्रति सामर्थ्यवश से अवघात की प्राप्ति है, उसी प्रकार नख के विदलन को भी पक्ष में प्राप्ति होती है। इसलिए सामर्थ्य वश से अवघात की सार्वत्रिकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः अवघात की सार्वत्रिक सिद्धि के लिए व्रीहिन्वन्ति में नियम विधि का आश्रयण किया जाता है। यही व्रीहिन्वन्ति में नियम विधि के आश्रयण का अभिप्राय है[1]।

परिसंख्याविधि

अग्निचयन में अश्वरसना ग्रहण और गर्दभरशना ग्रहण आनुष्ठेय है। इसलिए उस प्रकरण में कथित इमामगृभ्णन् इस मन्त्र की रशना ग्रहण प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिंग से अश्वरशना ग्रहण एवं गर्दभरशना ग्रहण उभय में विनियोग की प्राप्ति होती है। अतः इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य यह अश्वरशना ग्रहण का विधान करता है। यहां दोनों का ग्रहण प्राप्त था अश्वरशनाग्रहण में परिसंख्याविधि स्वीकार करने से गर्दभरशना ग्रहण से मन्त्र की व्यावृत्ति रूप फलसिद्ध होता है।

यह शंका होती है कि इन दोनों में क्या अन्तर है जिससे एकत्वनियम विधि और अन्यत्र परिसंख्या विधि स्वीकृत होती है। परिसंख्याविधि में गर्दभरशना ग्रहण से मन्त्र की निवृत्ति होती है और इसी प्रकार नखविदलन आदि की तण्डुल निष्पादन से नियम विधि में निवृत्ति होती है। अतः इन दो विधियों में किसी प्रकार का भेद अवगत नहीं रहता है। इसके समाधान में परिमल में कहा गया है कि अवघात में विधि होने से नखविदलन पक्ष में जो अवघात की अप्राप्ति है उस अप्राप्तअंश का पूरण नियम विधि के द्वारा हो जाने के बाद स्वतः नखविदलन की निवृत्ति हो जाती है। नियम विधि में प्रथमतः

---

१ कल्प० प० पृ०—१२०

विधि मुख से प्रवृत्ति होती है। अतः अप्राप्तांश परिपूरण ही विधेय रूप से प्रत्यासन्न है और यही नियम विधि का फल है। नखविदलन रूप इतर उपाय के निवृत्ति से आनुसंगिक है। परिसंख्या में किसी की पाक्षिक प्राप्ति नहीं है दोनों ही नित्य प्राप्त है। अतः अप्राप्तांश न होने से उसका परिपूरण सम्भव नहीं है। इसलिए इतर निवृत्ति रूप अन्ययोग का व्यवच्छेद ही परिसंख्या विधि का फल है। फलतः परिसंख्या विधि में निषेध मुख से प्रवृत्ति होती है। नियम विधि में अयोग का व्यवच्छेद ही फल है। यही इन दोनों में अन्तर है। नियम विधि में विधेयरूप से प्रतीत होता है और निषेध अनुसंगिक रहता है और परिसंख्याविधि में निषेध ही प्रथम होता है विधेय तो वहां सिद्ध ही है।

परिमलकार ने **ब्रह्मसाक्षात्कारन्यक्ताबुपायान्तरासंभवात्** इस कल्पतरु ग्रन्थ का व्याख्यान निम्नलिखित रूप में किया है :—

इस कथित कल तरु ग्रन्थ के द्वारा नियम विधि का उपपादन ही प्रतीत होता है। उपायान्तर की प्राप्ति होने पर ही नियम विधि होती है किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कार रूप कार्य में वेदान्त-श्रवण से अतिरिक्त किसी उपाय का श्रवण नहीं है। अतः उपायान्तर के न रहने से प्रकृति में नियमविधि की सम्भावना नहीं है। फलतः उपायान्तर के अभाव में भी विधि होने पर अपूर्व विधि ही हो सकती है। इस शंका का उद्भावन का ब्रह्मसाक्षात्कार रूप कार्य के प्रति अन्वयव्यतिरेक के द्वारा गृहीत कार्यकारण भाव रूप उपायान्तर का अभाव रहने पर भी साक्षात्कारयोग्यसूक्ष्मार्थ विषयक शास्त्रश्रवण रूप ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है। साथ ही शास्त्रश्रवणादि में सामान्य रूप में कार्य कारण भाव के द्वारा अन्तरभूत पुराणादि श्रवण भी उपायान्तर के रूप में प्राप्त है क्योंकि पुराण भी शास्त्र के अन्तर्गत आता है। अतः शास्त्रश्रवण के कारणता रहने पर पुराण श्रवण की ब्रह्म साक्षात्कार के प्रति कारणता प्राप्त होती है। फलतः जिस पक्ष में

उपायान्तर की प्राप्ति होगी उस पक्ष में श्रवण की अप्राप्ति है। अतः अप्राप्तांश पूरण के लिए श्रवण में नियम विधि मानना आवश्यक है। नियमविधि के लिए विशेष प्राप्ति अपेक्षित नहीं है केवल सामान्य कार्य कारण भाव गृहीत होने से प्राप्ति मात्र ही नियम विधि के लिए अपेक्षित है। जैसे अवघातादि में नियम विधि के स्वीकार के द्वारा नखविदलन का परिहार कहा गया है। अपूर्वीय तण्डुल में नखविदलन आदि किसी अन्य की कारणता प्राप्त नहीं है फिर भी सामान्यतया तण्डुल निष्पादन के लिए नखविदलन की कारणता प्राप्त होने से ही वहां पर नियम विधि स्वीकार की जाती है अतः प्रकृति में नियम विधि ही है।

इस प्रकार शंका का उद्भावन ले कर परिमल ने कहा है कि प्रकृति शंका ठीक नहीं है कारण यहां पर नियम विधि का उपादान प्रस्तुत नहीं है क्योंकि पूर्वोत्तर ग्रन्थ के नियम विधि को निराकारण करने के लिए है। नियम विधि पक्ष का प्रदर्शन उपायान्तर प्राप्ति प्रयुक्त नहीं है। पूर्व प्रदर्शित ऋतौभार्यामुपेयात् इसमें ऋतुगमन में नियम विधि पक्ष में अप्राप्ति प्रयुक्त ही नियम विधि है। पूर्वविश्लेषण के अनुसार ही यह स्पष्ट कर दिया है कि पत्न्यन्तर में राग अथवा द्वेष से पत्नी के प्रति ऋतु गमन में अप्राप्ति होने से ही नियम विधि स्वीकार की गई है। प्रकृति स्थल में उपायान्तर के प्राप्ति होने पर भी पाक्षिक अप्राप्ति प्रयुक्त नियम विधि नहीं है वरन् उपायान्तर प्राप्ति प्रयुक्त नियम विधि है। पुनः शंका होती है कि यह प्रकृति शंका और परिहार ग्रन्थ नियम विधि के उपपादन की अपेक्षा न करके केवल अपूर्वविधि के अभाव के उपपादन रूप में योजित नहीं किया जा सकता है कारण भाष्य में शंकाग्रन्थ अपूर्वविधि के उपपादन को विषय बनाकर योजित नहीं किया गया है क्योंकि उपायान्तर का असम्भव होना ही साक्षात अपूर्वविधि में हेतु नहीं है। पश्वादि में उपायान्तर के सम्भव होने पर भी चित्रयायजेत पशुकामः इत्यादि में अपूर्वविधि को देखा जाता है। इसी प्रकार प्रयाज से अन्य उपकार में उपायान्तर असम्भव रहने पर भी प्रयाजे प्रयाजे

कृष्णलं जुहोति इत्यादि में प्रयाजाति अंश में अनुवादत्व रहता है। अतः उपायान्तर का असम्भव ही अपूर्वविधि का कारण नहीं है। इसी प्रकार परिहार का भी अपूर्वविधि में अभाव उपपादन विषय रूप में योजना नहीं कर सकते हैं। कारण, परिहार ग्रन्थ से वेदान्तश्रवणादि में अपूर्व विधि विरोधी मानान्तरसिद्ध कार्य कारण भाव का अभिधान नहीं किया जाता है। किन्तु उसके प्रतिद्वन्द उपायान्तर का ही इतरथा इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा अपरिज्ञान ही कहा जाता है। इसलिए यह शंका और परिहार ग्रन्थ सर्वथा अनुचित है। इस प्रकार की शंका परिमलकार ने कहा है वेदान्त श्रवणादि ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण हैं इस रूप में विशेष कार्यकारण भाव ग्राहक उपायान्तर रूप मानान्तर नहीं है। अतः मानान्तर से अप्राप्त कार्य कारण भाव विषय होने से श्रवणादि में अपूर्व विधि अंगीकार करना चाहिए, यही शंका ग्रन्थ का अभिप्राय है। ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति विशिष्ट कार्यकारण भाव न रहने पर भी सामान्यतया साक्षात्कार योग्य का बहुल श्रवण एवं मननादि के द्वारा निर्द्धारित स्वरूप का पूर्व अभ्यस्त ध्यान मानस ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारण है। जैसे कामिनी भावना द्वारा कामिनी के साक्षात्कार में अतिशय भावना या ध्यान मानस साक्षात्कार का कारण होता है। अतः यहां भी निर्द्धारित स्वरूप का ध्यान मानस ब्रह्मसाक्षात्कार में कारण है। अतः ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणान्तर की उपलब्धि होने से यहां अपूर्वविधि का अवकाश ही नही है। विशेष कार्यकारण भाव का ग्रहण जिस प्रकार अपूर्व विधि का विरोधी है वैसे ही सामान्य काय कारण भाव ग्रहण भी अपूर्वविधि का विरोधी होता है, अन्यथा अवधात नियम अन्य अपूर्वा तण्डुल व्यक्ति में उपायान्तर नखविदलन आदि की अप्राप्ति होने से मानान्तर के अभाव से अवधात में अपूर्व विधि होने लगेगी। द्रष्टव्यः इसके द्वारा दर्शन रूप फल का ही यहां आश्रयण किया है और वह सभी प्रमाणों का साधारण फल है। अतः सभी प्रमाणों में आत्म दर्शन रूप फल की नियमतः प्रसक्ति न होने पर वेदान्त ही दर्शन के प्रति प्रमाण है। इस नियमन के लिए ही श्रोतव्यः इसके द्वारा वेदान्त

श्रवण कहा गया है। इसी विषय की पुष्टि वार्तिककार के द्वारा भी हुई है। योग्यतावश से वेदान्त मात्र से वैद्य ब्रह्मात्यैकत्व में इतर प्रमाणों की योग्यता निवृत्ति होने पर वेदान्त श्रवण में नियम स्वयं लब्ध होता है उसी का श्रोतव्यः आदि के द्वारा अनुवाद है। अतः यहां नियम विधि नहीं है[1]।

सम्पूर्ण वेद दो भागों में विभक्त है। कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में यागादिकर्मों के अनुष्ठान का भली-भांति विचार और ज्ञानकाण्ड में तत्वज्ञान की प्राप्ति का उपाय निरुपित है। चित्त की निर्मलता से ही तत्वज्ञान का उदय हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेद में कर्मकाण्ड से उपक्रम कर ज्ञानकाण्ड में उपसंहार कर मानव जीवन के कर्त्तव्य एवं लक्ष्य का निर्णय किया है। कर्मकाण्ड के निर्णायक मींमांसाशास्त्र बारह अध्यायों में विभक्त वेद प्रतिपादित कर्मों का विश्लेपण करता है। इसी शास्त्र के द्वारा निरतिशय सुख रूप स्वर्गा के साधन के भी विश्लेपण किया है।

आचार्य शंकर के अनुसार ज्ञानकाण्ड का एकमात्र प्रतिपाद्य विषय आत्मा (जीव) के साथ ब्रह्म का ऐक्यज्ञान है। सभी उपाधियों से शून्य, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द, अद्वैत—ब्रह्म का साक्षात्कार ही शास्त्र का परमप्रतिपाद्य विषय है। जीव के साथ ब्रह्म का ऐक्य साक्षात्कार ही मनुष्य का चरम एवं परम लक्ष्य है। ब्रह्मैक्य—साक्षात्कारात्मक—ज्ञानसम्पादन के लिए ही वेदान्त की अवतारणा की गई है। वेदान्त का उपक्रम वाक्य अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (ब्र० सू० १-१-१) उपसंहार वाक्य अनावृत्ति शब्दात् (ब्र० सू० ४-४-२२) है। उपक्रम सूत्र का आशय—मोक्षसाधनीभूत ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त वाक्य का विचार करना चाहिए। उपसंहार सूत्र का आशय—ब्रह्मज्ञान का फल मोक्ष प्रदर्शित किया जाता है।

---

१ वेदान्तैकमेये ब्रह्मात्यैकत्वे तदतिरिक्तप्रमाणानां योग्यता निवृत्तौ वेदान्तश्रवणनियमः स्वयमेवलभ्यते, तदर्थं श्रोतव्य इत्यनेनानुवदतीति वार्तिकार्थ इति तात्पर्यम्।

कल्प० प० पृ० ९२१-९२२

वेदान्त-सूत्रों के उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता से ब्रह्मज्ञानसाधनक मोक्ष में इसका तात्पर्य है यह निश्चित होता है। जिस विषय से उपक्रम उसी विषय में उपसंहार होने से उस अर्थ में इस शास्त्र का तात्पर्य है यह निर्णय होता है।[1] आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में स्पष्ट शब्दों के द्वारा जीव और ब्रह्म के एकत्व के विषय में कहा है—जीव और ब्रह्म के एकत्वज्ञान के लिए सभी वेदान्तों का आरम्भ है।[2] अतः आत्मा का एकत्वज्ञान वेदान्त का परम-चरम लक्ष्य है। कर्म और ज्ञान का सामंजस्य प्रदर्शन करते हुए पंचपादिका एवं विवरण में कर्मों के अनुष्ठान को चित्तशुद्धि का कारण माना है।

कर्मानुष्ठान में प्रवृत्ति की कारणता का निरूपण

कर्मों का अनुष्ठान चित्तशुद्धि के द्वारा आत्मैकज्ञान के प्रति कारण होने पर भी अत्यधिक व्यय-आयास-समय-साध्य इन यागादि कर्मों के अनुष्ठान में मानव को प्रवृत्ति ही क्यों होगी? यागादि कर्मों के सांगोपात्र में प्रवृत्ति न होने पर याग के क्रम-परम्परा का ज्ञान साधारण मनुष्य को नहीं हो सकेगा।

इस शंका के उत्तर में मनीषियों का यही कथन है कि यागादि क्रिया के साथ स्वर्गादिरूप फल का साध्य-साधन वेद से ही अवगत होता है। यागादि के

---

१ येन चौपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते स एव शब्दार्थः। उपक्रम और उपसंहार का किसी एक अर्थ में पर्यवसान होने पर शास्त्र का इसी अर्थ में तात्पर्य है यह निश्चित होता है। रेखागणित में प्रतिज्ञा वाक्य और उपसंहार वाक्य का एकार्थपर्यवसान के द्वारा प्रतिज्ञादिसमन्वित सभी वाक्यों का तात्पर्य अवधृत होता है। इसी प्रकार परार्थानुमान में प्रतिज्ञा और निगमन वाक्य का किसी एक ही अर्थ में पर्यवसान होता है।

२ (क) आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।

शा० भा० पृ० ४८७

(ख) कृत्स्नस्य भाष्यस्य ब्रह्मात्मैकत्वे तात्पर्यमत्र दर्शितम्।

वि० पृ० १७:१८

साथ स्वर्गरूप फल का साध्य साधन-भाव सम्बन्ध प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से अधिनस्थ नहीं है। जो अर्थ इन्द्रियज्ञान का विषय रहता है वही प्रत्यक्षज्ञान का विषय होता है। हेतु का प्रत्यक्ष होने पर उस प्रत्यक्ष- विषय हेतु रूप लिंग से परोक्ष लीन भूत विषय का अनुमान होता है। जैसे—धूम का प्रत्यक्ष होने पर धूम से बह्नि का अनुमान होता है। प्रकृत्त में अतीन्द्रिय होने के कारण यागादि क्रिया का स्वर्गादिका साध्य-साधनभाव प्रत्यक्ष-प्रमाण-गम्य नहीं हो जाता है। प्रत्यक्ष के बिना हेतु का ज्ञान न होने से उक्त साध्य-साधनभाव अनुमान प्रमाण गम्य भी नहीं हो सकता है। इसलिए इस विषय में श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। अपौरुषेय श्रुति सकलदोष-कलंक से रहित होने के कारण इसमें स्वतः प्रामाण्य है। श्रुति वेद पुरुष के द्वारा प्रणीत नहीं है, अतः भ्रम, प्रमाद, विप्र-लिप्सा (दूसरों का प्रतारणा की इच्छा) आदि दोषों से सर्वथा निर्मुक्त है। लौकिक व्यवहार में इस प्रकार के पुरुष प्रमादि की अनुभूति शतशः होती है। यही कारण है कि पुरुष-प्रणीत में स्वतः प्रामाण्य नहीं है। वेद अपौरुषेय होने से नितान्त निर्दुष्ट हो सकता है किन्तु बहुतर आयास-साध्य इसके अध्ययन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

इसके समाधान में आचार्यों ने कहा है कि वेद का वचन ही वेदाध्ययन में मनुष्य की प्रवृत्ति का कारण है। वेद के आरण्यक-भाग में वेद का अध्ययन करना चाहिए (स्वाध्यायों ध्येतव्यः तैत्तिरीयाण्यक—२।३५।३) इस विधि वाक्य के तात्पर्यय-निर्ण में आचार्यों में परस्पर मतभेद है।

विवरणाचार्य का अभिप्राय यह है कि यह आरण्यक वाक्य अक्षरग्रहण का बोधक है। गुरु जिस अनुपूर्वी रूप से मन्त्र का उच्चारण करते हैं, उसी उच्चारण की आनुपूर्वी के अनुसार शिष्य भी गुरुमुखोच्चारित वेदवाक्य का अनुच्चारण करे। स्वाध्यायों ध्येतव्यः इस विधि वाक्य को उपजीवन स्वरूप मानकर न तो वेद का कर्मकाण्ड भाग और न ब्रह्मकाण्ड (ज्ञानकाण्ड) ही प्रवृत्त हुआ है। केवल अक्षण

ग्रहण के लिए ही विधायक—यह विधिवाक्य है। यही कारण है कि विवरणाचार्य का सिद्धान्त है कि आगे के क्रतुविधायक वाक्य को उपजीवन कर वेद का कर्मकाण्ड प्रवृत्त हुआ है और आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः इस श्रवण विधायक वाक्य को उपजीवन कर ज्ञानकाण्ड की प्रवृत्ति हुई है। उपनिषद्वाक्यार्थ को संक्षेप में संसुचन करने के लिए ब्रह्मसूत्र की उपयोगिता है। इस अभिप्राय से ही ब्रह्म जिज्ञासा का मूलीभूत आत्मा वारे द्रष्टव्यः इस श्रुतिवाक्य को विवरणाचार्य ने स्वीकार किया है।

विवरणाचार्य के अनुसार वेदान्त शास्त्र को विधिमूलक मानने पर अपूर्वविधि, नियमविधि एवं परिसंख्याविधि इन तीनों में से किसी एक विधि को स्वीकार करना होगा। अतः सामान्य रूप में इन विधियों का ज्ञान कर लेना नितान्त आवश्यक होगा।

अपूर्वविधि—

किसी अन्य प्रमाण एवं अन्य वचन से अप्राप्त विषयको जो ज्ञापित करता है, उसे अपूर्व विधि कहा जाता है। जैसे—अग्निहोत्र होम करना चाहिए (अग्निहोत्रं जुहूयात्) इस स्थल में अग्निहोत्र होमरूप कर्म इस विधि वाक्य को छोड़कर अन्य किसी प्रमाण या वाक्य से यह विहित नहीं है। किसी प्रमाणादि से अप्राप्त का ज्ञान करानेवाली विधि अपूर्वविधि होती है।

आशय यह है कि दृष्टार्थ अथवा अदृष्टार्थ रूप से तीनों कालों में कभी विधि के बिना प्राप्ति रहित को प्राप्ति करानेवाली अपूर्वविधि कही जाती है[1]।

नियमविधि :—

प्रमाणान्तर के द्वारा पक्ष में प्राप्त रहने पर भी उस विषय में किसी विशेष का बोधन जिससे होता है—वह नियम विधि है। इस विधि में एक पक्ष में

---

१ कालत्रयेऽपि कथमप्यप्राप्तस्य प्राप्तिफलको विधिराद्यः।

सि० ले० सं० पृ० ५, ६

प्राप्त है और अन्य पक्ष में अप्राप्त है उस अप्राप्त अंश का पूरण ही इसका फल है।[1]

जैसे व्रीहीन् अवहन्ति (अवघात के द्वारा व्रीहि के तुष का विमोचन करना चाहिए) प्रकृतस्थल में विधि न रहने पर भी धान्यविशेष से पुरोडाश के निष्पादन के लिए उसके तुष का हटाना आवश्यक है। कारण, बिना छिलका हटाये पुरोडाश का निर्माण संभव नहीं है। किन्तु यह तुषविमोचन मूसल के अवघात से एवं नखविदलन आदि अन्य उपायों के द्वारा भी संभव है। इन उपायों में किसी भी एक उपाय का अवलम्बन करना कर्ता की इच्छा पर ही निर्भर करता है। ऐसे स्थलों में कर्ता की इच्छा को नियमित करने के लिए ही शास्त्र कहता है—व्रीहीन् अवहन्ति (व्रीहि का अवघात ही करना चाहिए) अवघात के द्वारा निष्पन्न जो तण्डुल उस तण्डुल से सम्पन्न याग ही स्वर्गादि रूप फल का जनक होता है। अवघात; याग के द्वारा उत्पन्न परमापूर्व के अवान्तर अपूर्व की उत्पत्ति के द्वारा ही परिपोषक है।नियमविधि का अर्थ अयोगव्यवच्छेद[2] होता है। नखविदलन आदि के द्वारा तुषविमोचन की स्थिति में तुषविमोचन के लिए अवघात की अप्राप्ति है अतः पक्ष में अप्राप्त अंश की प्राप्ति ही नियम विधि का फल है। फलतः अवघात से अतिरिक्त तुषविमोचन के उपायों का निषेध हो जाता है। नखविदलन आदि उपाय याग के अवान्तर अपूर्व के जनक नहीं होते हैं।

परिसंख्या :—

जिस विधि के द्वारा विधि बोधित पदार्थ से अतिरिक्त अन्य पदार्थों का निषेध ज्ञात होता है— वह परिसंख्या विधि कही जाती है। जैसे—पंच पंच

---

१ पक्षप्राप्तस्याप्राप्तांशपरिपूरणफलको विधिर्द्वितीयः।

सि० ले० सं० पृ० ६

२ जैसे पार्थो धनुर्धरः एव यहां विशेषण धनुर्धर के साथ प्रयुक्त एवं विशेष्य में विशेषण के अयोग अर्थात् सम्बन्धाभाव का निषेध करता है और उसमें धनुर्धरत्व का नियमन करता है।

नखाः भक्ष्याः (पाँच नखों से विशिष्ट प्राणियों के मध्य में शशक आदि पाँच प्राणी ही भक्ष्य है) परिसंख्याविधि के द्वारा शशक आदि पाँच प्राणियों का भक्षण करना चाहिए—यह विधान नहीं होता है; वरन् उक्त पाँच प्रकार के प्राणियों से अतिरिक्त पंचनखविशिष्ट अन्य प्राणी भक्ष्य नहीं है यही विहित होता है। भक्षण के विषय में पुरुष का स्वभावसिद्ध अनुराग रहता है, अतः अनुरागवश शशक आदि पाँच प्राणियों को छोड़कर अतिरिक्त पंचनखविशिष्ट प्राणियों के भक्षण की जो प्राप्ति है उसका निषेध करने के लिए ही पंच पंच नखाः भक्ष्याः यह परिसंख्याविधि कही गई है। इस विधि में अन्ययोग का व्यवच्छेद रहता है[1]।

इन विधियों का विश्लेषण इस प्रबन्ध का प्रतिपाद्य विषय नहीं है किन्तु प्रकृत विषय की अवगति के लिए सामान्य विचार संक्षेप में प्रस्तुत कर दिया है। यह मीमांसाशास्त्र का असाधारण प्रतिपाद्य विषय है। मण्डन मिश्र का **विधिविवेक** एवं अप्पय दीक्षित का **विधिरसायन** इस विषय का स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

विधि रहने पर ही शास्त्र में प्रवृत्ति हो सकती है अन्यथा शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है अथवा सप्रयोजन रहने पर उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए शास्त्र में प्रवृत्ति सम्भव है[2]। प्रवृत्ति ही प्रथम सूत्र का प्रयोजन है और यह प्रवृत्तिरूप प्रयोजन विधि के विना सम्भव नहीं है। "अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा[3]" यह सूत्र सर्वज्ञबादरायण के द्वारा प्रणीत है। अतः यह अनर्थक नहीं

---

१ जैसे पार्थ एव धनुर्धरः यहां पार्थ विशेष्य है उसके साथ प्रयुक्त एव शब्द अन्ययोग का व्यवच्छेद करता है। विशेष्य पार्थ से अन्य में विशेषण धनुर्धर के सम्बन्ध का निषेध करता है। पार्थ एव धनुर्धरः नान्यः यह भावार्थ होता है।

२ विधौ सति शास्त्रप्रवृत्तिर्भवेत् !

३ ब्र० सू० १।१।१

हो सकता है, इसलिए किसी पद का अध्याहार करके भी इस सूत्र की योजना करनी होगी[1]। सूत्र के अनुरूप ही शब्द का अध्याहार होता है। अतः यहां पर कर्तव्या इस पद का अध्याहार कर इस सूत्र का साधनचतुष्टयसम्पन्न व्यक्तियों के ब्रह्मज्ञान के लिए विचार करना चाहिए, यह अर्थ सम्पन्न होता है। पुरुष प्रवृत्ति की सिद्धि एवं निरर्थक सिद्ध ज्ञान वाक्य रूप अनुवाद के परिहार के लिए कर्तव्या पद का अध्याहार नितान्त अपेक्षित है। प्रकृत सूत्र में जिज्ञासा इस पद का विचार अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग है; विचार जिज्ञासा पद का लक्ष्य अर्थ है। जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा न मानने पर कर्तव्या इस पद का अध्याहार करने पर भी अर्थ की संगति नहीं हो सकती है; क्योंकि ज्ञान और इच्छा ये दोनों कर्तव्य नहीं हो सकते हैं। अतः विचार में लक्षणा मानना अत्यावश्यक है। ज्ञान और इच्छा के मध्य में विचार अपेक्षित रहता है। परोक्षरूप से ज्ञात रहने पर भी अपरोक्ष फल रूप ज्ञान (साक्षात्कारात्मक ज्ञान) और सन्दिग्ध ज्ञान में निश्चयात्मक ज्ञान अभीष्ट रहता है। ये दोनों ही विचार के विना सम्भव नहीं हैं, अतः विचार में जिज्ञासा पद की लक्षणा है। अथवा जिज्ञासा करनी चाहिए यह कहने पर केवल इच्छा करने से ही इष्यमाण ज्ञान सम्भव नहीं है अर्थात् मात्र इच्छा से साध्य इष्यमाण ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः उसके निर्वाहक विचार में लक्षणा है। इच्छा भी साक्षात् इष्यमाण ज्ञान के साधन रूप में अन्वित नहीं हो सकती है अतः उसके निर्वाहक विचार का आश्रयण करना होगा। विचार के द्वारा इच्छा में साधनता सम्भव है, अतः विचार भी जिज्ञासा शब्द के प्रकृत्यर्थ ज्ञान और प्रत्ययार्थ इच्छा के मध्य में गृहीत है। इसलिए विचार में ही लक्षणा होती है अन्य में नहीं[2]।

---

१ सर्वज्ञबादरायणप्रणीतत्वादानर्थक्यानुपपत्तेरथाध्याहारेणापि सूत्रं योजनीयम्।
तत्त्वदी० पृ०—३१

२ तत्र जिज्ञासापदेनान्तर्णीतं विचारमुपलक्ष्यानुष्ठानयोग्यतया, साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रवाक्यस्य श्रौतोऽर्थः सम्पद्यते।
प० वि० पृ०—२३

यद्यपि ज्ञान सुख-प्राप्ति या दुःखनिवृत्ति रूप नहीं है, अतः ज्ञान फल नहीं हो सकता है; तथापि ब्रह्मज्ञान में स्वरूपतः पुरुषार्थता न होने पर भी जैसे स्वर्ग की कामना करने वाला यज्ञ करे (स्वर्गकामो यजेत) इस स्थल में स्वर्ग ही विशेषणभूत स्वर्ग फल के रूप में गृहीत होता है। वैसे ही ब्रह्मज्ञान की कामना करने वाला विचार करे (ब्रह्मज्ञानकामेन विचारः कर्तव्यः) इसमें विशेषणभूत ब्रह्मज्ञान फल के रूप में गृहीत होता है। आशय यह है कि केवल विशेषण होने से ही ब्रह्मज्ञान फल नहीं होता है वरन् ब्रह्मज्ञान रूप मोक्ष काम्य होता हुआ अनिन्दित है, अत एव फल है। विचार विषय सापेक्ष होता है—किसी विषय का निर्देश यहां पर नहीं किया गया है; अतः आत्मा वारे इत्यादि श्रवणादिविधायक वाक्य के समीप में पठित वेदान्तवाक्य ही विचार का विषय होता है। फलितार्थ यह होता है कि साधन चतुष्टय सम्पन्न मोक्षसाधन ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त वाक्य का विचार करे[1]।

किसी विशेष कारण का अनुसन्धान के विना ब्राह्मण को सांग वेद का अध्ययन एवं ज्ञान अवश्य करना चाहिए इस श्रुतिवचन के अनुसार वेदाध्ययन ब्राह्मण के लिए विशेष कामना वश ही विहित नहीं है। अतः स्वाध्याय का (वेद का) अध्ययन करना चाहिए (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः २।३५।३) यह नित्य विधि है।

इस नित्यविधि के द्वारा वेद के अध्ययन में प्रवृत्ति होती है। इस अध्ययन विधि के द्वारा अक्षर ग्रहण विहित है अर्थ की अवगति इस विधि से विहित नहीं है। कारण, अर्थज्ञान में विधि न रहने पर भी व्युत्पन्नव्यक्तियों को पद-पदार्थ संगत

१ अर्थादधिकारिविशेषणं मोक्षसाधनं ब्रह्मज्ञानमिति सिद्ध्यति।

पद समूह वाक्य का ज्ञान होने से विचार के बिना अर्थ की अवगति न रहने पर पदों का उसमें तात्पर्य हो नहीं रहेगा। लौकिक व्यवहार में नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति यह वाक्य प्रयुक्त होता है। इस वाक्य में अर्थावबोध में विधि नहीं है फिर भी अर्थावबोध में तात्पर्य है और अर्थावबोध होता है, अतः अर्थावबोध के लिए विधि एकान्तरूप से अपेक्षित नहीं है, इसलिए नित्यविधि के द्वारा प्राप्त वेदाध्ययन के द्वारा वेद के अर्थ का भी अवबोध हो जायगा। अक्षर ग्रहण के द्वारा आकांक्षा की पूर्ति हो जाने पर किसी अन्य फल की कल्पना का प्रसंग ही नहीं रहता है। अध्ययन विधि को ही **अथातो धर्मजिज्ञासा** (जै० सू० १। १। १) इस सूत्र का मूल मीमांसकों ने स्वीकार किया है। अतः यही नित्यविधि अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [ब्र० सू० १। १। १] इस सूत्र का भी मूल हो सकती है।

अक्षरावगति में पर्यवसन्न यह नित्यविधि धर्म विचार एवं ब्रह्मविचार इन दो विचारों की प्रयोजक नहीं हो सकती है[१]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस नित्यविधि के रहने पर भी ब्रह्म विचार की विधायक तो यह विधि नहीं है। अतः; इससे ब्रह्म विचार का विधान कैसे होता है। इस नित्यविधि के द्वारा सांग सम्पूर्ण वेदराशि का अध्ययन से जो विचार के बिना आपातज्ञान उत्पन्न होता है, उस आपात दर्शन से यह अवगत होता है कि बहुवित्त अतिशय आयाससाध्य अग्निहोत्रादि कर्म से अमृतत्व की [मोक्ष की] प्राप्ति नहीं हो सकती है। वित्तादि के द्वारा विपुल भोग साधनों से युक्त व्यक्तियों के जीवन के समान ही जीवन व्यतीत होगा। वित्तादि अमरत्व (मोक्ष) का साक्षात् साधन नहीं है।

---

१ ननु अध्ययनविधिरेव धर्मजिज्ञासासूत्रस्येव अस्यापि मूलमिति चेन् न तस्याक्षरावाप्तिमात्रे पर्यवसन्नस्य विचारद्वयेऽप्रयोजकत्वात्।

भा० प्र० पृ०—५१

पुत्रादि का प्रियत्व स्वरूपतः नहीं है वरन् आत्मार्थ होने से ही पुत्र में प्रियत्व है। यदि पुत्र में प्रियत्व रहता तब शत्रु का पुत्र भी प्रिय होता, अतः आत्मा में ही मुख्य प्रीति है और अन्यत्र औपाधिक प्रियत्व है, इसलिए आत्मव्यतिरिक्त वस्तु त्याज्य है—यह सिद्ध होता है, इस तरह उपक्रम कर अमृतत्व-साधन अद्वैतात्मज्ञान को उद्देश्य कर मनन एवं निदिध्यासन रूप उपकारी अंगों के साथ श्रवण रूप अंगी का आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च इसके द्वारा विधान होता है।

द्वैतवादी आचर्यों ने भी इसी श्रुति के अनुरोध से ब्रह्मविचार में विधि मानी है। अतः अद्वैतात्मज्ञान में ही विधि है यह कैसे अवगत होता है? अद्वैतात्मज्ञान में ही वेदान्त वाक्य के तात्पर्य की निर्णायिका तो यह श्रुति नहीं है।

आत्मा के ज्ञान से सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाता है (आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्भवति) इस वेदान्तवाक्य से सभी वस्तुओं का उपादान आत्मज्ञान ही है—यह प्रतिपादित होता है। इस प्रकार के उपसंहार वाक्य के द्वारा अद्वैतदर्शन ही मोक्ष साधन के रूप में विदित होता है, अतः इस बृहदारण्यक के वचन का अनुसरण कर पंचपादिका एवं विवरण में—आत्मा वारे इत्यादि वाक्य से आत्म दर्शन को उद्देश्य कर मनन एवं निदिध्यासन रूप फल के उपकारी अंगों के साथ श्रवण रूप अंगी का विधान किया है और यही विधि वाक्य ब्रह्म-विचार का विधायक भी है[1]।

वेदान्त वाक्यों की अद्वितीय ब्रह्म में शक्ति एवं तात्पर्य का अवधारण करने के बाद ही श्रुति के अर्थ की उपपत्ति पूर्वक अनुसन्धान हो सकता है। अतः

---

१ आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम् एतावदरे खल्वमृतत्वमित्युपसंहारादमृतत्व-साधनमात्मदर्शनं द्रष्टव्य इत्यनूद्य तादर्थ्येन मनननिदिध्यासनाभ्यां फलोपकार्यङ्गाभ्यां सह श्रवणं नामाङ्गि विधीयते इति।

वि० पृ० २९-३०

मनन एवं निदिध्यासन से पूर्व में होने वाले श्रवण का अंग मनन और निदिध्यासन कैसे हो सकता है? श्रवण के बाद किये जाने वाले मनन एवं निदिध्यासन श्रवण के अंग [उपकारक] कैसे हो सकते हैं? अंग [उपकारक] दो प्रकार से होते हैं :—

(१) स्वरूप के उपकारक

(२) फल के उपकारक

मनन एवं निदिध्यासन स्वरूप के उपकारक अंग नहीं हैं, क्योंकि इनको श्रवण के स्वरूप का उपकारक अंग मानने पर इन दोनों की श्रवण से पूर्व ही स्थिति अपेक्षित होगी। जैसे दर्श और पूर्णमास याग में पुराडाश का पूर्वोक्त यज्ञों में विधान किया गया है। पुरोडाश यह याग का साक्षात्कारण है। इस पुरोडाश के सम्पादन करने के लिए चावल की आवश्यकता होती है। व्रीहि के अवघात के द्वारा चावल निष्पादन करना व्रीहीन् अवहन्ति इस वाक्य से विहित होता है। इस वाक्य से विहित व्रीहि का अवघात स्वरूप-सम्पादक होने से स्वरूपोपकारी अंग है, अतः इस अवघात की याग से पूर्व अपेक्षा होती है।

इसी प्रकार मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म साक्षात्कार के कारण वेदान्त वाक्य विचार के स्वरूपोपकारी अंग होते तो इन दोनों की अवघात के समान ही श्रवण से पूर्व ही अपेक्षा रहती है, किन्तु ये दोनों श्रवण के स्वरूपोपकारी अंग नहीं हैं वरन् ये दोनों श्रवण के फल में उपकारी अंग हैं। अतः श्रवणस्वरूप के सम्पन्न करने के लिए इनकी पूर्व में अपेक्षा नहीं होती है। जैसे प्रयाज और अनुयाज भी यज्ञ के अंग हैं, किन्तु ये दोनों यज्ञ फल के उपकारी हैं यज्ञ के स्वरूप के उपकारी नहीं हैं, अतः इन दोनों के विना अंग विकल होने से फल की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार ब्रह्म साक्षात्काररूप श्रवण के फलके उपकारी इन अंगों को श्रवण से पूर्व

अपेक्षा नहीं है वरन् श्रवणफल जो ब्रह्म साक्षात्कार है उससे पूर्व अपेक्षा है। अतः दर्शनरूप फल के उपकारी इन अंगों की श्रवण से उत्तर निर्देश में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। इन दोनों की अंगरूपता का विवेचन एक स्वतन्त्र-परिच्छेद का विषय है। इसलिए प्रकृत में संक्षेप में ही इस विषय को प्रस्तुत कर प्राकरणिक विषय का विश्लेषण देता है।

पूर्व विश्लेषण से श्रोतव्यः इस पद में जो विधि प्रत्यय है उसके द्वारा साधन-चतुष्टय से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष साधन ब्रह्मात्मज्ञान के लिए वेदान्तवाक्य का विचार करे यह विधान होता है, किन्तु श्रोतव्यः इसके द्वारा श्रवण में विधि नहीं हो सकती है। कारण, श्रवण में विधि मानने पर अपूर्वविधि नियमविधि एवं परिसंख्याविधि इन तीनों में किसी एक को यहां स्वीकार करना पड़ेगा। अत्यन्त अप्राप्त विषय को विधान करने वाली अपूर्व विधि होती है। श्रवण (विचार) की विचार्यमाण वस्तु के ज्ञान के प्रति कारणता अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है। व्यवहार में वैद्यकशास्त्र के विचार से विचार्य वैद्यकशास्त्र के विषय की अवगति होती है। अतः विचार की विचार्य विषय के ज्ञान के प्रति कारणता अन्वय-व्यतिरेक सिद्ध है, इसलिए अत्यन्त अप्राप्त न होने से श्रोतव्यः में अपूर्वविधि नहीं हो सकती है। आशय यह है कि विचारादि के बिना विचार्यमाण अर्थ का निर्णय नहीं होता है, अतः विचार्य विषय के ज्ञानार्थं उस विषय के विचार की साधनता लोकसिद्ध है। इसलिए प्रमाणन्तरसिद्ध होने से श्रवण में अपूर्व विधि नहीं हो सकती है क्योंकि अपूर्वविधि वहीं होती है जहां किसी भी प्रमाण से अप्राप्त-विषय का विधान रहता है। प्रकृत में जैसे अन्यविषयक विचार विचार्यमाण अर्थ के ज्ञान का हेतु होता है वैसे ही वेदान्त विचार भी ब्रह्मात्म - विषयक - ज्ञान का साधन होगा, अतः श्रवण में अपूर्वविधि नहीं हो सकती है[१]।

---

१ ननु श्रोतव्य इति विधिर्मोक्षसाधनब्रह्मात्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारसाधन-चतुष्टयस्य विधातुं न शक्नोति, श्रवणादीनां विषयावगमं प्रत्यन्वयव्यतिरेक-सिद्धसाधनत्वात्। प० वि० पृ०—३३

प्रकटार्थकार का मत

प्रकटार्थकार के मत में उपनिषद् के इस वाक्य में अपूर्व विधि स्वीकार किया है। जो वस्तु प्रमाणान्तर के द्वारा अप्राप्त रहती है उसके लिए जो विधि होती है उसी का नाम अपूर्वविधि है। प्रकृत स्थल में ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए वेदान्त वाक्य का श्रवण करना चाहिए इस विधि के होने से यह अवगत होता है कि वेदान्त वाक्य का श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है। अब विचारणीय यह है कि श्रवण को ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता इस विधि के द्वारा अवगत होती है अथवा किसी अन्य उपाय से भी अवगत होती है।

साधारणतया लोक में कौन कारण है और कौन कार्य है इसको जानने के लिए जिस उपाय का अवलम्बन किया जाता है, शास्त्र में उसका नाम अन्वय-व्यतिरेक कहा जाता है। अन्वय शब्द का अर्थ एक की सत्ता रहने पर दूसरे की सत्ता ओर व्यतिरेक का अर्थ होता हैं एक के अभाव में दूसरे का अभाव। जैसे—धूम को वह्नि का कार्य कहा जाता है क्योंकि धूम की सत्ता जहां रहती है वहां पूर्व में वह्नि की सत्ता निश्चय ही रहती है। वह्नि रहने पर ही धूम उत्पन्न होता है। इसी का नाम धूम में वह्नि का अन्वय है। इसी प्रकार वह्नि के न रहने पर धूम की उत्पत्ति नहीं हो सकती है—इसी का नाम व्यतिरेक है। इस तरह अन्वय-व्यतिरेक देखकर साधारणतया सभी लोग कार्य-कारणभाव का निश्चय करते हैं। प्रकृत में यह देखना होगा कि वेदान्त वाक्य-श्रवणरूप कारण के साथ ब्रह्मसाक्षात्कार रूप कार्य का उस प्रकार का अन्वय-व्यतिरेक है या नहीं—कारण इस तरह अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यदि ब्रह्म-साक्षात्कार वेदान्त वाक्य श्रवण के फल के रूप में अवगत हो जाता है तब श्रवणविधि किसी प्रकार भी अपूर्व विधि नहीं हो सकती है। अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार-कारणता वेदान्त वाक्य श्रवण में अवगत न होने पर अप्राप्त अर्थ का विधायक होने से श्रवणविधि अपूर्वविधि हो सकती है।

इस विषय में प्रकटार्थकार का यह कथन है कि इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से वेदान्त वाक्य श्रवण में ब्रह्म साक्षात्कार की कारणता अवगत नहीं होती है। कारण, अनेक स्थल में ऐसा देखा जाता है कि व्यक्ति पुनः-पुनः वेदान्त वाक्य का श्रवण करता है किन्तु उसे ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता है। इसके विपरीत जीवन में जो कभी भी वेदान्त वाक्य का श्रवण नहीं करता है वह भी ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ हो जाता है--इस तरह का उदाहरण पुराणादि में मिलता है। जैसे वामदेव ब्रह्मसाक्षात्कार करने में समर्थ हुए थे। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदान्त वाक्य श्रवण करने पर भी ब्रह्म साक्षात्कार नहीं होता है एवं वेदान्त श्रवण के विना भी ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है। फलतः अन्वय-व्यतिरेक से ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति वेदान्त वाक्य श्रवण की हेतुता सिद्ध नहीं होती है। ऐसी स्थिति में अप्राप्त हेतुता की बोधक इस श्रवण विधि को अपूर्व विधि मानने में कोई आपत्ति नहीं है[1]।

इस प्रसंग में पूर्वपक्षियों का यह कथन है कि जो अर्थ वाधित रहता है उस अर्थ की अवगति वेद से भी नहीं हो सकती है। वेद में कहा गया है कि पत्थर तैरता है (ग्रावाणःप्लवन्ते), किन्तु वेद में यह कहने पर भी हमलो विश्वास नहीं करते हैं। कारण, प्रत्यक्षादि प्रमाण से यह अर्थ वाधित है। अतः वेद के इस वाक्य का मुख्य अर्थ छोड़कर लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। इसी प्रकार प्रकृतस्थल में भी यदि यह अवगति हो जाती है कि वेदान्त वाक्य श्रवण के विना भी ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, तब व्यतिरेक व्यभिचार होने से ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति वेदान्त वाक्य की हेतुता नहीं है—यह अवगत होता है। ऐसी स्थिति में वेदान्त-वाक्यश्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति हेतु है—यह वाधित होता है। इस वाधित अर्थ का वेद से प्रतिपादन होने

---

१ नहि वेदान्तश्रवणं ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुः इत्यत्र अन्वयव्यतिरेकप्रमाणमस्ति।

पर भी यह ग्राह्य नहीं हो सकता है। अतः अन्वय-व्यतिरेक-व्यभिचार का निश्चय होने से उसको कारण मानने के लिए श्रवण में अपूर्वविधि है—इसमें क्या प्रमाण है ?

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कथन है कि इस प्रकार प्रत्यक्षसिद्ध अन्वय और व्यतिरेक के व्यभिचार से वेद बोधित कारणता का खण्डन नहीं हो सकता है। कारण, बहुकाल से प्रचलित सभी वैदिक याग-यज्ञादि का उच्छेद हो जायगा, किन्तु वास्तविक स्थिति यह नहीं है। वेद में कहा गया है—स्वर्ग की कामना करने वाला अग्नि होत्र याग करे (अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः)। इस वाक्य से हमलोग अवगत करते हैं कि स्वर्ग अग्निहोत्र याग का फल है, किन्तु इस कार्यकारणभाव में अन्वय एवं व्यतिरेक इन दोनों का व्यभिचार है। कारण, जिस समय अग्निहोत्र याग का अनुष्ठान किया जाता है उस समय ही स्वर्ग लाभरूप उसका कार्य नहीं होता है और जब स्वर्गलाभ होता है उस समय अग्निहोत्र याग नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्वर्गफल के प्रति अग्निहोत्र याग का अन्वय और व्यतिरेक न होने से अग्निहोत्र को स्वर्गलाभ का कारण नहीं माना जा सकता है। इस अवस्था में वेद-प्रमाण पर निर्भर कर अग्निहोत्र का अनुष्ठान कैसे हो सकता है ?

इसके उत्तर में मीमांसकों ने यह सिद्धान्त किया है कि प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु को किसी का कारण व्यवस्थापित करने पर इस व्यवस्थित कार्य-कारण-भाव में अन्वय-व्यतिरेक के व्यभिचार की आशंका होने से कार्यकारण के मध्य में एक अदृष्ट व्यापार की कल्पना कर आशंकित व्यभिचार का परिहार किया जाता है। जैसे—संसार में रोग निवृत्ति के लिए वैद्य किसी औषध विशेष के सेवन की व्यवस्था करता है और उस औषध के दीर्घकाल सेवन की आवश्यकता होती है एवं दीर्घ काल के बाद उस रोग की निवृत्ति होती है। प्रथम दिन का औषध-सेवन रोग-निवृत्ति के अव्यवहित पूर्व में नहीं रहता है।

किन्तु वह रोग निवृत्ति का ही कारण रहता है। क्योंकि उक्त रोग दीर्घकाल पर्यन्त औषध सेवन के परिणाम स्वरूप ही प्रशमित होता है। इस प्रमाण सिद्ध कार्य-कारणभाव की रक्षा के लिए जैसे एक अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है वैसे ही अग्निहोत्र एवं स्वर्ग का वेदवाक्य रूप प्रमाण सिद्ध कार्य-कारणभाव को उत्पन्न करने के लिए एक अदृष्ट की कल्पना करनी ही होगी।

इस प्रकार पूर्वोक्त वेदान्तश्रवण के विना वामदेव को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ यह किसी वाधित अर्थ का बोधक नहीं होता है। वामदेव को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ वह पूर्वजन्म में जो वेदान्तश्रवण किया उस श्रवण से जनित अदृष्ट का ही फल है—यह कल्पना करनी होगी। अतः श्रवणविधि को अपूर्व विधि मानने पर वाधित अर्थ का बोधक होने से अप्रमाण है—यह शंका नहीं हो सकती है।

वेदान्तवाक्य-श्रवण-ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है—यह अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा अवगत न होने पर भी अन्य उपाय से यह कारणता अवगत हो जाती है। सामान्यतया संसार में एक नियम देखा जाता है कि जिस शास्त्र का जो प्रतिपाद्य है उस वस्तु के साक्षात्कार के लिए उस शास्त्र के श्रवण की आवश्यकता होती है। जैसे संगीतशास्त्र का श्रवण संगीतशास्त्र में प्रतिपाद्य स्वर-तारतम्य विषय के साक्षात्कार का कारण होता है वैसे ही वेदान्त-शास्त्र-श्रवण वेदान्त-शास्त्र-प्रतिपाद्य ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण क्यों नहीं होगा? इस तरह सामान्य नियम के अनुसार जब सभी को यह अवगत है कि वेदान्त वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है तब यह निश्चय ही सिद्ध होता है कि यह कार्यकारणभाव विधि से पूर्व अप्राप्त नहीं है। अतः अत्यन्त अप्राप्त न होने से यहां अपूर्व-विधि नहीं हो सकती है।

प्रकटार्थकार का कथन है कि यह आपत्ति नगण्य है। कारण शास्त्रप्रतिपाद्य-अर्थ-साक्षात्कार के लिए शास्त्र का श्रवण ही हेतु है—यह सामान्य कल्पना

नहीं कर सकते हैं। संगीतादि शास्त्र में श्रवण उसके प्रतिपाद्य अर्थ के साक्षात्कार का कारण है—यह स्वीकार करने पर भी शास्त्र मात्र के लिए यह नियम प्रयुक्त नहीं हो सकता है। कारण, कर्मकाण्डात्मक वेदभाग धर्म का प्रतिपादन करता है। यह धर्म अतीन्द्रिय वस्तु है। अतः उसके साक्षात्कार की संभावना नहीं है, इसलिए यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि शास्त्र के प्रतिपाद्य अर्थ का साक्षात्कार करने के लिए शास्त्र का श्रवण ही एकमात्र साधन है—इस सामान्य नियम का उक्त स्थलों में व्यभिचार उपलब्ध होता है। अब यह सिद्ध हो जाता है कि इस प्रकार के नियम से वेदान्त - वाक्य ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है यह सिद्ध नहीं होता है। अतः उक्त आपत्ति अकिंचित्कर है। फलतः श्रोतव्यः इसमें अपूर्वविधि मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है[1]।

इसके बाद प्रकटार्थकार ने अपने मत को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के लिए भाष्यकार आचार्य शंकर का भाष्य उपस्थापित किया है—सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ब्र०सू० ३।४।४९ इस सूत्र के अर्थ विश्लेपण प्रसंग में कहा गया है—ब्रह्मसाक्षात्कार के अन्यतम सहकारिकारण जो निदिध्यासन (ध्यान) इसमें विधि स्वीकार करना होगा। इसी को व्यक्त करने के लिए कहा गया है—तृतीयम् तृतीय कारणविशेष में विधि स्वीकार करना होगा। श्रवण मनन और निदिध्यासन इन त्रिविध ब्रह्मसाक्षात्कार के कारणों में जो तृतीय निदिध्यासन है उसी में विधि स्वीकार करना होगा। श्रोतव्य वस्तु के विषय का साक्षात्कार करने के लिए समाहित चित्त से ध्यान आवश्यक है। समाहित हृदय से ध्यान के विना साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतः ध्यान से अतिरिक्त में विधि स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रकार प्रश्न कर इसके उत्तर के लिए सूत्र

---

१ न वा श्रवणमात्रं श्रोतव्यार्थसाक्षात्कारहेतुरिति शास्त्रान्तर-श्रवणे गृहीतः सामान्यनियमोऽसिद्ध।

सि० ले० सं० पृ० १०

में कहा गया है पक्षेग श्रवण के बाद निदिध्यासन की प्राप्ति पाक्षिक प्राप्ति है। साधक विपयान्तर के चिन्तन में व्यापृत होकर ध्यान की ओर अग्रसर नहीं होता तो ध्यान की अप्राप्ति सम्भावित रहती है। अतः इस पाक्षिक अप्राप्ति का परिहार करने के लिए ध्यान में विधि की आवश्यकता है। इसी का दृष्टान्त प्रदर्शन के लिए सूत्र में कहा गया है तद्वतो विध्यादिवत्। तत् शब्द का अर्थ है— विद्याश्रवणादिजनितब्रह्मविद्या। ब्रह्मविद्याशाली व्यक्ति के लिए जैसे श्रवण और मनन में विधि है यह भी वैसे ही है।

इस सूत्र के समान अर्थ को कहने वाली एक श्रुति भी बृहदारण्यकोपनिषद् में उपलब्ध होती है——तस्माद् ब्राह्मणाः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत। बाल्यं च पाण्डित्यं निर्विद्य अथ मुनिरिति। इस श्रुति का आशय है——ब्रह्मसाक्षात्कार से अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से मोक्ष-लाभ की सम्भावना नहीं है। इसलिए ब्राह्मण पाण्डित्य अर्थात् श्रवण करे। इस श्रवण के बाद बाल्य अवलम्बन पूर्वक रहे। जैसे बालक की प्रकृति दम्भ और अहंकार वर्जित है एवं सतत सत्व की पक्षपाती होती है वैसे ही प्रकृति का अवलम्बन कर आत्मतत्त्वसाक्षात्कार चाहनेवाले श्रोतव्य अर्थ विषय में मनन का अनुमान करे। इसी तरह मनन के बाद यह मौन अवलम्बन करे, मुनिजनोचित वृत्ति जो ध्यान, उसे करे। इस उपनिषद् में भी देखते हैं कि श्रवण मनन और निदिध्यासन ये तीन सहकारी कारण ही तत्त्व साक्षात्कार के लिए विहित होते हैं। इस सूत्र में पक्षेण इस पद के रहने से यह अवगत होता है कि निदिध्यासन में जो विधि स्वीकार किया जायगा वह नियमविधि होगी। कारण, पाक्षिक अप्राप्ति परिहार के लिए जो विधि होती है वह नियम विधि होती है। ऐसी स्थिति में प्रकृत प्रसंग में यह शंका हो सकती है कि निदिध्यासन में जो विधि है उसके दृष्टान्त स्वरूप जब सूत्र में विध्यादिवत् कहा गया है तब दृष्टान्तीभूत जो श्रवणविधि है उसमें भी नियम विधि मानना ही युक्तिसंगत है। नियम विधि स्वीकार करने पर

श्रवण में अपूर्व विधि के साधक के रूप में इस सूत्र की अवतारणा सर्वथा निरर्थक होगी ?

इसके समाधान में कहा है कि नियम विधि में जो पाक्षिक अप्राप्ति एवं अपूर्वविधि में आत्यन्तिक अप्राप्ति इन दो अप्राप्तियों में अप्राप्तित्वरूप सामान्य अंश देखकर दोनों में सादृश्य है—यह अवगत करते हैं। पुनः विचार पूर्वक देखने पर यह अवगत होता है कि यदि विधि मान ली गई, तब पाक्षिकप्राप्ति अंश जो है उसपर दृष्टिपात न कर केवल अप्राप्ति अंश को ग्रहण कर इस प्रकार का दृष्टान्त प्रदर्शित किया गया है। भाष्यकार के इसी तात्पर्य को ग्रहण कर प्रकटार्थकार ने इस मत का विवेचन किया है।

प्रकटार्थकार वार्तिककार श्रीनारायण सरस्वती से पूर्ववर्ती आचार्य थे। इस मत को वार्तिककार ने "तत्तु समन्वयात्" (ब्र.सू. १।१।४) इस सूत्र के व्याख्यान में उद्धृत किया है—आत्मा की उपासना करनी चाहिए, आत्मा को उपासना कर उसका अन्वेषण करे, इत्यादि श्रुतिभाष्य में सुस्पष्ट है इत्यादि कहा गया है, अतः प्रकटार्थकार के मत का ही यहां खण्डन किया गया है[१]।

अपूर्वविधि का खण्डन :—विवरणाचार्य सम्मत नियमविधि का समर्थन कर अपूर्व विधि खण्डन प्रदर्शन से पूर्व यह मानना होगा कि विवरणाचार्य के मत में दो पक्ष देखा जाता है—ज्ञान की प्रत्यक्षरूपता या परोक्षरूपता विषयपरतन्त्र नहीं वरन् कारणपरतन्त्र है। इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान उत्पन्न होने पर उस ज्ञान को

---

१ आत्मेत्येवोपासीत आत्मानमेव लोकमुपासीत सोऽन्वेष्टव्यः इत्यादिश्रुतिभाष्ये स्पष्टम् तेनात्यन्ताप्राप्तविषयत्वात् विधेः-विधिरत्यन्तमप्राप्तावित्याभियुक्त-वचनादपूर्वविधित्वमेव विद्याप्रकरणे वाक्यानां भाष्यकारेण निराक्रियते, न नियमादिपरत्वमिति ध्येयम् ।

वार्तिक० पृ०—११६९

प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है और इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से ज्ञान की उत्पत्ति होने पर वह परोक्ष कहा जाता है। आशय यह है कि—अत्र रूपमस्ति (इस में रूप है) इस शब्द के द्वारा यदि रूप का ज्ञान होता है तो शब्दरूप परोक्षप्रमाण के द्वारा यहां पर रूप का ज्ञान हुआ, अतः इसको प्रत्यक्षज्ञान नहीं कह सकते हैं। यद्यपि रूप प्रत्यक्षयोग्य वस्तु है किन्तु प्रत्यक्षज्ञान के कारण के रूप में जो इन्द्रिय प्रसिद्ध है उन इन्द्रियों में से किसी इन्द्रिय के द्वारा यदि प्रत्यक्ष योग्य वस्तु का ज्ञान होता है; तभी ज्ञान को प्रत्यक्षता कही जा सकती है, क्योंकि रूपज्ञान की प्रत्यक्षता केवल रूपस्वरूप विषय के द्वारा ही नियन्त्रित नहीं है। यह सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक एवं उस मत के अनुरोध कर्त्ता वेदान्तिओं के भी अनुकूल है।

दूसरा मत यह है—यदि विषय प्रत्यक्षयोग्य रहता है एवं प्रत्यक्षज्ञान के सभी कारण सन्निहित रहते हैं, किन्तु किसी दोष अथवा प्रतिबन्धक के कारण प्रत्यक्षयोग्यवस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं होता है, तब उस वस्तु का शब्दादिरूप परोक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञान होने पर भी प्रत्यक्ष ही रहता है। वस्तुतः यह विषय सर्वानुभावसिद्ध है किसी आग्रह विशेषवश स्वीकृत नहीं है। इस विषय का स्पष्टीकरण इस उदाहरण के द्वारा हो जाता है—दश मूर्ख व्यक्ति किसी नदी को पार करने से पूर्व विचार करते हैं कि नदी पार करने से पूर्व हमलोग कितने हैं यह गणना कर लेना आवश्यक है, किन्तु इसमें एक भी व्यक्ति अच्छी तरह गणना करना नहीं जानता था। सम्मुख एक विद्वान् पुरुष को देखकर कहा—भाई ! हमलोग कितने हैं—गणना कर दो। उसने इन लोगों की प्रार्थना के अनुसार गणना कर कहा—तुम लोग दश आदमी हो और इसी प्रसंग में उन लोगों को एक से दश तक की गणना भी सीखा दी। उन लोगों ने यह समझ कर कि हमलोग दश आदमी हैं नदीपार गये। इस पार आने के बाद उनलोगों ने स्थिर किया कि हमलोग इस पार आगए अब पुनः गणना

हो जानी चाहिए। तदनुसार उनमें से किसी ने गणना आरम्भ की। किन्तु गणना के समय अपने को छोड़ कर ही गिनती की और नव आदमियों को ही पाया। अतिशय दुःखी होकर कहा कि हमलोगों में से अन्य व्यक्ति भी गणना करें। दूसरे आदमी ने भी गणना की और प्रथम व्यक्ति के समान उसने भी नव व्यक्तियों को ही पाया। उनलोगों ने यह निर्णय किया अवश्य ही एक व्यक्ति जल में चला गया। सभी व्यक्तियों ने वहां बैठकर क्रन्दन करना आरम्भ किया। दैवयोग से वहां एक ज्ञानवान् पुरुष उपस्थित हुआ और इसने इनलोगों से उनके रोने का कारण पूछा। कारण जानकर उनलोगों की भ्रान्ति समझने में देर न लगी। उस अभिज्ञ व्यक्ति ने कहा—आप लोग शान्त हों, मैं गणना करता हूँ। उसने क्रमशः गणना कर अन्त में कहा तुम दश व्यक्ति हो। उसके इस वाक्य के द्वारा दशम व्यक्ति विषयक भ्रान्ति का निराकरण हुआ एवं दशम व्यक्ति का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी हुआ। ऐसे स्थल में—दशम व्यक्तिविषयकप्रत्यक्षात्मक ज्ञान **दशमस्त्वमसि** इस शब्द रूप प्रमाण से ही होता है।

इस उदाहरण से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि परोक्षप्रमाण के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी ज्ञान परोक्ष ही होगा यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। परोक्षप्रमाण की सहायता से भी प्रत्यक्षयोग्य वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो सकता है। यही शब्दापरोक्ष का अतिशय संक्षिप्त आशय है। इसका विस्तृत विचार स्वतन्त्र प्रकरण में किया जाएगा।

वेदान्त वाक्य के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो सकता है किन्तु इसको अवगत करने के लिए किसी विधि वाक्य की आवश्यकता है—यह विवरणानुसारी आचार्यगण स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कथन है कि शब्दा-परोक्षवाद के नियमानुसार यह अनायास में अवगत हो जाता है कि अपरोक्ष

वस्तु के विषय का ज्ञान इन्द्रिय से हो अथवा शब्द से ही हो-उसके द्वारा उत्पन्न ज्ञान अपरोक्ष ही होगा। अतः प्रकटार्थकार का श्रवण के विषय में स्वीकृत अपूर्व विधि युक्ति संगत नहीं है। प्रकटार्थकार यह कहना चाहते हैं कि वेदान्तवाक्यरूप जो प्रमाण है वह शब्दात्मक होने से परोक्षप्रमाण है। अतः ब्रह्म का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए ब्रह्मसाक्षात्कार के लिए वेदान्त वाक्य श्रवण की कारणता अप्राप्त ही है. फलतः श्रवण में अपूर्व विधि स्वीकार करते हैं। विवरणकार के मतानुसार यह सिद्धान्त युक्तिसह नहीं है। कारण, शब्दापरोक्षवाद के नियमानुसार यह व्यवस्थापित हो जाता है कि परोक्षप्रमाण के द्वारा भी प्रत्यक्षयोग्य पदार्थ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान ही होता है। अतः वेदान्त-वाक्य परोक्षप्रमाण होने पर भी नित्य प्रत्यक्ष योग्य ब्रह्मरूप वस्तु का वह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के उत्पादन करने में समर्थ होगा। इसलिए वेदान्त-वाक्य-श्रवण ब्रह्म-साक्षात्कार का कारण होता है। यह ज्ञान अप्राप्त नहीं है। अप्राप्त न होने पर यहां अपूर्वविधि नहीं हो सकती है।

उपर्युक्त प्रदर्शित युक्ति के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि वेदान्त-वाक्य का श्रवण ब्रह्म-साक्षात्कार का कारण है—यह लौकिक प्र॰ाण से सिद्ध है, किन्तु इससे यह किस प्रकार सिद्ध होता है कि वेदान्त वाक्य श्रवण अवधारणात्मक अर्थात् मूल अज्ञान का निवर्तक होता है?

सामान्यतया ब्रह्म का साक्षात्कार तो हमलोगों को सदा ही होता है—यह अद्वैतवादिओं ने एक मत से स्वीकार किया है। वह जीव भाव में प्रकाशित होता है। अतः जीव का स्वरूप विषयक जो ज्ञान वह भी एक प्रकार का ब्रह्मसाक्षात्कार ही है। किन्तु यह ब्रह्म-साक्षात्कार अविद्या का निवर्त्तक नहीं है। अविद्या की निवृत्ति के लिए अवधारणात्मक ब्रह्मज्ञान ही अपेक्षित रहता है। अवधारणात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार वेदान्तवाक्य-श्रवण से उत्पन्न होता है, यह लौकिक किसी

भी प्रमाण से अवगत नहीं होता है। अतः इस अवधारणात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति वेदान्त-वाक्य-श्रवण की कारणता है, इसकी अवगति अपूर्व विधि की सहायता से ही हो सकती है। क्योंकि पूर्वोक्त ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति वेदान्त-वाक्य-श्रवण की कारणता अप्राप्त है।[1]

इस प्रकार की आशंका के उत्तर में विवरणानुसारी आचार्यों का कथन है कि– अवधारणात्मक-ब्रह्म–निश्चय के प्रति विचार सहकृत वेदान्त वाक्य श्रवण कारण है—यह लौकिक युक्ति के अनुसार ही अवगत हो जाता है। सामान्यतः ब्रह्मविषयक प्रमाण मात्र ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है--यह एक लोकसिद्ध नियम है और इसी प्रकार विचार्यवस्तु के विषय में अवधारणात्मक ज्ञान के लाभ का उपाय विचार ही है--यह भी लोक सिद्ध ही है। अब यह सुस्पष्ट है कि विचार विचार्य-वस्तु-विषयक-प्रमाण अपरोक्ष वस्तु के साक्षात्कार का कारण है। अर्थात् विचार से ज्ञान की निश्चयरूपता सिद्ध होती है एवं अपरोक्ष-वस्तु-विषयक-प्रमाण के द्वारा ज्ञान की प्रत्यक्षरूपता सिद्ध होती है। इस सामान्य नियम से विचारसहकृत जो वेदान्त-वाक्य श्रवण वह विचार्य एवं अपरोक्ष ब्रह्म वस्तु विषयक अवधारणात्मक साक्षात्कार का उत्पादन करता है। अतः अवधारणात्मक ब्रह्म-साक्षात्कार का कारण जो विचार सहकृत वेदान्त वाक्य श्रवण वह अवधारणात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार का उत्पादक होगा—यह लोक सिद्ध है। फलस्वरूप अवधारणात्मक ब्रह्मसाक्षात्कार का विचार सहकृत वेदान्त वाक्य श्रवण कारण है– यह अप्राप्त नहीं है, अप्राप्त न होने पर अपूर्व विधि का प्रसंग ही नहीं है।

प्रकटार्थकार के मत में एक अन्य दोष भी यह है कि वेदान्त वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकता है। कारण, इस कार्य-कारण भाव

---

१ न च तावत् ब्रह्मप्रमाणत्वेनापातदर्शनसाधारणब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वप्राप्तावप्य-विद्यानिवृत्त्यर्थमिष्यमाणसत्तानिश्चयरूपतत्साक्षात्कारहेतुत्वं श्रवणस्य न प्राप्त-मिति।

सि० ले० सं० पृ० १२

में अन्वय-व्यतिरेक का व्यभिचार पूर्व में ही प्रदर्शित किया गया है। अतः लौकिक प्रमाण के द्वारा वेदान्त वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है—यह सिद्ध नहीं है।

इसके समाधान में यही कथन है कि प्रदर्शित उभय व्यभिचार तो अकिं-चित्कर है। क्योंकि इस प्रकार का अन्वय-व्यभिचार कार्यमात्र में उपलब्ध होगा। किसी एक कारण से ही कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, कारण समुदाय के रहने पर ही कार्य उत्पन्न होता है। जैसे दण्ड; चक्र; सलिल आदि सभी घटरूप कार्य के कारण हैं। ऐसी स्थिति में दण्ड रहने पर भी घटरूप कार्य की उत्पत्ति न होने से ही यह निर्धारण नहीं कर सकते हैं कि अन्वय-व्यभिचार होने से दण्ड घट का कारण नहीं है, वैसे ही यहां पर भी ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति केवल वेदान्त वाक्य श्रवण ही कारण नहीं है मनन और निदिध्यासन भी उसका कारण है। अतः जहां वेदान्त वाक्य श्रवण करने पर भी ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है वहां यह देखने में आता है कि ब्रह्मसाक्षात्कार के अन्य कारण मनन आदि के अभाव के ही कारण वहां ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। इसलिए अन्वय-व्यभिचार होने से श्रवण की ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता नहीं हैं यह कथन ठीक नहीं है।

इस तरह व्यतिरेक-व्यभिचार प्रदर्शन कर प्रकटार्थकार ने कहा है कि वेदान्त वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का लोकसिद्ध कारण नहीं हो सकता है। विवरण मतानुयायियों ने इसका खण्डन इस प्रकार किया है। वामदेव को जन्मान्तर का स्मरण था एवं जन्मान्तर में उन्होंने वेदान्त श्रवण सम्पन्न कर लिया था। अतः वेदान्तश्रवण के बिना ही वामदेव को ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ था—यह कथन समीचीन नहीं है। इसलिए अपूर्वविधिवादी को यह अवश्य ही स्वीकार करना होगा कि प्रकृत स्थल में वास्तविक व्यतिरेक-व्यभिचार नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि प्रकटार्थकार के मत में वामदेव ने अन्य जन्म में वेदान्त-श्रवण के बिना ही ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया था। अतः वेदान्तश्रवण की

ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता नहीं है एवं यह कारणता लौकिक प्रमाण के द्वारा अप्राप्त है। इसलिए इसमें अपूर्वविधि की कल्पना की गई है और यही कारणता की स्थापना करता है। किन्तु इस प्रकार कारणता स्थापना करने पर भी उक्त व्यतिरेक व्यभिचार को देखकर लोक में यदि इस श्रुत्युक्त कारणता के व्याघात की शंका हो तब इस शंका के निरसन के लिए वे इस व्यतिरेक व्यभिचार को व्यभिचाराभास स्वीकार करते हैं और वामदेव ने जन्मान्तर में वेदान्तश्रवण किया था यह कल्पना करते हैं। प्रकटार्थकार की यह कल्पना वस्तुतः एक विचित्र कल्पना है।

उनकी यह कल्पना निश्चय ही विचित्र कल्पना माननी होगी। कारण जो व्यतिरेक व्यभिचार वेदान्त वाक्य-श्रवण की ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता का व्याघात करता है वही पुनः श्रुति सिद्ध कारणता के व्यवस्थापन के लिए आभास कहकर स्थिर होता है। इस प्रकार की कष्ट कल्पना करने की अपेक्षा शास्त्ररूप प्रमाण की सहायता से वामदेव ने जन्मान्तर में वेदान्त वाक्य का श्रवण किया था, यह पूर्व से ही स्वीकार करना उचित होगा। यह स्वीकार करने से पूर्वोक्त व्यभिचार की भी प्रसक्ति नहीं है एवं लोकसिद्ध नियमानुसार वेदान्त वाक्य श्रवण को ब्रह्मसाक्षात्कार के प्रति कारणता भी सिद्ध हो जाती है। अतः वेदान्त वाक्य श्रवण में अपूर्व विधि नहीं है – यह स्वीकार करना ही उचित है।

विवरणानुसार आचार्यों का यह भी कथन है कि जिस स्थल में इस प्रकार इन्द्रिय की कारणता गृहीत होती है उस स्थल में किसी एक इन्द्रिय के द्वारा जब प्रत्यक्षरूप कार्य होता है, तब अन्य इन्द्रिय का व्यतिरेक-व्यभिचार रहने पर भी वस्तुतः यह व्यतिरेक-व्यभिचार उस प्रत्यक्ष के प्रति इस इन्द्रिय की कारणता का व्याघात नहीं कर सकता है। जैसे जिस घटवस्तु का साक्षात्कार चक्षु के द्वारा एवं त्वगिन्द्रिय के द्वारा होता है, उसका अन्धकार में जब हमलोग त्वगिन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं तब चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है—

अतः घट प्रत्यक्ष के प्रति चक्षुरिन्द्रिय की कारणता भी स्वीकार नहीं करते हैं। वैसे ही इस स्थल में भी वेदान्त वाक्य श्रवण के विना भी अन्य कारण के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। अतः वेदान्त वाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण ही नहीं हो सकता है—यह स्वीकार नहीं कर सकते हैं। जैसे घट साक्षात्कार चक्षुरिन्द्रिय एवं त्वगिन्द्रिय इन दोनों से होता है, दोनों इन्द्रियों से साक्षात्कार में केवल वैजात्य रहता है, वैसे ही वेदान्त-वाक्य-श्रवण-जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार में और कारणान्तर श्रवण जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार में इस प्रकार वैजात्य रहता है, इस प्रकार की कल्पना करने से ही प्रदर्शित व्यभिचार की आशंका दूर हो जाती है। इस स्थल में यह भी शंका हो सकती है कि घट का साक्षात्कार चक्षु से हो या त्वगिन्द्रिय से हो साक्षात्कार विषय जो घट उसमें किसी प्रकार का वैलक्षण्य नहीं रहता है, इन दोनों के साक्षात्कार से घट विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसी प्रकार वेदान्त-वाक्य श्रवण जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार विलक्षण होने पर भी उभय-विधि से जो ब्रह्म साक्षात्कार होगा उस अंश में इस ज्ञान का कोई वैलक्षण्य नहीं रहता है। कारण, ये दोनों प्रकार के साक्षात्कार संसार के हेतुभूत जो ब्रह्म विषयक अज्ञान उसका निवर्त्तक होते हैं। अतः व्यतिरेक--व्यभिचार दिखाकर यह कहना कि वेदान्तवाक्य श्रवण ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण नहीं हो सकता है—यह सिद्धान्त युक्ति संगत नहीं है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से तो सिद्ध नहीं होता है कि शास्त्रविचार सर्वत्र विचार्य अर्थ के साक्षात्कार का हेतु है क्योंकि धर्मशास्त्र के विचार करने पर भी विचार्य धर्म का साक्षात्कार नहीं होता है। अतः यह कार्य कारण भाव सार्वत्रिक नहीं है। अन्वय-व्यतिरेक-सहचार के प्रदर्शन का तात्पर्य यह है कि जहां विचार-विषय अपरोक्ष वस्तु हो अर्थात् जिस विषय में साक्षात्कार की योग्यता हो उस विषय के शास्त्रविचार से उसका साक्षात्कार होता है यह अर्थ अपेक्षित है। धर्म में अपरोक्षत्व की योग्यता ही नहीं है, अतः उसके विचार से उसका साक्षात्कार कै।

सम्भव है ? षड्ज आदि स्वरों के सामान धर्म अपरोक्षयोग्य (प्रत्यक्ष-योग्य) विषय नहीं है, आत्मा तो षड्ज आदि के समान अपरोक्ष है क्योंकि अहं (मैं) यह प्रतीति किसको नहीं है ?

यह आशंका हो सकती है कि अपरोक्ष ही है तो फिर उसके विचार की क्या आवश्यकता है। क्योंकि यह तो कोई नियम नहीं है कि जो अपरोक्ष हो उसका विचार करना चाहिए जिससे कि आत्मा अपरोक्ष है तब भी इसका विचार किया जाय। यद्यपि यह नियम नहीं है तथापि यह भी तो नियम नहीं है कि जो अपरोक्ष है उसका विचार नहीं करना चाहिए। षड्जादि के अपरोक्ष रहने पर भी विचार होता है और विचार से विचार्य विषय का अपरोक्ष फल भी होता है। जो असन्दिग्ध और निष्प्रयोजन रहता है उसका विचार नहीं होता है पर जो सन्दिग्ध विषय रहता है एवं जिससे प्रयोजन की सिद्धि होती है उसका विचार होता है। सन्दिग्धत्व और प्रयोजनत्व ही किसी विचार का प्रयोजक होता है। विचार्यत्व का नियम या अनियम प्रयोजक नहीं होता है।

किसी ने यह कहा था कि साक्षात्कार की योग्यता जिस विचार्य विषय में है वैसे विचार्य विषय में भी साक्षात्कार के प्रति विचार की हेतुता नहीं हो सकती है क्योंकि विचार और साक्षात्कार अव्यवहितोत्तर नहीं होता है जैसे स्वर्ग और निधि आदि का साक्षात्कार कर्मकाण्डात्मक वेद के विचार के अव्यवहितोत्तर नहीं होता है। स्वर्ग का साक्षात्कार तो मरणोत्तर अपूर्व जन्य है। इसी प्रकार निधि का भी साक्षात्कार चक्षु के साथ निधि का संयोग होने पर ही होता है। अतः विचार की साक्षात्कार योग्य पदार्थ के प्रति भी कारणता नहीं है। क्योंकि विचार से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। स्वर्ग की प्राप्ति अपूर्व के और निधि का साक्षात्कार चक्षु का निधि के साथ संयोग होने पर होता है। स्वर्ग एवं निधि के साक्षात्कार में अपूर्व एवं निधि के साथ इन्द्रिय का संयोग न होने के कारण न होने पर

भी विचार को उसके साक्षात्कार के प्रति जो कारणता है उसका परित्याग नहीं होता है। आशय यह है कि इन्द्रिय के साथ वस्तु का सन्निकर्ष होने के बाद जिसका साक्षात्कार संभव है उसके साक्षात्कार के लिए तो विचार के बाद भी सन्निकर्ष की अपेक्षा रहेगी ही और वस्तु के साथ सन्निकर्ष होते ही साक्षात्कार हो जायगा, अतः विचार की हेतुता साक्षात्कार में नहीं है यह सिद्ध नहीं होता है। किसी वस्तु के साक्षात्कार में एक ही कारण हो यह भी बात नहीं है, जैसे घट का चक्षु से और स्पर्श से प्रत्यक्ष होता है, किन्तु इन दोनों में विरोध या किसी एक का दूसरे से बाध नहीं होता है। दोनों ही में घट के साक्षात्कार की कारणता रहती है। फलितार्थ यह हुआ कि निधि आदि के साक्षात्कार में विचार की कारणता रहने पर भी सहकारिकारण इन्द्रिय है। अतः उस सहकारी कारण के विलम्ब से ही विलम्ब होता है। क्योंकि निधि का साक्षात्कार तो इन्द्रिय से ही होगा। इन्द्रिय आदि की सहकारिता के विना तो स्वर्ग निधि आदि का साक्षात्कार संभव नहीं है। ब्रह्म साक्षात्कार में तो इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है कारण इसका शब्द से साक्षात्कार होता है। अतः ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं है। फलितार्थ यह हुआ कि अपरोक्षयोग्य-अर्थ-विषयक-साक्षात्काररूप कार्य के लिए अर्थात् इस प्रकार के विचार्यमाण विषय के साक्षात्कार रूप कार्य के लिए अपरोक्ष योग्य अर्थ-विषयक-शास्त्र की विचार की साधनता है। इस तरह विचार्यमाण विषय साक्षात्कार के लिए इस तरह के विषय वाले शास्त्र के विचार की कारणता है। इसलिए विचार के बिना वामदेव ऋषि को आत्म-साक्षात्कार होने पर एवं याग अंजन आदि से स्वर्ग निधि आदि का साक्षात्कार होने पर भी किसी तरह भी अन्वय या व्यतिरेक का व्यभिचार नहीं है। क्योंकि इस उद्देश्य से शास्त्र का विचार प्रवृत्त ही नहीं है।

किसी आचार्य का यह भी कथन है कि जिस कार्य के लिए किसी वाक्य में अपूर्व-विधित्व है उससे विजातीय कारण होने पर भी प्रकृत विचार में प्रकृत

विचार की कारणता तो अप्राप्त है। भाव यह था कि वेदान्त विचार का जो ब्रह्म-साक्षात्कार के प्रति अपूर्व विधान है वह तो किसी से प्राप्त नहीं है वरन् इससे विजातीय षड्जादि साक्षात्कार के प्रति षड्जादि विषयक शास्त्र के विचार की कारणता सिद्ध है। अर्थात् इस विजातीय कार्य से प्रकृत विजातीय कारण की हेतुता से अपूर्व-विधि का उच्छेद मानने पर तो सभी अपूर्व-विधि की समाप्ति हो जायगी किन्तु पूर्व प्रदर्शित जो कार्य-कारण-भाव है वह विजातीय नहीं है क्योंकि अपरोक्ष योग्यार्थ-विषयक-साक्षात्कार मात्र के प्रति अपरोक्ष योग्यार्थ विषयक शास्त्र विचार की साधनता सिद्ध है। इस सामान्य कार्य-कारण से अपरोक्ष योग्य ब्रह्म विषयक साक्षात्कार के प्रति जो अप-रोक्ष ब्रह्म विषयक वेदान्त शास्त्र विचार है यह विजातीय नहीं है वरन् तदन्तर्गत ही है। अतः श्रवण रूप विचार में अपूर्व विधि नहीं है।

उपर्युक्त विश्लेषण से श्रवण में अत्यन्त अप्राप्ति न होने से अपूर्व विधि न होने पर भी नियम विधि तो हो ही सकती है, क्योंकि पक्ष में प्राप्ति रहने पर पक्ष में अप्राप्त अंश के पूरण के लिए नियम विधि मानी जाती है।

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि नियम विधि के द्वारा किसका नियम विवक्षित है। नियम विधि के पूर्ण विवेचन से पूर्व उसका नियम स्वरूप विवेचन आवश्यक होगा—क्या आत्मा का ज्ञान विचारित वेदान्त से ही करना चाहिए? यह नियम स्वरूप स्वीकार कर वेदान्त का ही नियम करते हैं अर्थात् सामान्यतया किसी साधन से प्राप्त जो आत्मा का ज्ञान उसका नियमन करते हैं कि विचारित वेदान्त से ही आत्मा का ज्ञान करना चाहिए इसका नियम करते हैं। आशय यह है कि वेदान्त विचार से अतिरिक्त मन आदि साधनों के द्वारा प्राप्त जो आत्मज्ञान उसकी व्यावृत्ति इस नियम से होगी। जिस अंश में वेदान्त विचार की आत्मज्ञान के लिए साधन रूप से प्रसंग नहीं रहेगा वहां भी वेदान्त विचार रूप साधन की ही प्रसक्ति रहेगी। फलतः आत्मज्ञान के लिए प्राप्त इतर साधनों

की निवृति होगी। आत्मज्ञान के लिए वेदान्त का विचार वेदान्त के शब्दों की किस अर्थ में शक्ति है क्या तात्पर्य है इसके निश्चय के अनुकूल चित्त का व्यापार विशेष ही श्रवण शब्द का अर्थ है। केवल ज्ञान ही श्रवण का अर्थ नहीं है[१]। किन्तु नियम-विधि का यह स्वरूप मानने पर प्रकृत में नियम विधि सम्भव नहीं है। क्योंकि वेदान्त से अतिरिक्त किसी प्रमाण की आत्मज्ञान में प्रसक्ति ही नहीं है। जैसे "व्रीहीनवहन्ति" इस अवघात विधि में धान के छिलके को हटाकर तण्डुल निष्पत्ति में अवघात के साथ ही नख-विदलन आदि की भी साधनता प्राप्त है, वैसे ही यहां आत्मज्ञान में वेदान्त से अतिरिक्त किसी भी प्रमाण की प्राप्ति नहीं है। वहां पर नख विदलन जिस पक्ष में प्राप्त है उस समय अवघात की प्राप्ति नहीं है। अतः अवघात के अप्राप्त अंश के पूरण के लिए नियम विधि हो सकती है, किन्तु प्रकृति में वेदान्त से इतर प्रमाण की जब प्रसक्ति ही नहीं है तब निवृत्ति करने योग्य किसी की प्रसक्ति न होने से सर्वत्र वेदान्त रूप साधन की ही प्रसक्ति है। पुनः किस अप्राप्तांश में प्राप्त करने के लिए नियम विधि का उपयोग है? एक विषय में दो साधनों की पक्ष में प्राप्ति रहने पर ही नियम विधि रहती है, जैसे तण्डुल का निष्पादन मूसल के अवघात और नख से निर्भेदन, दोनों उपायों से प्राप्त है। अतः "अवहन्यादेव;" अवघात से ही करें यह नियम होता है। आत्मज्ञान में विचारित वेदान्त वाक्य से अतिरिक्त साधन प्राप्त नहीं है क्योंकि वेदान्त वाक्य से अतिरिक्त प्रमाण की सम्भावना ही नहीं है[१]।

---

१ शब्दशक्तितात्पर्यावधारणानुकूल चेतो व्यापारविशेष एव ह्यत्रश्रवणशब्दार्थ न तु शब्दज्ञानमात्रम्।

भा० प्र० पृ० ३२

१ स च शब्दोऽत्र वेदान्तवाक्यमेव तदन्यस्य ब्रह्मणि प्रामाण्यासम्भवात्।

भा० प्र० पृ० ३२

आत्मज्ञान मात्र में वेदान्त से इतर प्रमाण का प्रसंग नहीं है यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि निर्विशेप आनन्द स्वरूप चैतन्य एक रस अद्वितीय आत्मतत्व में वेदान्त से इतर प्रमाण की प्रसक्ति न होने पर भी, मैं करता हूं, मैं भोगता हूं, आदि कर्तृत्व भोक्तृत्व विशिष्ट आत्मज्ञान में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की प्राप्ति है, अतः आत्मज्ञान मात्र में साधन की प्राप्ति नहीं है—यह नहीं कहा जा सकता है।

यदि यह कहने का आशय है कि निर्विशेप आत्मज्ञान ही अभिलषित है उसके ज्ञान में किसी अन्य साधन की प्राप्ति नहीं है। ऐसी स्थिति में "व्रीहीनवहन्ति" यहां पर भी अपूर्वीय व्रीहि में अवघात से अतिरिक्त किसी साधन की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि अवघात के द्वारा जो व्रीहि से तण्डुल सम्पन्न होगा वही परमापूर्व का साधन होगा। अतः वहां भी किसी अन्य साधन की प्राप्ति नहीं है तब व्रीहीनवहन्ति यह नियम विधि कैसे उत्पन्न होगी? अतः वहां पर नियम विधि को उपपन्न करने के लिए यह मानना होगा कि व्रीहि सामान्य में साधनान्तर की प्राप्ति होने मात्र से ही नियम विधि उपपन्न होती है। ऐसी स्थिति में यहां भी समान ही दशा है, क्योंकि निर्विशेप आत्मज्ञान में साधनान्तर की प्राप्ति होने पर भी लौकिक आत्मज्ञान अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि से युक्त आत्मज्ञान में मन की ही साधनता प्रसक्त है। भाव यह है कि किसी रत्न आदि पदार्थ को देखने पर उसके सूक्ष्म विशेष का, जिसका उसने अपने नेत्र से ग्रहण नहीं किया है ज्ञान नहीं होता है, किन्तु उसका निर्देश यदि कोई अन्य व्यक्ति कर देता है तो उसका ज्ञान करने के लिए पुनः वह सावधानी से चक्षु के व्यापार को प्रवृत करता है वैसे ही मन से अहं रूप में जीव ग्रहण करने पर "स्वाध्यायो"ऽध्येतव्यः इस नित्य-विधि के द्वारा वेदान्त के अध्ययन से उपदिष्ट निर्विशेप ब्रह्म चैतन्य रूप का श्रवण कर उसकी ही अवगति के लिए मन को ही सावधान आत्म से प्रणिधान करने में कदाचित् पुरुष की प्रवृत्ति हो सकती है। अतः वेदान्त विचार में पाक्षिक प्रवृत्ति प्राप्त होगी, क्योंकि

मन से ही साक्षात्कार करना चाहिए ऐसा श्रुति में कहा गया है। ऐसी स्थिति में श्रवण रूप वेदान्त विचार में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः पाक्षिक प्राप्ति होने से श्रवण में नियम विधि उपपन्न हो सकती है—आत्मा विचारितवेदान्तैरेव ज्ञातव्यः। इस तरह मन की आत्मज्ञान में प्रमाणता सिद्ध करने के सिद्धान्त में मन आत्मज्ञान में प्रमाण नहीं है क्योंकि आत्मा का तो विचार से ही अपरोक्ष हो जाता है शब्दापरोक्षवाद स्वीकार करने से ही मन की साधनता निवृत्त हो जाती है। निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार में मन कारण नहीं है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म उपनिषद् करण मात्र से गम्य है, उपाधि युक्त आत्मा के साक्षात्कार में भी मन की कारणता नहीं है क्योंकि वह नित्य साक्षि रूप है। मन की साक्षात्कार के प्रति उपकारकता होने पर भी अपरोक्ष साक्षात्कार का जनक तो शब्द ही होता है।

इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि विचारित वेदान्त ही आत्म-ज्ञान का साधन है मन नहीं है। ऐसी स्थिति में मन की साक्षात्कार के प्रति कारणता न होने पर जैसे नखविदलन की व्रीह विमोचन में कारणता है वैसे ही मन की आत्मज्ञान के प्रति साधनता नहीं है क्योंकि वहां तो नखविदलन तुषविमोचन का साधन है, किन्तु यहां तो आत्मज्ञान के प्रति मन कारण नहीं है। अतः पाक्षिक प्राप्ति न होने से नियम-विधि उपपन्न नहीं होती है[1]। इसीलिए सिद्धान्तलेश में इस पक्ष का उद्‌भावन कर पुनः अथ वा से दूसरा पक्ष भी दिया है।

अब यह प्रश्न होता है कि अनुमान से भी तो आत्मज्ञान संभव है क्योंकि अनुमान को भी तो प्रमाण स्वीकार किया है। अतः पक्ष में आत्मज्ञान के प्रति प्राप्त अनुमान की साधनता की पक्ष में प्राप्ति है उसीके पक्ष में अप्राप्त अंश के पूरण

---

१ सि० ले० सं० पृ० १५-१६

आत्मा विचारित वेदान्तैरेव ज्ञातव्यः यह नियम विधि है। अनुमान इस विधि से व्यावर्त्य नहीं हो सकता है, क्योंकि नैषा तर्केण मतिरपनेया इस निषेध शास्त्र से ही अनुमान की व्यावृत्ति सिद्ध है। विचार के समान विषय वाला जो अनुमान होगा उसको मननादि अंगों के साथ श्रवण रूप अंगी में नियम विधि का ही सहायक स्वीकार कर लिया है। अतः वह व्यावर्त्य हो ही नहीं सकता है। विचार से भिन्न-विषयक जो अनुमान है अर्थात् वाह्नि अदि का साधक जो अनुमान है उसकी श्रुति के तात्पर्य विषयीभूत ब्रह्म में प्रसंग ही नहीं है। अतः उसकी निवृत्ति भी अपेक्षित नहीं है। यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि नियम विधि से अप्राप्ति अंश के पूरण के लिए है, अतः उससे द्वैत व्यावृत्ति कैसे कही जाती है। मीमांसकों ने अयोग व्यावृत्ति अर्थवाले एवं शब्द का प्रयोग किया है। अतः फलतः इतर व्यावृत्ति सिद्ध होती है। यही कारण है कि व्यावृत्ति शब्द का अर्थ भी समन्वित होता है।

तत्त्वकौमुदीकार ने नियम विधि का निरूपण इस प्रकार किया है कि२ मन्त्र का अर्थज्ञान कल्पसूत्र के अर्थबोधक वाक्यादि से ही प्राप्त है, अतः मन्त्र से ही अर्थज्ञान जिस पक्ष में वाक्य आदि से प्राप्त होगा उस पक्ष में मन्त्र से साध्य अर्थज्ञान प्राप्त नहीं होगा। अतः मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्या अर्थात् मन्त्र से ही मन्त्र का अर्थज्ञान करना चाहिए इस रूप में नियमविधि स्वीकार किया है।

यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि संस्कृत से इतर भाषा में लिखित प्रबन्ध आदि के द्वारा ब्रह्मज्ञान पूर्णतः नहीं होता है। इसलिए नियम विधि स्वीकार करना आवश्यक है, किन्तु पुराण अथवा संस्कृत भाषा में लिखित आधुनिक प्रबन्ध आदि के द्वारा यदि कोई ब्रह्मज्ञान लाभ करने के लिए प्रयत्नशील होता है तब उस पक्ष में गुरुमुखाधीन वेदान्तश्रवण की अप्राप्ति होती है और इसलिए वेदान्त-वाक्य-श्रवण में नियम विधि का होना संभावित है, अतः इसकल्प

की अवतारणा की गई है। इसका आशय यह है कि पुराणादि अथवा आधुनिक संस्कृत भाषा में भी लिखित प्रबन्धादि पाठ करके जो ब्रह्मज्ञान की इच्छा करता है, उसकी यह इच्छा फलवती नहीं हो सकती है अतः उसका ब्रह्मज्ञान असम्पूर्ण ही रहेगा। उसके ब्रह्मज्ञान से अविद्या की निवृत्ति नहीं हो सकती है, अतः जिससे अविद्या की निवृत्ति संभव है ऐसे ब्रह्मज्ञान के लिए वेदान्त-वाक्य का श्रवण ही परम कर्तव्य है। वेदान्त वाक्य श्रवण के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान होता है और अविद्या की निवृत्ति होती है।

यदि कहा जाय कि इतिहास-पुराणादि में भी वेदान्त का अर्थ ही विस्तृत किया है तब उसके द्वारा ब्रह्मज्ञान क्यों नहीं होगा? वेदान्त वाक्य के अर्थ को उपलब्ध करने के लिए ही वेदान्त विचार आवश्यक होता है। जो गुरुमुख से वेदान्त का श्रवण करता है उसको भी तो अर्थ अवगत करना उचित ही होता है। ऐसी स्थिति में पुराणादि के द्वारा ब्रह्मज्ञान की संभावना किसी प्रकार नहीं मानी जा सकती है!

इसके उत्तर में कहा गया है कि इसका अनुमोदन मीमांसा-शास्त्र में वर्तमान है। ऐसा देखा जाता है कि यज्ञानुष्ठान काल में देवता एवं द्रव्य के लिए उस देवता एवं द्रव्य के प्रकाशक मन्त्र का पाठ किया जाता है। वहां पर यह पूर्व पक्ष होता है कि देवता और द्रव्य का स्मरण ही जब इसका उद्देश्य है तब उसकी सिद्धि के लिए किसी पौरुषेय-वाक्य का प्रयोग करने से भी कार्य-सिद्ध हो सकता है। इसके समाधान में कहा गया है कि यागकाल में मन्त्रपाठ के विषय में ही विधि होने के कारण मन्त्र पाठ करना होगा। अन्यथा मन्त्र पाठ विधायक वचन व्यर्थ हो जायगा। अतः प्रकृतस्थल में लौकिक वाक्य के द्वारा अप्राप्त संभावना को दूर करने के लिए विधि की कल्पना ही नियम विधि है।

प्रकृत में पौराणिक वचन के अध्ययन से यदि ब्रह्मज्ञान हो जाय तब वेदान्त श्रवण की पाक्षिक अप्राप्ति होगी और उसी अप्राप्ति को दूर करने के लिए

नियम विधि मानी जायगी। किन्तु यहां पर वेदान्त श्रवण में नियम विधि मानने पर सहकार्यन्तरविधिः (ब्र० सू० ३।४।४७) इस सूत्र के भाष्य का विरोध होता है। क्योंकि वहां पर कहा गया है कि यहां अपूर्व विधि है, अतः नियम विधि स्वीकार करने पर विरोध होगा।

इसके उत्तर में नियम-विधि मानने वालों का कथन है कि प्रकृत में भाष्यकार के द्वारा किया गया अपूर्व शब्द का प्रयोग नियम विधि के अंश में अप्राप्ति प्रापकता का सूचक है। नियम विधि में आंशिक अप्राप्ति रहती है। अतः नियम विधि स्वीकार करने पर भी भाष्य विरोध नहीं है।

इसके बाद यह देखा गया है कि पक्षेण शब्द की व्याख्या में भाष्यकार का जो कथन है उसके द्वारा वेदान्त वाक्य श्रवण में अप्राप्ति की संभावना सूचित होती है। पाक्षिक अप्राप्ति रहने पर नियम विधि ही रह सकती है। अपूर्व विधि स्वीकार करने पर पक्षेण शब्द की व्याख्या के समय में अन्यथा व्याख्यान करना पड़ेगा। किन्तु जब पक्षेण शब्द की यथाश्रुत व्याख्या के अनुसार हो वेदान्त श्रवण में नियम विधि सिद्ध होती है तब श्रवण में नियम विधि ही भाष्यकार को अभीष्ट है यह मानना समीचीन है।

यह सिद्धान्त विवरणानुसारी आचार्यों का है। इस मत का विश्लेपण तत्त्वकौमुदीकार के सिद्धान्त के अनुसार किया गया है[१]।

• यद्वा यथा मन्त्रैरेव मन्त्रार्थस्मृ[illegible]ः साध्या (पूर्वमी० अ० २ पा० १ अधि ६) इति नियमः। तन्मूलकल्पसूत्रात्मीयग्रह[illegible]क्यादीनामपि पक्षे प्राप्तेः तथा वेदान्तमूलेतिहासपुराणपौरुषेयप्रबन्धानामपि पक्षे प्राप्तिसम्भवान्नियमोऽयमस्तु। सर्वथा नियमविधिरेवायम्।

सहकार्यन्तरविधिः (अ० ३ पा० ४ अधि० १४ सू० ४७) इत्यधिकरणभाष्ये अपूर्वविधित्वोक्तिस्तु नियमविधित्वेऽपि पाक्षिकाप्राप्तिसद्भावात् तदभिप्रायेति तत्रैव पक्षेण इति पाक्षिकाप्राप्तिकथनपरसूत्रपदयोजनेन स्पष्टीकृतमिति विवरणानुसारिणः।

सि० ले० पृ० २१-२१

यह पक्ष भी ठीक नहीं हैं क्योंकि इतिहास और पुराण से वेद का तात्पर्य अवगत करना विवक्षित है। इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। अतः वेदान्त के तात्पर्य निर्णय के लिए इतिहस-पुराण के विचार की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्मज्ञान में विचारित वेदान्त ही साधन है, इतिहास-पुराण विचार नहीं है। अतः इनके विचार में ब्रह्म-ज्ञान की साधनता न होने से व्यावर्त्य के अभाव में पुनः नियम-विधि संगत नहीं होगी।

यदि यह कहा जाता कि जहां कर्म विषयक वेद और स्मृति भी है। वहां जैसे कर्म-विषयक स्मृतियों से भी कर्म-विषयक ज्ञान होता है। वैसे ब्रह्म-विषयक महाभारत आदि इतिहासों से साक्षात् ब्रह्मज्ञान का उदय प्राप्त है। अतः इस पक्ष में प्राप्त जो ब्रह्मज्ञान उस अंश में वेदान्त विचार को पूरण करने के लिए पूर्वोक्त नियम विधि हो सकती है व्यावर्त्य न होने से यहां नियमविधि नहीं हो सकती है—यह कथन ठीक नहीं है।

स्मृति आदि का श्रुति को अपेक्षा के विना स्वतन्त्रतया प्रामाण्य नहीं है। वरन् अविरोधी श्रुति न मिलने पर श्रुति की अपेक्षा करके ही स्मृति में प्रामाण्य है। अतः श्रुति के द्वारा उत्पन्न ज्ञान की आवश्यकता होने से स्मृति का प्रामाण्य नहीं है। अध्ययन से भी सिद्ध जो वेदार्थ-ज्ञान वह अध्ययन विधि से ही नियमित है। इसीलिए वेदं समुपबृंहयेत् यह कहा, वेदार्थं जानीयात् यह नहीं कहा, अतः ब्रह्म-ज्ञान में दूसरा साधन प्राप्त न होने से वेदान्त में नियम विधि नहीं हो सकती है।

प्राकृति गाथा का तो न म्लेच्छितवै नापभाषितवै आदि वचनों से वेदाधिकारी को उससे ज्ञान करना निषिद्ध है। अतः इस आत्म-साक्षात्कार के लिए दूसरे साधन की प्राप्ति न होने से नियम-विधि उपपन्न नहीं हो सकती है।

इस तरह वेदान्त में नियम की उपपत्ति न होने पर भी वेदान्तानां विचारेणैव ज्ञानं कर्तव्यम् वेदान्त-विचार से ही ज्ञान करना चाहिए। इस प्रकार श्रोतव्यः

इस नियम विधि का स्वरूप मानकर विचार का ही नियम विधान इसका अर्थ है। किन्तु इस प्रकार का नियम स्वरूप मानने पर भी नियमविधि उपपन्न नहीं होती है, क्योंकि आत्मज्ञान में वेदान्त-विचार से इतर-साधनता तो प्राप्त ही नहीं है। अतः किसी की पक्ष में प्राप्ति न होने से अप्राप्तांश पूरक इस विचार में नियम विधि प्राप्त नहीं है।

यदि इस नियम विधि का यह तात्पर्य स्वीकार किया जाय कि जैसे अध्ययन के लिए गुरु-गृह-गमन आवश्यक है वैसे ही विचार के लिए भी गुरुमुख का विचार अपेक्षित होने से स्वयं विचार न कर गुरुमुख विचार का नियमन इस विधि से होता है। अतः पक्ष में गुरु-मुख-विचार की प्राप्ति न होने से श्रोतव्यः इसमें नियम-विधि है। इस रूप में इसको विधि स्वीकार करने पर इस नियम विधि की आवश्यकता नहीं है. क्योंकि "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" ज्ञान के लिए गुरु के समीप स्थिति के विधान सामर्थ्य से ही गुरु-मुख श्रवण के लिए श्रोतव्यः इस स्वतन्त्र विधि के न रहने पर भी स्वतन्त्र श्रवण की व्यावृत्ति हो जायगी। कारण, आत्मज्ञान के लिए वेदान्त-विचार ही साधन है। अतः वेदान्त विचार के विना यह ज्ञान सम्भव ही नहीं है। फलतः विचारार्थ गुरु गृह में स्थिति माननी ही पड़ेगी, क्योंकि, "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इस वाक्य से ज्ञानार्थ गुरु समीप रहना विहित है। निश्चयात्मक ज्ञान विना विचार के सम्भव नहीं है। अतः वेदान्त वाक्य के विचार के लिए गुरुमुख श्रवण यह इसी विधि से विहित है। जब गुरु मुख से श्रवण यह दृष्ट फल हो सकता है तब इस विधि को केवल अदृष्टार्थक मानना उचित नहीं है। सारांश यह है कि स्वतन्त्र विचार के अंश में अप्राप्त गुरुमुख श्रवण के नियमन के लिए इस विधि को मानने की आवश्यकता नहीं है।

नियम विधि से अविचारित वेदान्त वाक्य की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् आत्मज्ञान के लिए विचारित वेदान्त वाक्य की प्राप्ति है और इसी प्रकार

अविचारित वेदान्त-वाक्य की भी प्राप्ति है। इस नियम विधि को स्वीकार करने से अविचारित वेदान्त वाक्य की आत्म साक्षात्कार के लिए पक्ष में प्राप्ति है और उस अंश में पूरण ही इसका फल है। अतः श्रोतव्यः यह नियम विधि अविचारित जो वेदान्त वाक्य उसको व्यावृत करने के लिए है। किन्तु जिज्ञासा के प्रयोजक ज्ञान से अर्थात् जिज्ञासा को उत्पन्न करने वाले वाक्य से निर्णय नहीं हो सकता है। आशय यह है कि वेदान्त वाक्य के विचार से पूर्व जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे तो सामान्य ज्ञान ही होता है। वह किसी निर्णय का निष्पादक नहीं होता हैं, मात्र वह विशेष ज्ञान की इच्छा का जनक होता हैं। दूसरी बात यह भी है कि विचार से पूर्व जो ज्ञान होता है वह अविद्या रूपी प्रतिबन्धक का निवर्तक भी नहीं होता है, अतः उस अविचारित वाक्य की साक्षात्कार के प्रति कारणता ही नहीं है, पुनः उसकी व्यावृत्ति के लिए यह नियम विधि व्यर्थ है। अखण्ड विषयक ज्ञान से ही अखण्ड विषयक अज्ञान निवृत होता है, और वह वेदान्त वाक्य के विचार के बिना सम्भव नहीं है।

पूर्व कथन का आशय यह है कि अंगों के साथ वेद का अध्ययन करने पर व्युत्पन्न व्यक्ति स्वयं भी वेदान्त वाक्यों का विचार कर आत्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार कर सकता है। अतः नियम विधि मानने से गुरुमुख से वेदान्त वाक्य विचार रूप श्रवण से उत्पन्न अदृष्ट से कल्मष निवृत्ति पूर्वक आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। अन्यथा विचार रूप अपरोक्ष ज्ञान सामग्री प्रतिबद्ध होने से अप्रतिबद्ध सामग्री हीं कार्य जनक होती है, इसलिए यहां अविद्या की निवृत्ति न होने में परोक्ष ज्ञान के समान ही यह साक्षात्कार होगा।

अविद्या रूप उपाधि की तबतक निवृत्ति नहीं होगी जबतक पाप निवर्तक अदृष्ट नहीं रहे। अतः स्वप्रयत्न-साध्य वेदान्त वाक्य विचार की पक्ष में प्राप्ति नहीं है। अतः उस अप्राप्तांश पूरण के लिए श्रवण में नियमविधि माननी होगी।

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" वेदार्थ ज्ञान के लिए गुरु के गृह में जाना चाहिए। इस गुरुमुख गमन विधि से हीं वह गतार्थ है, क्योंकि आत्म ज्ञान के लिए गुरु के समीप जाना श्रुति में कहा गया है। गुरु गृह गमन आत्मा के अपरोक्ष साक्षात्कार का साक्षात्कारण नहीं है। वरन् वह किसी के द्वारा कारण है, अर्थात् इतिकर्तव्यता यहां वेदान्त विचार की है वही साक्षात्कार का कारण है और उसका द्वार है गुरुगृह गमन फलतः यह सिद्ध होता है कि गुरु से प्राप्त वेदान्त वाक्य विचार द्वारा आत्म साक्षात्कार करे। अतः गुरु के विना स्वप्रयत्न-साध्य विचार की निवृति "तद्विज्ञानर्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इसी विधि से सिद्ध है, इस-लिए पुनः यह विधि निष्फल होगी। अतः इस विधि को पूर्वोक्त अर्थ में विधायक नहीं मान सकते हैं, क्योंकि गुरुमुखाधीन श्रवण का विधान इस विधि से होने पर तद्विज्ञानार्थम् आदि विधि केवल अदृष्ट के लिए ही रहेगी क्योंकि इसका जो विधायक अंश है वह श्रवण विधि से ही सिद्ध है। अतः दृष्ट फल मिलने पर अदृष्ट फल की कल्पना ठीक नहीं है।

सिद्धान्तलेश में इसके समाधान में यह युक्ति दी है कि श्रोतव्यः यह प्रधान नियम विधि है और इससे गुरु के अधीन विचार का नियमन होता है और इस प्रधान विधि के अंगरूप में गुरु गृह-गमन का विधान है। अतः प्रधान विधि न मानी जाय तो अंगविधि का स्वरूप ही नहीं बनेगा। किन्तु विचार अंश का नियमन होने पर ही इस अंग विधि को अंगता उपपन्न हो सकती है अन्यथा गुरुमुख विचार भी तो उसी से विहित होगा पुनः इसका अदृष्ट अर्थ से अतिरिक्त दूसरा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। अर्थात् श्रोतव्यः यह विधि गुरुमुख के अधीन विचार का भी जब नियमन करेगी तब स गुरुमेवाभिगच्छेत् इस विधि के द्वारा गुरुगृह गमन का विधान अदृष्टार्थक ही मानना पड़ेगा और विचार का ही नियमन करने पर यह विधि स्वप्रयत्न साध्य विचार की व्यावृत्ति कर गुरु गृह गमन का विचार के अंग रूप से विधान करेगी। किसी

भी स्थिति में श्रवण विधि का खण्डन तो नहीं हो रहा है केवल उसके स्वरूप में भेद हो रहा है। अतः गुरुमुखाधीन विचार के नियमन के लिए इस विधि की आवश्यकता नहीं है। सारांश यह है कि किसी भी प्रकार से विचार का नियमन सम्भव नहीं है।

श्रोतव्यः इस नियम विधि के द्वारा मुमुक्षु मोक्ष साधन ज्ञान के लिए आत्मा का ही श्रवण करें। (मुमुक्षुणाआत्मज्ञानाय आत्मैव श्रोतव्यः) इस प्रकार नियमविधि का स्वरूप स्वीकार कर आत्मा का ही विधान करता है यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा विधेय नहीं है। मुमुक्षुओं के द्वारा जिज्ञासित आत्म-ज्ञान का उपाय अनात्म विचार नहीं हो सकता है अतः अनात्म विचार तो स्वयं व्यावृत है। इसलिए नियमन के लिए आत्मा के विधान की आवश्यकता ही नहीं है।

पूर्वोक्त नियम स्वरूप की श्रोतव्यः इस नियम विधि में अनुपपत्ति होने पर भी मुमुक्षुओं के लिए अद्वैतात्म-विषय वेदान्त-विचार का नियमन होता है। वेदान्त वाक्य श्रवण से शम दम आदि इतिकर्तव्यता से अद्वैत आत्मज्ञान प्राप्त करें (वेदान्त-वाक्य-श्रवणेन शमदमादीतिकर्तव्याताकेनाद्वैतात्मज्ञानं भावयेत्) व्रीहीन-वहन्ति इस वाक्य में अपूर्वीय व्रीहि के प्रति नखदलन की प्राप्ति नहीं है अर्थात् पुरोडाश सम्पादन के लिए जो तण्डुल है वह अवघात के द्वारा ही निष्पन्न है। क्योंकि अवधात के द्वारा निष्पन्न तण्डुल से सम्पन्न पुरोडाश ही अपूर्व का साधक है, नख-विदलन के द्वारा सम्पन्न तण्डुल अपूर्व का साधक नहीं है। इस तरह अपूर्वीय व्रीहि में अवघात से अतिरिक्त नखविदलन आदि की प्राप्ति न होने पर भी व्रीहि-सामान्य में नख-विदलन एवं अवघात उभय की प्राप्ति है। अतः जैसे वहां पक्ष में अप्राप्तांश के पूरण के लिए नियम विधि स्वीकृत होती है वैसे ही निर्विशेष आत्म ज्ञान में विचारित वेदान्त से अतिरिक्त प्रमाण की प्राप्ति

न होने पर भी आत्मज्ञान मात्र में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण की प्राप्ति है अतः विधि प्रवृत्ति से पूर्व नखविदलन के समान भ्रम-गृहीत साधानान्तर की प्राप्ति होने से अविद्या निवृत्ति में समर्थ अद्वैत आत्मज्ञान साधनीभूत वेदान्त श्रवण पक्ष में अप्राप्त है। अतः उस अंश में पूरण के लिए वह नियम विधि सिद्ध होती है।

व्रीहीनवहन्यात् में केवल दृष्टफल तण्डुल की निष्पत्ति नहीं है, वरन् अवघात से उत्पन्न तण्डुल में वर्तमान जो अदृष्ट फल उससे साध्य जो परम अदृष्ट है उसी अदृष्ट का साधन है। जहां नियम विधि होती है वहां नियमानुसार कार्य सम्पादन करने पर ही अदृष्ट उत्पन्न होता है।

जो नियमादृष्ट का साध्य है वही इस नियमादृष्ट का कल्पक है। प्रकृत श्रवणादि में अदृष्ट साध्य अदृष्ट नहो है। क्योंकि आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की दृष्टसामग्री विचारित वेदान्त के रहने पर अदृष्ट मात्र के न रहने के अपराध से ज्ञान का उदय न होता तो अदृष्ट साध्य आत्म ज्ञान होता। किन्तु वैसी स्थिति नहीं है।

विविदिषन्ति यज्ञेन इस कथन से अदृष्ट की भी आत्म ज्ञान में कारणता है। क्योंकि आत्म तत्त्व का अपरोक्ष सभी अदृष्टों से साध्य है। इस अदृष्ट का आत्म ज्ञान में उपयोग किस प्रकार सम्भव है ? कारण, श्रुति के द्वारा अदृष्ट साध्य आत्म ज्ञान है यह सिद्ध नहीं है। "तपसा कल्मषं हन्ति" इत्यादि कथन से प्रतिबन्धक कल्मष की निवृत्ति के बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता है। अतः आत्मज्ञान में विचारित वेदान्त वाक्य की साधनता होने पर भी कल्मष की निवृत्ति के बिना अविद्या की निवृत्ति सम्भव नहीं है। इसलिए कल्मष निवृत्ति के द्वारा आत्मज्ञान के अदृष्ट का भी उपयोग है।

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा" आदि श्रुति एवं स्मृति के पर्यालोचन से यह सिद्ध होता है कि तप आदि कर्म के अनुष्ठान से कल्मष (पाप) निवृत्ति पूर्वक चित्त-नैर्मल्य सम्पादन होता

प्रतिबन्धक कल्मप की निवृत्ति से ज्ञान के प्रति अप्रतिबद्ध सामग्री के सम्पादन से कर्म का उपयोग होता है।

व्रीहीनवहन्यात् (व्रीहि का अवघात करें) व्रीहि पद का अर्थ अपूर्वीय द्रव्य है, व्रीहि अर्थ मानने पर यव में अवघात नियम उपपपन्न नहीं होगा क्योंकि व्रीहि में ही अवधात का नियम मानने पर व्रीहि का वैतुष्य सम्पादन नख विदलन के द्वारा न प्राप्त होने पर भी यव में अवघात का कथन उपपन्न नहीं होगा। इसी प्रकार व्रीहि के अभाव में प्रतिनिधि रूप में स्थित नीवार में अवघात के नियम का अतिदेश होता है। अतः वहां भी व्रीहि मात्र में अवघात का नियमन होने पर नीवार में अवधात का व्याघात होगा। अपूर्वीय द्रव्य में अवघात का नियमन होने पर नीवार यव आदि जो भी अपूर्वीय द्रव्य रहेगा उनका अवघात नियमन होता है। इस तरह नियमन मानने पर यह निर्विशप आत्मज्ञान में ही नियमन प्राप्त होगा सामान्य आत्मा के ज्ञान में नहीं। आशय यह है कि सजातीय किसी वस्तु में प्राप्ति ही सजातीय किसी अन्य विशेप व्यक्ति में नियम हो ऐसा नहीं होता है, क्योंकि प्राप्ति उसी में होनी चाहिए जो नियम का विषय हो। अप्राप्तांश पूरण वैयाधिकरण्य में रहेगा सामानाधिकण्य में नहीं। जैसे व्रीहि स्थल में सामान्यतः वैतुष्य मात्र में नियमन नहीं कर सकते हैं कि वैतुष्य सम्पादन अवघात से ही करें नख विदलन से नहीं करें, कारण, ऐसा सामान्य स्वरूप मानने पर लोक में भी अवहनन से अन्य उपायों से वैतुष्य सम्पादन में पाप की प्राप्ति होगी। अतः अपूर्वीय व्रीहि में ही नियम मानना पड़ेगा।

व्रीहीनवहन्यात् (व्रीहि का अवघात करना चाहिए) इसमें नियम विधि के स्वीकार में केवल दृष्ट फल ही नहीं है। व्रीहि से तण्डुल का सम्पादन करना केवल यही नियमविधि का फल नहीं है। तण्डुल निष्पादन का अवघात दृष्ट फल है किन्तु केवल दृष्ट फल के लिए ही नियमविधि का स्वीकार नहीं है, क्योंकि तण्डुल का व्रीहि से निष्पादन तो अवघात से भिन्न उपायों के द्वारा भी

संभव है। अतः दृष्ट फल के लिए ही नियम की स्वीकृति होने पर व्रीहीन-वहन्यादेव व्रीहि का अवघात ही करे इस नियम विधि से जो फल है वह तो अन्यथा सिद्ध ही है। क्योंकि तण्डुल निष्पादन तो प्रकारान्तर से भी होता है। इसमें और उसमें अन्तर ही क्या हुआ? इस नियम के द्वारा पक्ष में अप्राप्त अंश का पूरण मात्र फल मानने पर भी कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है - अर्थात् इतर साधनों की निवृत्ति-पूर्वक अवघात से ही तण्डुल निष्पादन से किस वैशिष्ट्य का आधान होता है, जिससे यहां नियम विधि स्वीकृत की जाती है। नियम की स्वांश में चरितार्थता अनन्यथा-सिद्ध किसी प्रयोजन की सिद्धि से होती है। व्रीहीन् अवहन्यादेव इस नियम के स्वीकार से तण्डुल निष्पादन मात्र फल होने पर वह तो उपायान्तर से भी सिद्ध ही है, फिर इस नियम के मानने से फल क्या हुआ? आशय यह है कि नियम विधि न मानने पर भी अवघात की तण्डुल साधन में हेतुता प्राप्त ही है। अतः व्रीहीन् अवहन्यात् इस वचन को क्या आवश्यक्ता है? अतः यह वचन नियमार्थक होता है अवहन्यादेव। जिससे फल यह हुआ अन्य उपायों के द्वारा तण्डुल निष्पादन पक्ष में अप्राप्तअंश का पूरण होता है, किन्तु इतना फल मानने पर नियम की सार्थकता नहीं हो सकती है नियम वचन करने के ऐसे फल की आवश्यकता है जो नियम स्वरूप के बिना सिद्ध नहीं हो सके तभी नियम वचन की सार्थकता होती है।

व्रीहीन् अवहन्यादेव इस नियम के स्वीकार करने से अवघात के द्वारा जो व्रीहि से तण्डुल का निष्पादन होता है उससे अदृष्ट फल की उत्पत्ति होती है। अर्थात् अग्निहोत्रादि याग की जो स्वर्गादि फल के प्रति कारणता है, किन्तु यह नहीं हो सकती है, कारण यज्ञादि क्रिया तो शीघ्र ही विनष्ट हो जाती है पुनः इससे कालान्तर में उत्पन्न होनेवाले स्वर्ग के प्रति कारणता कैसे हो सकती है? स्वर्ग रूप फल मृत्यु के अनन्तर होता है। अतः कुमारिल एवं अन्य मीमांसकों ने अपूर्व को द्वार के रूप में स्वीकार किया है। वह यज्ञादि कर्ता के आत्मा में संस्कार रूप में

अवस्थित होकर वह फल प्रदान करता है, यागादि से अपूर्व उत्पन्न होता है और यागादि अनुष्ठान से जन्य जो स्वर्गादि वह कालान्तर में होनेवाला फल है, उसका वह जनक होता है। यागादि के द्वारा जो फल उत्पन्न होता है वह अदृष्ट है। व्रीहीन् अवहन्यात् इस नियम विधिके द्वारा जो तण्डुल का निष्पादन है उस में जो अदृष्ट है, वह अवधानसे साध्य है। याग-जन्य-अदृष्ट अर्थात् नियम विधि जहां स्वीकृत होती है वहां नियमानुसार कार्य का विधान होने से अदृष्ट उत्पन्न होता है। उसी अंग रूप नियम-विधि के अदृष्ट से यागजन्य अदृष्ट साध्य है। याग के अदृष्ट का यह नियमादृष्ट भी साधक है। अतः वह परम अदृष्ट इस नियम अदृष्ट का कल्पक है। ऐसी स्थिति में व्रीहीन् अवहन्यादेव यह नियम विधि न मानने पर अन्य उपायों से भी तण्डुल का निष्पादन होने से अदृष्ट का साधक नहीं होगा। इसी तरह नियम वचन को सार्थकता भी होती है। इस नियम विधि का फल अदृष्ट-साधन होता है क्योंकि अप्राप्त अंश में पक्ष में पूरण होने से अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है। अतः वह परम अदृष्ट ही इस नियम विधि का कल्पक होता है, क्योंकि यागादि अनुष्ठान जन्य अदृष्ट इस नियम जन्य अदृष्ट से साध्य है। यही इसका कल्पक है, कारण इस फल की नियमविधि के स्वीकार के विना सिद्धि सम्भव नहीं है। इस दशा में अवहन्यादेव इस नियम वचन की भी सार्थकता उपपन्न होती है, क्योंकि यह वचन अप्राप्तांश पूरण से पक्ष में अप्राप्त अदृष्ट रूप फल का साधन करता है। नियम विधि न मानने पर पक्ष में अदृष्ट की उत्पत्ति न होगी।

अब यह प्रश्न होता है कि जैसे वहां नियम जन्य अदृष्ट के विना परम अदृष्ट उत्पन्न नहीं हो सकता है, अतः, नियम विधि स्वीकार करना आवश्यक है, वैसे ही यहां विचारित-वेदान्त से ही आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान करना चाहिए इस नियम विधि के द्वारा अदृष्ट मात्र के अभाव में आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान की दृष्ट सभी सामग्रियों के रहने पर अदृष्ट मात्र के अभाव के अपराध से अप-

रोक्ष ज्ञान का उदय नहीं होगा, किन्तु ऐसा कथन ठीक नहीं है, कारण प्रकृत में श्रोतव्यः इस नियम विधि को भी कल्पक माना गया है। यदि यह कहा जाय कि नियमविधि में जो अदृष्ट है उससे साध्य अपरोक्ष ज्ञान है, तो यह भी कथन संगत नहीं है, क्योंकि अदृष्ट मात्र के अपराध से अन्य दृष्ट सामग्रियों के समवधान में आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है--ऐसी बात नहीं है। अतः नियम विधि यहां उपपन्न नहीं हो सकती है।

"विचारितवेदान्तैरेव आत्मा श्रोतव्यः" यह नियम विधि भी अदृष्ट साधिका है, क्योंकि ब्रह्म ज्ञान में अदृष्ट की भी कारणता श्रुति में प्रतिपादित है। **तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति** (बृ० ४।४।२२) इस श्रुति वाक्य के अनुसार आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान में अदृष्ट की भी कारणता मानी गई है। कर्मकाण्ड के द्वारा आत्मा का ज्ञान विहित नहीं है। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इस विशेष श्रुति के अनुसार आरण्यक वेद मात्र की ही आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान में वेदानुवचन से ग्रहण होगा। अतः,उसी की कारणता सिद्ध होती है। **वेदानुवचनेन** (वेद के अध्ययन से) ब्राह्मणात्मक वेदाध्ययन से इसमें वेदानुवचन में विशेष वेद का कथन न होने से सम्पूर्ण वेद राशिका ही ग्रहण होता है। वेद इस सामान्य रूप से कथन होने से उसमें एक देश का ग्रहण उचित नहीं है। इसमें उपनिषद् सहित वेद का भी कथन है क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस नियम विधि से उपनिषद् भी गृहीत है। अतः यहां भी उपनिषद् रूप वेद के एकदेश का परित्याग न कर वेद मात्र का ग्रहण विवक्षित है।

दूसरा कारण यह है कि यज्ञेन आदि पद के साथ यहां वेद का प्रयोग है। प्रकृत स्थल में कार्मकाण्ड का प्रतिपादक वेद भी कहा गया है।

अतः कर्म ही वेदानुवचन शब्द से कहा जाता है। कर्म का अर्थ अग्निहोत्र आदि विशेष कर्म न होकर नित्य स्वाध्याय कर्म होता है।

नित्य स्वाध्याय आदि कर्मों से आत्मा का ज्ञान कैसे सम्भव है ? क्योंकि कर्म आत्मा का ज्ञान नहीं कराता है, आत्मा का प्रकाश तो उपनिषद् से ही होता है। स्वाध्यायादि कर्म चित्त-नैर्मल्य का सम्पादक है। चित्त की विशुद्धि में कर्मों की हेतुता है। विचारित वेदान्त की आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान में कारणता होने पर अप्रतिबद्ध ही वेदान्त विचार आत्मा के प्रकाश में अविद्या निवृत्ति द्वारा कारण होता है। भाव यह है कि विचारित वेदान्त के द्वारा आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान तभी सम्भव होता है जब स्वाध्यायादि जो नित्य कर्म किया जाता है। अर्थात् वह किसी कामना से अनुष्ठित नहीं है, जो किसी कामना से अनुष्ठित काम्य कर्म है वे उस काम्य फल की प्राप्ति कराते हैं, किन्तु जो नित्य कर्म रहते हैं वे कर्म आत्म-संस्कार सम्पादन के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान में उपयोगी होकर मोक्ष के साधन होते हैं। कर्मकाण्ड के साथ ज्ञानकाण्ड की एकवाक्यता इसी रूप में सिद्ध होती है। कर्मों के द्वारा संस्कृत आत्मा से ही वेदान्त के द्वारा प्रकाशित आत्मा का बिना किसी प्रतिबन्ध के ही अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। इस विषय का परिपोष इस आथर्वण श्रुति से भी हो रहा है। निर्मल-चित्त होने के बाद निर्विशेष आत्मा का विचार करता हुआ उसका अपरोक्ष ज्ञान करता है। **विशुद्ध-सत्त्व-स्तु तं पश्येत् निष्कलं ध्यायमानः** तपस्या से पाप का नाश होता है, पाप के नाश होने से पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है **ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।**

नित्य कर्म संस्कारार्थक है यह अवगति कैसे होती है ? सभी स्मृति-शास्त्रों के वचनों से यही अवगति होती है कि कर्म संस्कारार्थक ही है। गीता में भी यज्ञ दान तप आदि को पाप-नाशकारक ही स्वीकार किया है। फलतः यह सिद्ध होता है कि जितने यज्ञ दान तप आदि नित्य कर्म हैं, वे कल्मष-नाश के द्वारा आत्म ज्ञान का उत्पादन कर मोक्ष के साधन हैं।

भामतीकार का यही सिद्धान्त है कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि के अधार से ही कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड इन दोनों का विचार विहित हुआ है—यह

कुमारिलभट्ट को भी अभिमत है। अत एव वाचस्पति की उक्ति से यह स्पष्ट है कि उनके मत में वेदान्त वाक्यार्थ विचार के लिए और अन्य किसी विधि की अपेक्षा नहीं है, परन्तु विवरणाचार्य का मत सर्वथा भिन्न है। विवरणाचार्य के मत में उत्तर क्रतु विहित हुआ है और श्रोतव्य विधि के द्वारा ब्रह्म-काण्ड का विचार आश्रित होता है। विवरणकार के मत में स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि के द्वारा न कर्मकाण्ड और न ब्रह्म-काण्ड किसी का भी विचार विहित नहीं हुआ है। क्योंकि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि अक्षर ग्रहण मात्र में पर्यवसन्न है। विचार पर्यन्त जाने का सामर्थ्य नहीं है। उत्तर-क्रतु विधि शब्द का अर्थ है विचार के उत्तर अनुष्ठेय जो क्रतु है उसको विषय कर जो विधि वह उत्तर-क्रतु-विधि है।

विवरण के मत में श्रवण विधि से विचार आक्षिप्त हुआ है अर्थात् उनके मत में श्रवण विधि साक्षात् वेदान्त वाक्य विचार को विधायक नहीं है और बृहदारण्यक वार्त्तिककार सुरेश्वर के मत में श्रवण विधि साक्षात् विचार की विधायक है।

उपसंहार

हमलोगों ने श्रवण में विधि विचार प्रसंग में विवरणाचार्य एवं वाचस्पति-मिश्र के मत का विस्तृत रूप में विश्लेषण दिया है। परन्तु इसमें विवरण का मत ही अधिकतर समीचीन है। इसमें पूर्वापर विरोध एवं भाष्य विरोध नहीं है। अद्वैतसिद्धि में भी विवरण सिद्धान्त का ही अनुसरण किया गया है। किन्तु यद्यपि वाचस्पति ने श्रवण में आपातदृष्टि से विधि स्वीकार नहीं किया है तथापि पाण्डित्य एवं बाल्य में विधि स्वीकार किया ही है। बाल्य एवं पाण्डित्य श्रवण का ही पर्याय है, यह भी पुनः पुनः प्रदर्शन किया गया है। इस स्थिति में वाचस्पतिमत में पूर्वापर-विरोध सुस्पष्ट है और इस विरोध के परिहार के लिए कल्पतरुकार को भी द्राविड़ प्राणायाम करना पड़ा है। उनको भी इस की स्पष्टता अभिव्यक्त हुई थी। इसलिए अथवा पक्ष में भामती

के विरोध का परिहार कर उपसंहार में कहा है कि पूर्वापर-व्याहतभापिता नापि सूत्र-भाष्यानभिज्ञुतेति।

वाचस्पति के मत में यदि विधि अनंगीकार करना हो तब तो प्रतिपत्ति में जो भाष्यकार ने विधि अस्वीकार किया है उसी को पृष्ठभूमि बनाकर इस मत का समर्थन करना पड़ेगा। श्रवण शब्द का ज्ञान रूप अर्थ ग्रहण कर ज्ञान में भाष्य के अनुसार विधि अनंगीकार करना होगा।

विवरणाचार्य के कथनानुसार श्रवण में विधि है। इस सिद्धान्त में किसी तरह का पूर्वापर-विरोध नहीं है, अतः विवरण मत ही अधिक उपादेय एवं ग्राह्य प्रतीत होता है।

मीमांसा-प्रस्थान अतिशय प्राचीन सिद्धान्त है। इन लोगों ने वेद के कर्मकाण्ड की मीमांसा के साथ ज्ञानकाण्ड की भी मीमांसा की है। इस मत में ज्ञानकाण्ड का विचार कर्मकाण्ड के विचार से भिन्न नहीं है। प्रभाकरमिश्र ने "बृहती" ग्रन्थ में निष्प्रपञ्च आत्मस्वरूप को स्वीकार किया है।

आचार्य मण्डनमिश्र ने ब्रह्मसिद्धि[1] में कहा है कि ब्रह्म भी धर्मजिज्ञासा से ही गम्य है समन्वय के द्वारा गम्य नहीं है, आचार्य रामानुज ने मीमांसक आचार्य उपवर्ष के सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म-जिज्ञासा को धर्म-जिज्ञासा से गम्य स्वीकार किया है। मीमांसा के अनुसार वेद के सभी भागों का कार्य-अर्थ में ही प्रामाण्य माना है सिद्ध रूप अर्थ में प्रामाण्य नहीं माना है। "चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" (जै० सू० १।१।२) चोदना का अर्थ विधि और धर्म शब्द का अर्थ वेद[illegible] होता है। अतः सभी वेदार्थ विधि प्रमा[illegible] यह। मीमांसकों

---

१ ब्र० सि० पृ०. १५५

का अभिप्राय है, "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।४) में प्रथम प्रश्न किया है कि वेद कार्यार्थक है, अतः जो कार्यार्थक नहीं हैं वे वेद-भाग अनर्थक हैं, अर्थात् अर्थवाद वाक्य हैं। इस पक्ष को वादरायण के चतुर्थ सूत्र के पूर्वपक्ष में कहा गया है। मीमांसकों का अभिप्राय है कि कार्यरूप वेदार्थ जैसे विधि-प्रमाणक है वैसे ही वेदार्थ ब्रह्म भी विधि-प्रमाणक है।

आशय यह है कि धर्म विचार शास्त्र और ब्रह्म विचार शास्त्र भिन्न नहीं है। धर्म और ब्रह्म दोनों ही वेदार्थ है। पूर्व-मीमांसा में सभी वेदार्थों का विचार प्रस्तुत किया गया है। मीमांसा शास्त्र धर्मविचार शास्त्र है। ब्रह्मज्ञान भी धर्म ही है। यज्ञ, दान, होम आदि के समान ब्रह्मज्ञान भी धर्म है। क्योंकि, महर्षि जैमिनि ने विधि-मूलक अर्थ को ही धर्म कहा है। "यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि विधिवाक्य जिस प्रकार याग आदि में प्रमाण है, वैसे ही "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" (बृ० उ० २।४।५) "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" (छा० उ० ८।७।१) इत्यादि विधिवाक्य भी ब्रह्म में प्रमाण है, कथित विधि वाक्यों से ही ब्रह्म की भी सिद्धि हो जायगी।

यह विचारणीय है कि द्वैतग्राही "अहं सुखी" = मैं सुखी हूँ आदि प्रत्यक्षज्ञान का विरोध होने से निष्प्रपञ्च-अद्वैत-ब्रह्म विधिवाक्य का विषय नहीं हो सकता है और न इस विधिवाक्य का द्वैतग्राही प्रमाण के विरोध के कारण ब्रह्मज्ञान में तात्पर्य ही हो सकता है। अतः, उक्त विधि के आधार पर आत्मा की ही उपासना सिद्ध होती है। वेदान्त-वाक्य समन्वय-प्रमाणक नहीं हो सकता है, अतः ब्रह्म-मीमांसा-शास्त्र के पृथक् आरम्भ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह अवगत करना आवश्यक है कि यहां पर दो पक्षों का प्रदर्शन होता है—प्रथम पक्ष में ब्रह्मज्ञान प्रमारूप है और द्वितीय पक्ष में ब्रह्मज्ञान अप्रमारूप है। धर्म के समान ब्रह्म भी विधि प्रमाणक सिद्ध होगा, ब्रह्म अविधि प्रमाणक सिद्ध नहीं होगा।

मीमांसको के इन प्रदर्शित पक्षों की उद्भावना "तत्तु समन्वयात्" (ब्र० सू० १।१।४) इस बादरायण सूत्र के शांकरभाष्य में उपलब्ध होती है। शङ्कराचार्य ने जिस अद्वैतज्ञान का समर्थन अपने भाष्य में किया है उस सिद्धान्त का समर्थन गौडपाद, द्रविडाचार्य, ब्रह्मनन्दी, सुन्दरपाण्ड्य आदि वेदान्ताचार्यों ने पूर्व मीमांसा की सहायता से ही अद्वैतब्रह्म की सिद्धि करते हुए की है, किन्तु इनकी सिद्धि का प्रकार सर्वथा भिन्न है।

"आत्मा वा ऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि विधिवाक्य यदि ज्ञानविशेष का विधायक होता है यह अभिप्राय है तो यहीं कहना उचित होगा कि ज्ञान विशेष-विधायक विधिवाक्य से अद्वैत आत्मा की सिद्धि नहीं होगी। अपहत-पाप्मत्व आदि स्वरूप आत्मतत्त्व में यह प्रमाण नहीं हो सकता है। यह जिज्ञास्य है कि ज्ञानमात्र में विधि स्वीकार करते हैं? अथ वा ज्ञानविशेष में विधि स्वीकार करते हैं? ज्ञान स्वभावतः निराकार है, इसलिए ज्ञान में विशेष नहीं है। अपहत-पाप्मत्वादि-रूप आत्मज्ञान में विधि स्वीकार करने पर अपहत-पाप्मत्वादिरूप आत्मा की सिद्धि पूर्व में ही स्वीकार करनी पड़ेगी। अपहतपाप्मत्वादिरूप आत्मा सिद्ध न न होने पर उसके द्वारा ज्ञान विशेषित नहीं हो सकता है। अपहतपाप्मत्वादि-रूप आत्मा का ज्ञान 'य आत्मा अपहतपाप्मा' इत्यादि विधिशून्य वाक्य समन्वय-मात्र-लभ्य-अर्थ का प्रतिपादक है। वाक्य का घटक जो पदसमूह उससे लभ्य पदार्थों का संसर्ग ही समन्वय है। पदार्थों के संसर्ग को ही अन्वय कहा जाता है। अपहतपाप्मत्वादिरूप ब्रह्म तत्स्वरूप वाक्य के समन्वय से लभ्य न होने पर अन्य किसी प्रमाण से उस आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है। ज्ञान के विषय की सिद्धि के बिना असिद्ध ज्ञान में विधि नहीं हो सकती है।

ज्ञान का निरूपक अनवगत विषय नहीं हो सकता है। ज्ञान के विषय ब्रह्म की सिद्धि होने पर ही ज्ञान विशेषित हो सकता है एवं जैसे ज्ञान में विधि सम्भावित है। किन्तु विधि के पूर्व में ही यदि ज्ञान का का विषय ब्रह्म सिद्ध रहता है, तब ज्ञान में विधि के स्वीकार की आवश्यकता ही कहां है?

ज्ञान में विधि स्वीकार करने पर विधिवादी को भी विधिनिरपेक्ष शब्द गम्य अर्थात् समन्वयगम्य ब्रह्म को मानना पड़ेगा।

विवरण एवं उनके अनुयायियों के मत में "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" इत्यादि विधिवाक्य से आत्मा के साक्षात्कार में विधि मानी गयी है, उनके मत में निष्प्रपञ्च अद्वितीय आत्मा के साक्षात्कार में विधि स्वीकार करने पर भी आत्मा की वैसी रूपता सिद्ध नहीं होती है। आचार्य शङ्कर ने ज्ञान में विधि का खण्डन किया है। आत्मज्ञान में विधि स्वीकार करने पर 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इस सूत्र का उत्थान ही सम्भव नहीं है। मीमांसकों के मत में ज्ञान में हो विधि मानी गयी है, उसी का खण्डन अचार्य शङ्कर, मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र ने किया है। आत्म दर्शन में विधि स्वीकार करने पर यह विधि नियम स्वरूप होगी या परिसंख्या विधि होगी—इस आलोचन के प्रसङ्ग में नैष्कर्म्यसिद्धिकार भगवान् सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

नियमः परिसंख्या वा विध्यर्थोऽत्र भवेद् यतः।
अनात्मदर्शनेनैव परमात्मानमुपास्महे ॥ (नै० सि०)

इस प्रसङ्ग में यह अवगति रखनी चाहिए कि श्रवण मनन और निदिध्यासन ये तीनों ही मानस क्रिया अर्थात् तर्क रूप है, ज्ञान रूप नहीं है। इन लोगों ने भी ज्ञान में विधि नहीं मानी है। इन तीनों के मानस-क्रिया के रूप में होने पर उन में विधि होने में न मण्डन मिश्र का, न आचार्य शङ्कर का और न वाचस्पति मिश्र का ही विरोध है। श्रवण आदि तीनों में एक भी ज्ञान रूप वस्तु नहीं है। तीनों में एक को भी ज्ञान रूप मानने पर उनमें विधि नहीं हो सकती है। आत्म दर्शन में विधि यह विवरण सिद्धान्त नहीं है। इन लोगों के सिद्धान्त-प्रदर्शन प्रसङ्ग में नैष्कर्म्य सिद्धि में यह कारिका कही

गई है। मीमांसकों ने साक्षात्कार रूप दर्शन में ही विधि मानी है। आत्म दर्शन में परिसंख्या विधि मानने पर आत्मा का अदर्शन रूप होगा और इस से "आत्मनः दर्शनं कुर्यात्" अर्थात् "अनात्मनो अदर्शनं कुर्यात्"--यह श्रवण में परि-संख्या का प्रदर्शन होना चाहिए। नैष्कर्म्यसिद्धिकार यदि श्रवण में परिसंख्या का प्रदर्शन करते तब "अनात्मनः अश्रवणं कुर्य्यात् यह अर्थ होता। अपने से भिन्न के सम्बन्ध का विच्छेद ही परिसंख्या का अर्थ है। इस से यह स्पष्ट है कि नैष्कर्म्यसिद्धि में आत्मदर्शन में विधिवादिओं के मत के प्रदर्शन-प्रसङ्ग में ही यह कहा है।

प्रभाकरमतानुसारी पूर्व-मीमांसकों के साथ बादरायण शास्त्र के अनुसारी वेदान्तिओं के मत-विरोध का मूलीभूतस्थान विपरीतार्थविषयकज्ञान का स्वीकार है। विपरीतार्थ-विषयक-ज्ञान सम्भावित न होने पर बादरायण-तन्त्र के पृथक् आरम्भ की आवश्यकता ही नहीं होगी। मीमांसकों के द्वारा ज्ञान में विधि स्वीकार करने पर भी जीव और ब्रह्म के ऐक्य की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस पक्ष की उद्भावना तत्तु समन्वयात् (ब्र०सू० १।१।४) में "अत्रापरे प्रत्यवतिष्ठन्ते" इन पंक्तियों से अचार्य शङ्कर ने की है। इसके प्रदर्शन प्रसङ्ग में कल्पतरुकार ने कहा है—

अयन्तु सन्तु वेदान्ताः मानं ब्रह्मात्मवस्तुनि
किन्तु ज्ञानविधिद्वारेत्येप भेदः प्रतीयताम् ॥

(क० त०, पृ०, १०८)

इसकी व्याख्या में पञ्चपादिकाकार ने कहा है कि भाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित ज्ञान-विधिवादी के पूर्व पक्ष में प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ जीव-ब्रह्म-ऐक्य विषयक-मनोवृत्ति को कोई प्रमाण और कोई अप्रमाण कहता है। इस ज्ञान विधि का खण्डन सभी अचार्यों ने किया है। अचार्य वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसङ्ग में मण्डन मिश्र के द्वारा प्रदर्शित मत का ही संग्रह किया है। अतः

इस मत के खण्डन से भामतीकार ने श्रोतव्य विधि का खण्डन किया है--यह कथन निराधार है।

विवरणकार ने अद्वैतवेदान्त के अनुसार ही श्रवणादि में विधि मानी है। इन्होंने श्रवण, मनन और निदिध्यासन को मानस-क्रिया अर्थात् तर्करूप माना है, तर्क रूप मानस क्रिया में विधि हो सकती है। श्रवणादि ज्ञान रूप नहीं हैं। ज्ञान रूप होने पर इसमें विधि नहीं हो सकती है। वाचस्पति मिश्र ने इन तीनों को ज्ञान रूप मानने पर इन में विधि नहीं हो सकती है--यह कहा है अर्थात् ज्ञान में विधि नहीं हो सकती है यह कहा है। अतः मानस क्रिया रूप तर्क में विधि का खण्डन नहीं किया है, फलतः इस अंश में कोई विरोध नहीं है।

स्वाध्यायविधि का अक्षरग्रहणार्थकत्वविवेचन

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र में जो अथ शब्द का प्रयोग किया गया है उसके चार प्रकार के अर्थ वृद्ध-व्यवहार में प्रयोग-सामर्थ्य प्रयुक्त प्रसिद्ध हैं ।

(१) आनन्तर्य

(२) अधिकार

(३) मंगलाचरण

(४) प्रकृत अर्थ से अर्थान्तर का प्रतिपादन

भाष्यकार ने इनमें तीन प्रकार के अर्थ का निषेध कर अथ शब्द का आनन्तर्यरूप अर्थ ग्रहण किया है[१] । अथ शब्द का यह आनन्तर्यरूप अर्थ जिज्ञासा पद का अवयवार्थ (योगार्थ) स्वीकार कर लाभ किया गया है । जिज्ञासा

---

१ तत्राथशब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते । (शां० भा०, पृ० ५९४)

तत्राथशब्दः आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते, नाधिकारार्थः ।

(प० पा० पृ० ५९४)

शब्द का अवयवार्थ ज्ञानेच्छा है। यद्यपि जिज्ञासा शब्द विचारार्थ में रूढ़ है तथापि ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में विचार रूप रूढ़ अर्थ का ग्रहण नहीं किया गया हैं। कारण, जिज्ञासा शब्द का योगार्थ है ज्ञानेच्छा। इस ज्ञानेच्छा रूप योगार्थ से विचाररूप अर्थ का अत्यन्त भेद नहीं है। कारण, प्रकृत स्थल में ज्ञानेच्छा मात्र ही जिज्ञासा शब्द का विवक्षित अर्थ नहीं है, किन्तु विचार-साध्य ज्ञान-विषयिणी इच्छा जिज्ञासा शब्द का अर्थ है। क्योंकि ज्ञान को जब इच्छा का विषय कहा गया है तब उस ज्ञान को सविषयक ही समझना चाहिए। कारण, विषय का ज्ञान नहीं रहने पर इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। पूर्व में कहा गया है कि अथ शब्द का अर्थ आनन्तर्य है। यह आनन्तर्य किसके साथ और किसका है? इस शंका के उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि प्रकृति का कारण जो इच्छा उस इच्छा के उदय से लेकर ब्रह्मज्ञानोदयपर्यन्त जो कार्य है उसका पुष्कल कारण पूर्वनिर्वृत्त-शमदमादि-साधन-चतुष्टय है। इसी आनन्तर्य को समझाने के लिए सूत्रकार ने अथ शब्द का प्रयोग किया है। निष्कर्ष यही हुआ कि शास्त्र-सिद्ध शमदमादि जो अधिकारी का विशेषण है उसी को सूचित अथ शब्द कर रहा है। यह विचारणीय है कि पूर्व में जो कहा गया है कि जिज्ञासा पद का अवयवार्थ विचार-साध्य-ज्ञान विषयिणी इच्छा है, किन्तु यह कैसे हो सकता है? विचार तो जिज्ञासा शब्द का अवयवार्थ नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन हैं कि जिज्ञासा पद को विचारार्थ में लक्षणा की गई है, विचार ज्ञान एवं इच्छा इन दोनों के मध्य में है। परोक्षरूप में ज्ञात जो वस्तु उसको अपरोक्ष रूप में ज्ञान करने के लिए इच्छा होती है, सदिग्ध रूप में ज्ञात जो वस्तु उसको निश्चय रूप में ज्ञान करने की इच्छा होती है और ये दोनों प्रमाण-प्रमेयादि-विषयक हैं, इसलिए प्रतिपन्न वस्तु की इच्छा का विषय जो विशिष्ट ज्ञान वह प्रमाणादि विचार को अविनाभाव सम्बन्ध से अवगत कराता है। जहां विशिष्ट ज्ञान रहता है, वहां प्रमाणादि विचार रहता है, विचार साधन हैं और ज्ञान साध्य है, इसलिए दोनों

में अविनाभाव सम्बन्ध है। ज्ञान विचार-रूप-प्रयत्न-साध्य है, इसलिए जिज्ञासा शब्द का विचार साध्य ज्ञान में लाक्षणिक प्रयोग होता है। जिज्ञासा शब्द की विचार में लक्षणा प्रमाणान्तर से भी उपपन्न होती है। इच्छा का विषय ज्ञान है और वह साक्षात् इच्छा से साध्य नहीं है, इसलिए उसका निर्वाहक विचार आक्षिप्त होता है। इच्छा स्वयं साक्षात् साधन रूप में ज्ञान के साथ अन्वय लाभ नहीं कर सकती है, इसलिए इसका निर्वाह कराने के लिए विचार अपेक्षित होता है। इच्छा के विषयभूत ज्ञान में इच्छा के साध्यत्व का निर्वाह कराने के लिए एवं पक्षान्तर में ज्ञान-साधनत्व का निर्वाह कराने के लिए विचार अपेक्षित होता है। इसलिए जिज्ञासा पद का भी विचाररूप अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग होने से लक्षणा के द्वारा साधन-चतुष्टय से सम्पन्न पुरुष मोक्ष साधन ब्रह्म ज्ञान के लिए वेदान्त-वाक्य का विचार करेगा यही सूत्र वाक्य का तात्पर्य है[1]।

अब प्रश्न होता है कि जिज्ञासा पद में जो इच्छा है, (ज्ञातुमिच्छा-जिज्ञासा) इस स्थल में शब्दतः इच्छा का ही प्रधान्य है। कारण, इच्छा प्रत्ययार्थ है। प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थ को अपेक्षा प्रधान होता है। यह मानने पर भी सूत्र के द्वारा मात्र इच्छा का प्रतिपादन नहीं हो सकता है। कारण, यह सर्वथा निष्प्रयोजनक है। परन्तु इच्छा का विषय जो ज्ञान उसीका प्रदर्शन करते हुए उस ज्ञान का साधन-भूत-विचार, जो इच्छा एवं ज्ञान का मध्यवर्ती है, उसी में लक्षणा स्वीकार कर, उसी विचार का, तात्पर्य के द्वारा सूत्र से प्रतिपादन किया गया है।

इस स्थिति में अर्थतः प्रधान्य-निबन्धन ज्ञान एवं इच्छा के अभ्यन्तर में विद्यमान जो विचार उसका आश्रयण कर उसी का आरम्भ अथ शब्द के द्वारा प्रतिपादित हो सकता है। इस प्रकार ब्रह्म एवं ज्ञान का शब्दतः अप्राधान्य रहने पर भी इन दोनों का अर्थतः प्राधान्य विद्यमान है और इससे

१ विचारपूर्वकब्रह्मज्ञानविषयेच्छा जिज्ञासाशब्दात् प्रतीयते।

(प० पा०, पृ० ६०२)

यह आरम्भ के योग्य होने के कारण इन दोनों का आरम्भ भी सूत्रस्थ अथ शब्द का अर्थ हो सकता है, सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ ग्रहण करना समीचीन नहीं है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि अथ शब्द के द्वारा आनन्तर्य का अभिधान किया गया है इसी आनन्तर्याभिधान के द्वारा शास्त्र-सिद्ध शमदमादि-साधनचतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी विशेष को वक्ष्यमाण न्याय से यदि समर्पण नहीं करें तो महान् अनर्थ ही हो जायगा कारण, पूर्व पक्षी ने अथ शब्द का आरम्भ रूप अर्थ ग्रहण करने के लिए दुराग्रह प्रदर्शन किया है और उसका फल यही होगा कि विचार का आरम्भ कर्तव्य है इस प्रकार का विधान सूत्र से प्राप्त हो जायगा। सूत्र के द्वारा विधीयमान विचार अधिकारी शून्य होने के कारण अननुष्ठेय हो जायगा। क्योंकि अधिकारी का ज्ञान नहीं रहने से किसी को भी इस शास्त्र में प्रवृत्ति नहीं होगी। किसी भी कर्तव्य के अनुष्ठान में अधिकारी का निरूपण सर्वप्रथम आवश्यक है। सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित अथ शब्द का आनन्तर्य रूप अर्थ ग्रहण करने में किसी तरह की अनुपपत्ति नहीं है। कारण, इससे शमदमादि-साधनचतुष्टय-सम्पन्न-रूप विचार में अधिकारी है, यह सिद्ध हुआ और अधिकारी का लाभ हो जाने से विहित कर्तव्य का अनुष्ठान भी सम्भव हो जायगा[1]।

इसमें पूर्व पक्षी ने इस गम्भीर शंका का उत्थापन किया है कि विश्वजिता यजेत इस प्रकार की श्रुति उपलब्ध होती है। इस श्रुति के द्वारा नियोज्य पुरुष को अधिकारी के रूप में उल्लेख नहीं किया गया है अर्थात् नियोज्य

---

१ तत्राथशब्देनानन्तर्याभिधानमुखेन शास्त्रीयसाधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारि-विशेषस्य न्यायतः समर्पणाभावे विचारारम्भार्थत्वे च कर्तव्यतया विधीयमानो विचारो निरधिकारोऽननुष्ठेयः स्यादिति।

(वि० पृ०, ६०४)

अधिकारी पुरुष का इसमें उल्लेख नहीं मिलता है। इसलिए नियोज्याभाव-प्रयुक्त विश्वजित् याग का अनुष्ठान किसी प्रकार से उपपन्न नहीं हो सकता है, अतएव पूर्वोक्त श्रुति वाक्य में साकांक्ष नियोज्य अधिकारी का अनुसन्धान करना पड़ता है। इस स्थिति में यह शंका होती है कि अपेक्षित नियोज्य अधिकारी पुरुष के सम्बन्ध में इस में विशेष उल्लेख नहीं रहने के कारण जिस किसी अविवक्षित विशेष को अधिकारी मानना पड़ेगा, अथवा स्वर्गकामी व्यक्ति पूर्वोक्त श्रुति का नियोज्य है? इस जिज्ञासा में जब कोई नियामक नहीं है तब कोई भी व्यक्ति पूर्वोक्त विश्वजित् याग का नियोज्य अधिकारी है—यहां पूर्व पक्ष प्राप्त होता है। इस स्थिति में पूर्व मीमांसा में सिद्धान्त किया गया है कि पूर्वोक्त स्वर्गकामी ही नियोज्य अधिकारी पुरुष है। कारण, स्वर्ग निरतिशय प्रीतिरूप है। निरतिशय प्रीतिरूप स्वर्ग में सभी की आकांक्षा देखी जाती है, अतः स्वर्गकामी पुरुष ही पूर्वोक्त विश्वजित् याग का अधिकारी पुरुष है। इस दृष्टान्त के अनुसार अधिकारी विशेष का उल्लेख नहीं रहने के कारण विचार विधि में भी जो अनुपपत्ति आ जाती है उसके समाधान के लिए विचार विधि स्थल में भी पूर्वोक्त विश्वजित् न्याय का अनुवर्तन कर अधिकारी विशेष की कल्पना हो जायगी और इससे विचार में प्रवृत्ति भी हो जायगी। इसलिए अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ ग्रहण करने का कोई प्रयोजन नहीं है[1]।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्व पक्षी के मत में भी विचार जब कर्तव्य रूप में अवगत हुआ है तब कर्तव्य रूप में अवगत विचार भी अपना

१ विश्वजिता यजेतेति श्रुतम्, नियोज्याभावेऽनुष्ठानानुपपत्तेर्नियोज्यस्तावदेष्टव्यः, स किमविवक्षितविशेषः? उत स्वर्गकामः? इति जिज्ञासायां नियामकाभावाद् यः कश्चिदिति पूर्वपक्षं प्रापय्य सिद्धान्तितम्—स्वर्गकामो नियोज्य इति। निरतिशयप्रीतिः स्वर्गः, तत्र च सर्वेषामाकांक्षादर्शनात् तत्कामोऽधिकारीति। तथा चाधिकारिविशेषाभावे विचारविधेरप्यनुपपत्तेः स आश्रयणीयः, इति न प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्यर्थः।

(त० दी० पृ० ६०४)

प्रारम्भ अर्थापत्ति के बल से अवगत करायगा। कारण, जो कर्तव्य रूप में विहित हुआ है, उसका आरम्भ तो अर्थात् प्राप्त है, उसका प्रारम्भ करना चाहिए, इसीलिए तो उसका विधान किया गया है। कर्तव्य रूप में अवगत विचार प्रारम्भ के बिना अनुपपन्न होकर प्रारम्भ का अवगमन करा रहा है और इससे अथ शब्द आनन्तर्य रूप अर्थ के अभिधान द्वारा अधिकारी का समर्थक है, एवं कर्तव्य रूप में अवगत विचार का आरम्भ अर्थापत्ति-सिद्ध है। इस प्रकार स्वीकार करने से सिद्धान्ती के मत में भी तो कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसके फलस्वरूप पूर्व पक्षी ने जो अथ शब्द का आरम्भ अर्थ स्वीकार किया है उसका कोई प्रयोजन नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होगा कि अथ शब्द क्या आरम्भार्थक है? अथ वा आनन्तर्यरूप अथ के द्वारा अधिकारी का समर्पक है? इन में तो किसी प्रकार का निर्णायक कोई भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है, कारण, दोनों पक्षों में युक्ति का बल तुल्य ही है[1]। इस परिस्थित में विवरणाचार्य कहते हैं कि निर्णायक तो अवश्य है, कारण विशेषण, विशिष्ट-अधिकारी को छोड़ कर विधि का ज्ञान उपपन्न नहीं हो सकता है। विशेषण-विशिष्ट अधिकारी का ही निर्देश प्रथम अपेक्षित हैं। विधि के ज्ञान के बाद उत्तरकालीन अनुष्ठान होता है, प्रथमतः विध्यपेक्षित अधिकारी का ज्ञान एवं इसके बाद विधि-प्रतिपत्त्युत्तरकालीन अनुष्ठान यही क्रम रहता है। पहले अधिकारी फिर विधि-प्रतिपत्ति तब अनुष्ठान यही क्रम रहने के कारण प्रथमापेक्षित अधिकारी को ही आनन्तर्याभिधान के द्वारा अथ शब्द समर्पण कर रहा है—यही पक्ष युक्त है[2]।

पूर्वपक्षी यदि अथ शब्द के द्वारा विशिष्ट अधिकारी को मुख से समर्पण कराना नहीं चाहते हैं और इसके बदले प्रदर्शित विश्वजित् न्याय के अनुसार

१ अथशब्द आनन्तर्यार्थ आरम्भार्थो वेति संशय एव, न तत्र निर्णायकमस्तीत्यर्थः।
(त० दी०: पृ० ६०४)

२ विध्यपेक्षितोपाधित्वादानन्तर्याभिधानमुखेनाधिकारिसमर्पणमेव युक्तम्।
(वि० पृ० ६०४)

विशिष्ट अधिकारी की कल्पना करना चाहते हैं तो अन्य दोष की हो प्राप्ति हो जायगी, कारण, विचारः कर्तव्यः यह कहने से विचार विहित हो जायगा और इससे विचार विधि की अन्यथा उपपत्ति नहीं होने के फलस्वरूप सामान्यतया त्रैवर्णिक (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) इन तीनों का ही अधिकार प्रसक्त हो जायगा, परन्तु प्रसक्त यह सर्वाधिकार तो उपपन्न नहीं हो सकता है, इसलिए प्रसक्त सामान्य रूप से सर्वाधिकार को निषेध कर विशिष्ट मोक्ष के अधिकारी की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः प्रसज्य—प्रतिषेध मानने के कारण कल्पना में गौरव हो जायगा, इसलिए अथ शब्द का आनन्तर्य अर्थ ग्रहण कर इसके द्वारा ही विशिष्ट अधिकारी का समर्पण करना उचित है। इसके उत्तर में पूर्व पक्षी कहना चाहते हैं कि विधि-ज्ञान एवं विशिष्ट अधिकारी का ज्ञान इन दोनों में जहां काल-भेद है, वहां पूर्वोक्त प्रसज्य-प्रतिषेध रूप दोष सम्भावित है, परन्तु प्रकृत स्थल में काल-भेद नहीं है। कारण, रात्रिसत्रन्याय के द्वारा अर्थवाद में मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञान को, प्रयोजन रूप में कहा गया है, उसीको साध्य रूप में परिणमन कराकर मोक्षकामी अथवा ब्रह्मज्ञानकामी विचार करेगा, इसी प्रकार सूत्र वाक्य का अर्थ निष्पन्न हो जायगा और इससे विधि के ज्ञान-काल में ही अधिकारी-विशिष्ट से विधि का ज्ञान हुआ है, इसलिए पूर्वोक्त प्रसज्य-प्रतिषेध रूप गौरव-दोष का अवकाश नहीं है, यदि इस नियम को स्वीकार नहीं किया जाय तब कहीं भी विशिष्ट अधिकारी को कल्पना करना सम्भव नहीं होगा[1]।

सिद्धान्ती (विवरणाचार्य) को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। इनका प्रश्न है कि सभी व्यक्ति फलकामी हैं क्या इसीलिए ब्रह्म-विचार-शास्त्र में सभी का अधिकार है? अथवा विचार-शास्त्र में विशिष्ट-अधिकारी का ही अधिकार

---

१ नच ब्रह्मज्ञानकामाधिकारिणः कल्प्यत्वात् तदुपपत्तिरिति—शंक्यम्, प्रसज्यप्रतिषेधप्रसंगोक्तेरित्याशंक्य, विधिप्रतिपत्तिसमय एवाधिकारिविशेषस्य कल्प्तत्वान्न प्रसज्यप्रतिषेधः, इतरथा न कुत्रापि विशिष्टाधिकारिकल्पनम्।
(त० दी० पृ० ६०५

है ? इनमें विशिष्टाधिकार पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, प्रथमतः, विधि की उत्सर्गतः त्रैवर्णिक सम्बन्धी होकर प्रतीति होती है पश्चात् अर्थवादसामर्थ्य-प्रसक्त त्रैवर्णिक विशेष मोक्षकामी अधिकारीरूप में प्रतीत होता है। अर्थात् विधि ज्ञान के अधीन अर्थसामर्थ्यलभ्य मोक्षकामी त्रैवर्णिक विशेष के अधिकार विशेष की कल्पना होती है। इसलिए दोनों में काल-भेद होने के कारण पूर्वोक्त प्रसज्य-प्रतिषेध दुर्निवार रहेगा। इसके उत्तर में पूर्व पक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती का पक्ष भी तो निर्दुष्ट नहीं है। कारण, सिद्धान्ती के पक्ष में भी विचारः कर्तव्यः इस विधि के बल से उत्सर्गतः सर्वाधिकार प्रसक्त होता है, इसके बाद अथ शब्द के द्वारा विशिष्ट अधिकारी का समर्पण होता है। इस स्थिति में सिद्धान्ती के पक्ष में भी प्रसज्य प्रतिषेध दुर्निवार है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी का यह विवेचन अनुचित है, कारण, आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः इस श्रवण विधि प्रकरण में ही पठित शमदमादि साधनचतुष्टय सम्पन्न अधिकारी को सूत्रोक्त अथ शब्द के द्वारा समर्पण किया गया है। निष्कर्ष यही है कि अथ शब्द के द्वारा श्रोतव्यादि विधि का जो प्रकरण है उसी प्रकरण में पठित 'तस्माच्छान्तो दान्तः, इत्यादि श्रुतिवाक्य के द्वारा साधनचतुष्टसम्पन्न अधिकारी के ज्ञान के साथ विचार विधि का ज्ञान होता है। इसलिए पूर्वोक्त प्रसज्यप्रतिषेध दोष की सम्भावना नहीं है। आशय यह है कि सांगवेदाध्ययन के अनन्तर आपाततः अधिकारी आदि का ज्ञान होने के बाद उसी के विषय में जब असम्भव शंका होती है उसी शंका का निराकरण करने के लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" यह सूत्र प्रवृत्त हुआ है और इसलिए सिद्धान्ती के मत में प्रसज्यप्रतिषेध की सम्भावना कही गई है[1]। पूर्वपक्षी ने जो विचारविधि के ज्ञान एवं अधिकारीविशेष के ज्ञान में जो क्रम दिखाया है वह क्रम नहीं है। सिद्धान्ती के मत में साधन-चतुष्टय-सम्पन्न-अधिकारी का ज्ञान पूर्व में होता है और विचारविधि का ज्ञान

१ त० दी० ६०५

उसके बाद होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि अथ शब्द के द्वारा श्रुति-सिद्ध समीचीन विशेषाधिकारी का समर्पण ही है[१]। इस स्थिति में पूर्वपक्षी पुनः कहना चाहते हैं कि प्रथम पक्ष अर्थात् शास्त्र में सभी का अधिकार—यही पूर्वपक्षिओं को अभिप्रेत है और इस पक्ष में प्रसज्यप्रतिषेध का प्रयोजन नहीं है एवं विशेष अधिकारी समर्पण के लिए अथ शब्द की भी अपेक्षा नहीं है। किन्तु पूर्वपक्षी का यह कहना समीचीन नहीं है। कारण, इसमें प्रश्न होता है कि शास्त्र का फल ब्रह्मज्ञान है? अथवा मोक्ष? ये सभी के लिए प्रार्थित है क्या इसलिए विचारशास्त्र में सभी का अधिकार किया गया है? अथवा 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। इस अध्ययन विधि मे सर्वाधिकार है इसलिए स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस अध्ययनविधि प्रयुक्त विचार में भी सर्वाधिकार है। इसमें मोक्ष अथवा ब्रह्मज्ञानरूपफल प्रयुक्त सर्वाधिकार पक्ष असमीचीन है। कारण, त्रैवर्णिक मात्र का ही ब्रह्मज्ञान अथवा मोक्ष रूप फल में अर्थिता नहीं है। कारण, ब्रह्मज्ञान से विषय सुख मात्र ही उच्छिन्न होता है इसलिए इसमें त्रैवर्णिक मात्र की अर्थिता नहीं हो सकती है।[२]

इस स्थिति में पूर्वपक्षी यह कहना चाहते हैं कि प्रथम विकल्प असिद्ध होने पर भी द्वितीय विकल्प स्वीकार कर लेंगे। द्वितीय विकल्प में विधि के बल से त्रैवर्णिक मात्र का ही शास्त्र में अधिकार है कारण, स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह अध्ययनविधि वेदाध्ययन में त्रैवर्णिकों का अधिकार विधान कर रही है। स्वाध्याय = वेद। वेद का अध्ययन करके उससे अर्थ का अवबोध होता है, एवं अर्थावबोध के अनन्तर यागादि का अनुष्ठान होता है। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह अध्ययनविधि दृष्टफलक है। दृष्टफल अर्थावबोध है, इसलिए अध्ययनविधि अर्थावबोध तक व्यापार युक्त रहेगी एवं अपने अर्थावबोधरूप दृष्टफल की निष्पत्ति के

---

१ वि० पृ० ६०५

२ वि० पृ० ६०५

लिए विचार का भी अनुष्ठान करायगी। विचार का अनुष्ठान नहीं होने से विचारशास्त्र का फल ब्रह्मज्ञान या मोक्ष निष्पन्न नहीं हो सकता है। अध्ययन-विधि का फल जब वेद के अर्थावबोध पर्यन्त प्रतिपादन किया जाता है तब अध्ययनविधि ब्रह्मज्ञान को भी कर्तव्य रूप में प्रतिपादन करती है और यह ब्रह्मज्ञान विचार पूर्वक ही होता है, इसलिए त्रैवर्णिक मात्र जिन्होंने अध्ययन विधि से विधानानुसार वेदाध्ययन किया है उन सबों का विचार शास्त्र में अधिकार है। कारण, बिना विचार के ब्रह्मज्ञान की निष्पत्ति नहीं हो सकती है। निष्कर्ष यह है कि अध्ययनविधि के द्वारा वेदाध्ययन में जिस प्रकार त्रैवर्णिक का अधिकार है उसी प्रकार वेदाध्ययन अर्थज्ञान पर्यवसायी होने के कारण एवं अर्थज्ञान विचारसाध्य होने से विचार भी अध्ययनविधि प्रयुक्त है, एवं विचार में त्रैवर्णिकों का अधिकार है[1]। इसमें प्रश्न होता है कि क्या विधिमात्र ही विधि के द्वारा विधेय जो विषय उसका अथवा विधि (अध्ययन) का जो उप-कारक है उसका अनुष्ठान विधान करती है? प्रकृत स्थल में **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इस अध्ययनविधि का विचार विषय नहीं है, अध्ययन मात्र ही इसका विषय है। कारण, वह अभिपूर्वक इङ् धातु का अर्थ है, अतः अध्ययनविधि के द्वारा अध्ययन ही विहित हुआ है, इस प्रकार विचार अध्ययन का उपकारक भी नहीं है। अध्ययन विधि का विषय अध्ययन है एवं अर्थवादादि ज्ञान विधि का उपकारक है, इस-लिए अध्ययन विधि के द्वारा विचार कैसे विधेय हो सकता है? विधि का विषय या विधि का उपकारक इन दोनों का ही विधि के द्वारा अनुष्ठान विहित होता है, इसलिए विचार में विधि प्रयुक्त अनुष्ठानत्व नहीं है[2]। विचार के

---

१ वेदस्यार्थावबोधपर्यन्ततामापादयताध्ययनविधिना ब्रह्मावबोधोऽपि कर्तव्यतयाऽऽपादितः, तस्य च विचारपुरःसरत्वादधीतविद्यधिकारिणस्तदधिकार इत्यर्थः।

(त० दी० पृ० ६०५-६०६)

२ ननु विधिर्नाम स्वविषयस्य तदुपकारकस्य वानुष्ठाननिमित्तं भवति, न च विचारोऽध्ययनविधेर्विषयस्तदुपकारको वा तत्कथमध्ययनविधिविधेयो विचार इति?

(वि० पृ० ६०६)

विना भी अध्ययन निष्पन्न होता है। इसके उत्तर में पंचपादिकानुसारी विवरणाचार्य कहते हैं कि स्वाध्याय का अध्ययन अर्थावबोध फलक है। इसलिए अध्ययन विधि का फल पर्यन्तत्व निष्पन्न कराने के लिए विचार को भी अध्ययनविधि प्रयुक्त ही स्वीकार करना पड़ेगा। पूर्व में कहा जा चुका है कि अध्ययन विधि दृष्टफलक है इसलिए जब तक अर्थावबोधरूप फल उत्पन्न नहीं होता है तब तक अध्ययनरूप व्यापार पुरुष को प्रवृत्त कराता है और इसलिए अर्थज्ञान रूप फल निष्पन्न कराने के लिए अध्ययनविधि विचार का भी अनुष्ठान कराती है[1]।

इसमें जिज्ञासा होती है कि विधि का जो विधेय विषय नहीं है या जो उसका उपकारक नहीं है, इन दोनों से अतिरिक्त व्यापार के फल की निष्पत्ति की अपेक्षा विधि प्रयुक्त अनुष्ठेयत्व में कहां देखा गया है? प्रश्न का आशय यही है कि प्रकृत स्थल में विचाररूप व्यापार, विषय एवं उपकारक इन दोनों से अतिरिक्त है, इसलिए वेदाध्ययन का ब्रह्मज्ञानरूप फलनिष्पत्ति की अपेक्षा करके विचाररूप व्यापार का अध्ययन विधि प्रयुक्त अनुष्ठेयत्व कैसे हो सकता है[2]?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि व्रीहीनवहन्ति इस श्रुति वाक्य के द्वारा जो अवघात का विधान किया गया है, वहां एकबार अवघात करने मात्र से विधि उपपन्न हो सकती है, किन्तु तण्डुल की निष्पत्तिरूप फल सिद्धि के लिए अविहित एवं विहित का अनुपकारक अवघात का पौनः पुन्य में विधि प्रयुक्तत्व ही स्वीकार किया जाता है। अवघात की आवृत्ति व्रीहीनवहन्ति इस विधि का विषय भी नहीं है एवं अवघात का उपकारक भी नहीं है फिर

---

१ दृष्टफलत्वाध्ययनविधेर्यावदर्थावबोधफलं व्यापाराद्विचारमपि फलनिष्पत्तयेऽध्ययनविधिरनुष्ठापयतीति।

(वि० पृ० ६०६)

२ ननु विषयतदुपकारिव्यतिरिक्तस्य व्यापारस्य फलनिष्पत्त्यपेक्षया विधिप्रयुक्तानुष्ठेयत्वं क्व दृश्यते?

(वि० पृ० ६०६)

भी वैतुष्य या तण्डुल निष्पत्तिरूप दृष्टफल सम्पन्न होने के लिए अवहनन में विधि प्रयुक्त अनुष्ठान स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिए।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि आपने जो दृष्टान्त का उपन्यास किया है यह विषम दृष्टान्त है। कारण, अवघात की आवृत्ति विधेय जो अवघात है उसी में समवेत है, इसलिए उसमें अनुष्ठेयत्व भी युक्ति-संगत है, परन्तु विचार अध्ययन में समवेत नहीं है, इसलिए विचार में अनुष्ठेयत्व नहीं रह सकता है। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि अवघात विधेय है, अतः, विधेय जो अवघात है उस अवघात की ही वैतुष्य अथवा तण्डुल निष्पत्ति रूप फल पर्यन्त तक आवृत्ति की जाती है। परन्तु विचार स्वतन्त्र रूप में क्रियान्तर[1] रूप से 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वाक्य के द्वारा किस प्रकार विहित हो सकता है[2]? इस विषय में पूर्वपक्षी का क्या कथन है? इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कथन है कि यह दोष नहीं है। कारण, अवघात की आवृत्ति रूप जो गुण वह भी विहित नहीं है एवं विहित का उपकारक भी नहीं है, परन्तु अवघात विधि फल पर्यन्त की उपपत्ति नहीं हो सकती है इसलिए आवृत्ति का विधेयत्व जिस प्रकार कल्पित होता है इसी प्रकार विचार के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। विधि का फल जब अर्थावबोध रहे तब यह अर्थावबोध विधि के फल पर्यन्तरूप में अनुपपन्न होकर विचार का आक्षेप करता है। विचार विधेय नहीं होने से अध्ययन विधि अर्थावबोध रूप फल तक पर्यवसायी नहीं होगी। अवघात की आवृत्ति का विधेयत्व जैसे अन्यथा अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के बल से विधेय होता है, वैसे ही अध्ययन विधि का फल अर्थावबोध की अन्यथा

१ विधि के द्वारा धात्वर्थ या क्रिया का विधान होता है।

२ विधेयावघातस्यैव फलपर्यन्तमावर्त्यमानत्वात्, विचारस्तु स्वतन्त्रमेव भावार्थान्तरं कथं विधीयते, इति वक्तव्यम्।

(वि० पृ० ६०६-६०७)

उपपत्ति नहीं होने के कारण विचार में भी विधेयत्व की कल्पना की जाती है। परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन भी अनुचित है, कारण इसमें प्रदर्शित विकल्प का उत्थान अपरिहार्य होता है और यह असमाधेय ही रहता है। पूर्वपक्षी अर्थ ज्ञान को जो अध्ययन विधि का दृष्ट फल कहना चाहते हैं; यह किस प्रकार से उपपन्न हो सकता है? क्या यह कहना चाहते हैं कि अर्थ-ज्ञान विचार का साध्य है? क्या इसी अर्थ ज्ञान से अर्थ निश्चय रूप फल उत्पन्न होता है? अध्ययन का अर्थ निश्चय रूप दृष्ट फल अन्वयव्यतिरेक सिद्ध है, क्या यही पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं[1]? अथवा अर्थावबोध रूप फलोद्देश्य में अध्ययन विधि के द्वारा अध्ययन का विधान किया गया है इसलिए अधिकारी के विशेषण रूप में अर्थावबोध तक अध्ययन करें? इस प्रकार अर्थावबोध अध्ययन का शास्त्र-सिद्ध फल है, अथवा विधि प्रयोजन फल पर्यन्ततावसायी होता है, इसलिए विधि का अर्थावबोध फल एतादृश सामर्थ्य लभ्य है[2]? इसमें प्रथम पक्ष असमीचीन है, अर्थावबोध फल अध्ययन का दृष्ट फल नहीं हो सकता है। कारण, इसमें प्रश्न होता है कि अध्ययन मात्र से अर्थावबोध होता है? या अध्ययन की आवृत्ति रूप गुणों[3] के सन्निपात दशा में अर्थावबोध रूप फल होता है? ये दोनों पक्ष असमीचीन हैं। कारण, जैसे अध्ययन मात्र से अर्थ निश्चय का उदय नहीं होता है, वैसे ही आवृत्ति गुणक अध्ययन से भी अर्थ निश्चय का उदय नहीं होता है। इसके उत्तर में यदि पूर्वपक्षी कहें कि अर्थ का निश्चय नहीं होने पर भी अध्ययन मात्र से या आवृत्ति गुणक अध्ययन में

---

१ अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अर्थावबोध का फलरूप में ज्ञान मात्र होता है। दृष्ट अर्थ प्रतीति मात्र है।

(त० दी० पृ० ६०७)

२ अन्यथानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति को उपजीवन करके ही इस विकल्प का उत्थापन होता है।

३ उपकारक अंग अप्रधान आदि का पर्याय है।

निश्चय रूप बोध न होने पर भी आपातरूपबोध होता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि आपाततः अर्थ ज्ञान में विचार की कोई अपेक्षा नहीं होती है। इससे यही सिद्ध हुआ कि स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस स्थल में अध्ययन क्रिया का अर्थ निश्चय रूप दृष्ट फल नहीं हो सकता है[1]। मध्यम कल्प जो कहा गया है उसमें बहुत विस्तृत विचार करना है, इसलिए अभी उसकी उपेक्षा करके अन्तिम विकल्प का निरसन करना ही उचित समझता हूं। पूर्वपक्षी का यह कहना है कि **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** इस वाक्य में जो तव्य प्रत्यय है, यह तव्य प्रत्यय शब्द भावना का अभिधान कर रहा है। यह शब्द-भावना अप्रवृत्त प्रसक्त की प्रेरणा रूप है और इसीलिए इसकी विधिरूपता स्वीकार की गई है। अध्येतव्यः इसका अर्थ है—अध्ययनेन भावयेत्, तव्य प्रत्यय से दो प्रकार की भावना (प्रेरणा, प्रवर्तना) प्रतीत होती है, एक शाब्दी भावना जिसे विधि रूप कहा जाता है और दूसरी आर्थी भावना जो पुरुष प्रयत्नरूप है। शाब्दी भावना आर्थी भावना की जनक होती है, यह मीमांसक सम्प्रदाय का कथन है। इसका अर्थ हुआ कि विधि पुरुष प्रयत्न जनक है। शाब्दी भावना में तीन अंश स्वीकार किये जाते हैं।

(१) किं भावयेत्

(२) केन भावयेत्

(३) कथं भावयेत्

इसमें इन तीन प्रकार के अंशों की अपेक्षा रहती है। इन तीन अंशों के नहीं रहने पर भावना उपपन्न नहीं हो सकती है। मानलिया जाय कि तव्य प्रत्यय

---

१ आवृत्तिगुणस्याविहितस्य विहितानुपकारकस्य च विधेः फलपर्यन्ततानुपपत्त्या विधेयत्वकल्पनवद् विचारस्यापि तदुपपत्तिरिति। तत्र किं विचारसाध्य-ज्ञानमर्थनिश्चयफलमध्ययनस्यान्वय-व्यतिरेकसिद्ध ं दृष्टफलम् ? ... अतो नार्थनिश्चयदृष्टफलाध्ययनक्रिया स्यादिति।

वि० प्र० ६०७

का अर्थ भावना है तब भी अर्थावबोध पूर्वोक्त भावना का भाव्य कैसे हो सकता है ? कारण, पूर्व में ही कहा जा चुका है कि अर्थ-भावना रूप पुरुष प्रयत्न ही शब्द भावना का भाव्य—निष्पाद्य होता है। इसी भाव्य अंश का किं भावयेत् इसके द्वारा उल्लेख किया जाता है। इस स्थिति में अर्थ-भावना शब्द भावना का भाव्य होने से उसमें करण की अपेक्षा है। जिस करण अंश को 'केन' इसके द्वारा अभिधान किया जाता है वही करण अध्ययन है। इस प्रकार फलवद् अर्थावबोध भाव्य है। 'स्वाध्याय' भाव्य नहीं हो सकता है। कारण, स्वरूपतः उसमें पुरुषार्थत्व नहीं है। इसी का 'किं' इस अंश से प्रदर्शन किया जाता है। यद्यपि प्रत्यार्थभूत भावना के साथ अध्ययन एकपदोपात्त है, तथापि अध्ययन भावना का भाव्य नहीं है। कारण, यहां अर्थावबोध रूप अन्य भाव्य विद्यमान है। इसलिए अध्ययन भावना का कारण ही है अध्ययन भाव्य नहीं होता है, इसमें दो कारण हैं, एक तो वह पुरुषार्थ नहीं है और दूसरा अर्थावबोध रूप भाव्यान्तर यहां विद्यमान है। इन सब बातों पर ध्यान देकर पूर्वपक्षी ने कहा है कि 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस स्थल में शब्द प्रत्यय अपने व्यापार शब्द भावना को विधि रूप में अभिधान करता है। शब्द भावना से जो अर्थ-भावना निष्पन्न होती है उसमें अध्ययन करण है एवं अर्थावबोध रूप फल पुरुषार्थ होने के करण अर्थ-भावना के भाव्य रूप में कल्पित होता है। कारण, जो पुरुषार्थ रूप नहीं है अर्थात् जो अपुरुषार्थ है उसमें पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। पूर्व में ही कहा जा चुका है कि आर्थी भावना पुरुष प्रवृत्ति रूप है, इसलिए आर्थी भावना का भाव्य पुरुषार्थ रूप होना चाहिए। इस स्थिति में अर्थावबोध रूप भाव्यान्तर का लाभ होने से प्रत्ययार्थभूत भावना के साथ एकपदोपात्त अध्ययन भावना का कारण होकर आर्थी भावना का भाव्य जो अर्थावबोध उसीका निष्पादक होकर करण बनता है। इसमें यह जिज्ञास्य है कि अध्ययन अर्थावबोध का जनक होकर आर्थी भावना का करण होता है, यही कहा गया है, परन्तु इस प्रकार कहना तो अनुचित

है। कारण, जो जिसका उत्पादक है वही उसका करण होता है। अध्ययन जब अर्थावबोध रूप फल का जनक है तब अर्थावबोध रूप फल का जनक जो अर्थी भावना रूप पुरुष प्रयत्न है उसका करण कैसे हो सकता है! पुरुष प्रयत्न रूप आर्थी भावना का जो जनक है उसी को पुरुष प्रयत्न रूप आर्थी भावना का करण कहना उचित है, दूसरी बात यह है कि पुरुष प्रयत्न रूप आर्थी भावना अध्ययन जन्य भी नहीं है, इसलिए अध्ययन किस प्रकार करण हो सकता है। आर्थी भावना का जो भाव्य है उसका निर्वर्तक होकर आर्थी भावना का करण कैसे हो सकता है इसका दृष्टान्त भट्टमतानुसारी वाचस्पति मिश्र प्रभृति ने दिया है। छेदन रूप क्रिया का भाव्य वृक्ष का द्वैधी-भाव है। वृक्ष छेदन करने से वृक्ष द्विधा हो जाता है। कुठार के द्वारा जब वृक्ष का छेदन किया जाता है तब कुठार छिदिक्रिया का भाव्य (निष्पाद्य) जो द्वैधी भाव उसका निर्वर्तन अर्थात् सम्पादन करता है और उसी का सम्पादन कर कुठार छेदन रूप जो क्रिया है उसका करण होता है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भावना भाव्य के निर्वर्तन द्वारा भावना का भी करण होना लोक-व्यवहार में भी सिद्ध है। प्रकृत स्थल में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। अतः स्वाध्यायोऽ-ध्येतव्यः इस अध्ययन विधि का प्रवर्तकत्व अन्यथा उपपन्न नहीं होने से आर्थी भावना का करण जो अध्ययन उसका अर्थावबोध ही फल सिद्ध होता है। यदि यह स्वीकार नहीं किया जाय तब अनिष्ट की प्रसक्ति होगी। कारण, पूर्वपक्षी तो यही कहेंगे कि अर्थावबोध व्यवहृत होने से स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इसका फल नहीं है वरन् स्वाध्यायावाप्ति के सन्निहित होने के कारण अध्ययन विधि का फल है किन्तु इस प्रकार कहने से तो स्वाध्यायावाप्ति से भी सन्निहित अध्ययन में ही भाव्यत्व अर्थात् फलत्व स्वीकार करना उचित है, किन्तु स्वाध्यायावाप्ति फल नहीं होगा। अध्ययन के सन्निहित होने का कारण है समानपदोपात्तता।

तव्य प्रत्यय का अर्थभूत जो आर्थी भावना है उसके साथ अध्ययन एकपदोपात्त है[1]।

इसके उत्तर में भट्टमतानुयायी भामतीकार प्रभृति के मतों में न्यूनता प्रदर्शन कराने के लिए विवरणकार प्रदर्शित अन्यथानुपपत्ति की अन्यथा उपपत्ति प्रदर्शित कर रहे हैं। पंचपादिकाकार ने जो कहा है कि अध्ययन क्रिया अधीयमान जो स्वाध्याय उसीका अवाप्तिरूपफल लेकर चरितार्थ है इसीलिए अध्ययन विधि स्वाध्याय का अक्षर ग्रहण में पर्यवसान होता है। अध्ययन क्रिया का स्वाध्याय कर्म कारक है और यह स्वाध्यायावाप्ति ही फल है और स्वाध्यायावाप्ति रूप फल भी स्वाध्याय अक्षर ग्रहण को छोड़कर अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इसमें पूर्वपक्षी प्रश्न करते हैं कि स्वाध्यायावाप्ति सन्निहित होने के कारण उसीमें यदि अध्ययन विधि का पर्यवसान है तब तो उससे भी सन्निहित अध्ययन में ही अध्ययन विधि का पर्यवसान होना उचित है अर्थात् अध्ययन ही अध्ययन विधि का फल होना चाहिए।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि तव्य प्रत्यय के द्वारा भावना का कर्म कारक—भाव्य स्वाध्याय को एवं स्वाध्यायावाप्ति फल को अभिधान किया गया है, इसलिए अर्थ ज्ञान रूप भाव्यान्तर की कल्पना करना समीचीन नहीं

१ तव्यप्रत्ययेन स्वव्यापारः शब्दभावना विधिरूपतयाऽभिधीयते, सा च शब्दभावनाध्ययनकरणिकामर्थभावनां निष्पादयन्ती फलवदर्थावबोधं पुरुषार्थमर्थभावनाभाव्यत्वेन कल्पयति अपुरुषार्थे पुरुषप्रवृत्त्ययोगात्, ततश्च भाव्यान्तरलाभात् समानपदोपात्तमध्ययनं भावनायाः करणतामापन्नं भाव्यस्यार्थावबोधस्य निर्वर्तकतया करणं भवति कुठारादीनामपि क्रियाभाव्यद्वैधीभावनिर्वर्तनद्वारेण छिदिभावनाकरणत्वदर्शनात्, अतोऽध्ययनविधेः प्रवर्तकत्वान्यथानुपपत्त्यैवार्थभावनाकरणस्याध्ययनस्यार्थावबोधः फलमिति सिद्धम्।

(वि० पृ० ६०७-६०८)

है। कारण, यह मानने पर जो शब्द स्वाध्याय को भावना के कर्म रूप में–भाव्य रूप में अभिधान कर रहा है अर्थात् फल रूप में अभिधान कर रहा है उसके साथ विरोध हो जायगा। इसका आशय यह है कि अध्ययन तव्य प्रत्यय की प्रकृति के रूप में उपात्त है एवं कर्म कारक स्वाध्याय भावनावाची तव्य प्रत्यय के द्वारा उपात्त है[१]। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ प्रधान होता है, इसलिए स्वाध्याय प्रत्ययार्थभूत भावना का कर्म होने से प्रकृत्यर्थ अध्ययन से अन्तरंग है। प्रत्ययार्थ का प्राधान्य वैयाकरण एवं मीमांसक भी स्वीकार करते हैं। इसलिए कर्मकारक स्वाध्याय ही भाव्य है अन्यथा तव्य प्रत्यय के साथ विरोध होता है। इस स्थिति में पूर्वपक्षी कुमारिलभट्ट यह शंका करते हैं कि भाव्यमात्र का निर्देश करने से ही पुरुष की प्रवृत्ति विधि के द्वारा उत्पन्न नहीं होती है, किन्तु जो पुरुषार्थ भाव्य है उसी की अपेक्षा करके विधि के द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति को उत्पन्न किया जाता है। इसलिए यद्यपि स्वाध्याय को भाव्य स्वीकार नहीं करने से तव्य प्रत्यय रूप शब्द के साथ विरोध होता है, तथापि आर्थी भावना रूप पुरुष प्रयत्न निष्पन्न कराने के लिए अर्थावबोध को ही आर्थी भावना का भाव्य स्वीकार करना उचित है। इसके उत्तर में पंचपादिकानुसारी विवरणाचार्य कहते हैं—तब तो हमलोग भी सक्तुन्याय का आश्रयण कर इसका समाधान करेंगे। आशय यह है कि सक्तून् जुहोति यह श्रुति वाक्य उपलब्ध होता है, इसमें सक्तु करणक जो होम है वह क्रतु का अंश या उपकारक है, इसलिए इस होम का प्राधान्य ही स्वीकार किया गया है। होम में विनियुक्त सक्तु संस्कार्य नहीं हो सकता है। कारण, वह भस्मीभूत हो गया है। इसलिए सक्तु अप्रधान हैं। होम क्रतु का अंग होने के कारण होम की स्वतंत्र फलाकांक्षा नहीं है, वह प्रधान के फल के द्वारा ही फलवान् है, परन्तु स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस स्थल में फल का उल्लेख नहीं रहने से पुरुष की प्रवृत्ति ही नहीं

१ कर्माभिधायी तव्य प्रत्यय का अर्थ स्वाध्याय है, तव्य प्रत्यय कर्म वाच्य किया गया है और इसी के द्वारा स्वाध्याय अभिहित होता है।

होगी। कारण, स्वाध्यायो ध्येतव्यः इससे विहित अध्ययन किसी का अंश नहीं है। इसलिए अक्षरैरध्येतव्यम् इस प्रकार पूर्वोक्त अध्ययन विधि का जो यथा-श्रुति विनियोग है, उसके अंग का भी आश्रय करने से अध्ययन विधि का अपर्यवसान पूर्ववत् रह ही जायगा। कारण, सक्तून् जुहोति यह क्रतु प्रकरण में पठित है, स्वाध्यायो ध्येतव्यः इसका क्रतु प्रकरण में पाठ नहीं हुआ है, इसलिए क्रतु के फल के द्वारा स्वाध्याय कैसे फलवान् होगा? इसलिए अर्थावबोध अथवा स्वाध्याय इन दोनों में एक को भाव्य (फल) रूप में नहीं स्वीकार कर सक्तुन्याय का आश्रयण करना अयुक्त है[1]। इसका समाधान करने के लिए विवरणाचार्य ने कहा है कि पूर्वपक्षी ने विषय को स्पष्ट रूप से नहीं समझा है। कारण, हमलोगों का यह कथन है कि अर्थ निर्णय अध्ययन मात्र से निष्पन्न नहीं हो सकता है। श्रूयमाण स्वाध्याय भी फलरूप नहीं है अध्ययन मात्र भी निष्प्रयो-जन है, इसलिए इसमें कोई भी भाव्य (फल) होने के योग्य नहीं है। इस स्थिति में हमलोग स्वर्ग को ही भाव्य स्वीकार करेंगे अर्थावबोध को नहीं, इससे स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस श्रुति वाक्य का विवरण इस प्रकार होगा--'स्वाध्याया-ध्ययनेन स्वर्गं भावयेत्' विश्वजित्न्याय का अवलम्बन कर स्वर्ग को ही भाव्य रूप में कल्पना की जायगी। पूर्वपक्षी भाट्ट ने सक्तु न्याय ग्रहण कर स्वाध्याया-ध्ययनेनार्थावबोधं भावयेत् इस प्रकार का अर्थ ग्रहण किया था, किन्तु सिद्धान्ती ने भी सक्तु न्याय का ग्रहण किया है परन्तु सिद्धान्ती अर्थावबोध सुखावाप्ति या दुःख-परिहार रूप नहीं होने के कारण इसको भाव्य रूप में स्वीकार नहीं

१ कथं सक्तूनां गतिरत्र सम्भवति? तत्र सक्तुहोमस्य क्रत्वंगस्य सक्तूनां संस्कार्यत्वासंभवेन प्राधान्यं स्वीकृतम्, सक्तूनां च गुणत्वम्, अंगत्वादेव च न होमस्य फलाकांक्षा, इह तु फलेन विना तावन्न प्रवृत्तिः संभवति, अनंगत्वात्, अतोऽक्षरैरध्येतव्यमिति विनियोगमंगाश्रयणेऽपि विधेरपर्यवसानं तदवस्थमेव, अतोऽर्थावबोधस्य स्वाध्यायस्य वा भाव्यत्वं विहाय सक्तुन्यायाश्रयण-मयुक्तम्।

(वृ० वि० पृ० ६०८)

करते हैं। इनलोगों ने निरतिशय प्रीतिरूप स्वर्ग को ही भाव्य रूप में स्वीकार किया है। सिद्धान्ती ने सक्तून जुहोति इस न्याय को आंशिक रूप में स्वीकार किया है। कारण, सक्तून् जुहोति इस स्थल में सक्तु का भाव्यत्व प्रतीत होने पर भी जैसे उसका परित्याग किया जाता है वैसे ही अर्थ निर्णय स्वाध्याय एवं अध्ययन इन तीनों के भाव्यत्व रूप में प्रतीत होने पर भी अध्ययनविधि को भाव्य रूप में स्वीकार किया है इसी अंश में सिद्धान्ती ने भी सक्तु न्याय को स्वीकार किया है, परन्तु भाव्य कल्पना करने के लिए सिद्धान्ती ने विश्वजित् न्याय का अवलम्बन किया हैअध्ययन विधि का भाव्य निर्णय के लिए नहीं किया है[1]।

इसमें पुनः प्रश्न होता है कि व्याकरण भी वेद का अंग है इसलिए विधीयमान सांगवेदाध्ययन से अर्थ निश्चय दृष्टफलरूप में उत्पन्न होता है। सांग अध्ययन से जब अर्थावबोध होता है तब उस अर्थावबोध होने से ही विरोध भासमान होता है, उसी विरोध के परिहार के लिए विधि प्रयुक्त विचार शास्त्र आक्षिप्त होता है अतः विचार-शास्त्र का वैयर्थ्य नहीं होता है। इसलिए अध्ययन विधि का दृष्टफल अर्थावबोध यदि सम्भावित है, तब अदृष्ट स्वर्गादि फल की कल्पना करना उचित नहीं है[2]। इसके फलस्वरूप यही कहा जा सकता है कि पुरुषार्थभूत फलवत् अर्थावबोध ही विधि का प्रयोजन है अक्षर ग्रहण प्रयोजन नहीं है। इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि पूर्वपक्षी का यह कथन समीचीन नहीं है। कारण, अक्षर ग्रहण भी अर्थावबोध का कारण है, इसलिए अक्षर ग्रहण पुरुषार्थ रूप है। इसी आशय को व्यक्त करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि श्रूयमाण स्वाध्याय रूप जो कर्म है वह अध्ययन भावना का

१ त० दी० पृ० ६०८

२ व्याकरणस्याप्यंगत्वात् सांगादध्ययनाद् विधीयमानादर्थनिश्चयो दृष्टफलतया जायते, तस्य च विरोधपरिहाराय विचारः प्रयुज्यते, अतो दृष्टे सत्यदृष्ट-कल्पना न न्याय्येति।

(वि० पृ० ६०८-६०९)

भाव्य है—यह पूर्व में ही कहा जा चुका है। अध्ययन भावना का भाव्य कर्म कारक स्वाध्याय ही है। यह अक्षर लक्षण स्वाध्याय फलवत् अर्थावबोध का जनक है, इसलिए उसमें पुरुपार्थता रहना सर्वथा समीचीन है। लोक में देखा जाता है कि प्रयोजन अर्थात् क्षीरादि फल का साधन गवादि पशु एवं अन्नादि प्रयोजन रूप फल का परम्परा क्रम से साधन होता है। कारण, गवादि से लब्ध क्षीर एवं अन्नादि के द्वारा याग निष्पन्न होकर स्वर्ग रूप फल का जनक होता है, इसलिए जिस प्रकार परम्परा क्रम से प्रयोजन रूप फल का साधन पशु, अन्न आदि है, उनमें भाव्यत्व पुरुप के द्वारा अर्थ्यमाण देखा जाता है, इसी प्रकार श्रूयमाण अक्षररूप स्वाध्याय की अवाप्ति पर्यन्त ही विधि का व्यापार स्वीकार करना उचित है, अर्थावबोध में व्यापार स्वीकार करना ठीक नहीं है[1]।

इसमें प्रश्न होता है कि विधि का व्यापार यदि अक्षर मात्र में ही उपक्षीण हो जाता है तब तो फलवद् अर्थावबोध आकस्मिक अकारणक हो जायगा—यह कथन अनुचित है। कारण, अर्थावबोध अक्षर ग्रहण रूप फल प्रयुक्त है, विधि प्रयुक्त नहीं है। अर्थावबोध मैं भी स्वीकार करता हूं, किन्तु वहां तक विधि का व्यापार स्वीकार नहीं करता हूं। अक्षर से फलवद् अर्थावबोध निष्पन्न होने पर भी अक्षरावाप्ति में ही विधि का पर्यवसान है और अक्षर ग्रहण का पर्यवसान अर्थावबोध में है, अर्थावबोध विधि प्रयुक्त नहीं है यह प्रमाण सिद्ध भी है। कारण, लौकिक आप्त वाक्य में विधि नहीं होने पर भी फलवद् अर्थावबोधक होता है। इसमें पुनः शंका होती है कि तब तो अध्ययन अक्षर ग्रहण का कारण है—यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है, अतः इसमें अध्ययन विधि स्वीकार करना व्यर्थ है[2]।

---

१ श्रूयमाणस्वाध्यायलक्षणात् कर्मण एवाध्ययनभावनया भाव्यमानात् फलवदर्थावबोधसिद्धेः पश्वन्नादीनां प्रयोजनं प्रति परम्परया साधनानामपि भाव्यत्वदर्शनात् श्रूयमाणस्वाध्यायावाप्तिपर्यन्त एव विधिव्यापार इति भावः (वि० पृ० ६०९)

२ ऋ० वि० पृ० ६०९

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है—व्रीहीनवहन्ति इत्यादि स्थल में वैतुष्य नख-विदलन आदि से सम्भव होने पर भी जैसे अवघात का विधान किया गया है और इसी नियम से अवघात कर्त्ता की आत्मा में अदृष्ट उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अध्येतव्यः इस स्थल में भी नियम स्वीकार करने से गुरुमुख के द्वारा अक्षर ग्रहण होने से ही अदृष्ट उत्पन्न होता है, इसी आशय को व्यक्त करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि जहां अंगकलापों से उपेत कर्म का विधान किया जाता है, वहां वह विधान अदृष्ट की उत्पत्ति के लिए है यही समझना चाहिए—अवघातादि स्थल में यह प्रसिद्ध है, इसलिए अध्ययन विधि का फल अर्थावबोध नहीं है, वरन् अर्थावबोध गृहीत स्वाध्याय से उत्पन्न होता है। अध्ययन का दृष्टफल जो अक्षर ग्रहण है उसी अक्षर ग्रहण में अदृष्ट समवेत होता है।

इसमें प्रश्न होता है कि जहां दृष्टफल सम्भावित है वहां अदृष्ट फल की कल्पना करना तो उचित नहीं है।

इसके उत्तर में कहा गया है कि यह नियम स्वतंत्र अदृष्ट फल विषयक है। जहां दृष्टफल सम्भावित है वहां स्वतंत्र अदृष्ट फल स्वीकार नहीं किया जाता है। प्रकृत स्थल में दृष्ट फल के अविरोध रूप में अदृष्टफल की सिद्धि होती है, इसलिए दृष्टफल के विरोधी स्वतंत्र अदृष्टफल की प्रकृत में कल्पना करना उचित नहीं है[1]।

अब प्रश्न होता है कि जहां विधि स्वीकार किया जाता है वहां अदृष्ट उत्पन्न होता है अर्थात् विधि के साथ अदृष्ट का अविनाभाव सम्भव है, तब प्रकृत स्थल में स्वतंत्र अदृष्ट की ही फल रूप में कल्पना क्यों नहीं की गई

१ विधेस्तु दृष्टमनपाद्यादृष्टमेव किंचित्फलम्, इति दृष्टफलाविरोधेनादृष्टसिद्धौ न तद्विरोधिस्वतन्त्रादृष्टं कल्पयितुं युक्तमिति।

(वि पृ० ६०९)

है ? इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि जहां दृष्ट फल के अविरोध में ही अदृष्ट सिद्ध होता है अर्थात् दृष्ट फल में अदृष्ट फल समवेत होता है उस स्थल में दृष्टफल के विरोधी स्वतंत्र अदृष्ट की फल रूप में कल्पना नहीं की जाती है। विवरणाचार्य ने यह भी कहा है कि भाट्टमत के अनुसार अध्ययन विधि का फल यदि फलवद् अर्थावबोध स्वीकार किया जाय तब जिस पुरुष का जिस कर्म में अधिकार है वह पुरुष उस कर्म के विधायक श्रुति वाक्य का ही स्मरण करेगा वाक्यान्तर का अध्ययन नहीं करेगा। कारण, उस वाक्य में पूर्वोक्त प्रवृत्त्यादि फल नहीं है। अर्थावबोध से प्रवृत्ति,प्रवृत्ति के बाद अनुष्ठान, अनुष्ठान से अपूर्व, अपूर्व से स्वर्गादि होता है, इसके फलस्वरूप सम्पूर्ण वेद का अध्ययन सिद्ध नहीं होगा।[१]

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि सकलवेदाध्ययन की असिद्धि रूप आपत्ति सिद्धान्ती के पक्ष में भी समान है। कारण, कृत्स्न वेद का अध्ययन नित्य होने के कारण विधेय है, नित्यकर्म का स्वरूप है कि उसके न करने से प्रत्यवाय होता है। इस प्रकार अध्ययन के न करने में प्रत्यवाय कहा गया है (अनधीयानाः व्रात्याः भवन्ति) इसलिए अध्ययन नित्य होने से विधेय है। कारण, श्रुति में कहा है—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च यह श्रुति कृत्स्न वेद का अध्ययन ब्राह्मणों के लिए नित्य कर्तव्य है यह प्रतिपादन करती है। इस स्थिति में विधिवत् वेदाध्ययन करने से अदृष्ट उत्पन्न होता है। पूर्व में कहा गया है कि अध्ययन का दृष्ट-फल विवरण के मतानुसार अक्षर ग्रहण है एवं उसी अक्षर ग्रहण में अदृष्ट समवेत है। परन्तु दृष्ट फल में-समवेत

१ फलवदर्थावबोधफलेऽध्ययनविधौ, यस्य यस्मिन् कर्मण्यधिकारः, तस्य तद्वाक्याध्ययनमेव स्यात्, न वाक्यान्तराध्ययनम्, तत्र प्रवृत्त्यादिफलाभावात् इति न कृत्स्नवेदाध्ययनसिद्धिः।

(वि० पृ० ६१०)

अदृष्ट अपने स्वरूप से पुरुषार्थ का साधन नहीं होता है, किन्तु वह अर्थावबोध एवं अनुष्ठान के द्वारा परमापूर्व का निष्पादन कर फल पर्यवसायी होता है। विधिवत् वेदाध्ययन करने से ही अदृष्ट उत्पन्न होता है एवं विधिवत् अध्ययन के द्वारा अक्षर-ग्रहण के बाद अर्थावबोध होकर जो कर्मानुष्ठानजन्य अदृष्ट उत्पन्न होता है, उसमें पूर्वोक्त अध्ययन जन्य अदृष्ट उपकारक होता है यही विवरण के मत में स्वीकार करना होगा। वेदाध्ययन जन्य अदृष्ट एक स्वतंत्र फल को उत्पन्न नहीं करता है, कर्मानुष्ठान के बाद जो अपूर्व की उत्पत्ति होती है, उस अपूर्व का उपकारक अध्ययन जन्य अदृष्ट नहीं होता हैं। यदि अध्ययन विधिवत् नहीं हो, तब अध्येता पुरुष जिस विहित कर्म का अनुष्ठान करेगा अध्ययनजन्य अपूर्व उस विहित कर्म के अनुष्ठानजन्य अपूर्व का उपकारक होगा। इस स्थिति में जिस कर्म में अधिकार नहीं है, उस प्रकार के अनधिकृत कर्म का प्रतिपादक जो वेदवाक्य है, उसके अध्ययन से जो अदृष्ट होगा वह पूर्वोक्त नियम में फल पर्यवसायी नहीं होगा। कारण, अनधिकृत कर्म का तो वह अनुष्ठान नहीं करेगा और कर्म का अनुष्ठान नहीं करने से कर्मानुष्ठानजन्य जो अपूर्व है उस अपूर्व का उपकारक अनधिकृत कर्म का प्रतिपादक जो वेद वाक्य है, उसके अध्ययन से उत्पन्न अदृष्ट किस प्रकार हो सकता है ! इसलिए विवरण के मत में भी तो कृत्स्न वेदाध्ययन की असिद्धि समानरूप से प्राप्त है[१]।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि यह तो मैं भी स्वीकार कर रहा हूं कि जिस कर्म में जिसका अधिकार नहीं है ऐसे अनधिकारी तो उस अनधिकृत कर्म का अनुष्ठान नहीं करेंगे, किन्तु अनधिकृत वेद वाक्य के अध्ययन

१ कृत्स्नस्वाध्यायाध्ययनस्य नित्यतया विधेयत्वेऽपि सकलस्वाध्यायावाप्तिसमवेतस्या-दृष्टस्यानधिकृतकर्मवाक्यगतस्यार्थावबोधानुष्ठानादिद्वारेऽपि कथमपूर्वसिद्धिहेतुतेति ?

(वि० पृ० ६१०)

से जो अदृष्ट है वह भी जपादि से उत्पन्न अपूर्व के समान ही है। इसलिए वह फलपर्यवसायी हो जायगा। निष्कर्ष यह है कि कृत्स्न वेद की अवाप्ति प्रायश्चित्त एवं जपादि में उपयुक्त होगी। कृत्स्न वेदाध्ययन कहीं प्रायश्चित्त रूप है और कहीं जपादि रूप है। प्रायश्चित्त एवं जप से जो अपूर्व होगा उसी में कृत्स्न वेदाध्ययन जन्य अदृष्ट उपकारक होगा। अतः, विवरणाचार्य के मत में सकल वेद का अध्ययन सिद्ध होता है[1]!

प्रश्न होता है कि अक्षरावाप्ति अध्ययन का फल नहीं होता है। कारण इन दोनों में कार्यकारणभाव सम्भावित नहीं है, क्योंकि, इन दोनों में भेद नहीं है और अभेद में कार्यकारणभाव किसी तरह नहीं हो सकता है! तालु एवं ओष्ठपुट आदि के द्वारा अक्षर का उच्चारण अध्ययन है और अक्षरावाप्ति भी वही है, इसलिए अक्षर का अध्ययन एवं अक्षर की अवाप्ति में कुछ वैलक्षण्य नहीं है। वैलक्षण्य नहीं रहने के कारण इन दोनों में कार्यकारणभाव भी सम्भावित नहीं है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि भट्टमतवालों का यह कथन ठीक नहीं है। स्वाधीन उच्चारण योग्यता अक्षर का धर्म है और वही अक्षर की स्वाधीन उच्चारण योग्यता अक्षर की अवाप्ति है, एवं अक्षरावाप्ति के लिए वाक् इन्द्रिय एवं मन का जो व्यापार है अर्थात् वाक् इन्द्रिय के द्वारा बोलना एवं मन के द्वारा मनन करना ही अध्ययन है। वाणी एवं मन के व्यापार रूप अध्ययन के बाद गुरु निरपेक्ष स्वाधीनोच्चारण क्षमत्व रूप अक्षरावाप्ति होती है[2]!

---

१ प्रायश्चित्तजपाद्यपूर्वोपकारित्वोपपत्तेः।

(वि० पृ० ६१०)

२ ननु अध्ययनादक्षरावाप्तेः को विशेषः? अस्त्यत्र विशेषः, स्वाधीनोच्चारण-क्षमत्वं नामाक्षरधर्मोवाप्तिः, तदर्थो वाङ्मनसव्यापारोऽध्ययनमिति।

(वि० पृ० ६१०)

पूर्व में मध्य विकल्प कहा गया है, वह भी समीचीन नहीं है, उसका प्रतिपाद्य यही है कि अध्ययन विधि अक्षरावाप्ति के द्वारा अर्थावबोध पर्यन्त ही इष्ट है—यही मध्यम विकल्प का निष्कर्ष है। इस विकल्प के सारांश को विवरणाचार्य ने इन शब्दों में कहा है--- अर्थावबोधकामी वेदाध्ययन में अधिकारी है। इसलिए पूर्वोक्त अधिकारी का विशेषण अर्थावबोध है। इस अर्थावबोध को उद्देश्य करके अध्ययन का विचार करना चाहिए। कारण, निरधिकार विधान नहीं होता है। विधि के साथ पुरुष का जो सम्बन्ध है उसका जो निमित्त है उसीको अधिकार[1] कहा जाता है। विधि के साथ पुरुष के सम्बन्ध का अधिकार ही

---

१ अधिकार शब्द की विवरणाचार्य ने निम्नलिखित व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है अधिक्रियतेऽस्मिन् कर्मणि अनेन (पुरुषधर्मेण) इति अधिकारो, विधि-पुरुष-सम्बन्ध-निमित्तम् जीवनकामादिरुच्यते।

(वि० पृ० ६१०-६११)

प्रदर्शित व्युत्पत्ति का आशय यह है कि विधि के साथ जो पुरुष का सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का निमित्त अधिकार है। श्रुति में कहा है कि शुची तत्कालोपजीवी कर्म कुर्यात्—जब तक जीवित रहे तब तक नित्य कर्म का अनुष्ठान करे। इसलिए जीवन को विधि पुरुष का निमित्त कहा गया है। इस प्रकार काम्य कर्म, जैसे—पुत्र, पशु आदि के लाभ के लिए अनुष्ठान किया जाता है—काम्य कर्म में कामना ही निमित्त है, इस आशय को व्यक्त करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रह में कहा है कि लोक में अर्थावबोध को उद्देश्य करके जो शब्दोच्चारण किया जाता है उसीमें तात्पर्य का ज्ञान होता है। अब प्रश्न होता है कि लोक में वाक्यार्थावबोध के लिए विधि नहीं होती है, इसी तरह वेद में भी विधि का होना उचित नहीं है, इसके उत्तर में कहा है कि लोक में शब्दोच्चारण का प्रयोजक राग रहता है। वेद में स्थित शब्दों में उच्चारण में राग प्रयोजक नहीं है। इसलिए अर्थावबोध में जो अधिकारी का विशेषण है, उसको उद्देश्य कर अध्ययन का विधान करना उचित है। अक्षरावाप्ति को उद्देश्य कर विधान करने पर भी अर्थावाप्तिकामी अधिकारी होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन

निमित्त है। यह अधिकार नहीं रहने से विधि सम्भव नहीं होती है। प्रश्न होता है कि अर्थावबोध को ही क्यों उद्देश्य किया जायगा? इसके उत्तर में भाट्टमतानुसारी अचार्यों का कथन है कि अर्थावबोध को ही उद्देश्य करके विहित कर विहित शब्द का उच्चारण करने से वाक्य का तत्पर्य सिद्ध होता है। अर्थावबोध को उद्देश्य नहीं कर विधि मानने से अर्थावबोध में तात्पर्य नहीं रहेगा। लोक-व्यवहार में देखा जाता है कि वक्ता की जो विवक्षा है, वही तात्पर्य का निमित्त है। वेद में कोई वक्ता पुरुष नहीं है, इसलिए, अर्थावबोध को उद्देश्य कर विधि तक शब्दोच्चारण ही तात्पर्य का निमित्त है—यही मानना पड़ेगा। इसलिए अर्थावबोध को विधि का उद्देश्य कहा गया है।

अब प्रश्न होता है कि विश्वजिता यजेत इस स्थल पर जैसे विधि एवं पुरुष का जो सम्बन्ध उसके निमित्त का श्रवण उल्लिखित नहीं है और इसका श्रवण नहीं रहने पर भी जैसे—विश्वजित् न्याय से स्वर्गकामी की अधिकारी रूप में कल्पना की जाती है, वैसे ही प्रकृत स्थल में की जायगी। इसके उत्तर में भट्टमतानुसारी आचार्यों का कथन है कि अर्थावबोध को यदि उद्देश्य नहीं किया जाय तब तो पूर्वोक्त कारण से वाक्य के तात्पर्य का अवधारण करना ही असम्भव हो जायगा। कारण, वेद में अर्थावबोध को उद्देश्य कर विधि से शब्दोच्चारण ही तात्पर्य का निमित्त है। इसलिए अर्थावबोध में ही अध्ययन विधि का उद्दश्यत्व रहेगा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि तात्पर्य का अवधारण उपक्रम आदि छः प्रकार के तात्पर्य निर्णायक लिंगों के द्वारा होता है,

---

है कि अर्थावबोध को उद्देश्य कर यदि शब्दोच्चारण नहीं किया जाय तब तो वाक्य का तात्पर्य ही सिद्ध नहीं होगा।

प्रकृत सन्दर्भ में जो जीवनकामादि शब्द विवरण में मिलता है वहां पर आदि पद से निमित्त का ग्रहण किया है। निमित्तोपनिपातजन्य जो कर्म का अनुष्ठान किया जाता है वह नैमित्तक कर्म है—जैसे—राहूपरागे स्नायात् इत्यादि।

इसलिए अर्थावबोध का उद्देश्यत्व तात्पर्य—निर्णय में प्रयोजक नहीं है। कामना अधिकार का निमित्त है, इस पक्ष को स्वीकार कर भाट्टमत के विरोधी आचार्यों ने विश्वजित् न्याय की अवतारणा कर स्वर्गकामों को अधिकारी रूप में कल्पना करने का निश्चय करते हैं। वह कहना चाहते हैं कि वाजसनेयि-शाखा में उपनयन प्रकृत है। उसमें कहा गया है कि ब्रह्मचर्यमागाम् इस श्रुति वाक्य के द्वारा उपनयन प्रकृत है, इसलिए, प्रकरण के द्वारा उपनीत हो स्वाध्याया-ध्ययन में अधिकारी है, यही सिद्ध होता है। इसलिए प्रकरण रूप प्रमाण के बल से अध्ययन विधि का उपनीत हो अधिकारी है. अतः, अर्थावबोधकामी को अध्ययन विधि का अधिकारी नहीं कर स्वर्गकामी अथवा उपनीत इन दोनों में एक को अधिकारी रूप में कल्पना करना उचित है। इसके उत्तर में भाट्ट-मतानुसारियों का कहना है कि पूर्वोक्त कथन युक्ति-संगत नहीं है। कारण, अर्थावबोध जो दृष्ट फल है उसमें कामनावान् जब अधिकारी के रूप में मिल रहा है तब इससे भिन्न कल्पना समीचीन नहीं है[1]।

इसके उत्तर में कहा गया है कि अक्षर ग्रहण से जो अर्थावबोध होता है—यह दृष्ट फल है। इसलिए यह दृष्ट—फल पूर्वोक्त दोनों प्रकार की कल्पना का अवरोध करता है। इसलिए अर्थावबोध रूप दृष्ट फल से जब कामनावान् अधिकारी विद्यमान है तब भिन्न कल्पना करना ठीक नहीं है। इस स्थिति में विवरणाचार्य का कहना है कि यदि यह स्वीकार ही किया जाय कि "अध्ययनेना-र्थावबोधं भावयेत् अर्थावबोधकामः" यह अध्ययन विधि का फल है फिर भी विचार के द्वारा अर्थावबोध का उत्पन्न करे, इस प्रकार विचार में प्रवृत्ति अध्ययन विधि के द्वारा विहित नहीं हो सकती हैं। निष्कर्ष यही है कि अध्ययन विधि में अर्थावबोध उद्देश्य रूप होने पर भी विचार अध्ययन विधि प्रयुक्त नहीं हो सकता है[2]।

---

१ वि० पृ० ६११

१ भवतु नाम—अध्ययनेनार्थावबोधं भावयेदर्थावबोधकामः इति विधिः, तथापि विचारेणार्थावबोधं भावयेदिति विचारे प्रवृत्तिरध्ययनविधिना न विधीयत इति।

(वि० पृ० ६११)

विशेष बात यह है, विचार नहीं रहने पर भी अध्ययन विधि में कोई अनुपपत्ति की उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए विचार में प्रवृत्ति अध्ययन विधि के अधीन नहीं है, किन्तु, भाट्टमत विरोधी आचार्यों का इस रूप में कहना अनुचित है। कारण, जो कर्म अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा दृष्ट-फलक हैं। उन्हीं कर्मों में जब प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा फल का ज्ञान होता है तभी विधि की निष्पत्ति होती है। स्वाध्याय का अर्थावबोध रूप दृष्ट फल अन्वय–व्यतिरेक-सिद्ध है। यहां अर्थावबोध नहीं होने से अध्ययन विधि की ही निष्पत्ति नहीं होगी। अर्थावबोध विचाराधीन है। इसलिए विचार में प्रवृत्ति को अध्ययन विधि के अधीन ही स्वीकार करना उचित है[1]।

---

१ इस स्थल में चिन्ता में क्लिष्टता है। कारण, पंचपादिकाकार की उक्ति ही यहां ऋजु नहीं है। अतः विवरण एवं उनके व्याख्याताओं ने भिन्न-भिन्न रूप में विश्लेषण प्रस्तुत किया है—पंचपादिकाकार की उक्ति है—दृष्टाधिकारेषु प्रत्यक्षतस्तदुपलब्धावधिकारसिद्धिः। अतोऽर्थावबोधपर्यन्तः स्वाध्यायाध्ययननियोगः, तेन नियोगसिद्ध्यर्थमेव सकलवेदार्थविचारः (पं० पा० पृ० ६११)। इसका आशय यही है कि दृष्ट फलक कर्म में प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा उनके फल की उपलब्धि होने से वे दृष्ट फलक कर्म हैं यह सिद्ध होता है। इसलिए स्वाध्यायाध्ययन विधि अर्थावबोध रूप दृष्ट फलक होने के कारण उसका अर्थावबोध जब प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात हो जायगा तभी स्वाध्यायाध्ययन विधि का पर्यवसान होगा। इसलिए स्वाध्यायाध्ययन नियोग की सिद्धि के लिए सकल वेदार्थ विचार समझना चाहिए। अर्थात् सकल वेदार्थ का विचार नहीं होने से अर्थावबोध नहीं होगा और इसके फलस्वरूप स्वाध्यायाध्ययन विधि की भी सिद्धि नहीं होगी। इसलिए विवरण-प्रमेयसंग्रह में कहा है कि विचारेणार्थावबोधं भावयेदिति विधिस्त्वार्थः। विचारेणापरिह्वते विरोधेऽर्थनिश्चयानुदयादर्थावबोध एव फलमिति

(वि० प्र० सं० पृ० ४७४)

भाट्टमतखण्डन

भाट्टमत का पूर्वोक्त कथन असंगत है कारण, इसमें प्रथमतः दो प्रकार विकल्प होता है--प्रथम विकल्प यह है कि--क्या अधीतस्वाध्याय के सामर्थ्य से ही अध्ययन का अर्थावबोध साक्षात् अथवा परम्परा रूप में फल है[1] ? द्वितीय विकल्प यह है कि--क्या अर्थावबोध काम को उद्देश्य कर अध्ययन विधान किया गया है, इसलिए अर्थावबोध अध्ययन का फल है ? परम्परा फल कहने का आशय यह है कि विचार के द्वारा जहां व्यवधान हो जायगा वहां अर्थावबोध अध्ययन का परम्परा रूप में फल होगा। इसमें यह प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त विकल्पद्वय प्रदर्शन तो समीचीन नहीं है। कारण, अर्थावबोध को उद्देश्य कर अध्ययन का विधान किया गया है--इस पक्ष में अर्थावबोध अध्ययन का फल है-- यही कहा जा रहा है। इसलिए पूर्व विकल्प का अवसर ही कहां है। यह शंका उचित नहीं है कि अर्थावबोध को उद्देश्य कर विधान करने पर भी वह अर्थावबोध या अधीतस्वाध्याय निबन्धन फल है ? अथवा, विधि

१ (क) विवरणाचार्य ने प्रथम विकल्प प्रदर्शन प्रसंग में अर्थ-सामर्थ्य पद का प्रयोग किया है। उसका तत्त्वदीपनकार ने अधीतस्वाध्याय का सामर्थ्य यह अर्थ किया है। परन्तु ऋजुविवरणकार ने अर्थ-सामर्थ्य का अर्थ वस्तु-सामर्थ्य यह किया है। अध्ययन ऐसी वस्तु है जिसके करने से अर्थावबोध अवश्य उत्पन्न होता है।

ऋ० वि०पृ० ६११

(ख) इस विकल्प का आशय यह है कि विधि के बल से अक्षर ग्रहण मात्र जब निष्पन्न होता है तब इसके बाद अधीत व्याकरण पुरुष लौकिक वाक्यार्थ के समान वेदार्थ को भी स्वतः समझ लेता है। इसलिए क्या वेदार्थबोध अध्ययन विधि का फल है ?

वि० प्र० सं० पृ० ४५७

सामर्थ्य प्रयुक्त अर्थावबोध अध्ययन का फल है? इस प्रकार प्रदर्शित दोनों विकल्प की उपपत्ति हो सकती है। इसमें प्रथम विकल्प को सिद्धान्ती भी अंगीकार करते हैं। किन्तु, द्वितीय विकल्प असमीचीन है। कारण, अध्ययन के पहले अर्थावबोध अज्ञात है। इसलिए वह कामना का विषय नहीं हो सकता है। कारण, ज्ञात वस्तु में ही कामना होती है। निष्कर्ष यह है कि अर्थावबोध की कामना को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान नहीं हो सकता है। इसमें यह प्रश्न होता कि अर्थावबोध का अज्ञान किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि अध्ययन से पूर्व वेदार्थ को प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है और इससे वेदार्थ विशिष्ट अर्थावबोध को भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। कारण, विशिष्टज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है। क्योंकि अभियुक्तों की उक्ति है--नागृहीतविशेषणा बुद्धिः विशिष्टेपूपजायते।

विशिष्टज्ञान के प्रति विशेषणज्ञान कारण है। वेदार्थ विशिष्ट ज्ञान में वेदार्थ विशेषण है वेदार्थ ज्ञान नहीं रहने से वेदार्थ विशिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस स्थिति में वेदार्थ विशिष्ट अवबोध में कामना को उद्देश्य कर अध्ययन का विधान नहीं किया जा सकता है। इसमें प्रश्न होता है कि निम्नोक्त अनुमान तो किया जा सकता है--वेद (पक्ष) अर्थवान (साध्य) कारण, यह वाक्य प्रमाण है (हेतु) जैसे आप्त वाक्य (दृष्टान्त)। इस अनुमान के द्वारा वेदार्थ सद्भाव मात्र का तो ज्ञान हो सकता है और इससे वेदार्थ का ज्ञान हो जायगा। ऐसी स्थिति में तब पूर्व में जो कहा गया है कि अध्ययन के पूर्व वेदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है--यह अनुचित है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि अनुमान के द्वारा यदि वेद की अर्थवत्ता का ज्ञान मात्र सिद्ध हो जाय तब वेदार्थ ज्ञान में कामना नहीं हो सकती है। कारण, सिद्ध अर्थ में कामना नहीं होती है। इसमें यह भी वक्तव्य है कि सामान्यतः वेदार्थ-सद्भाव का अनुमान होने पर भी अग्निहोत्रादि विशेषाकार में विशिष्ट वाक्यार्थ समूह अप्रनिपन्न रह जायगा और अग्नि

होत्रादि-विषयक-विशिष्ट-वाक्यार्थ कामना को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि अग्निहोत्रादि-विशिष्ट-वाक्यार्थ यदि अप्रतिपन्न रह जाय तो अग्निहोत्रादि-विशिष्ट-वाक्यार्थ ज्ञान में कामना भी नहीं हो सकती है। इसमें यदि कहा जाय कि अध्ययन के पूर्व पित्रादि गुरूपदेश से अग्निहोत्रादि का प्रतिपादक जो वाक्य विशेष उसके अर्थ-विशेष का ज्ञान हो गया है। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ विशेष का ज्ञान अध्ययन के पूर्व में ही सिद्ध रहने से वाक्यार्थ-विशेष-ज्ञान में कामना सम्भव नहीं हो सकती है और वाक्यार्थ-विशेष ज्ञान की कामना को उद्देश्य कर विधि भी नहीं हो सकती है। इसमें प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त औपदेशिक ज्ञान का अप्रमात्व प्रयुक्त निर्णय ज्ञान की कामना की जा सकती है और उसी को उद्देश्य करके विधान होगा। इस के उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि यदि अप्रमात्व निश्चित हो गया तब तो उसमें निर्णय ज्ञान की कामना ही नहीं हो सकती है। कारण, उस स्थल में तो अर्थ विभ्रमरूप है। शुक्तिका में समारोपित रजतज्ञान का अप्रमाण्य निश्चित होने पर उसमें निर्णय ज्ञान की कामना नहीं होती है। यदि कहा जाय कि पूर्वोक्त औपदेशिक ज्ञान का अप्रमाण्य सन्दिग्ध है। इसलिए निर्णय ज्ञान कामना को उद्देश्य करके विधान होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि तब तो पूर्वोक्त ज्ञान के प्रामाण्य-विचार का ही अवसर होगा अध्ययन का नहीं।

इससे यही निर्णय हुआ कि--अर्थावबोध अधिकारी का विशेषण नहीं हो सकता है, यदि कथंचित् अर्थावबोध की कामना को अंगीकार करके अर्थावबोध कामना अधिकारी का विशेषण स्वीकार किया जाय तब भी अर्थावबोध कामना को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान नहीं हो सकता है। कारण, इसमें प्रश्न होगा कि-क्या सकल वाक्यार्थ का अवगमन करके सकल वाक्यार्थबोध के उद्देश्य से अध्ययन का विधान होगा, अथवा वेदार्थबोध मात्र को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान होगा? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। वाक्यार्थबोध

समूह का जो ज्ञान होगा यह ज्ञान क्रमिक उत्पन्न होगा। इसलिए सकल वाक्यार्थावबोध को उद्देश्य करके अध्ययन का विधान उपपन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है। कारण, सामान्यतः अर्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाय इस उद्देश्य से शब्दोच्चारण करने से तो अर्थमात्र ज्ञान में ही शब्द का तात्पर्य अवधृत होगा। क्योंकि, जिस रूप में अर्थावबोध के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण होता है, उस उद्देश्य में ही शब्दोच्चारण का तात्पर्य है, इसका वह प्रयोजक होता है। अर्थावबोध सामान्य को उद्देश्य करके यदि शब्द का उच्चारण किया गया होगा तब तो अर्थावबोध मात्र में ही शब्द का तात्पर्य प्रसक्त हो जायगा जो सर्वथा अनभिप्रेत है। निष्कर्ष यह होगा कि—अर्थावबोध के उद्देश्य से जो शब्दोच्चारण है वही शब्द के तात्पर्य के अवधारण में प्रयोजक है—यह पूर्व में भी कहा गया है और इससे सकल वाक्यार्थबोध का एक बार उपदेश करना असम्भव है। इसका यह फल हुआ कि सकल वाक्यार्थावबोध को उद्देश्य करके विधान नहीं हो सकेगा। फलस्वरूप अर्थ मात्र के बोध को उद्देश्य करके शब्दोच्चारण करना पड़ेगा। इससे अर्थमात्र ज्ञान में ही शब्द का तात्पर्य प्रसक्त हो जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि अग्निहोत्रादि विशेष ज्ञान में तात्पर्याभाव प्रयुक्त विशेषांश में शब्द का प्रामाण्य नहीं रहेगा। इसके उत्तर में यदि कहा जाय कि—अग्निहोत्रादि-विशेषज्ञान के उद्देश्य से शब्द का उच्चारण नहीं होने पर भी वाक्य शक्ति के द्वारा अग्निहोत्रादिविशेष के ज्ञान में कोई बाधक नहीं है। इसलिए शब्द का अग्निहोत्रादि विशेष अंश में भी तात्पर्य रह जायगा किन्तु, यह कहना ठीक नहीं है। कारण, शक्ति के अनुसार यदि तात्पर्य कल्पना की जाय तब सामान्यतः अर्थ ज्ञान को उद्देश्य करके अध्ययन विधि तात्पर्य ज्ञान का निमित्त नहीं होगा। इसमें पुनः शंका हो सकती है कि जैसे काश कुश पलाश इन बहुत विषयों का एक ज्ञान उत्पन्न होता है, वैसे ही सकल वाक्यार्थावबोधविषयक एक ज्ञान तो सम्भव होता है और उसी को उद्देश्य करके विधान होगा। किन्तु, यह भी कथन ठीक नहीं है।

कारण, अध्ययन के पूर्व में जब विशेष ज्ञान-समूह असिद्ध है तब वह विशेष ज्ञान विषयक एक सामान्य ज्ञान की कामना को उद्देश्य करके विधान नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि—विशेष अर्थ के ज्ञान को उद्देश्य करके अध्ययन विधान करने पर भी अध्ययन मात्र से दृष्ट रूप में अर्थावबोध की सिद्धि नहीं होगी। कारण, ऐसा नहीं देखा जाता है। इससे अन्य जिज्ञासा होती है कि लोक व्यवहार में अर्थावबोध को उद्देश्य करके शब्दोच्चारण करने से शब्द का तात्पर्य कभी भी अर्थ में अवधृत नहीं होता है, वरन्, अर्थावबोध को उद्देश्य करके शब्द का उच्चारण तात्पर्यावधारण का प्रयोजक होता है। इस स्थिति में वेद का यदि अर्थावबोध को उद्देश्य करके उच्चारण नहीं किया गया है, तब तो वेद का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रहेगा। कारण, पूर्वोक्त तात्पर्य ग्राहक हेतु का अभाव है। यह भी कथन अनुचित है। कारण, श्रोता का उच्चारण तात्पर्य का निमित नहीं है। कारण, लोक में ऐसा देखने में नहीं आता है। इसी प्रकार वक्ता का भी उच्चारण तात्पर्य का निमित्त नहीं है, क्योंकि, तब तो अपौरुषेय वेद में कोई वक्ता नहीं रहने के कारण तात्पर्य के अभाव का ही प्रसंग हो जायगा। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं कि सिद्धान्ती तो बहुत सुन्दर युक्ति दिखा रहे हैं। इस युक्ति प्रदर्शन के फलस्वरूप तो वेद में अर्थ का प्रतिपादकत्व हो नहीं रहेगा। कारण, अर्थावबोध को उद्देश्य करके उच्चारण अर्थ प्रतिपादन का हेतु है और वह वेद में नहीं है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षी का यह कथन अनुचित है। कारण, शब्द का अर्थ प्रतिपादन करना स्वभाव है। शब्द जब उच्चरित हो गया तब वह अर्थ का प्रतिपादक होगा ही। क्योंकि वस्तु अपने स्वभाव का परित्याग नहीं कर सकता है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि तब तो अर्थ ज्ञान को उद्देश्य करके शब्दोच्चारण करना लोक में व्यर्थ हो जायगा—इसका कोई भी प्रयोजन नहीं रहेगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है। कारण, लोक में पुरुष सम्बन्ध कृत दोष संभावित है। इसलिए उस दोष का

परिहार करने के लिए लोक में अर्थ ज्ञान को उद्देश्य करके शब्द का उच्चारण अपेक्षित है। किन्तु वेद में पुरुष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए लोक में लौकिक दृष्टांत से वेद में भी अर्थज्ञान को उद्देश्य करके शब्दोच्चारण के नियम की अपेक्षा नहीं है। इसमें यह प्रश्न होता है कि यदि वेद का स्वतः अर्थ-प्रतिपादन-सामर्थ्य भी स्वीकार किया जाय, तब भी वेद में अर्थबोधकत्व सम्भव नहीं है। कारण, अर्थबोध तात्पर्याधीन है। तात्पर्य पुरुष का धर्म है। वेद में पुरुष नहीं है, इसलिए वेद-वाक्य में तात्पर्य भी संभावित नहीं है। यह भी कथन अनुचित है। कारण, तात्पर्य षड्विध उपक्रमादि लिंगों से निर्णीत होता है। अतः वेद में तात्पर्य शब्द का धर्म है पुरुष का नहीं है। इस विचार से यही सिद्ध होता है कि अध्ययन विधि का अर्थावबोध रूप फल में व्यापार नहीं हो सकता है। इसलिए विधि प्रयुक्त विचार शास्त्र को सर्वाधिकारता सिद्ध नहीं हैं, अतः पूर्वोक्त विश्लेषण से भाट्टमत विचार संगत न होने के कारण सर्वथा असमीचीन है।

अब यह प्रश्न होता है कि अध्ययन विधि में अर्थावबोध काम को अधिकार (विधि पुरुष सम्बन्ध के निमित्त) रूप में स्वीकार नहीं किया जाय एवं अधिकारान्तर का भी जब श्रवण नहीं होता है तब तो वेद का अनध्ययन ही प्राप्त होगा।

स्वाध्यायविधि और प्रभाकर—मत

अध्ययन विधि नित्य है। कारण, अध्ययन विधि में नित्याधिकारत्व अस्वीकार करने से अर्थावबोध-कामी व्यक्ति अधिकारी है यही स्वीकार करना पड़ेगा। नित्य नहीं है, यह मानने पर अर्थावबोधकामनाविधि पुरुष सम्बन्धरूप अधिकार का निमित्त है, यही स्वीकार करना पड़ेगा। अर्थात् अर्थावबोधकामी अधिकारी है, यह अंगीकार करना अपरिहार्य करना हो जायगा और यह अर्थावबोध विचार को छोड़कर उपपन्न नहीं हो सकता है। इसलिए विधि विचार सापेक्ष होती है और इससे विचार-शास्त्र में त्रैवर्णिकों का अधिकार है—यही सिद्ध होता है[1]। अध्ययन विधि में नित्याधिकार प्रतिपादन करना उचित है यही सिद्धान्त है। यद्यपि यह सिद्धान्त है तथापि पूर्वोक्त विचारधारा में एक संकटजनक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कारण, सिद्धान्ती ने अध्ययन-विधि में अर्थावबोधकामी का अधिकार नहीं किया है एवं अध्ययन विधि में अधिकारान्तर भी अर्थात् विधि पुरुष का निमित्त भी, श्रुति में नहीं कहा गया है। इसके फलस्वरूप तो अनध्ययन ही प्रसक्त होता है। इस स्थिति में प्राभाकर-सम्प्रदाय के आचार्यगण एक गम्भीर मत उपथापन करना चाहते हैं। इनलोगों का यही कथन है कि विधि वाक्य मात्र ही अपने विषय में प्रवर्त्तक होता है, यह सर्वानुभव सिद्ध है, इसलिए इस प्रवर्त्तकता का प्रकारान्तर से उपपन्न नहीं होने के कारण विधि-वाक्य नियो-

---

१ अध्ययनविधेर्नित्याधिकारत्वाभावेऽर्थावबोधकामोऽधिकारीति स्यात्, अर्थावबोधस्य च विचारमन्तरेणानुपपत्तेर्विधितस्तदाक्षेप इति सर्वाधिकारत्वं शास्त्रस्य। तस्मान्नित्याधिकारत्वं प्रतिपादनीयमित्यभिप्रेत्य पूर्वपक्षोपक्रम इत्यर्थः।

त० दी०पृ० ६१३-६१४

ज्य पुरुष को इस रूप में प्रतिपादन करा देता है कि विधि सम्बन्धी हमारे ही नियोग के लिए है—यही प्रतिपादन कर प्रवृत्ति में समर्थ जो अधिकारी पुरुष उसी की कल्पना में पर्यवसित होता है। परन्तु जब विधि का जो विधेय विषय, उसका भिन्न निमित्त से अनुष्ठान सम्पन्न हो सकता है, तब विधि का प्रवर्त्तकत्व प्रतिबध्य होता है। विधि का जो प्रवर्त्तकत्व है उसमें प्रतिबध्यता होने पर वह विधि प्रवृत्ति से निष्पन्न अपनी प्रवर्त्तकता को रहने के लिए उस विधि का स्वामी अधिकारी की कल्पना करके प्रवर्तन नहीं करा सकता है। ऐसी स्थिति में अध्ययन विधि अपना विषय जो अध्ययन इस अध्ययन का जब अध्यापन विधि-प्रयुक्त अनुष्ठान सम्भव हो सकता है, तब अध्ययन विधि का प्रवर्त्तकत्व प्रतिबद्ध हो जाता है। अध्ययन विधि अधिकार की कल्पना करके पुरुष का प्रवर्तन नहीं करा सकती है यही प्राभाकर सिद्धान्त है[1]।

विवरणाचार्य ने प्रभाकर को जिस रूप में प्रदर्शित किया है उसका निष्कर्ष प्रदर्शित करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रह में कहा है कि—अध्ययन विधि स्वतन्त्र रूप में अधिकारी की अपेक्षा नहीं करती है। कारण, अध्यापन विधिप्रयुक्त ही अध्ययन विधि का विषय जो अध्ययन उसका अनुष्ठान सिद्ध हो जायगा। इसमें प्रश्न होता है कि विधि तो सर्वत्र अपना जो विधेय विषय है अथवा उसका उपकारक अंग है उसीका अनुष्ठापन कराती है। अध्ययन तो अध्यापन विधि का विषय भी नहीं है और अंग भी नहीं है। इसलिए अध्यापन विधि प्रयुक्त अध्ययन का अनुष्ठान किस प्रकार सिद्ध हो सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि काम्य क्रतुविधि जैसे—काम्य क्रतु विधि के अविषय एवं काम्य क्रतु विधि के अनंग अग्नि संस्कार को अनुष्ठान कराती हैं इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिए[2]।

१ वि०, पृ० ६१४

२ वि० भा प्र०, पृ० २२५ (यह प्रबोधपरिशोधिनी का विषय है वहीं से विवरणप्रमेयसंग्रह में गृहीत है)

इसमें प्रश्न होता है कि आठ वर्ष के ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करायें एवं उसको अध्यापन करायें इस अध्यापन विधि में अधिकार का उल्लेख नहीं है। कारण, इसमें आचार्यकरणकामो इत्यादि अधिकारी विशेषण का श्रवण नहीं है, इसलिए अध्ययन-अध्यापन विधि प्रयुक्त कैसे हो सकता है? जिसके बल से अध्यापन विधि में अधिकारी की कल्पना करके अध्यापन प्रयुक्त अध्ययन को कहा जायगा।

इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि अधिकार का श्रवण नहीं रहने पर भी अध्यापन विधि का प्रवर्त्तकत्व रह जायगा। जैसे विश्वजित् विधि में अधिकार का श्रवण नहीं रहने पर भी विश्वजित् विधि का प्रवर्त्तकत्व अक्षत रहता है अर्थात् वहां अधिकारी की कल्पना की जाती है वैसे ही अध्यापन में भी अधिकारी की कल्पना की जायगी[2]।

प्रभाकर का यह कथन अनुचित है। कारण, तब तो तुल्य युक्ति से अध्ययन विधि में भी अधिकार की कल्पना की जा सकती है और इससे लाघव यही होगा कि अध्ययन में अधिकार कल्पना करने के बाद अध्ययन प्रयुक्त ही अध्ययन निष्पन्न होगा। कारण, कार्य की स्वविधिप्रयुक्त निष्पत्ति अन्य विधि प्रयुक्त निष्पत्ति से लघु है। पूर्व कल्प में व्यवधान है और द्वितीय कल्प में अव्यवधान है। जहां अव्यवहित अर्थ सम्भव है वहां व्यवहित अर्थ का ग्रहण करना अनुचित है। अध्यापन विधि में अधिकार की परिकल्पना करके अध्यापन विधि प्रयुक्त अध्ययन कल्पना से अव्यवधान प्रयुक्त अध्ययन विधि वाक्य में ही अधिकारी की परिकल्पना करके तत्प्रयुक्त अध्ययन की कल्पना ही समीचीन है।

---

२ अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीतेतिश्रुतावध्यापनविधिरश्रूयमाणाधिकारः कथमध्ययनं प्रयोजयेत्? कल्प्यतेऽत्राधिकार इति चेत्, नअध्ययनेऽप्यधिकारं कल्पयित्वा स्वविधिप्रयुक्तिरेवाध्ययनस्य गृह्यताम् सन्निधानात्।
(वि० पृ० ६१४)

इसमें शंका होती है कि जहां अव्यवहित अर्थ असम्भव है वहां व्यवहित अर्थ का भी ग्रहण किया जाता है। आशय यह है कि अध्यापन विधि में अधिकार कल्पना करके तादृश अध्यापन विधि प्रयुक्त अध्ययन का अनुष्ठान स्वीकार किया जायगा और इससे अध्ययनविधि में अधिकार की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। किन्तु यह कहना अनुचित है। कारण, अध्यापन विधि में कल्पिताधिकारत्व असिद्ध है, इसलिए तुल्ययुक्ति से विपरीत कल्पना भी की जा सकती है। अध्ययन विधि में अधिकार कल्पना करके एतादृश अध्ययन विधि प्रयुक्त अध्यापन का अनुष्ठान स्वीकार किया जायगा और इससे अध्यापन में अधिकार की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। यह विचारणीय है कि अध्ययनविधि क्या अध्यापन मात्र की प्रयोजक है या विहित अध्यापन की? इनमें प्रथम पक्ष स्वीकार करने से प्रकृत स्थल में कोई उपयोग नहीं है, द्वितीय विकल्प विवादास्पदीभूत है। किन्तु यह द्वितीय विकल्प भी विचार सह नहीं है। कारण, लिखित पाठ से भी अध्ययन की सिद्धि होने के कारण, इस प्रकार अध्ययन विहित अध्यापन का प्रयोजक नहीं हो सकता है। इन प्रदर्शित कारणों से अध्यापन को अध्ययन विधि प्रयुक्त स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार प्रभाकर के कहने पर भी समस्या का समाधान नहीं होता है। कारण, तब तो अविहित अध्ययन जो प्राङ्मुखत्वादिरहित है उसके द्वारा भी अध्यापन सिद्ध होने के कारण अध्यापन विधि भी विहित अध्ययन की प्रयोजक नहीं हो सकती है। यदि कहा जाय कि अध्यापन एवं अध्ययन इन दोनों में माणवक का प्राङ्मुखत्व पवित्र पाणित्व आदि का अंग रूप से विधान किया गया है। अध्ययन एवं अध्यापन में अंग की समानता विद्यमान है, इसलिए अध्यापनविधि विहित अध्ययन की प्रयोजक होगी, किन्तु, इस प्रकार कहना भी प्रभाकरों के लिए अनुचित है। कारण, गीति, शीघ्री, शिरः-कम्पी, लिखितपाठ, अर्थ-ज्ञान रहित, अल्पकण्ठ ये छः प्रकार के पाठक अधम पाठक हैं। इसके द्वारा

लिखित पाठ की निन्दा प्रतिपादित की गई है। साथ ही आचार्याधीन वेद का अध्ययन करो (आचार्याधीनं वेदमधीष्व, इस श्रुति वाक्य के द्वारा अध्ययन आचार्य पूर्वक करना चाहिए, इस प्रकार के नियम का विधान किया गया है। अतः प्रदर्शित युक्तिद्वय से अध्ययन विधि क्यों नहीं अध्यापन का प्रयोजक होगी[1] ?

इस स्थल पर विवरणाचार्य का आशय तत्त्वदीपनकार ने विशेष रूप से स्पष्ट किया है। उनका कथन यह है कि प्राङ्मुखः पवित्रपाणिरधीयीत इस श्रुतिवाक्य के द्वारा अध्ययन में प्राङ्मुखत्वादि अंगजात का विधान किया गया है। तं प्राङ्मुखं पवित्रपाणिमध्यापयेत् इस वाक्य के द्वारा भी माणवक के लिए प्राङ्मुखत्वादि इतिकर्तव्यता के रूप में श्रुत होता है। यदि अध्यापनविधि अविहित अध्ययन का प्रयोजक हो जाय तब अध्ययन की इतिकर्तव्यता विधान व्यर्थ हो जायगी। इसलिए अध्यापन विधिविहित-अध्ययन की ही प्रयोजक होती है, किन्तु यह प्रदर्शित युक्ति अध्ययापन अध्ययन विधि प्रयुक्त है इस पक्ष में भी समान है। कारण, अविहित अध्यापन विधि यदि अध्ययन प्रयोजक हो जाय तब तो प्राङ्मुखमध्यापयेत् इस नियम का विधान नहीं हो सकेगा। परन्तु इस प्रकार का नियम विधान विद्यमान है, इसलिए स्वीकार करना पड़ेगा कि विहित अध्यापन में अध्ययन विधि प्रयोज्यत्व है और अध्ययन विधि विहित अध्यापन की प्रयोजक है[2]। इसमें अन्य कारण यह है कि आचार्याधीनो वेदमधीष्व यही नियम देखने में आता है और इस नियम के द्वारा

---

१ वि० प्र० सं०, पृ० ४८०

१ ननु लिखितपाठादप्यध्ययनसिद्धेर्नाध्ययनविधिरध्यापनं प्रयोजयति, तर्हि अविहिताध्ययनेनाप्यध्यापनविधिसिद्धेर्न विहितमध्ययनमध्यापनविधिः प्रयोजयेत्, अथाप्यध्ययनाध्यापनयोर्माणवकस्य प्राङ्मुखत्वपवित्रपाणित्वाद्यंगसाम्याद्विहितमेवाध्ययनमध्यापनविधिः प्रयुङ्क्त इति, अध्यापनस्याध्ययनविधिप्रयुक्तावपि समानमेतत्।

(वि०, पृ० ६१४-६१५)

स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होता है कि लिखित पाठ करना युक्त नहीं है। इसमें विचारणीय होता है कि आचार्याधीनोऽधीष्व इस वाक्य में आचार्यकरणविधि प्रयुक्त अध्ययन करो इस प्रकार वाक्यार्थ निष्पन्न होता है। कारण, अध्यापन के बाद ही आचार्यत्व निष्पन्न होता है। परन्तु यह कहना अनुचित है, कारण, आचार्यत्व अध्यापन का उत्तरभावी है--यह किसी भी उपाय से सिद्ध नहीं होता है। तद् द्वितीयं जन्म तत् यस्मात् स आचार्यः इस वाक्य से उपनयन मात्र के द्वारा ही आचार्यत्व निष्पन्न होता है। इसी उपनयन को द्वितीयजन्म कहा गया है। इस द्वितीय जन्म का हेतुत्वभाव ही आचार्यत्व का सम्पादक है। आचारान्ग्राहयति इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्पष्ट प्रतीत होता है, कि अध्यापन के पहले ही आचार्यत्व सिद्ध होता है। प्रश्न होता है कि जो शास्त्रार्थ का आचयन करता है एवं आचार में स्थापन करता है और स्वयं आचरण करता है उसीको आचार्य कहा जाता है। (आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यः स उदाहृतः) इस स्मृति वाक्य से आचार में शिष्य को स्थापन करता है, इसलिए वह आचार्य है, इस प्रकार की व्युत्पत्ति आचार्य शब्द की प्रतीत होती है। उपनयन मात्र से आचार्यत्व निष्पन्न होता है--इस प्रकार उक्त स्मृति वाक्य में नहीं कहा गया है--इस प्रकार की शंका अनुचित है, कारण पूर्वोक्त स्मृति वाक्य जागरूक रहने पर भी अध्यापन से पूर्व में ही आचार्यत्व निष्पन्न होगा इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यदि आचार्यत्व की सिद्धि अध्यापन के बाद स्वीकार की जाय तब तो आचार्यकरण विधि प्रयुक्त अध्ययन करो इस प्रकार अध्याहार करके वाक्य की योजना करनी होगी। आचार्याधीनो वेदमधीष्व इस वाक्य में अध्याहार करके आचार्याधीनः इस अंश का आचार्य करण विधि प्रयुक्त इस प्रकार अध्याहार करना पड़ेगा। आचार्यकरणविधिप्रयुक्तं वेदमधीष्व इस प्रकार करना पड़ेगा। परन्तु इस रूप से अध्याहार करने का कोई प्रयोजन नहीं है। गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात् इस वाक्य में जो गृहस्थ शब्द का प्रयोग

किया गया है वह भावी गृहस्थरूप को आश्रयण करके किया गया है। यद्यपि भविष्यत् काल में गृहस्थ संज्ञा लाभ करेगा तथापि पूर्व में ही भाविवृत्ति का आश्रयण करके गृहस्थ शब्द का व्यवहार किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में आचार्य शब्द का प्रयोग भी भावी आचार्य संज्ञा को आश्रयण कर व्यवहार करना विरुद्ध नहीं होगा। कारण, इसमें लाघव है। इसलिए अधिकार की कल्पना अध्ययन एवं अध्यापन इन दोनों विधियों में समान होने के कारण परस्पर प्रयुक्ति साम्य रहने से अध्ययन जब स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस विधि प्रयुक्त ही सम्भव होता है, तब अध्ययन अध्यापन-विधि प्रयुक्त है यह स्वीकार कैसे किया जायगा[1]।

इसके उत्तर में प्राभाकर आचार्य कहना चाहते हैं कि अध्यापनविधि में अधिकारी कल्पना का कोई प्रसंग नहीं है। कारण, श्रुति एवं स्मृति से ही अधिकारी प्रतीत होता है। अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत इस श्रुति में जो उपनयीत यह आत्मनेपद निर्देश किया गया है, इस आत्मनेपद के द्वारा आचार्य करण में साध्यता (निष्पाद्यता) प्रतीत होती है। कारण, संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण-ज्ञान भृति-विगणनव्ययेषु नियः। इस पाणिनि व्याकरण के सूत्र के द्वारा जहां आचार्यकरण साध्य है वहां आत्मनेपद का विधान किया गया है। लोक व्यवहार में आचार्यत्व कोई प्रसिद्ध पदार्थ नहीं है। जैसे आहवनीये जुहोति इस वाक्य के द्वारा आहवनीय अग्नि होमाधान के रूप में विनियुक्त होने के बाद असंस्कृत अग्नि का होमाधान नहीं हो सकता है संस्कृत अग्नि में ही होमाधान सम्भव हो सकता

१ आचार्यार्थीनो वेदमधीष्वेति नियमविधानाल्लिखितपाठो न युक्तः अध्यापनादुत्तरभावित्वादाचार्यकरणविधिप्रयुक्तः तस्मादधिकारकल्पनासाम्यादितरेतरप्रयुक्तिसाम्याच्च स्वविधिप्रयुक्तिसम्भवेऽध्ययनस्य कथमध्यापनविधिप्रयुक्तिरिति।

(वि०, पृ० ६१५)

है—इसलिए आधान नामक संस्कार के द्वारा संस्कृत अग्नि आहवनीय रूप में निश्चित होती है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में आचार्याय गां दद्यात् इस वाक्य के द्वारा आचार्य की दक्षिणा के प्रति सम्प्रदानत्व रूप में अवगत होता है, परन्तु अनुपकारी सम्प्रदान नहीं हो सकता है और इस स्थल में उपकारी सम्भव है, इसलिए उपनयन संस्कार निष्पादन रूप उपकार के द्वारा माणवक के प्रति उपकार करने वाला आचार्य सम्प्रदान रूप में निश्चित होता है[1]।

निष्कर्ष यह हुआ कि जहां आचार्यत्व साध्य है वहां नी धातु में आत्मनेपद विधान के द्वारा उपनयन साध्य ही आचार्यत्व होता है। यहां यह जिज्ञास्य है कि पूर्वोक्त युक्ति से आचार्यत्व उपनयन साध्य होने पर भी आचार्यत्व अध्यापन साध्य नहीं होता है। आचार्यत्व उपनयन का फल होने पर भी वह अध्यापन का फल किस प्रकार होगा और इससे अध्यापन विधि साधिकार कैसे सिद्ध होगी? इसके उत्तर में प्राभाकर कहना चाहते हैं कि उपनयन अध्यापन का अंग है। उपनयीत तमध्यापयीत इन दोनों विधियों में एक प्रयोग विद्यमान है। एक प्रयोग का अर्थ है एककर्मता। एक ही कर्म उपनयन एवं अध्यापन में प्रतीत होता है और इससे उपनयन में अध्यापन का अंगत्व सिद्ध होता है। इसमें पुनः जिज्ञासा होता है कि ये दोनों परस्पर निरपेक्ष दो अवधि हैं। इस स्थिति में प्रयोग का ऐक्य किस प्रकार हो सकता है? किन्तु यह कहना अनुचित है, कारण, उपनीय अध्यापयेत् इस प्रकार प्रयोग के ऐक्य की कल्पना की जा सकती है और तम् इस सर्वनाम के द्वारा उपनयन एवं अध्यापन दोनों स्थलों में कर्म का ऐक्य प्रतीत होता है। प्रश्न हो सकता है कि उपनयन में अध्यापन का अंगत्व स्वीकार करने पर भी अध्ययन तो अध्यापन प्रयुक्त नहीं हो सकता है? किन्तु यह कहना उचित नहीं है। कारण, तमध्यापयीत इस वाक्य का विवरण करने से

१ ऋ० वि०, पृ० ६१५

माणवकविषयाध्यापनेनाचार्यत्वं भावयेत् इस प्रकार वाक्यार्थ स्वीकार करना होगा और अध्यापन-क्रिया का निर्वर्तक होने के कारण कर्मकारक माणवक अध्यापन क्रिया के प्रति गुणभूत है[१]। इससे माणवक को अध्यापन क्रिया का उपकारक स्वीकार करना पड़ेगा—एवं दृष्ट उपकारकता जहां पर सम्भव है वहां अदृष्ट उपकार की कल्पना अनुचित है, इस नियम के अनुसार उपगमन एवं अध्ययन के द्वारा माणवक उपकार करता है यही निश्चय होता है। इसमें प्रश्न होता है कि माणवक का दृष्ट द्वारा उपकारकत्व स्वीकार करने पर भी अध्यापन विधि किस प्रकार साधिकार होगी। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि अध्यापन क्रिया का भाव्य---फल नहीं रहे तब तो उसके पर्यवसान का लाभ नहीं होगा। इसलिए अध्यापन का भाव्य क्या है? इस आकांक्षा में उपनयन का जो फल है वह अध्यापन के भी फल रूप में निश्चित होना है यह मानना होगा। कारण, दोनों परस्पर सन्निहित है। ऐसी स्थितिमें यही सिद्ध हुआ कि उपनयन एवं अध्ययन के द्वारा निष्पाद्य जो अध्यापन उसका फल आचार्यत्व है। परन्तु यह सिद्ध होने पर भी पूर्वोक्त श्रुति में अधिकारी की कल्पना करनी पड़ेगी, कारण, उक्त श्रुति में एतत्कामः एतादृशकामनावान् पुरुष अध्यापन करे इस प्रकार अधिकारी का उल्लेख नहीं है इसका उत्तर यही है कि प्रदर्शित आपत्ति ही असंगत है। कारण, मात्र कामना के सम्बन्ध की कल्पना करने से ही सब उपपन्न हो जायगा। इसका निष्कर्ष यही है कि प्रदर्शित श्रुति के अनुसार आचर्यकरणकामी उपनयन कर अध्यापन कराये इस प्रकार अर्थ ग्रहण करना पड़ेगा और इससे अध्यापन विधि साधिकार सम्पन्न हो जायगी[२]।

१ माणवक किस उपकार के द्वारा अध्यापन विधि का सम्पादन करेगा? इस जिज्ञासा में उपगमन के द्वारा अध्ययन करके अध्यापन विधि का उपकार करता है यही निश्चित होता है।

२ वि० प्र० सं० पृ० ४८०

पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा आत्मनेपद विधान सामर्थ्य-प्रयुक्त अध्यापन विधि का आचार्यत्व फल कहा गया है। सम्प्रति अध्यापन विधि का जो आचार्यत्व फल है, यह स्मृति के द्वारा प्रतिपादन कर रहा हूं। मनुस्मृति में कहा गया है कि जो ब्राह्मण उपनयन कराकर कल्प एवं रहस्य के साथ वेद अध्यापन कराता है उसको आचार्य कहा जाता है। इस वाक्य से उपनयन एवं अध्यापन के प्रयोग का ऐक्य प्रतीत होता है और इससे अध्यापन में विधि-श्रवणप्रयुक्त एवं आचार्यत्व रूप फल श्रवण-प्रयुक्त आचार्यत्वकामी माणवक का उपनयन कराकर अध्यापन करायेगा—यही विधि निष्पन्न होती है। परन्तु अध्ययन में विधि-पुरुष सम्बन्ध रूप अधिकार का कोई निमित्त श्रवण नहीं किया जाता है—यह वैलक्षण्य स्पष्ट विद्यमान है[1]।

अध्यापन विधि साधिकार है। इसलिए अध्ययन का अनुष्ठान साधिकार अध्यापन विधि-प्रयुक्त होता है। इसलिए अध्ययन विधि वाक्य में अधिकार का कल्पन नहीं किया जाय यही प्राभाकरों का वक्तव्य है। परन्तु इसमें यह शंका हो सकती है कि अध्यापनविधि-प्रयुक्त अध्ययन का अनुष्ठान असिद्ध है। कारण, अध्ययन अध्यापन विधि का विषय नहीं है एवं उसका अंग भी नहीं है, अध्ययन स्वतन्त्र विध्यन्तर के द्वारा विहित हुआ है, इसलिए अध्ययन का अनुष्ठान स्वतन्त्र अध्यापन विध्यन्तर प्रयुक्त कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में प्रभाकर कहना चाहते हैं कि अग्न्याधान[2] दृष्टान्त से यह उपपन्न हो सकता है। आशय यह है कि ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इस प्रकार का श्रुति वाक्य उपलब्ध होता है। इसमें विकल्प होता है कि -क्या आधान विधि स्वतन्त्र नित्य-विधि है, अथवा वेद स्वतन्त्र काम्य विधि है। इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, पुरुष को उद्देश्य कर स्वतन्त्र रूप में नित्य आधान का विधान

१ वि० दृ० ६१७

२ अग्न्याधानसंस्कार

नहीं किया जाता है। क्योंकि जैसे प्रोक्षणादि के द्वारा कर्म कारक द्रव्य संस्कार में तात्पर्य है वैसे ही आधान भी कर्म कारक का संस्कार रूप है। कर्म कारक भूतद्रव्य अग्नि उसका उद्देश्य है। इस प्रकार ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इस वाक्य में किसी फल का श्रवण नहीं है, इसलिए वह स्वतन्त्र काम्य विधि नहीं हो सकती है। इसमें यह जिज्ञासा होती है कि यद्यपि अग्नीनादधीत इस वाक्य में अग्नि-समूह का प्राधान्य प्रतीत होता है तथापि सक्तून्जुहोति इस स्थल में जिस प्रकार गुण-प्रधानभाव की वैपरीत्यकल्पना करके स्वतन्त्र नित्य विधि स्वीकार की गई है, वैसे ही अग्नीनादधीत इस स्थल में भी स्वीकार की जायगी। अथवा विश्व-जित्न्याय के समान फल की कल्पना करके अग्नीनादधीत इस वाक्य में स्वतन्त्र काम्य विधित्व स्वीकार किया जायगा। इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि प्रकृत स्थल में नित्याधिकार अथवा काम्याधिकार इन दोनों में एक की भी सम्भावना नहीं है। कारण, सक्तून जुहोति इस स्थल में भस्मीभूत सक्तुओं का अन्यत्र उपयोग सम्भव नहीं है, इसलिए वहां गुण-प्रधानभाव की वैपरीत्य-कल्पना सम्भव होने पर भी प्रकृत स्थल में यदाहवनीये जुहोति इत्यादि वाक्य के द्वारा संस्कृत अग्नि का क्रत्वन्तर में विनियोग होने के कारण गुण-प्रधान-भाव की वैपरीत्यकल्पना सम्भव नहीं है। निष्कर्ष यही है कि सक्तुओं के भस्मीभूत होने के कारण अन्यत्र विनियोग सम्भव नहीं होता है। इसलिए वहां विभक्ति का विपरिणाम किया जाता है। किन्तु प्रकृत स्थल में यह बात नहीं है। कारण, अग्निओं का अन्यत्र विनियोग सम्भव होता है। फल यही हुआ कि नित्या-धिकार एवं काम्याधिकार शून्य होने के कारण आधान विधि आधान में प्रवृत्त कराने में समर्थ नहीं है। पूर्वोक्त आधान का अन्य प्रयुक्तत्व स्वीकार करने मे दो विकल्प सम्भावित है—क्या आधान उत्तर नित्य क्रतु विधि प्रयुक्त है अथवा उत्तर काम्य क्रतु विधि प्रयुक्त है? इसमें प्रथम पक्ष असमीचीन है। कारण, नित्य दर्श पूर्णमासादि विधिप्रयुक्त आधान का अनुष्ठान नहीं हो सकता है

क्योंकि, आहवनीय होमाधार अग्नि उद्देश्य होने के कारण अनुपादेय अर्थात् असाध्य है। उपादेय साध्य अनुष्ठेय होता है। सिद्ध अनुपादेय का अनुष्ठान सम्भव नहीं है। इसलिए आधान का क्रतु विधि प्रयुक्त अनुष्ठान नहीं हो सकता है। जो उपादेय रहता है, उसीका विधि अनुष्ठान कराती है। अनुपादेय उद्देश्य को भी यदि अनुष्ठेय स्वीकार किया जाय तब स्वर्गकामी अधिकारी प्रभृति भी अनुष्ठेय हो जायगा। पूर्वोक्त प्रसंग असंगत होने के कारण उत्तर काम्य क्रतुविधि प्रयुक्त आधान का अनुष्ठान होता है—यही द्वितीय पक्ष अवशिष्ट रह जाता है। विधि वाक्य के समान कामना भी उपादेय का ही अनुष्ठान कराती है—ऐसा कोई नियम स्वीकार नहीं किया गया है और इससे अनुपादेय अनुष्ठेय नहीं हो सकता है इस पूर्वोक्त दोष की सम्भावना नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जिस जिस उद्देश्य अथवा उपादेय (साध्य) को छोड़कर कामना विषय को सिद्धि नहीं हो सकती है उन सब का कामना विधि के सहकारी रूप में अनुष्ठान कराती है। विधि एवं कामना रूप राग में भेद स्पष्ट है। इसके दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि सौवर्णे पीठे समुपविशेत् यह विधि है। इस स्थल में सौवर्णपीठ यदि नहीं रहे तब तो विधि उसका अनुष्ठापन नहीं करा सकती है। परन्तु कामना रूप राग रहे तब सौवर्णपीठ का उत्पादन करके भी उसमें पर पुरुष को उपवेशन कराती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विधि और राग में स्पष्ट भेद विद्यमान है। पूर्वोक्त युक्ति से यही सिद्ध हुआ कि आचार्य करण कामना आचार्य प्रेरण को द्वार बनाकर माणवक के द्वारा अध्ययन निष्पन्न कराती है, जिससे अध्यापन की सिद्धि हो जाय। फलित निष्कर्ष यही हुआ कि अध्यापन विधि साधिकार होने के कारण अध्ययन विधि वाक्य में अधिकारी की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है[1]।

प्राभाकरों का यह सिद्धान्त वेदान्ती विचार सह स्वीकार नहीं करते हैं। वेदान्तियों के मत में अध्ययन विधि नित्य अधिकार के साथ सम्बद्ध है।

१ वि०, पृ० ६१७

इसलिए नित्याधिकार के द्वारा साधिकार अध्ययन विधि ही अध्ययन में प्रवर्तन कराती है। इसलिए वेदान्ती अध्यापन-विधि-प्रयुक्त अध्ययन स्वीकार नहीं करते हैं।

इसमें जिज्ञासा होती है कि आचार्य-करणविधि साधिकार है और साधिकार होने के कारण उसमें प्रवर्तकत्व रहेगा——इसका प्राभाकरों ने विस्तृत रूप से उपपादन किया है। ऐसी स्थिति में प्रयुक्ति पक्ष का निराकरण करना तो उचित नहीं है। इसके उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि तमध्यापयीत इस वाक्य में आचार्यत्व क्या विधेय होने के कारण साध्य है ? अथवा विधि रूप होने के कारण साध्य है ? अथवा लिङर्थ नियोग का फल होने के कारण साध्य है ? इसमें प्रथम पक्ष अनुचित है। क्योंकि, पूर्वोक्त विधि का विषय उपनयन एवं अध्यापन है, इसलिए स्वयम् आचार्यत्व विधेय नहीं हो सकता है। द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है। कारण, विधि पद से अभिधेय विधि है आचार्यत्व नहीं है। इसलिए आचार्यत्व-विधि-पदाभिधेय विधि रूप हो सकता है। आचार्यत्व मात्र आत्मनेपद का अभिधेय है। इसलिए वह विधि नहीं है। इसी प्रकार तृतीय पक्ष नियोग का फल आचार्यत्व यह भी असमीचीन है। कारण, इस पक्ष में जिज्ञासा होती है कि आचार्यत्व मात्र नियोग का फल है या आचार्यत्व विशेष नियोग का फल है ? कारण, आचारान् ग्राहयति इस वाक्य के द्वारा आचार्यत्व प्रयोजक-कर्तृत्व निबन्धन है यह प्रतिपादन किया गया है और प्रयोजक कर्तृत्व निबन्धन होने से आचार्यत्व यह लौकिक पदार्थ है। अतः, यही सिद्ध होता है कि वह नियोग का फल नहीं हो सकता है, क्योंकि, नियोग का फल अलौकिक पदार्थ होना उचित है। यदि कहा जाय कि माणवक को विषय करने वाले उपनयन के द्वारा जन्य होने के कारण आचार्यत्व अलौकिक है। यह भी कथन अनुचित है द्वितीयं जन्म तत् यस्मात् स आचार्यः इस स्मृति वाक्य में माणवक को उपनयन संस्कार के प्रति जो लौकिक हेतु कर्तृत्व है वही आचार्य शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त

है यही पूर्वोक्त वाक्य से अवगत होता है। आचार्यत्व को यदि अलौकिक स्वीकार किया जाय तब किस प्रकार अष्टाध्यायी सूत्र में संमानन इत्यादि लौकिक अर्थ के साथ उसका पाठ किया गया है : आचार्यत्व के साथ पठित संमाननादि अलौकिक नहीं होने के कारण आचार्यत्व भी अलौकिक नहीं हो सकता है।

प्रश्न होता है कि हेतु कर्तृत्व मात्र लौकिक होने पर भी सांग उपनयन एवं अध्यापन कर्तृत्व रूप आचार्यत्व अलौकिक है इस प्रकार कथन भी असमीचीन है, आचार्यत्व को अलौकिक स्वीकार करने पर भी वह उपनयन रूप नियोग का फल हो जायगा और इससे अध्यापन विधि कैसे साधिकार हो सकती है ?

इस प्रसंग में ऋजुविवरणकार ने और भी स्पष्ट किया है—तमध्यापयीत इस स्थल में विधिबोधक प्रत्यय का श्रवण होता है और इससे नियोग का ज्ञान होता है नियोग ही विधि का अर्थ है यही प्रभाकर सिद्धान्त है ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त नियोग का नियोज्य जो पुरुष है उस पुरुष सम्बन्धि विशेषण की आकांक्षा होती है। इस अवस्था में स्वर्गकामो यजेत इस स्थल में स्वर्ग जिस प्रकार नियोग साध्य होने के कारण नियोज्य के विशेषण रूप में गृहीत होता है वैसे ही प्रकृत-स्थल में भी आचार्यत्व नियोग साध्य होने के कारण उसको नियोज्य विशेषण के रूप में ग्रहण करना उचित है। प्रभाकर मत में नियोग के साध्यत्व रूप में ही नियोज्य पुरुष का विशेषण ग्रहण किया जाता है, यागादिकरणकारक के फल रूप स्वर्गादि को नियोज्य पुरुष के विशेषण रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अर्थात् आचार ग्राहकत्व एवं उपनयन में हेतु कर्तृत्व आचार्य शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त नहीं हो सकता है, क्योंकि, तब तो विकल्प की आपत्ति हो जायगी, आचार ग्राहकत्व आचार्य शब्द का प्रवृत्ति निमित्त है या उपनयन में हेतु कर्तृत्व आचार्य शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त है ? इस विकल्प की प्राप्ति होगी।

आचार्यत्व में नियोज्य विशेषण रहने से मन्त्रादि अलौकिक साधनान्तरत्व का विधान है, अतः, आचार्यत्व अलौकिक है लौकिक नहीं। संमाननादि में मन्त्रादि

अलौकिक साधनान्तरत्व का विधान नहीं है, अतः, यह लौकिक है। अष्टाध्यायी सूत्र में आचार्य के साथ संमानन का सह पाठ मात्र है, इससे सह पठित संमानन में लौकिकत्व होने से आचार्यत्व में भी लौकिकत्व है यह बात नहीं है। किन्तु, यह कहना भी अनुचित है। पूर्व युक्ति से आचार्यत्व को अलौकिक स्वीकार करने पर भी उपनयन—नियोग का फल हो जायगा, परन्तु इससे अध्यापन विधि किस प्रकार साधिकार हो जायगी ?

उपनयन वाक्य में आचार्यत्व का श्रवण होने पर भी वह अध्यापन का फल हो जायगा। कारण, उपनयन अध्यापन का अंग है। तमध्यापयीत इस प्रकार एक प्रयोगता का ज्ञान होने से उपनीय अध्यापयीत इस रूप में विधि परिणत होगी। जो उपकारक होता है उसीको अंग कहा जाता है--यह भी कथन अनुचित है। कारण, अंग में जो फल श्रवण होता है वह अर्थवाद है यही मीमांसकों का सिद्धान्त है और इसका परिणाम यही होगा कि आचार्यत्व का नियोज्य पुरुष के विशेषण रूप में होना असम्भव हो जायगा। अंग फल जो अर्थवाद है उसमें कभी भी प्रधान विधि में अपेक्षित जो विधि पुरुष सम्बन्ध रूप अधिकार है उसके निमित्त अर्थात् विशेषण होने की कल्पना नहीं की जा सकती है और इससे आचार्यकरणकामी माणवकमुपनीय अध्यापयेत् इस प्रकार विधि की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है। इसमें पुनः जिज्ञास्य है कि अनधिकार अध्ययन का किसी प्रकार से अनुष्ठान नहीं हो सकता है। किन्तु यह सन्देह समीचीन नहीं है, उपनीत पुरुष का अध्ययन में अधिकार विद्यमान है। वाजसनेयी शाखा में (शुक्ल-यजुर्वेद) उपनयन को उपक्रम करके अध्ययन का विधान किया गया है। उक्त शाखा के उपनयन प्रकरण में अध्ययन विधि का उल्लेख मिलता है, इस प्रकार सभी स्मृतिओं में उपनीत होकर अध्ययन करेगा यही कहा गया है, इसलिए प्रदर्शित प्रकरण के बल से अध्ययन विधि साधिकार सिद्ध होती है। इसलिए अध्ययन विधि प्रयुक्त

ही अध्ययन का अनुष्ठान स्वीकार करना उचित है। यही पक्ष युक्ति संगत होने से अध्ययन का अनुष्ठान सिद्ध होने के लिए अध्यापन विधि में अधिकारी की कल्पना करना सर्वथा असमीचीन है। यह ज्ञातव्य है कि प्रभाकर तो अध्यापन विधि में अधिकारी की कल्पना नहीं करते हैं, क्योंकि, अधिकारी का उल्लेख तो कण्ठरव से ही किया गया है। यह बात तो सत्य है कि श्रुति में अध्यापन विधि के साथ अधिकारी का उल्लेख नहीं है। उपनीय तु यः शिष्यम् इत्यादि मनु वाक्य के द्वारा अध्यापन में अधिकारी का उल्लेख तो सुस्पष्ट मिलता है। परन्तु, यह भी कथन समीचन नहीं है। कारण, पूर्वोक्त मनु वाक्य तो उपनयन एवं अध्यापन का अनुवाद करके क्रियाद्वय का जो कर्ता है उसमें आचार्य संज्ञा का विधान करता है। प्रदर्शित मनु वाक्य में यत् शब्द और तत् शब्द का प्रयोग किया है इस प्रयोग में यत् शब्द के द्वारा अनुवाद और तत् शब्द के द्वारा विधान का निर्देश किया गया है। आशय यह है कि उल्लिखित मनु वचन स्वयं अथवा उक्त स्मृति के मूलीभूत श्रुति का अनुमान करके आचार्यकरणकामी को उद्देश्य करके कुछ भी विधान नहीं करता है। परन्तु, यत शब्द के साथ सम्बन्ध रहने के कारण उपनयन एवं अध्यापन के अनुवाद के द्वारा उसके कर्ता को आचार्य की संज्ञा का ही विधान करता है। तमाचार्यं प्रचक्षते उक्त श्लोक में यह कथन ही प्रमाण है। आचार्य संज्ञा का जो विधान किया गया है वह मनु-संहिता में वक्ष्यमाण आचार्य का नमस्कार एवं पूजादि का विधान है, उसका अंग (उपकारक) है और इससे आचार्य संज्ञा भी प्रयोजनवती है यही सिद्ध होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि आचार्यकरणविधि प्रयुक्त अध्ययन नहीं हो सकता है, वरन् अध्ययन विधि प्रयुक्त ही है।

ब्रह्मसाक्षात्कार में भामती एवं विवरणमत की समीक्षा

हमलोगों ने विवरणाचार्य के मतानुसार शब्दापरोक्षवाद का प्रदर्शन आगे किया है, उस प्रसंग में ब्रह्मसिद्धिकार मण्डन मिश्र के मत की भी समीक्षा की है, वहां उसका विश्लेषण दिया है। इस अध्याय में हमलोग ब्रह्मसाक्षात्कार के विषय में भामतीकार के मत का पर्यालोचन करेंगे। भामतीकार के मत में सर्वत्र मण्डन मिश्र के मत का प्रभाव सुस्पष्ट है। भामतीकार ने कहा है कि आत्मा में अज्ञान एवं अज्ञान का कार्य दुःखित्व शोकित्व कर्तृत्व भोक्तृत्व प्रभृति जो अपरोक्ष भ्रम है उनकी निवृत्ति करने के लिए त्वं पदार्थ एव तत्पदार्थ का ऐक्य-साक्षात्कार करना चाहिए। त्वं पदार्थ का तत्पदार्थ के साथ अभेद-साक्षात्कार से ही त्वं पदार्थ का दुःखित्व शोकित्वादिरूप में जो साक्षात्कार होता है उसकी निवृत्ति होगी। किन्तु प्रकारान्तर से पूर्वोक्त निवृत्ति सम्भावित नहीं है। त्वं पदार्थ का तत्पदार्थ के साथ जो ऐक्य साक्षात्कार है यह मीमांसा-सहित वेदान्त वाक्य रूप शब्द प्रमाण का फल नहीं है। कारण, शब्द का स्वभाव है परोक्ष-ज्ञान का जनक होना। ऐसी स्थिति में यह अपरोक्ष साक्षात्कार किसका फल है यह जिज्ञास्य है इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि यह प्रत्यक्ष-प्रमाण का फल है। कारण, प्रत्यक्षप्रमाण का ही साक्षात्कार रूप फल होता है। यह नियम स्वीकार नहीं करने से कुटज बीज से भी वटांकुर की उत्पत्ति की प्रसक्ति हो जायगी। अतः, साक्षात्कार को प्रत्यक्ष-प्रमाण का ही फल स्वीकार करना पड़ेगा। निःसन्दिग्ध जो तत्त्वमस्यादि वाक्यार्थ की भावना है, उसका पुनः - पुनः अभ्यास से परिपाक होता है। इसके द्वारा सहकृत होकर अन्तःकरण (अन्तरिन्द्रिय) जो प्रत्यक्ष प्रमाण है, वह अपरोक्ष त्वं पदार्थ का तत्पदार्थ के साथ अभेद-विरोधी

प्रतीयमान दुःखित्व शोकित्व एवं कर्तृत्वादि जो भ्रम है उसका निरसन करके तत्पदार्थ के साथ अभेद साक्षात्कार का उत्पादन करता है। केवल अन्तःकरण शुद्ध ब्रह्मसाक्षात्कार का अजनक होने पर भी भावना के द्वारा सहकृत होकर शुद्ध ब्रह्म साक्षात्कार का जनक होता है[1]।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि यह साक्षात्कार तो ब्रह्म स्वरूप है, इसलिए ब्रह्म का जिस प्रकार उत्पादन नहीं होता है उसी प्रकार इस साक्षात्कार का भी उत्पादन नहीं होना चाहिए। इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि यह साक्षात्कार ब्रह्मस्वरूप नहीं है। ब्रह्मस्वरूप होने से इसकी उत्पत्ति नहीं होती है। परन्तु यह बात नहीं है।

इसमें प्रश्न होता है कि तब इस साक्षात्कार का स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में वाचस्पतिमिश्र ने कहा है कि पूर्वोक्त साक्षात्कार अन्तः करण की ही वृत्ति है एवं उसका विषय ब्रह्म होता है[2]।

अब प्रश्न होता है कि ब्रह्म अन्तःकरण वृत्तिरूप साक्षात्कार का विषय होता है—यही स्वीकार किया जाय, तब तो ब्रह्म पराधीन प्रकाश हो जायगा और इसके फलस्वरूप ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व नहीं रहेगा। इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि तत्त्वमस्यादि वेदान्त वाक्य रूप शब्द ज्ञान जन्य जो

१ तस्मात् त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थत्वेन साक्षात्कार एषितव्यः। एतावता हि त्वंपदार्थस्य दुःखिशोकित्वादिसाक्षात्कारनिवृत्तिः, नान्यथा। नचैष साक्षात्कारो मीमांसासहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्, अपि तु प्रत्यक्षस्य, तस्यैव तत्फलत्वनियमात्! अन्यथा कुटजबीजादपि वटांकुरोत्पत्तिप्रसंगात्। तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्य तत्तदुपाध्याकारनिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयतीति युक्तम्।

(भा० पृ० ५५-५७)

२ नचायमनुभवो ब्रह्मस्वभावो, येन न जन्येत, अपि त्वन्तःकरणस्यैव वृत्तिभेदो ब्रह्मविषयः

(भा० पृ० ५७)

अखण्डाकार वृत्ति स्वीकार की गई है, उसके द्वारा प्रकाश्य होने पर भी ब्रह्म स्वयं प्रकाश नहीं होता है ऐसी बात नहीं है। इस प्रसंग में ध्यान रखना चाहिए कि अन्तःकरण जन्य जो अखण्डकार वृत्ति होती है उसमें शब्द अन्तः-करण का सहकारी है। इसलिए भामतीकार ने शब्दज्ञान पद का प्रयोग किया है। यद्यपि वाचस्पति के मत में शब्द स्वतः अपरोक्षज्ञान का जनक नहीं होता है, तथापि अपरोक्ष ज्ञान का जनक जो अन्तःकरण उसका सहकारी होता है। अब प्रश्न होता है कि ब्रह्म यदि शब्दज्ञान प्रकाश्य है तब वह कैसे स्वप्रकाश होगा? इसके उत्तर में कहा गया है कि वह सभी प्रकार की उपाधिओं से रहित ही है इसीलिए ब्रह्म स्वयं ज्योति अर्थात् स्वयं प्रकाश है। किन्तु शब्दज्ञान-जन्य अखण्डाकार वृत्ति से अपहित दशा में वह स्वयं प्रकाश है। यद्यपि उपहित अवस्था में भी ब्रह्म स्वरूप में वह स्वप्रकाश है, तथापि उपहितत्व विशिष्ट रूप में वह स्वयं प्रकाश नहीं है। किन्तु, पूर्वोक्त वृत्ति के द्वारा प्रकाश्य है[1]।

इसमें भाष्यकार की भी सम्मति है। आचार्य शंकर ने स्पष्ट शब्द में कहा है—वस्तुतः ब्रह्म के साथ अभिन्न आत्मा सर्वात्मना अविषय नहीं कहा जा सकता है। वह अहमाकार जो वृत्ति है उस वृत्तिरूप जो अहमित्याकार ज्ञान होता है उसका विषय होता ही है[2]।

इसमें प्रश्न होता है कि—साक्षात्कार को अखण्डाकार अन्तः करणवृत्ति-रूप कहा गया है, इसलिए इस साक्षात्कार का विषय जो ब्रह्म वह सर्वोपाधि-रहित होने के कारण स्वयं प्रकाशरूप है और जब वह स्वयं प्रकाश है तब उसको अन्त-करणवृत्ति से प्रकाश्य कैसे कहा जा सकता है? इसके उत्तर में भामती-कार कहते हैं कि अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी ब्रह्म

१ भा० पृ० ५७

२ न तावदयमेकान्तेनाविषयः अस्मत्प्रत्ययविषयत्वादिति।

(ब्रा० भा० पृ० २९२)

की सर्वोपाधि से विनिर्मुक्ति नहीं हो सकती है। कारण, पूर्वोक्त अखण्डाकार अन्तःकरणवृत्ति रूप जो साक्षात्कार है वह विनश्यद् अवस्थापन्न होकर ब्रह्मचैतन्य की प्रतिबिम्बग्राही उपाधि के रूप में विद्यमान है। यह उपाधि स्वविरोधी एवं पर-विरोधी हैं। यह उपाधि कैसे स्व और परविरोधी है यह बात आगे चल कर स्पष्ट की जायगी। यह उपाधि यदि चैतन्य की प्रतिबिम्बग्राही स्वीकार नहीं की जाय तब तो अन्तःकरणवृत्ति स्वयं अचेतन होने के कारण स्वप्रकाश नहीं हो सकती है और इसलिए ब्रह्म-साक्षात्कार भी सम्भव नहीं होगा। प्रश्न होता है कि अनुमित जो वाह्न इसकी भावना से जैसे वह्नि का साक्षात्कार प्रमाणान्तर के द्वारा संवाद (समर्थन) लाभ नहीं करता है। कारण, प्रमाणान्तर के साथ वह्नि साक्षात्कार का अभिसंवाद ही अनेक स्थल में उपलब्ध होता है। इस प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार में भी तो हो सकता है। किन्तु, यह कथन अनुचित है। कारण, अनुमिति में परोक्ष-वह्निविषयक साक्षात्कार उत्पन्न होने पर भी वह प्रमारूप नहीं है। वह साक्षात्कार प्रतिभास (भ्रम) रूप है। इसीलिए वह अप्रमाण है। वह्नि की अनुमिति के बाद एवं उस वह्निविषयक भावना के बाद जो वह्न्यर्थी प्रवृत्त होता है उस समय उसको वह्नि का अभाव ही देखने में आता है। इसलिए यह विसंवाद प्रयुक्त परोक्षानुमिति का विषय जो वह्नि उसी वह्नि का जो साक्षात्कार, जो प्रमा रूप में प्रतिभासमान होता है, वह प्रमाणान्तर के द्वारा उत्पन्न नहीं होता है--यह इसका निष्कर्ष है। परन्तु प्रकृत स्थल में ऐसी बात नहीं है। कारण, पूर्वोक्त स्थल में वह्नि स्वरूप परोक्ष है। प्रकृत में उपाधि कलुषित ब्रह्म स्वरूप जीव साक्षात्कारके पूर्व में भी अपरोक्ष है एवं इसमें किसी प्रमाणान्तर के साथ विसंवाद भी नहीं है[1]।

---

१ नचानुमितभावितवह्निसाक्षात्कारवत् प्रतिभासत्वेनास्याप्रमाण्यं, तत्र वह्निस्वलक्षणस्य परोक्षत्वात्, इह तु ब्रह्मरूपस्योपाधिकलुषितस्य जीवस्य प्रागप्यपरोक्षत्वात्। नहि शुद्धबुद्धत्वादयो वस्तुतस्ततोऽतिरिच्यन्ते, जीव एव तु तत्तदुपाधिरहितः शुद्धबुद्धादिस्वभावो ब्रह्मेति गीयते।

भा० पृ० ५७-५८

इसमें प्रश्न होता है कि मानलिया जाय कि ब्रह्मस्वरूप जीव साक्षात्कार के पूर्व भी अपरोक्ष है एवं इसमें प्रमाणान्तर के साथ विसंवाद भी नहीं है, परन्तु इस प्रकार ब्रह्मस्वरूप जीव की भावना से कैसे शुद्ध-बुद्ध-अद्वितीय - अखण्डानन्दरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होता है ? कारण, उपाधि - कलुषित ब्रह्म रूप जीव से यह शुद्ध ब्रह्म को भिन्न माना गया है। इसके समाधान में वाचस्पति कहते हैं कि शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव ब्रह्म पूर्वोक्त जीव चैतन्य से भिन्न नहीं है। जीव ही तत् तत उपाधि रहित होने से शुद्ध-बुद्ध-स्वभाव ब्रह्म रूप में गृहीत होता है। अब इसमें प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त उपाधि का विरह (अभाव) सत्य है या असत्य है ? यदि द्वितीय पक्ष स्वीकार किया जाय तब तो उपाधि विरह के असत्यत्व से उपाधि सत्य है यही पर्यवसित होगा एवं इसके फलस्वरूप वह ब्रह्म से अतिरिक्त होने के कारण ब्रह्माद्वैतवाद की हानि होगी और प्रथम पक्ष में भी उपाधि विरह के सत्य होने पर वह ब्रह्म से भिन्न होने के कारण ब्रह्म के अद्वैतत्व की हानि होगी। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि तत्-तत् उपाधि का विरह सत्य है, परन्तु, इससे अद्वैतत्व की हानि नहीं होगी। कारण, इस उपाधि का अभाव ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, अभाव अधिकरणस्वरूप होता है, यही अद्वैतवेदान्तिओं का सिद्धान्त है। निष्कर्ष यही हुआ कि जो व्यक्ति गान्धर्व-शास्त्रार्थ ज्ञान लाभ कर इसके पुनः पुनः अभ्यास के द्वारा उत्पन्न जो संस्कार, वही संस्कार जब श्रवणेन्द्रिय का सहकारी होता है तब पुरुष निषाद, ऋषभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धैवत, प्रभृति स्वर ग्राम (समूह) एवं इन सब स्वरों का आरोह एवं अवरोह रूप मूर्च्छना का साक्षात्कार करता है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में वेदान्त शास्त्रार्थ ज्ञान का जो अभ्यास है उसके द्वारा उत्पन्न जो संस्कार उस संस्कार को सहकारी रूप में लाभकर अन्तःकरण के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ ऐक्य साक्षात्कार करता है[1]।

---

१ नच तत्तदुपाधिविरहोऽपि ततोऽतिरिच्यते। तस्माद्यथा गान्धर्वशास्त्रार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारसचिवश्रोत्रेन्द्रियेण षड्जादिस्वरग्राममूर्च्छनाभेदमध्यक्षमनुभवति, एवं वेदान्तार्थज्ञानाभ्यासाहितसंस्कारो जीवस्य ब्रह्मभावमन्तःकरणेनेति।
भा० पृ० ५८

वाचस्पति मत का निष्कर्ष कल्पतरुकार ने विस्तृत रूप से प्रदर्शित किया है। इस विषय में इनका लेख बहुत ही सार - गर्भित एवं मार्मिक है, अतः इनका विवेचन प्रकृत में दे रहा हूं :—

इन्होंने विवरण मत का अनुकरण कर वाचस्पति के मत में पूर्व पक्ष का प्रदर्शन किया है। ब्रह्म अपरोक्ष वस्तु है, इसलिए, वेदान्त शब्द भी ब्रह्म विषयक अपरोक्ष ज्ञान का ही जनक होगा। यदि शब्द अपरोक्ष स्वाभाव ब्रह्म के विषय में परोक्ष ज्ञान का उत्पादन करेगा तब वह ज्ञान भ्रम रूप हो जायगा। इस पक्ष का भामती मत से समाधान करते हुए कहा है कि ब्रह्म स्वतः अपरोक्ष स्वभाव होने पर भी उसका पारोक्ष्य भ्रम-ज्ञान का विषय होता है। अपरोक्ष प्रमा - ज्ञान का जो कारण है उसके द्वारा ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। अन्तःकरण सोपाधिक आत्मविषयक अहमाकार वृत्ति को उत्पन्न करता है। इसलिए अन्तः-करण आत्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान का जनक है यही सिद्ध होता है। यह अन्तःकरण अथवा मन वेदान्त शब्द जनित जो ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान है उसकी जो धारा उसके द्वारा वासित (संस्कृत) होकर जीव की तत्पद का लक्ष्यभूत जो ब्रह्म-रूपता उसका साक्षात्कार कराता है। जैसे इन्द्रिय पूर्वानुभव संस्कार के द्वारा संस्कृत होकर तत्ता एवं इदन्ता उपलक्षित जो ऐक्य उसी ऐक्य विषय प्रतिभिज्ञा का कारण होता है, जिसका सोऽयं देवदत्त इत्यादि दृष्टान्त सर्वत्र प्रसिद्ध है। शब्द अपरोक्षप्रमा के कारण रूप में क्लृप्त नहीं है। यदि कहा जाय प्रमेय का अपरोक्ष्य योग्यत्व निबन्धन तद्विषयक प्रमा शब्द से उत्पन्न होने पर भी विषय महिमा से साक्षात्कार रूप हो जायगा। यह कथन समुचित नहीं है। कारण, देह से आत्मा का जो भेद उसको विषय कर जो अनुमिति उत्पन्न होती है इससे भी साक्षात्कारात्मक ज्ञान की उत्पत्ति प्रसक्त हो जायगी। कारण, देहात्म-भेद रूप विषय को अपरोक्ष बनने की योग्यता है। अब प्रश्न होता है कि ब्रह्मस्त्वमसि इत्यादि वाक्य जन्य साक्षात्कार का विषय विवरणानुसारी आचार्यों

ने कहा है, उसकी क्या गति होगी? इसके उत्तर में कल्पतरुकार ने कहा है कि उस स्थल में भी पूर्वोक्त वाक्य सहकृत इन्द्रिय से ही साक्षात्कार होता है। इसलिये अन्धे व्यक्ति को दशमस्त्वमसि इस वाक्य से परोक्ष ज्ञान ही होता है[१]।

प्रश्न होता है कि भावनाजन्य जो साक्षात्कार है वह तो कदाचिद् भ्रमरूप भी होता है। जैसे—विरही व्यक्ति जब कामिनी-विषयक भावना करता है तब उसको कामिनी का साक्षात्कार होता है। परन्तु यह साक्षात्कार भ्रम रूप है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी हो सकता है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म साक्षात्कार के विषय में उससे वैलक्षण्य है। कारण, यहां भावना का अन्तःकरण-साहित्य भी है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि भावनाजन्य कामिनी साक्षात्कार में भी तो अन्तःकरण विद्यमान है। इस पक्ष का निरसन करने के लिए कल्पतरुकार ने कहा है कि वेदान्त वाक्य जन्य जो ज्ञान है उसकी भावना से जो अपरोक्ष साक्षात्कार होता है वह कभी भी भ्रमरूप नहीं हो सकता है। कारण, इस भावना के द्वारा जन्य अपरोक्ष साक्षात्कार में वेदान्त वाक्य रूप मूल प्रमाण विद्यमान है। उसीको उपजीवन कर भावना - जन्य साक्षात्कार उत्पन्न हुआ है। इस साक्षात्कार का मूलीभूत वेदान्त वाक्य रूप प्रमाण का दृढ़रूप में अवस्थान करने के कारण भावना जन्य साक्षात्कार में भ्रमत्व की आशंका नहीं है[२]।

विवरणाचार्य ने जो कहा है कि परोक्षवाद स्वीकार कर निदिध्यासन के द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार स्वीकार करने से परतः प्रामाण्य स्वीकार की आपत्ति

---

१ स्वतोऽपरोक्षस्यापि ब्रह्मणः पारोक्ष्यं भ्रमगृहीतम्। तत्रापरोक्षप्रमाकरणादेव तत्साक्षात्कारः? अन्तःकरणं च सोपाधिके आत्मनि जनयत्यहंवृत्तिमिति सिद्धमस्यात्मन्यपरोक्षधीहेतुत्वम। तत्तु शब्दजनितब्रह्मात्मैक्यधीसन्तानवासितं तत्पदलक्ष्यब्रह्मात्मतां जीवस्य साक्षात्कारयति, अक्षमिव पूर्वानुभवसंस्कारवासितं तत्तेदन्तोपलक्षितैक्यविषय-प्रत्यभिज्ञाहेतुः, शब्दस्तु नापरोक्षप्रमाहेतुः स्वभावतः, प्रमेयापारोक्ष्ययोग्यत्वेन प्रमायाः साक्षात्कारत्वे देहात्मभेदविषयानुमितेरपि तदापत्तिः, दशमस्त्वमसीत्यत्रापि तत्सचिवादक्षादेव साक्षात्कारः, अन्धादेस्तु परोक्षधीरेव

कल्प० पृ० ५५-५६

होगी। निदिध्यासन जन्य साक्षात्कार वेदान्तशब्दावगत ब्रह्मात्मविषयक है। इसलिए निदिध्यासन-जनित साक्षात्कार में प्रामाण्य स्वीकार करने से परतः प्रमाण्य की आपत्ति विवरणाचार्य ने प्रदर्शित की है। इस विषय की विस्तृत आलोचना विवरण व्याख्यान के प्रसंग में ही प्रदर्शित किया जायगा। इसके उत्तर में कल्पतरुकार कहते हैं कि विवरणाचार्य का यह कथन अनुचित हैं। कारण, निदिध्यासन सहकृत अन्तःकरण जनित साक्षात्कार का आगे चलकर अपवाद न हो जाय इसी सम्भावित अपवाद (बाधित) का निरास करने के लिए उसके मूलीभूत वेदान्त वाक्य रूप में शब्द प्रमाण इसकी विशुद्धिताप्रयुक्त साक्षात्कार का अपवाद सम्भावित नहीं है—यही प्रकृत स्थल का निष्कर्ष है[१]।

इसमें प्रश्न होता है कि ब्रह्म साक्षात्कार मनःकरणक है यह किस प्रकार वाचस्पति मिश्र ने स्वीकार किया है? कारण, श्रुति स्वयं कहती है—यन्मनसा न मनुते। इसके उत्तर में कल्पतरुकार ने कहा है कि भामतीकार के मत में जो मनःकरणक साक्षात्कार के स्वीकार में न्याय (युक्ति) दिया गया है उसी का उपोद्बलन करने के लिए दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या इत्यादि श्रुतियों का प्रदर्शन किया गया है। अग्र्य अर्थात् सूक्ष्म मन के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इसलिए पूर्व पक्षी के द्वारा प्रदर्शित यन्मनसा न मनुते इस श्रुति को अनवहित मनोविषयक समझना चाहिए। तात्पर्य यही है कि एकाग्र मन से ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, अनवहित मन से ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। इसका अनुरूप दृष्टान्त भी दिया जा सकता है—तं त्वौपनिषदं इस वेदान्त वाक्य में औपनिषदं यह विशेषण देने के कारण यद्वाचानभ्युदितं यह श्रुति वाक्य विशिष्ट-शक्तिक-शब्द को विषय कर रहा है, जिस ब्रह्म को शब्द के द्वारा नहीं कहा गया है उसको उपनिषद् शब्द से किस प्रकार कहा जा सकता है, इस प्रकार आपाततः अनुपपत्ति होती है, इसलिए दोनों श्रुतियों में सामञ्जस्य स्थापन करने के लिए कहना पड़ेगा कि यद्वाचा इत्यादि श्रुति विशिष्ट शक्तिक जो शब्द है उसीको

१ कल्प० त० पृ० ५६

विषय कर रहा। इसका कारण औपनिषदं यह विशेषण है। इसलिए यद्वाचा इस शब्द में सामान्य शब्द से ब्रह्म का प्रतिपादन नहीं हो सकता है—इसी में इनका तात्पर्य है, परन्तु विशिष्ट शक्तिक शब्द के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है[१]।

विवरणाचार्य ने जो भ्रम की आपत्ति का प्रदर्शन किया है यह भी अनुचित है। साक्षात् अपरोक्षात् इस वेदान्त शब्द से साक्षात् अपरोक्षात् इत्याकारक ज्ञान उदित होता है, किन्तु, पूर्वोक्त वेदान्त शब्द से परोक्ष ब्रह्म का इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। शब्द - परोक्षवादी यह स्वीकार नहीं करते हैं कि यत्साक्षाद् अपरोक्षाद् यह वेदान्त शब्द ब्रह्म अपरोक्ष है इस प्रकार के ज्ञान का जनक है। पूर्वोक्त साक्षात् अपरोक्षात् इस आकार का ज्ञान शब्द रूप कारण से उत्पन्न हुआ है। शब्दरूप करण परोक्ष है, इसलिए करण स्वभाव प्रयुक्त पूर्वोक्त ज्ञान परोक्ष रूप में ही अवस्थान करता है। इसलिए यह ज्ञान भ्रमरूप नहीं है। निष्कर्ष यह है कि शब्द परोक्षज्ञान के कारण रूप में ही क्लृप्त है। इसलिए उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी परोक्ष रूप ही है[२]।

अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी ब्रह्म की सर्वोपाधि से विनिर्मुक्ति नहीं हो सकती है। इसका विश्लेषण कल्पतरु में शंका प्रदर्शन पूर्वक किया है। प्रश्न होता है कि यदि अन्तःकरण के द्वारा निरुपाधि ब्रह्म साक्षात्कार का विषय है, तब वह ब्रह्म उपहित कैसे हो सकता है? इसके उत्तर में कल्पतरुकार ने कहा है कि जो अन्तःकरण वृत्तिरूप निरूपाधि ब्रह्म को विषय करती है। वह अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि एवं अन्तःकरण

---

१ ननु ब्रह्मसाक्षात्कारस्य मनःकरणकत्वाभ्युपगमो यन्मनसा न मनुते प्रागुपन्यस्तन्यायोपबृंहितायां ... विशेषणाद्यद्वाचानभ्युदितमिति श्रुतिर्विशिष्टशक्तिकशब्दविषयेति भावः।

कल्प० पृ० ५६

२ कल्प० पृ० ५६

वृत्ति से भिन्न उपाधि की निवृत्ति के कारण रूप में उदय होती है। क्योंकि, स्वयं अन्तःकरण वृत्ति भी उपाधि ही है। इसलिए अपने द्वारा अपनी ही निवृत्ति कैसे कर सकती है।

भामतीकार ने इस अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि को विनश्यदवस्थ कहा है। इसका आशय यही है कि अन्तःकरण वृत्तिरूप उपाधि की सत्त्वदशा में ही स्वयं अपने विनाश के हेतु रूप में सन्निहित है। इसलिए निरूपाधि ब्रह्म को जो अन्तःकरण वृत्ति ने विषय किया वह स्वयं ही अपनी निवर्तक होने के कारण इसको विनश्यदवस्थ यह कहा गया है। निष्कर्ष यही है कि अनुपहित ब्रह्म अन्तःकरण वृत्ति का विषय नहीं हो सकता है। अन्तःकरण वृत्ति का विषय यदि ब्रह्म हो गया तब तो वह उपहित हो जायगा, यही अन्तःकरण रूप उपाधि ने जो ब्रह्म को विषय किया है यह चरम है, इसके बाद कोई भी अन्तःकरण वृत्ति नहीं होगी, यद्यपि अन्यत्र वृत्ति की निवृत्ति में वृत्त्यन्तर की अपेक्षा है। तथापि पूर्वोक्त ब्रह्म विषयिणी अन्तःकरण वृत्ति का निवर्तन कराने के लिए किसी वृत्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं है[1]।

भामती मत के मनःसाक्षात्कार पक्ष का निष्कर्ष कल्पतरुपरिमल में विस्तृत रूप से प्रदर्शित किया गया है परिमलकार का कथन है कि अभिव्यक्ति जो चैतन्य है उसके साथ अभिन्नत्व हो विषय का अपारोक्ष्य है। यह अपारोक्ष्य नित्याभिव्यक्त जो जीव चैतन्य है उसके साथ अभिन्न जो ब्रह्म है उसमें स्वाभाविक है। स्वभावतः अपरोक्ष वस्तु केवल ब्रह्म ही है।

---

१ ननु निरुपाधिब्रह्मसाक्षात्कारगोचरः कथमुपहितत्वेति, तत्राह .... निरुपाधि ब्रह्मेति विषयीकुर्वाणा वृत्तिः स्वस्येतरोपाधिनिवृत्तिहेतुरुदयते, स्वस्या अप्युपाधित्वाविशेषात्। तत स्वसत्तायां विनाशहेतुसान्निध्याद्विनश्य-दवस्थत्वम्। एवं च नानुपहितस्य विषयता न चोपाधेर्निवर्तकान्तरापेक्षेति भावः।

कल्प० • ५७

इसलिए श्रुति में कहा गया है कि **यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म**। घटादि का जो अपरोक्षज्ञान होता है वह घटादि का अपरोक्ष चैतन्य में अमेद-अध्यास-निबन्धन है। इसलिए घटादि का जो अपरोक्ष ज्ञान वह अपरोक्ष चैतन्य में अमेद अध्यास रूप उपाधि प्रयुक्त है। इसलिए लोकव्यवहार में यह घट प्रत्यक्ष है, मैं घट को प्रत्यक्ष कर रहा हूं इत्यादि व्यवहार पूर्वोक्त अमेद अध्यास रूप उपाधि को अवलम्बन कर सम्पन्न होता है। ज्ञान का जो अपरोक्ष है वह अपरोक्ष जो विषय है उसके व्यवहार के अनुकूल ज्ञानत्व ही है। अपरोक्ष विषय के व्यवहार के अनुकूल ज्ञानत्व को ज्ञान का अपारोक्ष्य कहा जाता है। यही अपारोक्ष्य ज्ञान अपने को एवं प्रकाशरूप सुखादिका एवं नित्यादि व्यक्त साक्षि-चैतन्य में अनुगत होकर स्वाभाविकरूप में अवस्थान करता है। चक्षुरादि प्रमाणजन्य अन्तःकरणवृत्ति में जो अपारोक्ष्य है, वह वृत्ति में अभिव्यक्ति जो चैतन्य है, उसके साथ अमेद अध्यास रूप उपाधि निबन्धन है। पूर्वोक्त वृत्तिरूप ज्ञान का जो अपारोक्ष्य है, वह स्वाभाविक नहीं है, अथवा इन्द्रिय-जन्यत्वादि उपाधि प्रयुक्त भी नहीं है। अपरोक्ष ज्ञान का विषय होना ही विषय का अपारोक्ष्य होता है—यह कहना अनुचित है। कारण, इस प्रकार कहने से अतिप्रसक्ति दोष हो जायगा। प्रत्यभिज्ञा के प्रत्यक्ष में तत्तांश के साथ इदन्तांश का अमेद भासित होता है। यह सोऽयं देवदत्तः इत्यादि स्थल में सर्वानुभवसिद्ध है। यह प्रत्यभिज्ञा अपरोक्ष ज्ञान है इसका जैसे इदमंश विषय हुआ वैसे ही तत्तांश भी विषय हुआ तत्तांश परोक्ष है इसीलिए तच्छब्द का प्रयोग किया गया है। यदि कहा जाय कि अपरोक्षज्ञान का विषय होना ही अर्थ का अपारोक्ष्य है, तब तो तत्तांश प्रत्यभिज्ञारूप अपरोक्ष ज्ञान का विषय होने के कारण वह भी अपरोक्ष हो जायगा। परन्तु यह तो सर्वानुभव विरुद्ध है। साक्षिभास्य सुखदुःखादि एवं शुक्ति रजतादि में अपरोक्ष व्यवहार होता है, परन्तु उसमें अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व निबन्धन अपारोक्ष्य नहीं है। सब का भासक साक्षी चैतन्य है। साक्षिभास्य विषय में जो अपारोक्ष्य व्यवहार

होता है वह अपरोक्षज्ञान विषयत्व प्रयुक्त नहीं है। अपरोक्षज्ञान-विषयत्व-निबन्धन विषय का अपरोक्ष्य स्वीकार करने से साक्षिभास्य शुक्ति रजतादि एवं सुख-दुःखादि में अव्याप्ति दोष आ जायगा।

इसका निष्कर्ष यह है कि तत्त्वमसि इत्यादि शब्द जन्य अपरोक्ष-जीव के साथ अभिन्न जो ब्रह्म उस ब्रह्म विषयक ज्ञान को भी अपरोक्ष मानना होगा। इसमें प्रश्न होता है कि तब तो अनुमिति-स्थल में अपरोक्ष पर्वत को लेकर अनुमित्या-त्मक ज्ञान भी अपरोक्ष हो जायगा। प्राचीनमत में साध्य विशिष्ट पक्ष अनुमेय है। इसलिए प्राचीनमतानुसार जैसे वह्नि का वैसे ही वह्नि विशिष्ट पर्वत का भी अनुमित्यात्मक परोक्षज्ञान स्वीकार किया जाता है[1]।

इसके उत्तर में अप्पयदीक्षित कहते हैं कि अनुमिति स्थल में भी पर्वतादि अंश को लेकर अनुमित्यात्मक ज्ञान का अपारोक्ष्य ही स्वीकार किया जायगा। इसमें इष्टापत्ति है। शब्दापरोक्षवादियों का यह कथन है कि प्रथमतः वेदान्तवाक्यश्रवणजन्य जहां ब्रह्मज्ञान होता है वहां शब्द का करणत्व निश्चित है। उक्त ब्रह्मज्ञान शब्द करणक है, इसलिए अविद्या का निवर्तक जो चरम साक्षात्कार है, वहां भी शब्द ही करण है और इससे लाघव यही होगा कि चरम साक्षात्कार स्थल में करणान्तर की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी। अन्यथा करणान्तर की कल्पना में गौरव हो जायगा। साक्षात्कार प्रमा होने के कारण साक्षात्कार प्रमा का करण ही प्रमाण होगा, इसलिए, शब्द करणक साक्षात्कार में शब्द को ही करणत्व स्वीकार करना न्यायतः प्राप्त है। यही शब्दापरोक्षवादियों का कथन है[2]।

---

१ अयमर्थः अभिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थस्यापरोक्ष्यं — ...नचैवं सति... ... अनुमितेरप्यपरोक्षपर्वतादावापरोक्ष्यं स्यादिति वाच्यम्।

कल्प० प० पृ० ५५

२ इष्टापत्तेरिति शब्द एवेत्येवकारेण प्रथमं श्रवणजन्ये ब्रह्मज्ञाने क्लृप्तकरणभावस्य शब्दस्यैवाविद्यानिवर्तके चरमसाक्षात्कारेऽपि करणत्वोपपत्तेर्न तत्र करणान्तरं कल्पनीयमिति सूचितम्।

कल्प० प० पृ० ५५

अब प्रश्न होता है कि अपरोक्ष जीव के साथ अभेद प्रयुक्त ब्रह्म अपरोक्ष होने पर एवं यत्साक्षात् आदि श्रुति के बल से भी ब्रह्म का अपरोक्षत्व सिद्ध होने पर भी ब्रह्म विषयक परोक्षत्वावगाहिज्ञान लोक सिद्ध है, यह अनुभव का विषय है। अतः, लोक सिद्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता है। निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म हमारे अपरोक्ष रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा है इस प्रकार का व्यवहार लोक में होता है। इसलिए वेदान्त शब्द से भी ब्रह्म विषयक परोक्षत्वावगाहिज्ञान परोक्ष ही रहेगा[1]।

इसके उत्तर में शब्दापरोक्षावादी कहते हैं—लोक व्यवहार के अनुसार श्रुति के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्म में परोक्षत्वावगाहि-भ्रमरूप ज्ञान होना युक्त नहीं है। लोक व्यवहार में पूर्वोक्त प्रकार का ज्ञान भले हो हो, किन्तु, श्रुति के द्वारा स्वभावतः अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में परोक्ष ज्ञान होना अनुचित है। कारण, यह ज्ञान भ्रम रूप हो जायगा। श्रुति वाक्य भ्रमज्ञान का जनक नहीं हो सकता है। परिमलकार ने पूर्वोक्त रूप से शब्दापरोक्षवादियों का मत प्रदर्शन कर भामती एवं कल्पतरु के मत का अवलम्बन कर उसका खण्डन किया है।

परिमलकार का कथन है कि यदि ब्रह्म स्वतः अपरोक्ष है तब तो तद्विषयक शब्दजन्य ज्ञान भी अपरोक्ष होगा, इस स्थिति में श्रवण जन्य ज्ञान भी अपरोक्ष ही होगा और इससे जिस पुरुष ने वेदान्त वाक्य श्रवण किया है, उसको अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में पारोक्ष्यभ्रम की अनुवृत्ति नहीं होगी। किन्तु ऐसा देखा जाता है कि श्रवण के बाद भी ब्रह्म में पारोक्ष्य-भ्रम अनुवृत्त होता है। इसलिए शब्दरूप प्रमाण से ब्रह्म विषयक अपरोक्ष ज्ञान होता है—यह स्वीकार नहीं किया

१ नन्वपरोक्षजीवाभेदतः श्रुतेश्चापरोक्षेऽपि ब्रह्मणि परोक्षत्वावगाहिज्ञानं लोकसिद्धमनुभूयते, अत एव निरतिशयानन्दरूपं ब्रह्म ममापरोक्षं न प्रकाशत इति व्यवहारः। एवं श्रुतितोऽपि ब्रह्मणि परोक्षत्वावगाहि परोक्षमेव ज्ञानं भवेदिति।

कल्प० प० पृ० ५५

जा सकता है। इसलिए ब्रह्म विषयक अपरोक्षसाक्षात्कार जब अनुभव सिद्ध है तब अपरोक्ष ज्ञान जनन समर्थ किसी अन्य से अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है यही स्वीकार करना पड़ेगा। अन्तःकरण का अपरोक्ष ज्ञान जनन सामर्थ्य क्लृप्त है। कारण, ब्रह्मलोक में जो भोगानुभव होता है उसको लक्ष्य करके श्रुति ने कहा है कि मन के द्वारा इन सब कामनाओं का साक्षात्कार करके वह आनन्द लाभ करता है। मन ही उसका दैवचक्षु है (मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके मनोऽस्य दैवं चक्षुः) यह श्रुति विशेष रूपसे अहमाकार वृत्ति रूप आत्म विषयक ज्ञान में भी अन्तःकरण का करणत्व क्लृप्त है यह बताती है। अहमाकार जो अन्तःकरण वृत्ति है वह आत्मज्ञानरूप है और इसमें करण अन्तःकरण है यह अद्वैतवेदान्तियों का सिद्धान्त है। इसलिए अन्तःकरण के साक्षात्कार के प्रति करण स्वीकार करना सर्वथा उपपन्न है चरमसाक्षात्कार को अगर शब्द जन्य भी स्वीकार किया जाय तब भी उस स्थल में अन्तःकरण का व्यापार अवश्य ही अपेक्षित रहेगा इसलिए शब्दापरोक्षवाद में एवं शब्द परोक्षवाद में भी जब अन्तःकरण को छोड़कर साक्षात्कार उत्पन्न नहीं हो सकता है, अथ च अन्तःकरण से ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, तब अन्तःकरण को ही ब्रह्मसाक्षात्कार का करण स्वीकार करना उचित है। अन्तःकरण जन्य ब्रह्मसाक्षात्कार के स्थल में ब्रह्म साक्षात्कार की उत्पत्ति की उपपत्ति कराने के लिए उस समय में भी तत्त्वमसि आदि वाक्य के पुनः अनुसन्धान की कल्पना करना गौरवदोष ग्रस्त है[१]।

---

१ यदि ब्रह्म स्वतोऽपरोक्षमिति तद्विषयशब्दजन्यमपि ज्ञानमपरोक्षं भवेत्, तदा श्रवणजन्यज्ञानमप्यपरोक्षमिति श्रुतवेदान्तस्य पुंसः तस्मिन्पारोक्ष्यभ्रमानुवृत्तिर्न स्यात्। अनुवर्तते च तदनन्तरमपि भ्रमयद्यातं ब्रह्मणि पारोक्ष्यमिति न शब्दादपरोक्षज्ञानम्। तस्मादपरोक्षज्ञानजननसमर्थादन्यत एव तदेष्टव्यम्। क्लृप्तं चान्तःकरणस्य तत्सामर्थ्यं, ब्रह्मलौकिकभोगानुभवे मनसैतान्कामान्पश्यन्रमते य एते ब्रह्मलोके मनोऽस्य दैवं चक्षुरिति श्रुतेः। विशिष्य चाहंवृत्तिरूपे

इसमें प्रश्न होता है कि तब तो तत्त्वमसि आदि वाक्य श्रवण निरपेक्ष होकर ही अन्तःकरण ब्रह्मात्मैक्य का अपरोक्ष करायगा। इसके उत्तर में कल्पतरुकार ने कहा है—अन्तःकरण शब्द जन्य जो ब्रह्मात्मैक्यज्ञान है उसकी जो धारा है उसके द्वारा संस्कृत होकर तत्पद का लक्ष्य जो ब्रह्म उसके साथ जीव की एकात्मता का साक्षात्कार कराता है, इसलिए यह स्पष्ट है कि तत्त्वमसि आदि वाक्य श्रवण निरपेक्ष होकर अन्तःकरण ब्रह्मात्मैक्य साक्षात्कार का जनक नहीं है। इसलिए गीता के व्याख्यान में भगवान शंकर ने कहा है—शास्त्र एवं आचार्यों के उपदेश एवं शमदमादि के द्वारा संस्कृत होकर मन आत्मदर्शन में कारण होता है। इसलिए अन्तःकरण से ब्रह्म साक्षात्कार भाष्यकार शंकराचार्य को भी अभिप्रेत है। इसमें पुनः प्रश्न होता है कि वेदान्त शब्द जब अपरोक्ष ब्रह्म विषयक है तब वेदान्त शब्द का अपरोक्ष साक्षात्काररूप प्रमा के हेतुत्व का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। वेदान्त वाक्य श्रवण जन्य अपरोक्ष ज्ञान रहने पर भी पारोक्ष्य भ्रम की अनुवृत्ति रह ही जायगी। कारण, असम्भावना विपरीत भावनादि दोष के द्वारा प्रतिबद्ध होने के कारण श्रवण जन्य अपरोक्ष ज्ञान भ्रम निवर्तन रूप कार्य में अक्षम रहेगा। इसके उत्तर में कल्पतरुकार ने कहा है कि शब्द का अपरोक्ष प्रमा हेतुत्व क्लृप्त नहीं है। इसका आशय व्यक्त करते हुए परिमलकार ने कहा है कि विवरणकार ने जो अभिव्यक्त चैतन्य के साथ अभिन्न होना ही विषय का अपारोक्ष्य है यह कहा है यह उचित नहीं है। कारण, वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य के साथ विषय का जो

स्वात्मज्ञानेऽपि तस्य करणत्वं क्लृप्तम्, चरमसाक्षात्कारस्य शब्दजन्यत्वाभ्युपगमेऽपि तस्य व्यापारोऽवश्यमपेक्षणीयः। तस्मादावश्यकेनान्तःकरणेनैव तदुत्पत्त्युपपत्तौ तदर्थं तत्त्वमस्यादिवाक्यस्य तत्कालेऽपि पुनरनुसंधानकल्पन एव गौरवमिति भावः।

कल्प० प० पृ० ५५

अभेद यह कैसा अभेद विवक्षित है? यदि यह विषय का मात्र स्वरूप सत्ता निबन्धन अभेद कहा जाय, तब तो चक्षु-इन्द्रिय जन्य जो अन्तःकरण वृत्ति है उसके द्वारा अभिव्यक्त पर्वतावच्छिन्न चैतन्य के साथ व्यवहित वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य का एवं व्यवहित वह्नि अवच्छिन्न चैतन्य के साथ व्यवहित वह्नि का स्वाभाविक आध्यासिक अभेद विद्यमान है। इसलिए व्यवहित वह्नि व्यक्ति का भी अपरोक्ष होना उचित है। किन्तु, यह अनुभव विरुद्ध है। इस प्रकार पूर्वोक्त अभेद को यदि ऐसा कहा जाय कि जहां भेद की जनक उपाधि निरस्त हो गयी है इस प्रकार अभिव्यक्त चैतन्य के साथ अभेद यहां विषय का अपारोक्ष्य है, तब तो अधिक दोष हो जायगा। कारण, अविद्यारूप उपाधि चरम साक्षात्कार से निवर्त्य है। यह अविद्यारूप उपाधि चरम साक्षात्कार की उत्पत्ति दशा में भी विद्यमान है। इसलिए ब्रह्म की चरम साक्षात्कार दशा में भी अपारोक्ष्य नहीं होगा, फलतः, ब्रह्म में भी अपारोक्ष्य का अभाव हो जायगा। पूर्वोक्त पक्ष स्वीकार करने से अभिव्यक्त अपरोक्ष चैतन्य ही नहीं है, जिसके साथ विषय का अभेद स्वीकार कर विषय की अपरोक्षता विवरणाचार्य स्वीकार करेंगे[1]।

यदि पूर्वोक्त अभेद को स्फुरद्रूप अभेद स्वीकार किया जाय और इससे अभिव्यक्त चैतन्य के साथ अर्थ का जो स्फुरद् अभेद है यही अर्थ का अपारोक्ष्य है तब भी अनिष्टापत्ति हो जायगी। कारण, चैतन्य में जिस प्रकार अन्तःकरण का अध्यास होता है, वैसे ही अन्तःकरण का धर्म होने के कारण दुःखशोकादि का भी अध्यास होता है, परन्तु उस स्थिति में अध्यास विषय दुःखशोकादि में

---

१ अभिव्यक्तचैतन्याभिन्नत्वमर्थापरोक्ष्यमिति तावन्न युक्तम् ... ... निरस्तभेदोपाधिकाभेदविवक्षायां चरमसाक्षात्कारनिवर्त्याविद्योपधेः चरमसाक्षात्कारोत्पत्तिदशायामपि सत्त्वेन ब्रह्मणस्तदानीमापरोक्ष्याभावापत्तेः।

कल्प० त० १० ५५-५६

सद्रूप ब्रह्म के साथ जो अभेद उसका स्फुरण नहीं होता है, कारण, सद्रूप ब्रह्म के साथ अभेद का स्फुरण होने से तो दुःखशोकादि का अध्यास निवृत्त ही हो जायगा। और इसका फल यही होगा कि अध्यास दुःखशोकादि का सद्रूप ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप में स्फुरण नहीं रहने के कारण दुःखशोकादि का अपारोक्ष्य के अभाव की आपत्ति हो जायगी। परन्तु दुःखशोकादि का अपारोक्ष्य सभी को अनुभव सिद्ध है। इस अनिष्टापत्ति के कारण विवरणाचार्य का अभिव्यक्त चैतन्य के साथ अभिन्नत्व ही विषय का अपारोक्ष्य है यह स्वीकार करना ठीक नहीं है। कारण, इस अभेद का जिस रूप में निर्वचन किया जाता है उसमें अनिष्टापत्ति की प्रसक्ति होती है[1]।

अर्थ का अपने व्यवहार के अनुकूल जो अभिव्यक्त चैतन्य है उसीके साथ यदि अभेद विवक्षित है तब तो दोष की प्रसक्ति होगी। कारण, अनुमेय वह्नि प्रभृति का व्यवहार के अनुकूल है जीव चैतन्य के साथ अभेद और इस स्थिति में जीव चैतन्य में पूर्वोक्त विश्लेषण के अनुसार वह्नि आदि का स्वाभाविक आध्यासिक अभेद मानना पड़ेगा और इसके फलस्वरूप परोक्ष वह्न्यादि की भी अपारोक्ष्य प्रसक्ति हो जायगी। यदि कहा जाय कि विषय के व्यवहार के अनुकूल जो अभिव्यक्त चैतन्य का अभेद है विषय में उसकी अभेदवत्ता ही विषय का अपारोक्ष्य है। किन्तु, इससे भी निस्तार नहीं है। कारण, तब तो घटाद्याकार अन्तःकरण वृत्ति के समुल्लास मात्र से ही वृत्ति के द्वारा चैतन्य अभिव्यक्त होने के कारण उस अभिव्यक्त चैतन्य के द्वारा ही विषय का व्यवहार सिद्ध हो जायगा और चैतन्य ही प्रकाश वस्तु है इतर में प्रकाश नहीं है। विषयाकार अन्तःकरण वृत्ति के समुल्लास मात्र से ही चैतन्य भी अभिव्यक्त हो जायगा और उसी के द्वारा घटादि पदार्थों का व्यवहार उत्पन्न होने से व्यवहार के लिए

१ स्फुरदभेदविवक्षायां ताद्धर्म्याध्यासविषये दुःखशोकादौ तदानीं सद्रूपब्रह्माभेदास्फुरणादापरोक्ष्याभावापत्तेः !

(कल्प० प० पृ० ५६)

चैतन्य के साथ अभेद अपेक्षित नहीं रहेगा और इसका फल यही होगा कि अभिव्यक्त चैतन्याभेदवत्ता विषय में स्वीकार करने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी[1]।

यदि कहा जाय कि विषयावच्छिन्न चैतन्य का उसके आवरण की निवृत्ति के अनुकूल जो चैतन्य के साथ अभेद है वही अभेदवत्ता विषय का अपारोक्ष्य है। किन्तु यह भी समीचीन नहीं होगा। कारण, तब यही होगा कि आवरण-निवर्तकत्व-ज्ञानाधीन-अपारोक्ष्य का ज्ञान होगा एवं अपारोक्ष्य ज्ञानाधीन आवरण-निवर्तकत्व का ज्ञान होगा, इसलिए ज्ञप्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायगा। अब यही सिद्ध हुआ कि पूर्वोक्त प्रकार से विवरणाचार्य का अभिप्रेत अर्थ का अपारोक्ष्य निर्वचन योग्य नहीं है। इस स्थिति में अर्थ के अपारोक्ष्य की अपेक्षा करके जो अपरोक्ष विषय के व्यवहारानुकूल ज्ञानत्व को ज्ञान का अपारोक्ष्य कहा गया है, यह निर्वचन भी युक्तियुक्त नहीं है। कारण, विवरणाचार्य अर्थ का जो अपारोक्ष्य है उसके निर्वचन में ही समर्थ नहीं हुए हैं, इसलिए अर्थ के अपारोक्ष्य घटित ज्ञानापरोक्ष्य का निर्वचन सर्वथा अयुक्त है। जब अर्थ के ही अपारोक्ष्य का निर्वचन विवरणरीति के अनुसार सम्भव नहीं है तब अपरोक्ष अर्थ के व्यवहारानुकूल जो ज्ञान है वह ज्ञानत्व ही ज्ञान का अपारोक्ष्य है, यह निर्वचन भी कैसे किया जा सकता है[2]।

---

१ स्वव्यवहारानुकूलं यदभिव्यक्तचैतन्यं तदभेदविवक्षायामनुमेयवह्न्यादिव्यवहारानुकूलेन जीवचैतन्येन प्रागुक्तरीत्यैवाभिन्नस्य वह्न्यादेरापरोक्ष्यापातात् स्वव्यवहारानुकूलो योऽभिव्यक्तचैतन्याभेदस्तद्वत्त्वविवक्षायां तत्तदाकारधीवृत्तिसमुल्लासमात्रादपि भवति व्यवहारे चैतन्याभेदस्यानपेक्षितत्वेनासंभवापत्तेः

कल्प० प० पृ० ५६

२ स्वावरणनिवृत्त्यनुकूले चैतन्याभेदवत्त्वविवक्षायामावरणनिवर्तकत्वग्रहणाधीनमापरोक्ष्यग्रहणम् आपरोक्ष्यग्रहणाधीनमावरणनिवर्तकत्वग्रहणमिति परस्पराश्रयापत्तेः एवमुक्तरूपार्थापरोक्ष्यनिर्वचनायोगात् तदपेक्षमपरोक्षार्थव्यवहारानुकूलज्ञानत्वं ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्वचनमप्ययुक्तम्।

अप्पयदीक्षित ने अपने सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान के अपारोक्ष्य का निर्वचन किया है उसके सिद्धान्तानुसार स्वाविषयविषयकज्ञानाजन्यज्ञानत्व ही ज्ञान का अपारोक्ष्य है। यह ज्ञनापारोक्ष्य अनुमित्यादि परोक्ष ज्ञान में नहीं है एवं प्रत्यक्षादि अपरोक्ष ज्ञान में है। इसकी योजना इस प्रकार है--स्व पद से अनुमित्यात्मक ज्ञान को ग्रहण किया जाय उसका अविषय हेतु है, उसी हेतु को व्याप्ति ज्ञान विषय करता है, उस व्याप्ति ज्ञान से जन्य ही अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है, अजन्य नहीं होता है। अनुमिति का विषय वह्नि है धूम रूप हेतु नहीं है, परन्तु यह हेतु व्याप्ति ज्ञान का विषय होता है, अनुमित्यात्मक परोक्ष ज्ञान व्याप्ति ज्ञान से जन्य है। व्याप्ति-ज्ञान-करणक-ज्ञान ही अनुमिति है, इसलिए अनुमित्यात्मक परोक्ष ज्ञान में ज्ञानापारोक्ष्य लक्षण संघटित नहीं होता है। इसी प्रकार वाक्यार्थक ज्ञान रूप परोक्ष ज्ञान में भी यह लक्षण संगत नहीं होता है। जैसे--स्व पद से वाक्यार्थक ज्ञान गृहीत हुआ, उसका अविषय जो पदावगाही पदार्थ विषयक ज्ञान जन्य ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, अजन्य नहीं होता है। इसलिए ज्ञानापारोक्ष्य का निर्वचन शब्दबोध रूप परोक्ष ज्ञान में अभिव्याप्त नहीं होता है। इस प्रकार यह ज्ञानापारोक्ष्य प्रत्यक्ष ज्ञान में विद्यमान है--स्व पद से घटादि प्रत्यक्ष ज्ञान गृहीत हुआ उसका अविषय-विषयक-ज्ञान जन्यता घटादि विषयक प्रत्यक्ष में नहीं है। अपि तु तादृश ज्ञानाजन्य ज्ञानत्व ही प्रत्यक्ष ज्ञान में है, कारण, घट प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान का अविषय नहीं होता है, इसलिए घट प्रत्यक्ष ज्ञान में स्वाविषय-विषयक ज्ञान के द्वारा जन्य ज्ञानत्व घट प्रत्यक्ष ज्ञान में रहने के कारण घट प्रत्यक्ष में ज्ञानापारोक्ष्य का जो रूप निर्वचन किया गया है वह विद्यमान है। पूर्वोक्त अपरोक्ष ज्ञान का निर्वचन लक्ष्य में अनुगत है। जैसे--चक्षुरिन्द्रिय जन्य घटाकार अन्तःकरण वृत्ति के द्वारा चैतन्य अभिव्यक्त होता है और यह चैतन्य अपरोक्ष है, इसमें पूर्वोक्त अपारोक्ष्य विद्यमान है। कारण, इस स्थल में स्वाविषय

विषयक ज्ञानाजन्य ज्ञानत्व विद्यमान है। कारण, प्रकृत स्थल में घटाकार अन्तःकरण वृत्ति रूप जो ज्ञान है उसका अविषय घट नहीं है, वरन् विषय ही है और एतादृश स्वाविषय-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञानत्व-वृत्त्यभिव्यक्त-चैतन्य में विद्यमान है। वर्तमान स्थिति में स्व पद से वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त चैतन्य गृहीत होगा, इसका विषय घटाकर वृत्ति होने से घट ही होगा, घट पूर्वोक्त वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य का विषय है अविषय नहीं है, वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य का अविषय पटादि होगा जिस आकार की वृत्ति नहीं हो रही है, इसलिए घटाकार वृत्ति-भिव्यक्त चैतन्य रूप प्रत्यक्ष ज्ञान में वृत्तिअभिव्यक्त चैतन्याविषय-विषयक-ज्ञानाजन्य ज्ञानत्व ही है। ब्रह्म स्वरूप चैतन्य नित्य होने के कारण अजन्य है, किन्तु वृत्ति अभिव्यक्त चैतन्य जन्य है यह मानकर भी स्वाविषय-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञानत्व-वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य में स्वीकार किया गया है। इस प्रकार नित्याभिव्यक्त साक्षिचैतन्यरूप अपरोक्ष में भी यह अपारोक्ष्य लक्षण अनुगत है। कारण, साक्षि-चैतन्य वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता है वह नित्य ही अभिव्यक्त है, इस लिए उसमें स्वाविषय-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञानत्व-रूप अपरोक्षत्व विद्यमान है। स्व पद से नित्याभिव्यक्त साक्षिचैतन्य का ग्रहण होगा एवं अविषय विषयक ज्ञाना-जन्य ज्ञानत्व नित्याभिव्यक्त रूप होने के कारण विद्यमान है। जो नित्याभि-व्यक्त चैतन्य है वह किसी से जन्य नहीं हो सकता है[२]।

अब यह प्रश्न होता है कि विशिष्ट ज्ञान विशेषण ज्ञान जन्य होता है यह सामान्य नियम है। विशेषण का ज्ञान नहीं रहने से विशिष्ट का ज्ञान नहीं हो सकता है। दण्डी पुरुष यह विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान दण्डकुण्डलोभयविषयक स्मृति से जन्य होता है पूर्वोक्त उभय विषय स्मृति

---

२ तस्मात्स्वाविषयविषयकज्ञानाजन्यज्ञानत्वं ज्ञानापरोक्ष्यमिति निर्दुष्टम्। तच्चाक्षुषादिवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्येषु नित्याभिव्यक्तसाक्षिचैतन्येषु चानुगतम्, अनुमितिशाब्दज्ञानादिष्वदश्च तत्तदावरणलिङ्गशब्दादिज्ञानजन्येष्वननुगतम्।
(कल्प० प० पृ० ५६)

प्रकृत विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण है। ऐसी स्थिति में पूर्वोक्त ज्ञानापारोक्ष्य का जो निर्वचन किया गया है उसकी अव्याप्ति हो जायगी। कारण, स्व पद से दण्डी पुरुष इस प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्रहण होगा और इस ज्ञान का अविषय हुआ कुण्डल तद् विषयक ज्ञान हुआ दण्डकुण्डलोभय विषयक स्मृति, इसके द्वारा जन्यत्व ही दण्डी पुरुष इस विशिष्ट प्रत्यक्ष में है अजन्यत्व नहीं है, इसलिए पूर्वोक्त स्वाविषय-विषयक-ज्ञानाजन्य-ज्ञानत्व रूप अपरोक्ष प्रकृत स्थल में नहीं रहने के कारण इस लक्षण की अव्याप्ति है। इसके परिहार करने के लिए परिमलकार ने कहा है कि वस्तुगत्या जो प्रत्यक्ष ज्ञान का अविषय है उस विषय का धर्म ही जिस ज्ञान की जनकता के अवच्छेदक कोटि में प्रविष्ट होता है उसके द्वारा अजन्यत्व ही स्वाविषय-विषयक-ज्ञानाजन्यत्व समझना चाहिए। पूर्वोक्त स्वाविषय-विषयक घटक जो स्वाविषयत्व धर्म उस धर्म से अवच्छिन्न विषय को होना चाहिए। स्वाविषय-विषयक का निष्कृष्ट अर्थ यही हुआ कि स्वाविषय-विषयत्वावच्छिन्नविषयकज्ञानाजन्यज्ञानत्व प्रकृत स्थल में पूर्वोक्त दण्डकुण्डलोभय स्मृति से जो दण्डी पुरुष यह प्रत्यक्ष होता है उस प्रत्यक्ष ज्ञान का अविषय और स्मृति का विषय कुण्डल है, उस कुण्डल मात्र को विषय करके पूर्वोक्त स्मृति पूर्वोक्त प्रत्यक्ष ज्ञान की जनक नहीं है, इसलिए दण्डी पुरुष इस प्रत्यक्ष में भी अपारोक्ष्य का लक्षण विद्यमान है[1]।

अब प्रश्न होता है कि ईश्वर ज्ञान उपादान विषयक अपरोक्ष ज्ञान है, इसलिए ईश्वर ज्ञान सभी जन्य पदार्थ का कारण है। प्रकृत स्थल में भी ईश्वरीयज्ञान स्वाविषय-विषयक ज्ञान हुआ है। स्व पद से जीव का प्रत्यक्षज्ञान गृहीत हुआ, उसका विषय है घटपटादि, ईश्वरीय ज्ञान उपादान विषयक होने के कारण स्वाविषय-विषयक उपादान विषयक ज्ञान जीव को नहीं हो सकता है, अतः ईश्वरीय ज्ञान स्वाविषय-विषयक-है एतादृश ईश्वरीयज्ञान-जन्यत्व ही जीव का

१ कल्प० प० पृ० ५६

अपरोक्ष ज्ञान है अजन्य नहीं है। अतः पूर्वोक्त ज्ञानापारोक्ष्य का निर्वचन अव्याप्ति दोषग्रस्त है। इतना ही नहीं ईश्वर का बहुस्यां प्रजायेय इस प्रकार संकल्प होता है इस संकल्प के अनुसार सृष्टि होती है। इसी तरह ईश्वर का इस प्रकार भी संकल्प हो सकता है कि यह अपरोक्ष्य ज्ञान इस जीव को हो जाय और इसके फलस्वरूप जीव के अपरोक्ष ज्ञान का कारण पूर्वोक्त ईश्वरीय संकल्प हो जायगा। इसका निष्कर्ष यही होगा कि जीव के अपरोक्ष ज्ञान में स्वाविषय-विषयक-ज्ञानजन्यत्व ही है। कारण, स्व पद से जीव का अपरोक्ष ज्ञान गृहीत होगा और उसका विषय होगा घट, पटादि अविषय होगा, ईश्वरीय संकल्पात्मक ज्ञान जो जीव के अपरोक्ष ज्ञान का कारण है और इसका फल यही होगा कि पूर्वोक्त अपरोक्ष ज्ञान में स्वाविषय-विषयक ज्ञानाजन्यत्व नहीं रहेगा अपि तु ईश्वरीय ज्ञानजन्यत्व ही रहेगा। पूर्वोक्त ईश्वरीय ज्ञान दो प्रकार से कारण हो सकता है:—

(१) ईश्वरीय ज्ञान उपादान गोचर ज्ञान है।

(२) ईश्वरीय ज्ञान संकल्पात्मक ज्ञान है।

इस आपत्ति के परिहार में परिमलकार ने कहा है कि समानाधिकरणत्व का ज्ञान के विशेषण रूप में निवेश करना चाहिए और इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त ज्ञानापारोक्ष्य का निर्वचन हो जायगा—स्वाविषय-विषयक-समानाधिकरण-ज्ञानाजन्यत्व। ईश्वरीय ज्ञानस्वाविषय विषयक होने पर भी इसमें जीवीय ज्ञान का सामानाधिकरण्य नहीं है। ईश्वरीय ज्ञान जीवीय ज्ञान की अपेक्षा व्यधिकरण है, इसलिए स्वाविषय-विषयक समानाधिकरण जो ज्ञान है, एतादृश ज्ञान के द्वारा अजन्य जो ज्ञान तादृश ज्ञानत्व ही ज्ञानापारोक्ष्य है। इस प्रकार विश्लेषण से ज्ञानापारोक्ष्य लक्षण में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि जहां कोलाहल हो रहा है वहां जिस शब्द का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो जाय इस प्रकार इच्छा है, उसी शब्द का प्रत्यक्षात्मक

ज्ञान हो सकता है। कारण, कोलाहल स्थल में जिस शब्द का प्रत्यक्षात्मक बोध होने की इच्छा नहीं होती है उस शब्द के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का होना सम्भव नहीं है। कोलाहल स्थल में बुभुत्सा का विषयीभूत जो शब्द है, उस शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान बुभुत्साजन्य ही स्वीकार किया जाता है। अथवा बुभुत्सा का मूलीभूत बोध विषयक इष्टसाधनता ज्ञान के द्वारा भी उत्पन्न होता है। इसलिए कोलाहल स्थल में बुभुत्सित शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह प्रत्यक्ष ज्ञान स्वाविषय-विषयक बुभुत्साजन्य है, बुभुत्साजन्य अथवा बुभुत्सा का मूलीभूत बोधविषयक इष्टसाधनता ज्ञानजन्य है। बुभुत्सा, बोध विषयिणी इच्छा है। बुभुत्सा का विषय बोध है। इसलिए बुभुत्सा अथवा बोध विषयक इष्टसाधनता ज्ञान ये दोनों ही स्वाविषय-विषयक ज्ञान हुए। कारण, स्व पद से शब्द का प्रत्यक्षज्ञान गृहीत हुआ है, उसका विषय शब्द है और बुभुत्सा का विषय बोध है, इसलिए कोलाहल स्थल में बुभुत्सित शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में स्वाविषय-विषयक-ज्ञानजन्यत्व रहने के कारण ज्ञानापारोक्ष्य की अव्याप्ति होने लगेगी[1]

इसके परिहार में अप्पयदीक्षित ने कहा है कि बोध विषयक इष्ट साधनता ज्ञान शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में कारण नहीं है। कारण, वह बुभुत्सा के द्वारा अन्यथा सिद्ध है। इसलिए पूर्वोक्त आपत्ति का कोई प्रसंग नहीं है। इतना ही नहीं कोलाहल स्थल में बुभुत्सा के द्वारा बुभुत्सित शब्द से भिन्न शब्द के ज्ञान में प्रतिबन्ध हो जाता है, इसके फलस्वरूप शब्द के प्रत्यक्ष ज्ञान में जो क्लृप्त कारण है उससे ही बुभुत्सित शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए कोलाहल स्थल में केवल बोध विषयक इष्ट साधनता ज्ञान ही नहीं बुभुत्सा भी शब्द के प्रत्यक्ष में कारण नहीं है। इसलिए निष्कर्ष यही हुआ कि ज्ञानापारोक्ष्य का जो विश्लेषण किया गया है वह सर्वथा निर्दुष्ट है।

१ कल्प० प० पृ० ५६

अब प्रश्न होता है कि पूर्वोक्त ज्ञानापारोक्ष्य का निर्वचन अतिव्याप्ति दोष दुष्ट है। कारण, इस प्रकार भी अनुमान किया जा सकता है कि व्याप्तिज्ञान-त्वावच्छिन्न सभी (पक्ष) अनुमिति का जनक है (साध्य) कारण, वह व्याप्ति ज्ञान है (हेतु)। इस अनुमिति में अपरोक्ष लक्षण में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण, पूर्वोक्त अनुमिति में सामान्यतः सभी व्याप्ति विषय है। इसमें अनुमिति का कारणीभूत जो व्याप्ति ज्ञान है उसका विषय है व्याप्ति, यह व्याप्ति-विषयक-त्व अनुमिति में रहने पर भी अनुमिति का कारणीभूत जो व्याप्ति ज्ञान है इस व्याप्ति ज्ञान के समान पूर्वोक्त अनुमितिरूपज्ञान प्रकृत हेतु एवं प्रकृत साध्य विशेष के द्वारा उपरक्त होकर व्याप्ति-विषयत्व अनुमितित्यात्मक ज्ञान में नहीं है और इसके परिणामस्वरूप पूर्वोक्त कारण प्रदर्शित अनुमित्यात्मक ज्ञान में स्वाविषय-विषयक ज्ञान जन्यत्व रहता है और इससे प्रदर्शित अनुमित्यात्मक परोक्ष ज्ञान में अपरोक्ष लक्षण का अतिव्याप्ति नहीं रहेगी।

पुनः शंका होती है कि प्रदर्शित ज्ञानापारोक्ष्य का निर्वचन अतिव्याप्ति दोष दुष्ट है। कारण, पूर्वोक्त विशेष अनुमिति में हेतुतावच्छेदक धर्म विशेष के द्वारा अवच्छिन्न जो हेतु है एवं साध्यतावच्छेदक धर्म विशेष के द्वारा अव-च्छिन्न जो साध्य है इस प्रकार हेतु विशेष एवं साध्य विशेष के द्वारा उपरक्त जो व्याप्ति ज्ञानत्वावच्छिन्न व्याप्ति-ज्ञान उन सभी व्याप्ति-ज्ञानों को पक्ष के अन्तर्गत ग्रहण करने से अतिव्याप्तिदोष की पुनः प्रसक्ति है। कारण, स्व पद से उक्त अनुमित्यात्मक ज्ञान को ग्रहण किया जाता है। पूर्वोक्त पक्ष का इस प्रकार निर्वचन करने से सभी अनुमिति ज्ञान का विषय हो गई, पक्ष अनुमिति का विषय है, पूर्वोक्त हेतुसाध्य विशेषोपरक्त सभी व्याप्तिज्ञान पक्ष के अन्तर्भूत होने के अनुमिति कारण के विषय हो गये और इससे स्वाविषय-विषयक ज्ञान प्रकृत स्थल में नहीं मिलेगा, इसलिए स्वाविषयक-ज्ञानाजन्यत्व प्रकृत अनुमान में रहने के कारण अपारोक्ष्य लक्षण की अतिप्रसक्ति हो जायगी।

इसके उत्तर में परिमलकार ने कहा है कि यथा श्रुत रूप में स्वाविषय विषयकत्व गृहीत नहीं किया जायगा, सामान्य धर्म मात्र के द्वारा अनवच्छिन्न रूप में जो स्व विषय नहीं है तद् विषयत्व ही स्वाविषय-विषयकत्व-घटक-स्वाविषय-विषयकत्व का अर्थ है और इसके फलस्वरूप पूर्वोक्त अनुमिति में हेतुतावच्छेदक एवं साध्यतावच्छेदक सामान्य-धर्म के द्वारा अवच्छिन्न होने के कारण अनुमित्यात्मक ज्ञान का विषय होने से सामान्य धर्म मात्र के द्वारा अनवच्छिन्न रूप में अनुमिति का अविषयत्व की स्थिति है इस प्रकार शब्द प्रमाण स्वाविषय विषयक ज्ञान से जन्य परोक्ष प्रमा को ही उत्पन्न करता है वह अपरोक्ष प्रमा का हेतु नहीं है[२]।

पूर्वोक्त भामती कल्पतरु एवं परिमल - वाचस्पति का मत सुस्पष्ट हो जाता है कि इनके मत में शब्द से अपरोक्ष ज्ञान नहीं माना जाता है वरन्, अन्तःकरण से ही अपरोक्ष ज्ञान होता है। भामतीकार ने कहा ही है कि वेदान्तार्थ ज्ञान के अभ्यास से उत्पन्न संस्कार जीव का ब्रह्म भाव अन्तःकरण से होता है। अन्तःकरण वृत्ति में ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

---

२ कल्प० पृ० ५६

शब्दापरोक्षमीमांसा

वेदान्त का अद्वितीय-अखण्ड-ब्रह्म में तात्पर्य है, यह पूर्वप्रकरण में विचार के द्वारा स्थिर हो गया है। सभी दोषों से निर्युक्त होने के कारण श्रेयः कामना करनेवाले इसी का आश्रयण करें। अस्तु,

अपरोक्ष ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक हो सकता है परोक्षज्ञान नहीं। वेदा-न्त- वाक्य शब्दरूप है। शब्दात्मक-वेदान्तवाक्य के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होगा, वह तो परोक्षात्मक ही रहेगा। इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर ही विषय का अपारोक्ष्य होता है। जैसे घट के साथ चक्षु का संयोग होने से घट का प्रत्यक्ष होता है। अपरोक्षज्ञान ही प्रत्यक्ष भ्रम का निवर्तक होता है। इन्द्रिय को ब्रह्म के साथ सन्निकर्ष होने पर ही ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान हो सकता है। अविद्या और अविद्यामूलक आत्मा में जो कर्तृत्वादि का अपरोक्ष अध्यास (भ्रम) है, उसकी निवृत्ति अपरोक्ष ब्रह्म से ही हो सकती है। अपरोक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्षभ्रमज्ञान का निवर्तक हो सकता है। प्रत्यक्षज्ञान अपरोक्ष भ्रम को दूर नहीं कर सकता है। शुद्ध-निर्विशेष-ब्रह्म को प्रत्यक्ष करनेवाली कोई इन्द्रिय नहीं है, जिससे निर्विशेष-ब्रह्म का प्रत्यक्ष हो सकता है, अतः अविद्यानिवृत्तिरूप प्रयोजन का सम्पादक यह ब्रह्मज्ञान सर्वथा व्यर्थ है। क्योंकि वेदान्त वाक्य के द्वारा अपरोक्षात्मक साक्षात्कार-ज्ञान कभी भी सम्भव नहीं है और ब्रह्म-साक्षात्कार के बिना अपरोक्ष अविद्या (अज्ञान) की निवृत्ति की संभावना ही नहीं है। दिङ्मोह होने पर परोक्ष ज्ञान के द्वारा इस अपरोक्ष-भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है।

इसी तरह अपरोक्ष-कर्तृत्व आदि भ्रम की निवृत्ति भी अपरोक्ष-अद्वय-ब्रह्म के ज्ञान से ही सम्भव है, परोक्षज्ञान से नहीं[१]

किसी व्यक्ति को अन्धकार से रस्सी में साप का भ्रम होता है, यह भ्रम (सर्प-ज्ञान) प्रत्यक्ष गोचर है। भ्रम के बाद उस भ्रान्त-व्यक्ति में भ्रमजन्य भागने आदि का प्रयास भी देखते हैं किन्तु, कोई आप्त-व्यक्ति यह कहता है— यह सर्प नहीं है, तब क्या है? रस्सी है इस वाक्य से इस पूर्वोक्त-प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति देखी जाती है। यदि इस आप्त-वाक्य से भ्रम की निवृत्ति नही मानी जाय तब यह सर्प नहीं है इस वाक्य के सुनने के बाद ही भ्रान्त व्यक्ति निर्भय कैसे हो जाता है? अतः, यह मानना पड़ेगा कि आप्त-वाक्य से प्रत्यक्ष-भ्रम की निवृत्ति होती है। प्रकृत-स्थल में भी तत्त्वमसि (तुम वही हो) आदि-वाक्यों के द्वारा अपरोक्ष-भ्रम की निवृत्ति मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

प्रकृत उदाहरण में यह विचारणीय है कि पूर्वोक्त आप्त वाक्य से भ्रम की निवृत्ति होती है या भय का अभाव होता है? सूक्ष्म-विचार करने से यही अवगत होता है कि यह सर्प नहीं है इस पूर्वोक्त-आप्तवाक्य में विश्वास होने से भय का ही अभाव होता है भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। प्रत्यक्ष भ्रम की निवृत्ति रस्सी का जो असाधारण-धर्म रस्सीत्व आदि है, उस असाधारण-धर्म के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती है। असाधारण-धर्म का ज्ञान उस रस्सी के प्रत्यक्ष के बिना कभी नहीं होता है, आप्त-वाक्य से असाधारण- धर्म का ज्ञान नहीं होता

१ दो प्रकार का भ्रम होता है एक वस्तु का असत्त्वापादक और दूसरा वस्तु का अभानापादक। प्रथमभ्रम की अपरोक्षात्मक शब्दज्ञान निवृत्ति पर भी अभानापादक-द्वितीय-भ्रम की निवृत्ति वस्तु के साक्षात्कारात्मक ज्ञान से ही हो सकती है।

भा० प० पृ० ४०२-४०२

है। रस्सी के असाधारण-धर्म का प्रत्यक्ष ज्ञान ही रस्सी में सर्प-भ्रम का निवर्तक है, भय को दूर करनेवाला आप्त-वाक्य नहीं है। प्रकृत में भी श्रुतियों में विश्वास होने के कारण श्रुतिकथित-अर्थ में समाश्वास भले ही हो जाय अविद्या भ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती है[१]। भ्रम की निवृत्ति साक्षात्कार से ही सम्भव है।

श्रुति के द्वारा अपरोक्ष-ज्ञान की ही आपत्ति होती है, यह स्वीकार किया जाय तब शब्द के द्वारा भ्रम की निवृत्ति मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होगी। श्रुति शब्दात्मक है, अतः, लोक सामान्य व्यवहार में शब्द के द्वारा अपरोक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति होती तो लोक-व्यवहार की मर्यादा का अतिक्रम न होने से शब्दात्मक-श्रुति के द्वारा भी अपरोक्षज्ञान स्वीकार किया जाता, किन्तु, लोक में शब्द के द्वारा परोक्षज्ञान की ही उत्पत्ति देखी जाती है, अपरोक्ष-ज्ञान की नहीं। श्रुति के द्वारा अपरोक्षज्ञान स्वीकार करने पर—वेदान्त वाक्य के श्रवण से ही ब्रह्म का साक्षात्कार हो जायगा, अतः, श्रवण के बाद विहित मनन और निदिध्यासन सर्वथा व्यर्थ हो जायगा। ब्रह्म साक्षात्कार रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही —आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यःश्रोतव्यः मन्तव्यः आदि श्रुति में श्रवण के बाद मनन और निदिध्यासन का विधान किया है।

भाष्यकार आचार्य शंकर ने अध्यासभाष्य में कहा है कि—अस्यानर्थहेतोः प्रहाणाय आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ताः आरभ्यन्ते (शां भा० पृ० ४८७) इसका आशय व्यक्त करते हुए विवरणभावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रम ने कहा है कि तत्त्वमसि आदि वेदान्तवाक्य के ज्ञान से आपाततः ब्रह्म के साथ आत्मा का ऐक्य साक्षात्कार उत्पन्न होता है। श्रवण एवं मनन आदि के द्वारा प्रतिबन्ध की

---

१ श्रुतिविश्रम्भाद् भवतु तदुक्तेऽर्थे समाश्वासः भ्रमस्तु न निवर्तत इति।
अ० रत्ना०, पृ० ४४

निवृत्ति होने पर वेदान्त वाक्य से सत्तानिर्णयरूप ब्रह्मात्मैक्यविषयक-अपरोक्षज्ञान होता है[1]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से तत्त्वमसि आदि से अपरोक्षज्ञान होता है यह कहा गया है। किन्तु शब्द से अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है, अतः, शब्दात्मक वेदान्त-वाक्य से अपरोक्षज्ञान किस प्रकार उत्पन्न हो सकता है ? इस ओर दृष्टिपात नहीं किया गया है। इस वेद में जिस प्रकार ज्योतिष्टोमादिवाक्य ज्योतिष्टोमादि-विषयक- परोक्षज्ञान का जनक होता है एवं प्रयुक्त लौकिक-वाक्य भी परोक्षज्ञान का ही जनक होता है। उसी प्रकार वेदान्त वाक्य के द्वारा भी परोक्षज्ञान की उत्पत्ति ही उचित है। अतः तत्त्वमसि आदि वेदान्त वाक्य आत्म-विषयक परोक्षज्ञान का ही जनक हो सकता है अपरोक्षज्ञान का नहीं।

इसी शंका को प्रकारान्तर से स्पष्ट करते हुए तत्त्वदीपनकार अखण्डानन्द ने कहा है—तत्त्वमसि आदि वाक्य से श्रवण (वेदान्त वाक्य-विचार) एवं मनन से पूर्व प्रथम जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह ज्ञान असम्भावना एवं विपरीतभावना से निर्मुक्त नहीं रहता है। अर्थात् वेदान्त वाक्य से प्रथमोत्पन्न ज्ञान का विषय अपरोक्षात्मक होने पर भी असम्भावना एवं विपरीतभावना के द्वारा अभिभूत रहता है। अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति का तात्पर्य प्रतिबन्धक-रहित अपरोक्षज्ञान की प्राप्ति है[2]। सन्देह नहीं कि तत्त्वदीपनकार का यह कथन पंचपादिकाकार पद्मपादाचार्य की उक्ति का संकलन मात्र है।

पंचपादिका में कहा गया है कि तत्त्वमसि वाक्य में त्वं पदार्थ जीव है तत् पदार्थ ब्रह्म है। इस ज्ञान में अनन्तदुःखों में अतिशय आनन्दरूप ब्रह्म

---

१ एवं प्रथममेवापाततः साक्षात्कारोत्पत्तावपि श्रवणमननादिभिः प्रतिबन्धनिवृत्तौ वेदान्तवाक्यात् सत्तानिर्णयरूपापरोक्षविद्योत्पत्तिः।

भा भा० प्र० पृ० ४०२-४०३

२ तत्त्वमस्यादिवाक्यादसम्भावना- विपरीत-भावनाभिभूतविषया विद्योत्पद्यते, तस्या आप्तिरप्रतिबन्धापरोक्षप्रत्ययोत्पाद इत्युक्तम्।

तत्त्वदी० पृ० ५८

नहीं हो सकता है। इस असम्भावना अथवा अब्रह्म ही मैं हूं इस विपरीत भावना के प्रतिबन्ध से फल की अप्राप्ति ब्रह्म में अनुभवसिद्ध है। जीव तत्स्वरूप-ब्रह्मता की असम्भावना एवं विपरीतभावना करता हुआ ज्ञान उत्पन्न होने पर भी निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर पाता है, जबतक तर्क से विरोध का निवारण कर ब्रह्मरूपता की सम्भावना अपने में नहीं कर पाता है, अतः, मनन से पूर्व वेदान्त-वाक्य से साक्षात्कारात्मक ज्ञान होने पर भी अप्राप्ति के समान है[1]। इसी पंचपादिका ग्रन्थ के आशय को संकलित कर तत्त्वदीपन में कहा कि अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का तात्पर्य उक्त-प्रतिबन्ध रहित ज्ञान का उत्पाद है[2]।

इस प्रकृतग्रंथ का विवरण प्रस्तुत करते हुए विवरणकार ने कहा है कि प्रमाणजन्य-अन्तःकरण-वृत्तित्व ही विद्या है, उस विद्या अथवा ज्ञान के द्वारा जो विषय का निश्चय होता है उसी को विद्या-प्राप्ति कहा जाता है। यह विद्या-प्राप्ति आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये इस शांकरभाष्य से तुलना योग्य है। घटादि-विषयक-ज्ञान उत्पन्न होने से ही वह अपने विषय घटका निश्चायक होता है, किन्तु ब्रह्मविद्या सहसा अपने विषय की निश्चायिका नहीं होती है, कारण, ब्रह्मविद्या का विषय (जीव ब्रह्म का ऐक्य) असम्भावना एवं विपरीतभावना से अभिभूत रहता है। असम्भावना का स्वरूप प्रकाश करते हुए कहा है कि प्रत्यग्-ब्रह्म एवं आत्मा (जीव) के ऐक्य की पुनः पुनः भावना करने से चित्त की एकाग्रतावृत्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार की एकाग्रता-वृत्ति-योग्यता जहां नहीं रहती है वहां चित्त में विषय की असम्भावना उत्पन्न होती है, अतः, एकाग्रतावृत्ति-योग्यता का अभाव ही असम्भावना है। शरीरादि में अभ्यासंस्कार-बाहुल्य ही विपरीत-भावना

---

१ तत्त्वमसिवाक्ये त्वं पदार्थो जीव. तत्पदार्थं ब्रह्मस्वरूपतामात्मनोऽसम्भावयन् विपरीतं च रूप मन्वानः समुत्पन्नेऽपि ज्ञाने तावत् नाध्यवस्यति यावत्तर्केण विरोधमपनीय तद्रूपतामात्मनो न सम्भावयति।

पं० पा०, पृ० ५०८

२ तत्त्वदी० पृ० ५०८

है। अपरोक्षज्ञान के कारण जो प्रमाण, उन प्रमाणों के द्वारा ज्ञातवस्तु में पूर्वोक्त असम्भावना एवं विपरीत-भावना रूप दो प्रकार के चित्त-दोष से अपरोक्ष ज्ञान का निश्चय नहीं हो पाता हैं। पूर्वोक्त-प्रतीति में दृष्टान्त स्वरूप यह कहा जा सकता है कि—वाराणसी प्रदेश में आर्द्र मरीचकी मंजरी अदृष्टपूर्व है। किसी दूर देश से कोई व्यक्ति मरीच-मंजरी वाराणसी में ले आता है। यह मरीच-मंजरी दृश्यमान होने पर भी आश्वास न रहने के कारण सहसा उसमें विश्वास उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार वेदान्त-वाक्य से अपरोक्ष-ब्रह्म विद्या उत्पन्न होने पर भी चित्त दोष के द्वारा प्रतिबद्ध रहती है। इस तरह प्रतिबद्ध अपरोक्षावभास निश्चयात्मक न होने से तर्क को सहायक रूप में अपेक्षा करता है। तर्क की सहायता लाभ कर ब्रह्म-विद्या अपने विषय का निश्चय कराती है[1]।

पूर्वोक्त शंका का निष्कर्ष यह है कि शब्द स्वभावतः परोक्षज्ञान का जनक होता है। वेदान्त वाक्यात्मकशब्द है, अतः, वेदान्तवाक्य से आत्मविषयक परोक्षज्ञान ही होगा, अपरोक्षज्ञान नहीं।

इसके समाधान में विवरणाचार्य ने कहा है—लोकव्यवहार में देखा जाता है कि (१) विषय की अपरोक्षता विषय का संविद् के साथ अभेद होने से रहती है।

(२) जहां विषय अव्यवहित रूप में अपनी संवित् का जनक होता है वहां अव्यवधान-निबन्धन ही संवित के साथ विषय का अपारोक्ष्य होता है। अव्यवधान रूप-विशेषण के प्रयोग का आशय यह है कि—अतीतादि विषय भी

---

१ चित्तस्य ब्रह्मात्मपरिभावनाप्रचयनिमित्ततदेकाग्रवृत्तियोग्यतोच्यते। शरीराद्याध्यास-संस्कारप्रचयः। — असंभावितविशेषणांशापरोक्षनिश्चयो नोत्पद्यत इत्यर्थः।
वि० पृ० ५०२

अपने संस्कार के द्वारा संवित् का जनक होता है। विषय का संवित् के साथ व्यवधान रहने पर विषय और संवित् के मध्य में संस्कार आ जाता है, ऐसे स्थल में व्यवधान रहने के कारण विषय का पारोक्ष्य ही रहता है अपारोक्ष्य नहीं। इसी विषय को सुस्पष्ट करने के लिए विवरण में अव्यवधान शब्द का प्रयोग किया है।

(३) प्रमाण[1]करण इन्द्रिय-सम्प्रयोग अर्थात् प्रमाण ज्ञान का करण जो इन्द्रिय है, उसके साथ विषय-संयोग-निबन्धन ही विषय की अपरोक्षता है। इन प्रदर्शित तीन कारणों से ही विषय की अपरोक्षता होती है। इनमें से किसी एक के भी न रहने पर अनुमेयादि विषय परोक्ष होता है[2]।

ब्रह्म ही सभी संवित् का उपादान है, अर्थात् अनात्म घटाद्याकार-अन्तःकरण परिणाम में प्रतिबिम्बित जो भिन्न-भिन्न संवित् है उनका बिम्बभूत-ब्रह्म ही उपादान है। घटाद्याकार-अन्तःकरण परिणाम में जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब होता है, उस प्रतिबिम्ब का बिम्ब स्थानीय ब्रह्म ही है। घटादि-विषयक संविदों का बिम्बस्थानीय ब्रह्म ही उपादान है। उपादान की उपादेय के साथ अभिन्नता होने के कारण ब्रह्म प्रतिबिम्बित-संवित् के साथ अभिन्न है—यही सिद्ध होता है। इसलिए वेदान्तवाक्यात्मक-शब्द प्रमाण से जो ब्रह्माकार अन्तःकरणवृत्ति उत्पन्न होती है, उसका भी उपादान संविद्रूप-ब्रह्म ही है। शब्दप्रमाणजन्य इस ब्रह्माकार संवेदन का बिम्बभूत ब्रह्म उपादान होने के कारण अभिन्न है। संवेदन के साथ अभिन्न होने से अथवा संवेदन का जनक होने से ब्रह्म प्रथमतः अपरोक्ष रूप में अवभासित होता है। पूर्व विश्लेषण से यह सिद्ध होता है

१ प्रमाणकारण इस विवरणवाक्य में प्रमाण पद भाव में ल्युट् प्रत्यय से सिद्ध होने से प्रमा अर्थ का बोधक है।

२ लोके तावद्विषयस्यापरोक्षता संविदभेदाद्वा विषयस्याव्यवधानतया स्वसंविज्जनकत्वाद्वा प्रमाणकरणेन्द्रियसंप्रयुक्तत्वाद्वा भवति। भा० भा० प्र०, ० ४०३पं

कि घटादिविषयक संवित् का बिम्ब-स्थानीय ब्रह्म ही उपादान-कारण है। ऐसी स्थिति में ब्रह्माकार-अन्तःकरण प्रतिबिम्बित स्वरूप संवित् का भी बिम्बभूत ब्रह्म ही उपादान होता है। इससे यही सिद्ध होता है कि सभी संविदों का उपादान ब्रह्म ही है।

यद्यपि शब्दप्रमाण परोक्षज्ञान का ही जनक होता है। तथापि स्वयं प्रकाश एवं अपरोक्ष आत्मा को विषय कर शब्दप्रमाण भी अपरोक्षज्ञान का जनक होता है। यहां विषय की महिमा ही अनेन्यसाधारण है। अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त में ज्ञान का परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व कारण-स्वभावनिबन्धन न होकर विषय-स्वभाव-निबन्धन ही है। यह सत्य है कि अद्वैत-वेदान्त मत में जैसा ब्रह्म ज्ञान का विषय होता है वैसा विषय अन्य किसी भी दर्शन में उपलब्ध नही है। ब्रह्म अपरोक्ष विषय है, अतः, इस ब्रह्म को विषय कर जिस प्रमाण से भी ज्ञान उत्पन्न होगा वह इस अपरोक्ष विषय की महिमा से ही अपरोक्ष रूप में प्रतीत होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि ब्रह्म का प्रथमतः अपरोक्षरूप में ज्ञान होने से पुनः मनन आदि का विधान अनर्थक हो जायगा।[१] इसके समाधान में विवरणाचार्य ने कहा है कि ब्रह्म का प्रथमतः अपरोक्षरूप में अवभासन होने पर भी भ्रान्तिप्रयुक्त परोक्षरूप में ज्ञान होता है इस भ्रान्ति का कारण ब्रह्म अतिशय सूक्ष्म है, अतः, चित्त की एकाग्रता नहीं हो पाती है। चित्त की अनेकाग्रता एवं मिथ्याज्ञान संस्कार रूप दोष की प्रतिबन्धकता से भ्रान्तिवश अतिसूक्ष्मब्रह्म वस्तु परोक्ष के समान अवभासित होता है।[२] अस्तु, फिर

१ ब्रह्मणः प्रथममपरोक्षतया प्रतिपत्तौ मननादिविधानमनर्थकम्।

त० दी० पृ० ५०८

२ चित्तस्यातिसूक्ष्मेऽनेकाग्रतादोषाद् विपर्ययसंस्कारदोषाच्च प्रतिबद्धं भ्रान्त्या परोक्षवदवभासते।

पंचपा० वि० पृ० ५०८-५०९

भी यह आशंका बनी रहती है कि ब्रह्म को अपरोक्षता कैसे सिद्ध होगी ? इसके समाधान में विवरणाचार्य का कथन है कि अपरोक्षज्ञान उत्पन्न कराने के लिए यज्ञ-दानादि, शमदमादि, निदिध्यासन एवं मननादि का श्रुति में विधान किया गया है। यज्ञादि के अनुष्ठान के द्वारा पापरूप प्रतिबन्ध विनष्ट होता है। श्रुति में कहा गया है कि---धर्मेण पापमपनुदति तपसा कल्मषमिति। शमदम आदि के अनुष्ठान से विपरीत प्रवृत्ति, एवं रागद्वेष रूप दोष निरुद्ध होता है। मनन द्वारा जीवाभिन्न ब्रह्म रूप प्रमेयादि का सम्भावनारूप गुण उत्पन्न होता है। ये गुण प्रदीप के समान है। मनन सन्दर्शित प्रमेयादिसम्भावनारूप गुण प्रदीप है और इस प्रदीप से चित्तेन्द्रिय निर्मल होती है। ब्रह्म अतिशय सूक्ष्म है। उस सूक्ष्मतमब्रह्म-विषयक जो निदिध्यासन उस निदिध्यासन की बहुलता से ब्रह्मात्मैकत्वविषयक एकाग्रवृत्तिरूप गुण चित्तेन्द्रिय में उत्पन्न होता है। चित्तेन्द्रिय में इस एकाग्रतागुण के उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त पारोक्ष्यविभ्रम के कारणभूत-प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो जाने से शब्द के द्वारा ही अपरोक्षनिश्चय कराने में वह कारण होता है[1]।

इस प्रसंग में विवरणकार ने चित्तेन्द्रियशब्द का प्रयोग किया है। इस प्रयोग में एक विशेष आशय निहित है। चित्त को इन्द्रिय कहकर यह आशय व्यक्त किया है कि चित्त शब्द का सहकारी होता है। चित्त शब्द का सहकारी बनकर अपरोक्षज्ञान का कारण होता है

लोकव्यवहार में देखा जाता है कि अतिसूक्ष्म वस्तु के निर्धारण में चित्त के एकाग्रताविशेष की अपेक्षा होती है। चित्त में एकाग्रताविशेष होने

---

१ तत्रापरोक्षज्ञानमुद्दिश्य यज्ञा— — शब्द एवापरोक्षनिश्चयनिमित्तं भवतीति गम्यते।

पंचपा० वि०, पृ० ५०९

पर ही अतिसूक्ष्म वस्तु का निश्चय होता है। चित्त में एकाग्रताविशेष न होने पर अतिसूक्ष्म वस्तु का निर्धारण नहीं होता है यह अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से विवरणकार के मत में ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रतिबन्धक के निवर्तन में चित्त की सहकारिता सिद्ध होती है और पंचपादिकाकार के मत में तर्क की सहकारिता कही गई है[१], इस तरह मूल और टीकाकार के मत में विरोध की उपलब्धि होती है। इस विरोध की आशंका की सम्भावना से ही तर्क शास्त्र का विश्लेषण करते हुए विवरणकार ने कहा है कि तर्कशब्द के द्वारा सभी प्रकार के प्रतिबन्ध का निराश करने वाला चित्त दर्पण कहा जाता है[२]। निष्कर्ष यह है कि तर्क शब्द सर्व प्रतिबन्धक-निराशक सर्वथा विशुद्ध-चित्त को अवगत कराता है। तर्क शब्द के द्वारा चित्त दर्पण को समझने का कारण यही है कि प्रतिबन्धनिवर्तनरूपगुण दोनों में समान है। तर्क शब्द का इस प्रसंग में गौण प्रयोग है।

भावप्रकाशिकाकार नृसिंहाश्रम ने तर्क शब्द के द्वारा विवरण में चित्त-दर्पण के ग्रहण करने में भिन्न आशय व्यक्त किया है। चित्तदर्पण का प्रतिष्ठा-हेतु तर्क है जो मनन शब्द के द्वारा कहा जाता है। चित्त दर्पण को ही तर्क नहीं कहा जाता है, कारण, चित्तदर्पण प्रतिबन्धक का निरासक नहीं है। यदि सर्वप्रतिबन्ध निरासक विशिष्टचित्त दर्पण को तर्क शब्द के द्वारा

---

१ तेन तत्स्वरूपप्रतिष्ठायै तर्कं सहायीकरोति।

पंचपा०, पृ० ५०२

१ तर्कशब्देन चैतादृशं सर्वप्रतिबन्धनिरासि चित्तदर्पणमुच्यते।

पञ्चपा० वि, पृ० ५०६

अभिधान किया जाय तब भी तो सर्वप्रतिबन्ध निरासक स्वरूप विशेषण अंश में ही तर्क पर्यवसित होगा[१] ।

भावप्रकाशिकाकार प्रतिबन्धनिरासकत्वविशिष्ट-चित्त-दर्पण को तर्क मानने के लिए तैयार नहीं है यह प्रतिबन्धनिरासकत्व अंश को ही तर्क के द्वारा अभिधान करना चाहते हैं चित्त को नहीं ।

प्रकृत में तर्क शब्द के द्वारा शक्ति एवं तात्पर्य के अवधारण हेतुरूप तर्क का ग्रहण क्यों नहीं होता है ?

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का आशय व्यक्त करते हुए नृसिंहाश्रम ने कहा है—शब्द का शक्त्यवधारण वाक्यार्थ अवबोध का जो कारण है उनमें प्रविष्ट है । इसी प्रकार तात्पर्यावधारण भी लक्षणा के द्वारा वाक्यार्थ-निर्णय के उपाय-कोटि में प्रविष्ट है, कारण, तात्पर्य की अनुपपत्ति ही लक्षणाबीज है । शब्द से अपाततः जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके पूर्व में जो तात्पर्य ज्ञान होता है, वह भी आपातरूप ही है, इसलिए पूर्वोक्त विचाररूप तर्क प्रतिबन्ध का निरासक भले ही हो किन्तु उसमें मननाख्यतर्क से वैलक्षण्य (भेद) सर्वथा सुस्पष्ट है ।

---

१ चित्तदर्पणस्य प्रतिष्ठाहेतुर्मननात्मकस्तर्क इत्यर्थः, न तु चित्तदर्पणमेव तर्कः तस्य प्रतिबन्धानिरासकत्वात्, विशिष्टस्य तस्य तर्कत्वमपि विशेषणांश एव पर्यवसन्नमिति भावः ।

भा० प्र० पृ० ४०८

२ ब्रह्मसाक्षात्कार में निम्नलिखित प्रतिबन्धक है—

(क) दुरित (कल्मष)

(ख) विपरीतप्रवृत्ति (रागद्वेष में प्रवृत्ति)

(ग) जीव और ब्रह्म के ऐक्य-विषय की असम्भावना ।

(घ) विपरीत भावना ।

इन प्रतिबन्धकों की निवृत्ति होने पर ही चित्त में एकाग्रता होती है ।

मननरूप तर्क चित्तदर्पण की एकाग्रता का हेतु है। यही करण है कि विवरणाचार्य ने कहा है कि विचाररूप जो तर्क है वह शब्द की शक्ति एवं तात्पर्य निर्णय में सम्भावना एवं विपरीतभावना का निरासक है-ऐसा तर्क प्रथमोत्पन्न शब्दज्ञान का साधन है। अतः मनन रूप तर्क से इसका वैलक्षण्य सुस्पष्ट[1] है।

शब्द को अपरोक्षज्ञान का साधन मानना सर्वथा लोक-विरुद्ध है, अतः, निदिध्यासन को ही अपरोक्षज्ञान का साधन स्वीकार करना समीचीन है। निदिध्यासन में अपरोक्षज्ञान-साधनता स्वीकार करने पर शब्द में लोकविरुद्ध अपरोक्षज्ञानसाधनता स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहना चाहते हैं कि वेदान्त शब्द जो ब्रह्म की अपरोक्षावगति का हेतु है, यह तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इस उपनिषद् में औपनिषद इस तद्धित प्रत्यय घटित प्रयोग के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। उपनिषद् में ही सम्यक् रूप से ज्ञात हुआ जो पुरुष यही तद्धित प्रत्यय का अर्थ है। अब प्रश्न होता है कि परोक्षज्ञान का कारण समझने के लिए तद्धित प्रत्यय का प्रयोग हुआ है। तद्धित प्रत्यय (अण्) का अर्थ विश्लेषण करने से परोक्ष ज्ञान या अपरोक्षज्ञान यह तो अवगत नहीं होता है[2]।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहना चाहते हैं कि अपरोक्ष स्वभाव जो वस्तु है उसका यदि परोक्षज्ञान होता है तो उसको भ्रम रूप ही मानना पड़ेगा। प्रकृत स्थल में शब्द को यदि परोक्षज्ञान का जनक स्वीकार किया जाय तब तो शब्द का प्रामाण्य ही नहीं रहेगा। इसलिये उक्त स्थल में शब्द को अपरोक्ष ज्ञान का हेतु ही स्वीकार करना पड़ेगा। अब निष्कर्ष यही हुआ कि पूर्व में ही वेदान्त वाक्य से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान प्रतिबन्धक की निवृत्ति हो

---

१ ननु विचाराख्यस्तर्कोऽत्र किमिति न गृह्यते ?

भा० प्र० पृ० ४०८

२ एवं च तं त्वौपनिषदम् इति तद्धितप्रत्ययेन ब्रह्मावगतिहेतुत्वं शब्दस्य दर्शितमुपपन्नं भवति।

वि० पृ० ४०९

जाने के बाद उत्तरकाल में निश्चल होता है। इस विषय पर नवीन आलोक संपात करते हुए भावप्रकाशिकाकार ने कहा है कि वाक्य को यदि परोक्ष ज्ञान का जनक स्वीकार किया जाय तब भी औपनिषद इस प्रयोग में तद्धित प्रत्यय के अर्थ ग्रहण में किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा। इस शंका को निरसन करने के लिए ही विवरणाचार्य ने कहा है कि अपरोक्ष अवगति ही सम्यक् अवगति है। शब्दजनित-ब्रह्मविषयक-ज्ञान यदि परोक्ष स्वीकार किया जाय तब तो ब्रह्म को भी परोक्ष स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा शब्द जनित ब्रह्मज्ञान का पारोक्ष्य उपपन्न नहीं होगा। विषय की महिमा से ही शब्द का पारोक्ष्य ओर अपरोक्ष्य उपपन्न होता है। विषय परोक्ष होने से ज्ञान भी परोक्ष होगा और विषय अपरोक्ष होने से ज्ञान भी अपरोक्ष होगा। अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में उपाधिरहित ब्रह्म परोक्षरूप में नहीं रह सकता है। इसलिए निरुपाधिक ब्रह्म विषयक ज्ञान को यदि परोक्ष स्वीकार किया जाय तब तो अपरोक्ष निरुपाधिक ब्रह्म रूप विषय के द्वारा वह ज्ञान बाधित हो जायगा। उपाधिरहित ब्रह्म स्वभावतः अपरोक्ष है। यदि शब्द इसका परोक्षज्ञान उत्पन्न करेगा तब यह ज्ञान अप्रमा हो जायगा। ब्रह्म-विषयक अपरोक्षज्ञान ही ब्रह्म विषयक सम्यक् ज्ञान है[२]। इसलिए, वेदान्तवाक्य [पक्ष] परोक्ष ज्ञान का जनक होता है (साध्य) कारण वह वाक्य है [हेतु] जैसे—वादि—प्रतिवादि—सम्मत-वाक्य परोक्ष ज्ञान का जनक होता है (दृष्टान्त) इस प्रकार अनुमान यदि पूर्वपक्षी

१ प्रथमोत्पन्नं शाब्दज्ञानमेव प्रतिबन्धविगमापेक्षया अपरोक्षावभासं न भवति।
वि० पृ० ५०९

२ शाब्दब्रह्मज्ञानस्य परोक्षत्वे ब्रह्मणोऽपि परोक्षत्वं वाच्यम्, अन्यथा तज्ज्ञानपारोक्ष्यानुपपत्तेः। न च निरुपाधिकं ब्रह्म परोक्ष (मस्ति) (मिति) तज्ज्ञानं विषयबाधादप्रमा स्यादिति अपरोक्षज्ञानमेव ब्रह्मणि सम्यग्ज्ञानं स्यादित्यर्थः।
भा० प्र० पृ० ४०९

करे तब यह अनुमान आगम के द्वारा बाधित हो जायगा। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि इस आगम का पूर्व में ही उल्लेख किया है। केवल इतना ही नहीं प्रदर्शित अनुमान प्रदर्शित प्रतिकूल तर्क के द्वारा भी बाधित है। बात यह है कि दशमस्त्वसि इत्यादि लोकिक वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक होता है यह प्रसिद्ध है। इसमें वाक्यात्वरूप हेतु है परन्तु परोक्षज्ञानजनकत्व रूप साध्य नहीं हे इसलिए व्यभिचार स्पष्ट है[१]।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि दशमस्त्वमसि इस वाक्य से जो अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है वह वाक्य की महिमा से नहीं, वहां तो इन्द्रिय ही अपरोक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि पूर्वोक्त दशम व्यक्ति आंख खोल कर अवस्थान कर रहा है इसमें तो कोई प्रमाण नहीं है, ऐसी स्थिति में प्रदर्शित स्थल में इन्द्रिय किस प्रकार अपरोक्ष ज्ञान की जनक हो सकती है? इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहना चाहते हैं कि उसकी आंख निमीलित रहने पर भी वक्ता के द्वारा कहने पर त्वगिन्द्रिय स्पर्श करने से बोद्धा को त्वगिन्द्रिय व्यापार द्वारा त्वाच प्रत्यक्ष हो सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि इस स्थिति में दशमस्त्वमसि इस शब्दश्रवण के पूर्व में भी तो त्वगिन्द्रिय व्यापार के द्वारा त्वाच प्रत्यक्ष सम्भावित हो है? तब पूर्वोक्त दशमस्त्वमसि इस वाक्य के उच्चारण की आवश्यकता ही नहीं है। पूर्वोक्त स्थल में अपरोक्ष ज्ञान कराने के लिए दशमस्त्वमसि इस वाक्य का उच्चारण किया गया है यह तो सर्व सम्मत है[२]।

इसमें पुनः प्रश्न होता है कि वाक्य सहकृत इन्द्रिय ही अपरोक्षज्ञान का उत्पादन करती है। कहने का आशय यह है कि इन्द्रिय से ही अपरोक्ष

१ भा० प्र० पृ० ४०९

२ भा प्र० पृ० ४०९

ज्ञान उत्पन्न होता है वाक्य उसमें सहकारी रहता है। शुद्ध वाक्य जन्य ज्ञान परोक्ष ही होगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि अपरोक्ष ज्ञान शब्द जन्य होता है इसमें किसी तरह का विवाद नहीं है। पुनः प्रश्न होता है कि प्रदर्शित स्थल में वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का कारण नहीं है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यापारवान् कारण को ही करण कहा जाता है जिस प्रकार दशमस्त्वमसि इत्यादि वाक्य में वाक्य व्यापारवान होने के कारण करण है वैसे ही प्रकृत स्थल में भी वाक्य को अपरोक्षज्ञान का करण समझना चाहिए। इस पर पूर्व पक्षी का कथन है कि हमलोगों ने जो वाक्य को इन्द्रिय का सहकारी कहा है उसका आशय यह है कि वाक्यार्थ ज्ञान सहकारी है वाक्य नहीं। वाक्य अन्यत्र कारण है या नहीं यह विषय प्रकृत में आलोच्य नहीं है। हमलोगों का मात्र यही कथन है कि वाक्यार्थ ज्ञान सहकृत इन्द्रिय दशमस्त्वमसि इत्यादि स्थल में अपरोक्ष ज्ञान की उत्पादक है।

विचारने पर यह भी कथन अनुचित प्रतीत होता है। कारण, इन्द्रिय जब घटादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करती है। वहां वाक्यार्थ ज्ञान की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न करती है। इन्द्रिय का घटादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न कराने में वाक्यार्थ ज्ञान सर्वथा अनपेक्षित है। यदि पूर्व पक्षी कहे कि प्रदर्शित ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है, विशिष्ट ज्ञान में विशेषण ज्ञान कारण होता है। प्रकृत स्थल में वाक्यार्थ ज्ञान विशिष्ट इन्द्रिय अपरोक्ष ज्ञान का कारण है, एवं वाक्यार्थ ज्ञान विशेषण होने से प्रदर्शित ज्ञान का कारण है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि सहकारी को विशेषण रूप में प्रवेश कराकर उसमें प्रदर्शित अपरोक्ष ज्ञान की जनकता स्वीकार की जाय तब तो उपायान्तर के द्वारा दशम व्यक्ति के ज्ञान से दशमोऽहं इस प्रकार के ज्ञान को प्रसक्ति हो जायगी। परन्तु यह तो पूर्व पक्षी को भी अभीष्ट नहीं है।

यदि पूर्वपक्षी कहें कि अनुमानादि उपायान्तर से जो दशमोऽहं ज्ञान हुआ वह तो परोक्षज्ञान है अपरोक्ष ज्ञान नहीं है। यह भी कथन अनुचित है। कारण, तब तो दशमोऽहं इस ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष भ्रम का उपादान कारण जो अज्ञान उसकी निवृत्ति नहीं होगी यह अनिष्ट प्रसंग होगा। इसलिए शब्द से ही वहां अपरोक्ष ज्ञान होता है यही स्वीकार करना उचित है। अतः, पूर्व प्रदर्शित अनुमान में वाक्यत्व हेतु का व्यभिचार सुदृढ़ है। कारण, दशमस्त्वमसि इत्यादि स्थल में वाक्यत्व हेतु हैं, परन्तु परोक्ष ज्ञान जनकत्व रूप साध्य नहीं है। लोक व्यवहार में यह भी देखने में आता है कि रत्न के साथ इन्द्रिय संयोग रहने पर भी उसमें यह रत्न है यह अपरोक्ष अवधारण नहीं होता है। इस स्थिति में रत्नतत्त्ववेत्ता यदि यह कहता है कि यह रत्न है तब इस वाक्य से रत्नतत्त्व का अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है[1]।

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि वेदान्त वाक्य ब्रह्म विषयिणी अपरोक्ष प्रमिति का जनक होता है एवं प्रतिबन्धक के अपसारण में मनन रूप अर्थ की अपेक्षा है। परन्तु इस प्रसंग में विवरणाचार्य ने एक भिन्न मत का प्रदर्शन भी किया है--इस मत का प्रतिपाद्य यह है कि शब्द का परोक्ष-ज्ञान-जनन स्वभाव है, इसलिए वेदान्त शब्द भी ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान का ही जनक होगा, किन्तु सहकारी की अपेक्षा करके वेदान्त वाक्य अपरोक्ष प्रमिति का हेतु होता है। इस मत का आशय स्पष्ट करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि प्रथमोत्पन्न वेदान्त वाक्यार्थ ज्ञान ही प्रतिबन्ध निवृत्ति की अपेक्षा करके ब्रह्म विषयक अपरोक्षावभास रूप नहीं होता है वरन् वेदान्त शब्द प्रथमतः ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान का उत्पादक होता है। इसके बाद पूर्व वर्णित चित्त दर्पण को सहकारी कार्य रूप में अपेक्षा करके द्वितीय अपरोक्ष ज्ञान का उत्पादन करता है।

---

१ भा० प्र० पृ० ४०९

इसमें प्रश्न होता है कि चित्त दर्पण ही तो द्वितीय अपरोक्ष ज्ञान के उत्पादन करने में समर्थ है इसमें शब्द का क्या उपयोग है? इसके उत्तर में उनलोगों का कथन है कि शब्द पूर्वोक्त यज्ञादि, शमादि, तद्धित-प्रत्यय, यज्ञेन, दानेन, तपसा इस प्रयोग की तृतीया विभक्ति, एवं शान्तो दान्त इत्यादि अधिकारिविशेषण सहकारी रूप में लाभ कर अपरोक्ष ज्ञान जनन में समर्थ होता है। पूर्वोक्त यज्ञादि का इस प्रकार विनियोग शब्द ही के द्वारा प्रदर्शित हुआ है, इस विनियोग सामर्थ्य से शब्द को यज्ञादि सहकृत होकर अपरोक्ष ज्ञान जनकत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इसमें प्रश्न होता है कि जिस शब्द का परोक्ष ज्ञान उत्पादन करना स्वभाव है वही शब्द सहकारी भेद मात्र से ज्ञानान्तर का जनक कैसे हो जायगा? सहकारी की अपेक्षा करके शब्द कैसे अपने परोक्ष ज्ञान जनन स्वभाव को छोड़ देगा? इसके उत्तर में इस सम्प्रदाय के आचार्य दृष्टान्त प्रदर्शन के द्वारा स्वमत का समर्थन करते हैं—जैसे विषय के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग अभिज्ञा रूप प्रत्यक्ष का उत्पादन करके पुनः पूर्वानुभव जनित संस्कार की अपेक्षा करके प्रत्यभिज्ञा को उत्पन्न करता है वैसे ही प्रकृत स्थल में भी समझना चाहिए। इसमें पुनः शंका होती है कि वस्तु जहां स्वभावतः अपरोक्ष है उस स्थल में उस वस्तु को विषय करके जो परोक्ष ज्ञान का जनक होगा वह कभी भी प्रमाण नहीं हो सकता है। यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि स्वयं प्रकाश ब्रह्म में परोक्षज्ञान भ्रम है। इसके उत्तर में इस अद्वैत सम्प्रदाय के आचार्यगण कहते हैं कि संवेदन स्वयं प्रकाश है तथापि पुरुषान्तर संवेदन का अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होता है वरन परोक्ष ज्ञान जनक अनुमान का ही विषय है[1]। इससे शंका होती है कि इन दोनों अद्वैत प्रस्थान के मतों में कौन सा

१ शब्द एव प्रथमं ब्रह्मणि परोक्षज्ञानमुत्पाद्य पुनः वर्णितचित्तदर्पणसहकारिकार-णापेक्षया द्वितीयमपरोक्षज्ञानमुत्पादयति। शब्दादीनां तद्धितप्रत्ययादिना

मत उपादेय है इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि उभय मत में ही ब्रह्म का अपरोक्ष्य प्रयत्नान्तर से ही लभ्य है। जो शब्दापरोक्षवादी हैं उनके मत में भी निश्चल अपरोक्षानुभव कराने के लिए पूर्वोक्त यज्ञादि एवं मननादि रूप तर्क के द्वारा चित्त में एकाग्रता सम्पादन करना अपेक्षित है। शब्द परोक्षवादी के मत में भी ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार कराने में चित्त दर्पण के सहकारी कारण की अपेक्षा है। इसका विस्तृत रूप से प्रदर्शन किया है। इस आशय को व्यक्त करने के लिए ही विवरणाचार्य ने कहा है कि उभयमत में ही भाष्यकार ने विद्या की जो प्रतिपत्ति कही है (आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये) यह अविरुद्ध है। इसका गम्भीर अभिप्राय व्यक्त व्यक्त करते हुए विवरणप्रमेयसंग्रह में कहा है कि शब्द से प्रथमतः चाहे अपरोक्ष अथवा परोक्ष ब्रह्म ज्ञान उत्पन्न होने पर भी यह ब्रह्म ज्ञान निश्चल अपरोक्ष अनुभव रूप में प्रतिष्ठालाभ नहीं करने के कारण यह (ब्रह्म--ज्ञान) प्राप्त होकर भी अप्राप्त के समान मालूम पड़ता है। उभय मत में ही निश्चल अपरोक्ष्य प्रयत्नान्तर लभ्य है। इसलिए पंचपादिकाकार ने शंकराचार्य की विद्या प्रतिपत्ति इस शब्द का गूढ अभिप्राय प्रदर्शन प्रसंग में कहा है कि वाक्य से आत्मैकत्व विद्या उत्पन्न होने पर भी अप्राप्त के समान रहती है। इसीलिए भाष्यकार ने विद्या शब्द के बाद प्रतिपत्ति शब्द का व्यवहार किया है। केवल विद्या शब्द प्रयोग से ही अभिमत प्रतिपादन नहीं हो सकता है। विद्या तो प्रथमतः शब्द से उत्पन्न हो सकती है, परन्तु उसकी प्रतिपत्ति के लिए प्रयत्नान्तर अपेक्षित है। केवल विद्या शब्द का व्यवहार

अपरोक्षज्ञाने विनियोगसामर्थ्यात्। यथा संप्रयोगोऽभिज्ञामुत्पाद्य पुनः पूर्वानुभवसंस्कारापेक्षया प्रत्यभिज्ञामुत्पादयति तद्वत्। न च स्वयम्प्रकाशे ब्रह्मणि परोक्षज्ञानं विभ्रमः। स्वयम्प्रकाशेऽपि पुरुषान्तरसंवेदने परोक्षानुमानदर्शनादिति।

भा० प्र० पृ० ४०९-४१०

करके भाष्यकार को संतोष नहीं हुआ इसलिए विद्या की प्रतिपत्ति शब्द का अधिक प्रयोग किया है। शब्दापरोक्षवाद एवं शब्दपरोक्षवाद इस उभय मत में ही प्रथमोत्पन्न विद्या की प्रयत्नान्तर के द्वारा प्रतिपत्ति कराने की आवश्यकता रह जाती है[1]।

अब प्रश्न होता है कि इन दोनों पक्षों में विवरणाचार्य कौन सा पक्ष सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं? इसके उत्तर में तत्त्वदीपनकार ने कहा है कि पूर्व प्रदर्शित शब्दापरोक्षवाद पक्ष ही विवरणाचार्य का अभिप्रेत है[2]।

भावप्रकाशिकाकार ने भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हुए द्वितीय मत की अवतरणिका में कहा है कि विवरणाचार्य अपना अनभिमत स्वयूथ्य का मत कह रहे हैं[3]।

इन दो मतों के प्रदर्शन का कारण क्या है इसका अभिप्राय विश्लेषण करते हुए ऋजुविवरणकार ने भिन्न मत ही प्रदर्शन किया है, उनका कथन है कि पूर्व मत में अपरितोष प्रयुक्त विवरणाचार्य ने पक्षान्तर का परिग्रहण नहीं किया है, परन्तु विषय की व्याप्ति प्रदर्शन के लिए ही पक्षान्तर की अवतारणा की है और यही आशय विवरणाचार्य ने सर्वथापि इस पद का प्रयोग करके व्यक्त किया है[4]।

अब प्रश्न होता है कि किसको सहकारी रूप में लाभ करने से शब्द प्रमाण से अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है? वेदान्त वाक्य से अपरोक्ष ज्ञान

---

१ प० पा०, पृ० १७२

२ संप्रति शब्दस्य परोक्षज्ञानजननस्वाभाव्याद् वेदान्तानामपि तथात्वम्, सह-कार्यपेक्षया चापरोक्षप्रमितिहेतुत्वमिति मतान्तरमुत्थापयति।
त० दी० पृ०५१०

३ स्वानभिमतं स्वयूथ्यमतमाह भा० पृ० ४०९

४ परमार्थतस्तु नायमपरितोषात् पक्षान्तरपरिग्रहः किन्तु विषयव्याप्त्यर्थ एव।
ऋ० वि०, पृ० ५१०

उत्पन्न होने में उपाय क्या है? कारण, द्वितीय मत में तो यह कहा गया है कि शब्द से ब्रह्म का परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है एवं सहकारी की महिमा से ब्रह्म का अपरोक्ष साक्षात्कार होता है। इसके उत्तर में पंचपादिकाकार ने कहा है कि अपरोक्षज्ञानावाप्ति का उपाय वेदान्त वाक्य में निर्दिष्ट किया गया है। शब्द जन्य ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के बाद शमदमादि की सहकारी रूप में अपेक्षा करके ही ब्रह्मविषयक अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

अब प्रश्न होता है कि विवरणाचार्य ने आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः इस श्रुति वाक्य के अनुसार आत्म-दर्शन = ब्रह्म साक्षात्कार में श्रवण अंगी है एवं मनन और निदिध्यासन उसका अंग है, यही कहा है, अद्वितीय ब्रह्म में वेदान्त वाक्यों को शक्ति एवं तात्पर्य का अवधारण ही श्रवण है। इस प्रकार श्रुत अर्थ का युक्ति के द्वारा अनुसन्धान करना मनन है, विजातीय ज्ञान का तिरस्कार कर सजातीय ज्ञान प्रवाह सम्पादन करना निदिध्यासन है[1]।

प्रश्न होता है कि श्रवण के उत्तरकालीन मनन एवं निदिध्यासन श्रवण का अंग उपकारक कैसे होगा? यदि श्रवण के ये दोनों अंग हैं तब इन दोनों को श्रवण के पूर्व में ही रखना चाहिए। इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कहना है कि व्रीहीन् प्रोक्षति इस स्थल में जैसे प्रोक्षण-याग स्वरूप का उपकारक होकर अंग है इसी प्रकार श्रवण का स्वरूप निष्पादक होकर प्रोक्षणादि के समान मनन निदिध्यासन स्वरूपोपकारी अंग नहीं हैं, परन्तु प्रयाजादियाग जिस प्रकार मुख्य स्वर्ग फल का उपकारक होकर अंग होता है, वैसे ही प्रकृत स्थल में भी मनन निदिध्यासन भी श्रवण का अंग है। निष्कर्ष यह है कि श्रवण का ब्रह्म

१ अद्वितीये ब्रह्मणि वेदान्तानां शक्तितात्पर्यावधारणं श्रवणम्, श्रुतस्यार्थस्योपपत्तितोऽनुसन्धानं मननम्, विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण सजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणं निदिध्यासनमिति विभागः। श्रवणोत्तरकालीनयोस्तयोः कथं श्रवणांगत्वमित्याशंक्य, न स्वरूपोपकारितयांगत्वं प्रोक्षणादिवत्, अपि तु प्रयाजादिवत्:
त० दी०, पृ० ३०

साक्षात्कार फल है और इस फल में मननादि भी उपकारक अंग हैं, अतः, फलोपकारक अंग होने से यह श्रवण के अंग है। श्रवण जिस फल को उत्पन्न करता उस फल की उत्पत्ति में उपकारक होने से ये दोनों श्रवण के अंग हैं[१]।

शब्द अपरोक्ष ज्ञान का कारण है यही विवरणाचार्य का मुख्य सिद्धान्त है और इसका फल यही हुआ कि श्रवण रूप विचार वेदान्त वाक्य की शक्ति एवं तात्पर्य निर्णय का कारण है। इसलिए वाक्यार्थ बोध का कारण होने से श्रवण प्रधान है और मनन एवं निदिध्यासन जिसका फल प्रतिबन्धक निवृत्ति मात्र है वे भी कथंचित फलोत्पत्ति में उपकारक होने के कारण अंग है। इस विषय का निरूपण पूर्व में विस्तार से किया गया है। मण्डन मिश्र इस मत को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहना चाहते हैं कि मनन एवं निदिध्यासन को श्रवण के प्रति जो अंगत्व स्वीकार किया गया है वह अंगत्व किस प्रकार संभव हो सकता है? कारण, श्रवण, शक्ति एवं तात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्द का ब्रह्म में अवधारण रूप है। इससे आत्म विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् अर्थ सम्भावना का हेतुभूत जो युक्ति समूह है उसका पर्यालोचन करके उसके द्वारा ब्रह्म विषयक ज्ञान की आवृत्ति (पुनः पुनः अनुसन्धान) उत्पन्न होती है। इसके बाद शक्तितात्पर्यावधृत वेदान्त वाक्य रूप शब्द, एवं युक्ति के द्वारा सम्भावितत्व इन दोनों के द्वारा परोक्ष रूप में निश्चित होने पर भी केवल ब्रह्म विषयक एकाकार चित्त का समाधान रूप निदिध्यासन उत्पन्न होता है। इसलिए निदिध्यासन स्वरूप का उपकारी होने के कारण श्रवण एवं मनन दोनों निदिध्यासन के अंग अवगत होते हैं। इसलिए मनन एवं निदिध्यासन को श्रवण का अंग कहना उचित नहीं है। निष्कर्ष यह है कि जब निदिध्यासन के बाद ही ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल उदय होता है तब निदिध्यासन को ही अंगित्व एवं श्रवण मनन को निदिध्यासन का उपकारक होने के कारण निदिध्यासन का अंगत्व मानना ही उचित है।

१ वि०, पृ० ४१०

इसके समाधान में विवरणाचार्य कहना चाहते हैं कि यहां दो प्रकार का विकल्प सम्भावित है, शब्द स्वतः परोक्ष ज्ञान का जनक है इस पक्ष को आश्रयण कर क्या पूर्व पक्षी निदिध्यासन का अंगित्व स्वीकार करना चाहते हैं? अथवा शब्द का अपरोक्ष ज्ञान जनकत्व एवं प्रतिबन्ध-निरास में जो सहकारी की अपेक्षा है उस सहकारित्व को अंगत्व स्वीकार करना चाहते हैं? इस सहकारित्व की अपेक्षा कर निदिध्यासन को अंगित्व स्वीकार करना चाहते हैं? इसमें प्रथम पक्ष असमीचीन है। जिस पक्ष में शक्ति तात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्द का अवधारण रूप श्रवण प्रथमतः ब्रह्म विषयक परोक्ष ज्ञान उत्पादन करता है, इसके बाद मनन एवं निदिध्यासन रूप संस्कार विशिष्ट अन्तःकरण की अपेक्षा कर पूर्वोक्त श्रवण ब्रह्म विषयक अपरोक्ष ज्ञान का उत्पादन करता हैं, उस पक्ष में ब्रह्म विषयक परोक्षज्ञान जो शक्ति तात्पर्य विशिष्ट तात्पर्यावधारणरूप श्रवण से उत्पन्न हुआ, वह पूर्वोक्त निदिध्यासन का उपकारी होकर अंग हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि शब्द से प्रथमतः परोक्षज्ञान की उत्पत्ति-पक्ष में श्रवण निदिध्यासन का अंग हो सकता है। परन्तु, जिस पक्ष में तात्पर्य विशिष्ट शब्दावधारण रूप श्रवण से अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है उस पक्ष में मनन एवं निदिध्यासन श्रवण का फलोपकारी अंग होता है। सार यह है कि शब्द से प्रथमतः अपरोक्षज्ञान उत्पन्न होता है इस पक्ष स्वीकार पक्ष में श्रवण ही अंगी है और मनन एवं निदिध्यासन उसका अंग है[१]।

---

१ प्रयाजादि अनुष्ठान जो दूर से स्वर्गरूप फललाभ में उपकारक होता है उसको आराद् उपकारक अंग कहा जाता है। इसीको फलोपकारी अंग के नाम से भी कहा जाता है। मीमांसकों की परिभाषा में इसीको अर्थ-कर्म भी कहा गया है। जहां जो कारण फल का उत्पादन करता हैवहां वही पूर्वोक्तअंग अथवा उपकारक इतिकर्तव्यतारूप से गृहीत होता है। इतिकर्तव्यता का अर्थ है व्यापार और व्यापारवान् असाधारण कारण ही करण कहा जाता है। तेषां

अब यह विचारणीय है कि शब्द से अपरोक्षज्ञानरूप फल का उदय स्वीकार करने पर भी श्रवण एवं मनन निदिध्यासन का अंग क्यों नहीं होगा ? यदि कहा जाय श्रवण एवं मनन निदिध्यासन का अंग हो जायगा, तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कहते हैं तब श्रवण मनन एवं निदिध्यासन की समान प्रधानता स्वीकार करना उचित है।आशय यह है कि श्रवण मनन एवं निदिध्यासन ये तीनों परस्पर सन्निपतित होकर जब अपरोक्ष ज्ञान का जनक होता है तब इन तीनों में किसी प्रकार का विशेष न होने के कारण इन तीनों का सामान्य रूप से प्राधान्य हो जाता है। सन्निपात्योपकारक अंग में जो न्याय प्रवृत्त होता है उसी के अनुसार प्रकृत स्थल में भी इन तीनों को भी सन्निपात्योपकारक अंग कहा गया है। अथवा दर्शपूर्णमास जैसे तुल्यरूप से स्वर्ग का साधन होता है—स्वर्गोत्पत्ति में जैसे इन दोनों का समान प्राधान्य है वैसे ही श्रवण मनन एवं निदिध्यासन इन तीनों का ब्रह्म-ज्ञान की उत्पत्ति में समान प्राधान्य क्यों नहीं होगा ? दर्शपूर्णमास दोनों प्रधान होने के कारण अंग नहीं हो सकते हैं। सन्निपतित होकर या आरात् (दूर से) उपकारकत्व रूप जो अंग का धर्म है यह दर्शपूर्णमास में सम्भावित नहीं है, इसलिए श्रवणादि के समान प्राधान्य आपादन करने के लिए दर्शपूर्णमास को दृष्टान्त रूप में पूर्वपक्षी ने रक्खा है। विवरणाचार्य ने श्रवण के अंगित्व का उपपादन कर पूर्वोक्त आशंका का परिहार कर रहे हैं[1]। श्रवण का अंगित्व प्रतिपादन करने के लिए श्रवण का विषय जो शब्द-प्रमाण उसी की अंगिता का प्रतिपादन पहिले किया है। शब्द

करणभूतानां द्विविधान्यंगानि निरूपितानि—अर्थकर्माणि संस्कारकर्माणि चेति फलोपकार्यंगानि प्रयाजादीन्यारादुपकारकाण्यर्थतद्गोचरज्ञानस्वादिलक्षणसर्वज्ञत्वादेरप्यविद्याकल्पितत्वादविद्योपाधिकत्वं बोध्यम्।

वि०, पृ० ७९८-७९९

१ वि०, पृ० ५११

प्रमाण ब्रह्म साक्षात्कार में अंगी है। यह शब्द प्रमाण श्रवण का विषय है इस लिए श्रवण भी अंगी है[१]।

विवरणाचार्य का आशय है कि जहां शब्द से प्रथमतः परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वहां श्रवण भी अंगी है। श्रवण शब्द का अभिधेय शक्तितात्पर्य-विशिष्ट वेदान्त शब्द का अवधारण है। यही विशिष्ट शब्दावधारण अपना प्रमेय जो ब्रह्म है उसी ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान कराने में अव्यवहित रूप से कारण होता है। प्रमाण का प्रमेय प्रतीति के प्रति अव्यवधान रहता है। मनन एवं निदिध्यासन से ब्रह्मरूप प्रमेय के साक्षात्कार कराने में विशिष्ट-शब्दाधारण अव्यवहित कारण है। इसलिए उसमें करणत्व स्वीकार किया जाता है। मनन और निदिध्यासन में इसका वैपरीत्य है। कारण, ये दोनों चित्त का प्रत्यागात्म-प्रवणतारूप जो संस्कार उसी संस्कार के द्वारा निष्पन्न जो ब्रह्म विषयिणी एकाग्रतारूप वृत्ति उस वृत्ति रूप कार्य के द्वारा ब्रह्मानुभव में हेतुता लाभ करते हैं। इसलिए ब्रह्मसाक्षात्कार रूप जो फल है उसके प्रति अव्यवहित जो शक्ति तात्पर्य विशिष्ट-शब्दावधारणरूप श्रवण वह अव्यवहित कारण है। अतः, व्यवहित मनन एवं निदिध्यासन पूर्वोक्त श्रवण के अंग रूप में ही अंगीकार किये जाते हैं। मनन एवं निदिध्यासन ब्रह्म-श्रवण-फल-साक्षात्कार में व्यवहित रूप से अन्वय लाभ करते हैं। अतः, वे श्रवण के अंग हैं। ब्रह्म-विषयक-मनन एवं निदिध्यासन श्रवण फल ब्रह्मसाक्षात्कार में व्यवहित रूप से अन्वित होते हैं। अतः, श्रवण के अंग हैं[२]।

जब शब्द से ही प्रथमतः अपरोक्षानुभवरूप विज्ञान उत्पन्न होता है उस स्थल में भ्रान्ति रूप जो विक्षेप उसका संस्कार के द्वारा निमित्त जो अन्तःकरण,

---

१ वि०, पृ० ५११

२ ता० दी०, पृ० ५११

उसमें दोष से ब्रह्मरूप विषय अपरोक्ष होने पर भी अपरोक्षानुभव भ्रान्तिरूप में अवस्थान करता है। इस स्थिति में मनन एवं निदिध्यासन पूर्वोक्त चित्तगत विक्षेपादि दोपरूप प्रतिबन्ध के निरास के द्वारा अपरोक्षानुभव जो फल है उसकी निश्चल प्रतिष्ठा में हेतु बनकर पूर्वोक्त जो अपरोक्ष ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल उत्पन्न किया है उसका शक्तितात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्द रूप प्रमाण फलोपकारी अंग है। फलोपकारी अंग का विश्लेषण पूर्व में ही किया गया है।

शक्तितात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्द रूप प्रमाण जिस ब्रह्मविषयक अपरोक्ष साक्षात्कार रूप फल को उत्पन्न करता है, उसमें मनन एवं निदिध्यासन पूर्वोक्त रूप में सहायक होकर श्रवण के अंग बनते हैं। शक्तियात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्दरूप प्रमाण अंग बनता है यही अभिप्राय है[1]।

शब्द परोक्षज्ञान का जनक है अपरोक्षज्ञान निदिध्यासन से उत्पन्न होता है यह जो मतान्तर पूर्व में कहा गया है यह सर्वथा असमीचीन है। कारण, शब्द प्रमाण (करण) को छोड़कर निदिध्यासन से ही अपरोक्षानुभवरूप फल उत्पन्न नहीं हो सकता है। कारण, निदिध्यासन किसी भी अनुभव की उत्पत्ति में करण नहीं हो सकता है। अतः, किसी मत से भी निदिध्यासन प्रमाण में परिगणित नहीं हो सकता है। अनुभव प्रमाण से ही उत्पन्न होता है। निदिध्यासन में करणत्व अथवा प्रमाणत्व नहीं होने के कारण किसी भी स्थिति में अनुभव की उत्पत्ति का वह करण नहीं हो सकता है। मृत-पुत्रादि-विषयक निदिध्यासन (चिन्तन) जनित जो मृतपुत्रादि-विषयक अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है वह भ्रम रूप है, इसलिए, प्रकृत स्थल में भी निदिध्यासन से जो ब्रह्म का साक्षात्कार होगा वह भ्रम रूप होगा, अतः, निदिध्यासन का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जा सकता है[2]।

१ वि०, पृ० ४१३

२ ननु शब्दस्येव मनस एव निदिध्यासनस्य वा साक्षात्कारे करणत्वं कल्प्यताम्, कल्पनाया उभयत्राविशेषात्। न चैवं नष्टपुत्रभावनाजन्य-साक्षात्कारवत् क्षात्मसाक्षात्कारस्य भ्रान्तित्वापत्तिः

भा० प्र०, पृ० ४१३

इसके उत्तर में पूर्व-पक्षी कहना चाहते हैं कि आपने जो मृतपुत्रादि का दृष्टान्त प्रदर्शन किया है वह अपरोक्षज्ञान से एकार्थक नहीं रहने के कारण उस स्थल में निदिध्यासन का अप्रामाण्य मैं भी स्वीकार करता हूं। परन्तु प्रकृत स्थल में उससे निदिध्यासन में वैलक्षण्य है। कारण, निदिध्यासन से जो ब्रह्मात्म विषयक अपरोक्ष ज्ञान होता है वह शब्द प्रमाण के द्वारा अवगत हो गया है। शब्द का प्रामाण्य तो आप भी स्वीकार करते हैं। इसलिए शब्द स्वगत परोक्ष ब्रह्मात्मत्व विषय को निदिध्यासन जब अपरोक्ष रूप में प्रतीत कराता है तब शब्द रूप प्रमाण को द्वार करके निदिध्यासन का प्रामाण्य निश्चय किया जा सकता है।

निष्कर्ष यह है कि शाब्दबोध के बाद प्रभृत निदिध्यासन जनितत्व निबन्धन अपरोक्षज्ञान का प्रामाण्य रह जायगा। परन्तु यह कहना समीचीन नहीं है। प्रकृत स्थल में अपरोक्ष ज्ञान शब्दावगत ब्रह्मात्म विषयक है, इसलिए इसमें शब्द प्रमाण के साथ सम्वाद निबन्धन प्रामाण्य है, इस प्रकार की कल्पना करना भी अनुचित है। कारण, इसमें कल्पना गौरव हो जायगा। क्योंकि प्रकृत स्थल में ब्रह्म रूप विषय का सद्भाव निश्चय शब्द प्रमाण रूप प्रमाणान्तर के अधीन है। विषय का सद्भाव निश्चय नहीं होने से विषय-विषयक-ज्ञान के प्रामाण्य का निश्चय नहीं हो सकता है। प्रकृत स्थल में शब्द रूप प्रामाण्य के अधीन है ब्रह्म रूप विषय का सद्भाव निश्चय एवं इस विषय सद्भाव निश्चय के अधीन है प्रकृत अपरोक्ष ज्ञान का प्रामाण्य निश्चय, इसलिए यह कल्पना अतिशय गुरुतर है, अतः, इस कल्पना की अपेक्षा दृष्टप्रामाण्य क्लृप्त है—ऐसा शब्द अर्थात् जिस शब्द का प्रामाण्य क्लृप्त है उस शब्दप्रामाणजन्यत्व निबन्धन अपरोक्ष ज्ञान की प्रामाण्य-कल्पना लघु है, इसलिए उत्पन्न परोक्ष विज्ञान की प्रमाणान्तर के अधीन जो विषय का सद्भाव निश्चय उसके अधीन जो अपरोक्ष विज्ञान की प्रामाण्य कल्पना इसकी अपेक्षा उत्पन्न अपरोक्ष विज्ञान का, जिसका प्रामाण्य क्लृप्त है ऐसे शब्द प्रमाणजन्यत्व निबन्धन प्रामाण्य कल्पना लघु है। यह स्वीकार नहीं करने से

अद्वैतवेदान्तियों को परतः प्रामाण्य स्वीकार करना पड़ेगा, इसलिए शब्द परोक्षवाद स्वीकार कर निदिध्यासन के द्वारा अपरोक्ष साक्षात्कार स्वीकार करने से परतः प्रामाण्य स्वीकार रूप अपसिद्धान्त हो जायगा। शब्दापरोक्षवाद (शब्द से ही अपरोक्ष ब्रह्म साक्षात्कार होता है) स्वीकार करने से स्वतः प्रामाण्य अक्षत रह जायगा। इसलिए श्रवण का जो फल है उसीका उपकारकत्व रूप अंगत्व मनन ओर निदिध्यासन में स्वीकार करना उचित है[1]।

इस प्रकरण में विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने एक शंका का उत्थापन कर उसका समधान प्रदर्शित किया है—शंका होती है कि आपाततः जो श्रवण वह मनन एवं निदिध्यासन रूप अंग के अनुष्ठान के पूर्व में परोक्ष ज्ञान का जनक होता है, अथवा अप्रतिष्ठित अपरोक्ष ज्ञान का जनक होता है, इस प्रकार स्वीकार करके श्रवण को निदिध्यासन का अंग कहने पर भी शब्दापरोक्षवादियों की कोई हानि नहीं है। कारण, इस मत में संसार का निवर्तक जो ब्रह्म है, उसका अपरोक्ष ज्ञान जनक जो श्रवण है, उसीको अंगित्व रूप से स्वीकार करते हैं। पूर्व पक्षी के द्वारा प्रदर्शित श्रवण को हमलोग भी अंगी के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं[2]। इस प्रसंग में विवरण-भावप्रकाशिका में विवरणाचार्य का आशय प्रदर्शन प्रसंग में सूक्ष्म समीक्षा की गई है। विवरण सिद्धान्त में शक्ति तात्पर्य विशिष्ट वेदान्त शब्दावधारण ही श्रवण है इसीसे ब्रह्म विषयक अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न होता है।

१ ता॰ प्र॰, पृ॰ ४१३

२ श्रवणमापातिकमंगानुष्ठानात् प्राक्परोक्षज्ञानमप्रतिष्ठितापरोक्षज्ञानं वा जनयति तस्य निदिध्यासनांगत्वेऽपि न नः किंचिद्धीयते, संसारनिवर्तकब्रह्मतत्त्वापरोक्षज्ञानजनकश्रवणस्यैवांगित्वांगीकारात्।

वि॰, पृ॰ ३५८-३५९

यह आशय है कि शब्द करण अर्थात् प्रमाण है, इसलिए उससे अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होना सम्भावित है, परन्तु शब्द के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्मसाक्षात्कार जनन में वह अंगी कैसे हो सकता है अर्थात् अपरोक्ष ब्रह्म साक्षात्कार की उत्पत्ति में श्रवण को अंगी कैसे माना जा सकता है, क्योंकि, मनन और निदिध्यासन ने क्या अपराध किया है कि केवल श्रवण को ही अंगी माना जाता है। इसके उत्तर में भावप्रकाशिकाकार ने कहा है कि शक्ति-तात्पर्य-विशिष्ट-वेदान्त शब्दावधारण जो अपरोक्ष साक्षात्कार में करण कहा गया है, उसमें श्रवण भी करण कोटि में प्रविष्ट है। इसलिए श्रवण का करण कोटि में निविष्ट होने मात्र से श्रवण में करणत्व उपचरित होता है। श्रवण अप्रमाण है, इसलिए श्रवण साक्षात्कार रूप प्रमा का करण नहीं हो सकता है। लोकव्यवहार में शक्ति-तात्पर्यादिज्ञान को करण नहीं कहा जा सकता है। इसलिए श्रवण का अंगित्व भी औपचारिक है मनन और निदिध्यासन करण कोटि में प्रविष्ट ही नहीं है इसलिए प्रकृत अपरोक्ष प्रमा के साथ उसका किसी प्रकार विशेष सम्बन्ध नहीं रहने के कारण इस अंश में श्रवण की अपेक्षा करके मनन एवं निदिध्यासन अप्रधान है। मनन एवं निदिध्यासन का प्रयोजन है प्रतिबन्ध निरास करना। प्रश्न हो सकता है कि वेदान्त सिद्धान्त में तो प्रतिबन्धाभाव को कारण नहीं कहा गया है तब मनन एवं निदिध्यासन की कहां अपेक्षा रहती है? इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रतिबन्धाभाव कारण नहीं होने पर भी श्रवण जो अपरोक्ष साक्षात्कार रूप फल को उत्पादन करेगा, उसमें मनन एवं निदिध्यासन की अपेक्षा है। इसलिए मनन एवं निदिध्यासन की श्रवण फल में अपेक्षा होने के कारण श्रवण के अंग होते हैं। प्रयाजादि जिस प्रकार फलोपकारी अंग होता है मनन एवं निदिध्यासन भी वैसे ही फलोपकारी अंग नहीं हैं। कारण, प्रयाजादि दर्शपूर्णमास का फल जो स्वर्ग है उसके जनन में उपकारक होता है, इसलिए वह फलोपकारी अंग है, परन्तु, मनन एवं निदिध्यासन श्रवण का फल जो साक्षात्कार उसका

जनक नहीं होता है, इसलिए प्रयाजादि के समान मनन एवं निदिध्यासन फलोप-कारी अंग नहीं है। केवल श्रवणजन्य जो अपरोक्ष साक्षात्कार रूप फल है उसमें अपेक्षा है और इस अपेक्षात्व-निबन्धन ही ये श्रवण के अंग होते हैं[1]।

---

1. भा० प्र०, पृ० ४१२

ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में अध्यास का मूलाधारत्व-विवेचन

अन्य दर्शन प्रस्थान में अध्यास सिद्धि की अपेक्षा नहीं है, वरन्, इतर दर्शन अध्यास के खण्डन में ही सन्नद्ध रहता है। कृत्स्न ब्रह्म प्रपंच की अध्यस्तरूपता सिद्ध होने से ही ब्रह्म का अद्वैतत्व सिद्ध हो सकता है। दर्शन शास्त्र के प्रारम्भ में विषय और प्रयोजन का प्रदर्शन करना यह भारतीय दर्शन की परम्परा रही है[1]। अद्वैत वेदान्त का विषय ब्रह्मके साथ आत्मा का एकत्व ज्ञान और इसका प्रयोजन ब्रह्म प्राप्ति है[2]। दुःखोच्छेदपूर्वक ब्रह्म प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष बन्ध का विरोधी होता है। बन्ध की निवृत्ति के बिना मोक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। निवृत्ति मिथ्या वस्तु की ही होती है, अतः, बन्ध को भी मिथ्या स्वीकार करना पड़ेगा। किसी पदार्थ को मिथ्या कहना अद्वैत वेदान्त दृष्टि में वह अध्यस्त है इसी कथन के समान है। तात्पर्य यह है कि बन्ध की अध्यासरूपता सिद्ध न हो तो उसकी निवृत्ति नहीं होगी और उसकी निवृत्ति के बिना मोक्ष लाभ भी सम्भव नहीं होगा। इसीलिए, अध्यास का स्वरूप क्या है यह जानना वेदान्त दर्शन में अपरिहार्य है। वस्तुतः अध्यास के समान महत्वपूर्ण विषय वेदान्त में नहीं है। अत एव भाष्यकारशंकराचार्य ने शांकरभाष्य के प्रारम्भ में ही विषयान्तर को छोड़कर अध्यास का ही पर्यालोचन किया है।

---

१ सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

श्लो॰ वा॰, १।१७

२ आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते ।

शां॰ भा॰, पृ॰ ४८७

इस विषय में विवरणाचार्य ने अध्यास भाष्य के भाष्यत्व में ही पूर्वपक्षी के रूप में एक शंका उठायी है। पंचपादिकाकार ने कहा है "भाष्यं प्रसन्न-गम्भीरं तद्व्याख्यां श्रद्धयारभे[1]"। इसके द्वारा शांकरभाष्य के व्याख्यानकी प्रतिज्ञा की है। इसी प्रसंग में विवरणकार ने पूर्वपक्ष के रूप में कहा है कि पञ्च-पादिकाकार की पूर्वोक्त प्रतिज्ञा असंगत है। कारण, अध्यासभाष्य भाष्य ही नहीं है। इसलिए, भाष्य के रूप में व्याख्यान के योग्य भी नहीं है। कारण, भाष्य का लक्षण अध्यास भाष्य में संगत नहीं होता है। भाष्य का लक्षण प्रदर्शन करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि सूत्रानुकारी वाक्य के द्वारा जहां सूत्रार्थ का वर्णन किया जाता है, एवं भाष्यकार स्वयं अपने द्वारा प्रयुक्त पदों का व्याख्यान करते हैं उसी वचन-सन्दर्भ को भाष्यविद् आचार्यगण भाष्य शब्दसे कहते हैं। प्रकृत स्थल में 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (१-१-१) यह सूत्र सर्वज्ञबादरायण प्रणीत है। इसलिए उसमें आनर्थक्य रहना सर्वथा अनुपपन्न है। सर्वज्ञप्रणीत वचन में भी आनर्थक्य रह जाय तो उनका सर्वज्ञत्व ही समाप्त हो जायगा। इसलिए पूर्वोक्त सूत्र में आनर्थक्य दोष का परिहार करने के लिए अध्याहार के द्वारा भी सूत्र की योजना करनी होगी। इस आशय से ही विवरणकार ने लिखा है कि सूत्र को यथाश्रुत रूप में रखा जाय तो उसमें आनर्थक्य दोष हो जायगा और पुरुष की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं होगी[2]। इसीलिए सूत्र की अनुवादरूपता का परिहार करने के लिए एवं पुरुष की प्रवृत्ति सिद्ध होने के लिए कर्त्तव्यापद का अध्याहार करना चाहिए। इसके आशय को सुस्पष्ट अभिव्यक्त करना आवश्यक है—जिज्ञासा सूत्र को यथाश्रुत रूप में

---

१ पं० पा०, पृ० २०

२ नेदं भाष्यं व्याख्यानपदवीमुपारोढुमर्हति, भाष्यलक्षणाभावात्,

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुकारिभिः।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुरिति हि

भाष्यलक्षणं वदन्ति।

वि०, पृ २०, २१

ग्रहण करने पर दो प्रकार की अनुपपत्ति होगी। प्रथम अनुपपत्ति यह है कि यथाश्रुत जिज्ञासासूत्र से सिद्ध पदार्थ मात्र कीर्त्तन होने से वह अनुवाद स्वरूप रहेगा। निरर्थक सिद्ध पदार्थ के बोधक वाक्य को ही अनुवाद कहा जाता है। अनुवाद सर्वथा निष्प्रयोजन होता है[1]। द्वितीय अनुपपत्ति यह है कि वेदान्त शास्त्र में पुरुष की प्रवृत्ति ही प्रथम सूत्र का प्रयोजन है, अत एव प्रथम सूत्र में विधि नहीं होने से शास्त्र में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होगी। पूर्वोक्त उभय दोष के परिहार के लिए 'कर्तव्य' इस पद का अध्याहार करके ही अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र का अर्थ ग्रहण करना उचित है। ब्रह्मजिज्ञासा की कर्त्तव्यता प्रतिपादित होने से शास्त्र का निष्प्रयोजनत्व परिहृत हो जायगा साथ ही पुरुष की प्रवृत्ति भी सिद्ध होगी[2]।

इसमें शंका होती है कि कर्त्तव्या इस पद के अध्याहार करने पर भी सूत्र की आनर्थक्यशंका पूर्ववत् बनी रहेगी। कारण, अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र में जिज्ञासा पद ज्ञा = सन् प्रत्यय से सिद्ध हुआ है। प्रकृतिभूत ज्ञा धातु का अर्थ है ज्ञान और सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा है, ये दोनों—ज्ञान और इच्छा कर्त्तव्य नहीं हो सकते हैं। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए और लक्ष्यार्थ विचार की कर्त्तव्यता ही सूत्र के द्वारा अभिहित है। लक्षणा स्वीकार करने का कारण यही है कि विचार अनुष्ठान योग्य (कर्त्तव्य) है। जिज्ञासा पद का विचार ही लक्ष्यार्थ क्यों मानाजाता है ? कारण, अन्य किसी अर्थ में भी तो लक्षणा हो सकती है। इस प्रकार

---

१ अनुवादवदनुवादः; सिद्धमात्रकीर्तनत्——अथ वा अनुवादो निष्प्रयोजनत्वम्।
ऋ० वि०, पृ० २१

२ तत्र "अथातो ब्रह्मजिज्ञासे"ति सूत्रेऽनुवादपरिहाराय शास्त्रे पुरुषप्रवृत्तिसिद्धये च कर्तव्येतिपदमध्याहर्तव्यम्।
वि०, पृ० २१-२२

की शंका का उत्तर यह है कि विचाररूप अर्थ के साथ जिज्ञासा पद के वाच्यार्थ का सम्बन्ध है। अतः, जिज्ञासा पद की विचारार्थ में ही लक्षणा स्वीकार की गई है, जैसे गंगा पद का वाच्यार्थ प्रवाह है और उस प्रवाह के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध है ओर सामीप्य सम्बन्ध के कारण गंगा शब्द का तट ही लक्ष्यार्थ होता है। जिज्ञासा पद-घटकज्ञा धातु रूप प्रकृति और सन प्रत्यय क्रमशः ज्ञान ओर इच्छा अर्थ को कहता है और इन्हीं ज्ञान और इच्छा के मध्य में विचार अवस्थित है। परोक्ष रूप से ज्ञात पदार्थ के अपरोक्ष फलक ज्ञान करने की इच्छा होती है। सन्दिग्ध रूप से ज्ञात की निश्चय फलक ज्ञान करने के लिए इच्छा होती है। अपरोक्ष और निश्चय विचार के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए विचार में ही लक्षणा स्वीकार की गई है। जिज्ञासा पद की विचार में लक्षणा प्रकारान्तर से भी उपपन्न होती है—जिज्ञासा कर्तव्या इसके द्वारा इच्छा का विषय ज्ञान प्रतीत होता है, किन्तु, इच्छा का विषय ज्ञान साक्षात् इच्छा से साध्य न होने के कारण ज्ञान में इच्छासाध्यत्व निर्वाह कराने के लिए विचार का आक्षेप होता है। इच्छा का साक्षात् ज्ञान के साधन रूप में सम्बन्ध न होने के कारण उसके निर्वाहक रूप में विचार का आश्रयण आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान साक्षात् इच्छा से साध्य नहीं है और इच्छा ज्ञान का साक्षात् साधन भी नहीं है। अत एव उभय के निर्वाह के लिए मध्य में विचार को स्वीकार करना आवश्यक है। इसके अनुगुण एक दृष्टान्त भी मीमांसा दर्शन से लिया जा सकता है यागक्रिया स्वर्ग के साधन रूप में विहित है, परन्तु, याग-क्रिया होने के कारण आशु विनाशी है और स्वर्गरूप फल कालान्तर भावी है। अतः, उभय में साध्यसाधनभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। साध्यसाधनभाव की अनुपपत्ति होने के कारण एक अपूर्व (अदृष्ट) की उत्पत्ति यजमान की आत्मा में संस्कार रूप से माननी पड़ती है। इसी संस्कार को द्वार कर आशु विनाशी याग रूप क्रिया की साधनता स्वर्ग रूप फल के प्रति होती है। प्रकृत स्थल में

भी ज्ञान और इच्छा में साध्य-साधनभाव का अन्यथा निर्वाह न होने के कारण विचार की कल्पना कर साध्यसाधनभाव उपपन्न होता है[१]

अब यह शंका होती है कि कर्तव्या पद के अध्याहार करने से विधिरूपता सम्भावित होने पर विधि निरन्तर अधिकारी और फल में साकांक्ष होने के कारण ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या इस प्रकृत विधि में अधिकारी और फल का निर्देश न होने के कारण आनर्थक्यशंका रह ही जाती है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि ब्रह्मजिज्ञासा के श्रौत अर्थ पर ध्यान देने से ही इसका उत्तर मिल जायगा। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' यहां अथ शब्द के द्वारा साधनचतुष्टयसम्पन्न[२] विशिष्ट अधिकारी का ज्ञान होता है एवं जिज्ञासा पद के अनुसार अधिकारी पुरुष का इष्यमाण (इच्छा का विषय) ब्रह्म ज्ञान फल हो जायगा। इसमें पुनः सन्देह होता है कि ब्रह्म ज्ञान सुख प्राप्ति अथवा दुःख निवृत्ति रूप न होने के कारण उसको फल रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। कारण, पुरुष के द्वारा अर्थ्यमाण जो फल है वह सर्वत्र सुख प्राप्ति अथवा दुःख निवृत्ति रूप ही हो सकता है। इन दोनों में से किसी एक रूप के न होने पर ब्रह्म ज्ञान को फलरूप में स्वीकार करना अनुचित है।

---

१ विचारस्यैव लक्षणायां को हेतुः ?——परोक्षतया ज्ञातेऽपरोक्षफलज्ञानमिष्यते, सन्दिग्धे च निश्चयफलम्, तच्च विचाराविनाभूतमिति विचारे लक्षणेत्यर्थः-जिज्ञासा कर्तव्या,——क्रियायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वानुपपत्त्या अपूर्वाभ्युपगमवदित्यर्थः

त० दी०, पृ० २२

२ साधन चतुष्टय के अन्त में मुमुक्षुत्व अर्थात् मोक्ष की इच्छा कही गयी है। नित्यानित्यवस्तुविवेक से वैराग्य, वैराग्य से शमदमादि की सिद्धि और शमदमादि सिद्धि से मुमुक्षा उत्पन्न होती है। नित्यानित्यवस्तुविवेक भी मोक्ष के लिए है। पूर्व-पूर्व परवर्ती का कारण है।

इसीलिए विवरणाचार्य जिज्ञासा सूत्र का आर्थिक अर्थ भी कहते हैं। उनका अभिप्राय तत्त्वदीपन में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है। उनका कथन यह है कि ब्रह्मसूत्र के श्रौतार्थ से ब्रह्म ज्ञान के लिए विचार की कर्तव्यता प्रतीत होती है। परन्तु ब्रह्म-ज्ञान स्वरूपतः पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। कारण, दुःख-निवृत्ति अथवा सुख-प्राप्ति इसका अन्यतर रूप नहीं है। इसलिए ब्रह्म ज्ञान प्रकृत में फल न होने के कारण फल विशेष की आकांक्षा रह ही जाती है और इसलिए अर्थ शब्द के द्वारा उपात्त अधिकारी का विशेषण मोक्ष ही फलरूप में सम्बन्ध लाभ करेगा। दृष्टान्त स्वरूप कहा जा सकता है कि 'स्वर्गकामो यजेत', इस वाक्य से अधिकारी पुरुष का विशेषण स्वर्ग ही फलरूप से सम्बद्ध होता है। साधारणतः अधिकारी का विशेषण ही फल होता है और उसमें कामः यह पद देखने में आता है जैसे स्वर्गकामः पशुकामः आदि। परन्तु सर्वत्र काम पद का प्रयोग रहेगा ही ऐसी बात नहीं है। जैसे परस्त्रीकामः प्रायश्चित्तं कुर्यात् इसमें काम पद रहने पर भी अधिकारी का विशेषण परस्त्री फल नहीं है[1]।

इसमें प्रश्न होता है कि मोक्ष को जो फल कहा गया है वह क्या अधिकारी का विशेषण होने से फल कहा गया है ? अथवा मोक्ष कामना का विषय है इसलिए मोक्ष को फल कहा गया है। इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, श्रुति में कहा गया है कि यस्याहिताग्नेरग्निगृहदाहान् दहेत् सोऽग्ने सामवतेऽ-ष्टाकपालं निर्वपेत, इस वाक्य के द्वारा सामवती इष्टि का विधान किया गया है। निमित्तोपनिपात निबन्धन दुरदृष्ट परिहार के लिए सामवती इष्टि का विधान किया गया है। पूर्वोक्त पक्ष स्वीकार करने पर आहिताग्नि का जीवन (आहिताग्नि का

---

१ ब्रह्मज्ञानाय विचारकर्तव्यता तावत्प्रीयते, न च ब्रह्मज्ञानस्य स्वरूपेण पुमर्थता दुःखनिवृत्तिसुखावाप्त्यन्यतरत्वाभावात्; तस्मात् फलविशेषाकांक्षायामथशब्दो-पात्ताधिकारिविशेषणं मोक्षः फलत्वेन संबध्यते-यथा स्वर्गकामो यजेतेत्यत्राधि-कारिविशेषणस्य फलत्वम्, तद्वत्। त० दी०, ० २३

जीवित रहना) और गृह गृहादि भी फल हो जायगा। क्योंकि वह भी विशेषण है। इसप्रकार द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है। परस्त्रीकामः प्रायश्चित्तं कुर्यात इस वाक्य में कामना-विषय योषितपिण्ड भी फल हो जायगा। इसलिए अधिकारी के विशेषण मोक्ष को फल कहना असंगत है[1]।

इसके उत्तर में तत्त्वदीपनकार ने कहा है कि केवल अधिकारिविशेषणमात्र से अथवा काम्यत्वमात्र से मुक्ति को फल नहीं कहा गया है। वरन्, काम्य होकर जो अनिन्दित है वही फल है। अर्थात् जो फल होगा उसमें अनिन्दितत्व और काम्यत्व इन दोनों का रहना आवश्यक है। इसीलिए पंचपादिकाकार ने अधिकारिविशेषण मोक्ष को जो फल कहा है वह सर्वथा उचित है।

यह जिज्ञास्य है कि विचार विचार्य-विषय साकांक्ष होता है। प्रकृत स्थल में विषय का निर्देश नहीं किया गया है, इसलिए, विचार की साकांक्षत्व शंका रह जाती है। इस आपत्ति के निरसन के लिए विवरणकार ने कहा है कि वेदान्त वाक्य ही विचार का विषय है। कारण, तं त्वौपनिषदम् इत्यादि श्रुति वाक्य के द्वारा ब्रह्म को प्रत्यक्षादि का अगोचर, केवल उपनिषन्मात्र प्रतिपाद्य कहा गया है। इतना ही नहीं नावेदविन्मनुते तं महान्तम् (तै० ब्रा० ३।१२।९।७) आदि श्रुति के द्वारा इतर प्रमाण को ब्रह्म साक्षात्कार के लिए अयोग्य ही कहा गया है। अत एव वेदान्त वाक्य विषयक विचार हीं ब्रह्म ज्ञान का साधन है। इसलिए ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र का श्रौत और आर्थिक अर्थ के द्वारा विश्लेषण किया गया है। ये दो अर्थ निम्नलिखित हैं—साधनचतुष्टयसम्पन्न को मोक्ष-साधन ब्रह्म-ज्ञान

---

१ अधिकारिविशेषणत्वेन मोक्षस्य फलत्वम् ? उत काम्यत्वेन ?—...—तस्मादधिकारिविशेषणस्य फलत्वमसंगतमिति चेद् ?

त० दी, पृ० २३

के लिए वेदान्त-वाक्य-विचार करना चाहिए। इस प्रकार सूत्र वाक्य का तात्पर्य से प्रतिपाद्य अर्थ अवगत होता है[1]।

विवरणभावप्रकाशिकाकार ने जिज्ञासा पद में लक्षणा के सम्बन्ध में एक गम्भीर विचार की अवतारणा की है। इसका निगूढ़ आशय इस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है। यह विषय नितान्त अपेक्षित है। कारण, जिज्ञासा पद में लक्षणा-स्वीकार विवरणाचार्य का असाधारण सिद्धान्त है। वाचस्पति ने जिज्ञासा पद में लक्षणा स्वीकार नहीं किया है। इसलिए जिज्ञासा पद में लक्षणा का स्वीकार और अस्वीकार इन दोनों आचार्यों में एक महान भेद है। जिज्ञासा पद में लक्षणा स्वीकार के प्रसंग में पूज्यपाद श्रीनृसिंहाश्रम ने पूर्वपक्ष के रूप में कहा है कि जिज्ञासा इस पद समुदाय में लक्षणा नहीं हो सकती है। कारण, जिज्ञासा पद यौगिक है। इसलिए जिज्ञासा पद किसी अर्थ विशेष में शक्त नहीं है। और सर्वत्र देखने में आता है कि शक्त पद ही लक्षक होता है दूसरी आपत्ति यह है कि जिज्ञासा शब्द में ज्ञा धातु और सन् प्रत्यय है। सन् प्रत्यय में अजहल्लक्षणा स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, सन् प्रत्यय का अर्थ जो इच्छा है और उसका अभिप्रेत लक्ष्यार्थ जो विचार है, इन दोनों का एक क्रिया के साथ अन्वय नहीं होगा। जहां अजहल्लक्षणा को स्वीकार किया जाता है, उन स्थलों में शक्य लक्ष्य समुदाय का एक क्रिया में अन्वय होता है। जैसे छत्रिणो यान्ति आदि स्थल में यान क्रिया में छत्रविशिष्ट पुरुष

१ साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति सूत्रवाक्यस्य श्रौतोऽर्थः सम्पद्यते ——साधनचतुष्टयसम्पन्नस्य मोक्षसाधनब्रह्मज्ञानाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्यः इति सूत्रवाक्यस्य तात्पर्येण प्रतिपाद्योऽर्थोऽवगतः।

वि०, पृ० २२-२३

का अन्वय सिद्ध है[२]। इसी तरह सन् प्रत्यय में जहल्लक्षणा भी सम्भावित नहीं है। कारण, जहत्स्वार्थ में शक्यार्थ का परित्याग पूर्वक लक्ष्यार्थ का बोध होता है। प्रकृत स्थल में शक्यार्थ इच्छा का परित्याग करना पड़ेगा और इसके फलस्वरूप ज्ञान साध्य रूप में प्रतीत नहीं होगा। कारण, ज्ञान और इच्छा के मध्य में विचार अवस्थित है। विचार इच्छा का साध्य है और ज्ञान का साधन है। अर्थात् इच्छा-साध्य विचार और विचार-साध्य ज्ञान है। जहल्लक्षणा स्वीकार करने से इच्छा का परित्याग करना पड़ेगा और इससे ज्ञान साध्य रूप में प्रतीत नहीं होगा। कारण, इच्छा का विषय अर्थात् इष्यमाण ज्ञान जब इच्छा नहीं है तब इच्छा का विषय भी नहीं होगा। इसका फल यह होगा कि ज्ञान जब अनाकांक्षित है तब ज्ञान के साथ उसके साधन रूप में अभिप्रेत विचार के साथ अन्वय नहीं होगा। फलतः, विवरणाचार्य ने जो ज्ञानाय विचारः कर्तव्यः यह कहा है इसके द्वारा ज्ञान को साध्य रूप में निर्देश किया है। किन्तु पूर्वोक्त स्थिति में ज्ञान का साध्यत्व और विचार का साधनत्व रूप में अन्वय नहीं होगा। इसी प्रकार ज्ञान पद में अजहल्लक्षणा भी सम्भावित नहीं है। कारण, ज्ञान और विचार एक ही अजहल्लक्षणा वृत्ति के द्वारा उपस्थित हो जायेंगे, इसलिए, इन दोनों का परस्पर अन्वय सम्भव न होने के कारण साध्य-साधन रूप में अन्वय नहीं होगा। शाब्दिकों का यही कथन है कि एक वृत्ति के द्वारा उपस्थित अर्थ-

---

२ इस स्थल में छत्रवान् राजा एवं उसके अनुगामी पुरुष समूह छत्रशून्य होने पर भी एक स्वार्थ में प्रवृत्त होने के कारण लक्ष्यार्थ का बोध होता है। अर्थात् एक स्वार्थ मे प्रवृत्त यह लक्ष्यार्थ होता है। इस स्थल में छत्री शब्द का अर्थ एक स्वार्थ प्रवृत्तत्व छत्रिसाहचर्यरूप सम्बन्ध-प्रयुक्त लक्ष्यार्थ छत्रवान् एवं अछत्रवान् पुरुष समुदाय को क्रोड़ीकरण पूर्वक शक्य एवं अशक्य अर्थ को अपना शरीर बनाकर ज्ञान का विषय होता है। जहत् अर्थात् स्वार्थ शक्यार्थ को परित्याग करने वाली वृत्ति और इससे भिन्न अजहत्-स्वार्था वृत्ति है।

समुदाय का परस्पर अन्वय व्युत्पत्ति-सिद्ध नहीं है। प्रकृत स्थल में विशेषतः शक्य लक्ष्य अर्थ समुदाय का एक क्रिया के साथ अन्वय नहीं होने के कारण ज्ञान पद की विचारार्थ में अजहल्लक्षणा सम्भव नहीं है। इसीप्रकार ज्ञान में जहल्लक्षणा भी सम्भव नहीं हो सकती है। कारण, ज्ञान रूप अर्थ का ही परित्याग करना पड़ेगा और इसका परिणाम यही होगा कि ज्ञानाय विचारः कर्तव्यः यह जो सूत्र का श्रौत अन्वय प्रतिपादन किया है वह भी नहीं रहेगा। कारण, यहां ज्ञान का परित्याग-पूर्वक केवल विचार ही अवगत होगा।

इतना ही नहीं इच्छा[1] के साथ भी इसका अन्वय नहीं हो सकेगा। कारण, कर्तव्य के साथ अन्वित जो विचार उसके साथ इच्छा का अन्वय नहीं होगा। (विचारः कर्त्तव्यः) इस अवस्था ज्ञान के न होने से इच्छा का विषय रूप जो ज्ञान था वह नहीं है, अतः, इच्छा का अन्वय ही नहीं होगा। अतः, इच्छा नहीं होगी। विचार का भी कर्त्तव्य के साथ अन्वय हो जाने से निराकांक्ष है। अतः, विचार भी इच्छा विषय रूप से प्रतीत नहीं होगा साथ ही यह प्रश्न है कि विचारातिरिक्त कोई लक्ष्यार्थ न होने के कारण इच्छा का अन्वय सर्वथा असम्भव ही रहेगा। इसके अनुसार यह प्रदर्शित किया गया है कि इच्छा का अन्वय न होने के कारण कर्त्तव्य जो विचार है उसका भी इच्छा के साथ अन्वय सम्भव नहीं है। अतः विचारातिरिक्त ओर कोई लक्ष्यमाण अर्थ सम्भव नहीं हो सकता[2] है।

१ ननु न तावत् जिज्ञासापदसमुदाये लक्षणा, जिज्ञासापदस्य यौगिकतया समुदायस्यावाचकत्वात्, शक्तपदस्यैव लक्षकत्वात्। नापि सन्प्रत्यये अजहल्लक्षणा। इच्छाविचारयोरेकक्रियानन्वयित्वेन छत्रिपदवदजहल्लक्षणानुपपत्तेः। नापि तत्र जहल्लक्षणा। इच्छापरित्यागे ज्ञानस्य साध्यताप्रतीत्यभावेन अनाकांक्षितत्वात् तस्य साधनेन विचारेणान्वयायोगात् ज्ञानायेति साध्यत्वाकारेण अन्वयायोगाच्च। नापि ज्ञानपदे अजहल्लक्षणा, ज्ञानविचारयोरेकवृत्त्युपस्थितयोः

इसके उत्तर में भावप्रकाशिकाकार ने कहा है कि पूर्वोक्त कथन समीचीन नहीं है। कारण, इच्छार्थक सन् में जहल्लक्षणा के द्वारा विचार रूप अर्थ उपस्थित होता है। प्रकृत स्थल में ज्ञान सिद्धावस्थापन्न ज्ञान का वाचक है। परन्तु विचार के साथ अन्वय योग्य कराने के लिए ज्ञान के द्वारा साध्यावस्थापन्न ज्ञान लक्षित होता है। इसके दृष्टान्त में कहा गया है कि—पंचदशानि आज्यानि इस स्थल में आज्य पद सिद्धावस्थापन्न स्तोत्र का पतिपादक है। परन्तु पंचदश संख्या रूप गुण के साथ अन्वय कराने के लिए आज्य पद की साध्यावस्थ स्तोत्र में लक्षणा है। श्रूयमाण शब्द में न्यूनाधिक अर्थ को कल्पन वक्ता को स्वाभिमत होता है तभी लक्षणा की आवश्यकता होती हे और यही लक्षणा का प्रयोजन है। अतएव प्रकृत स्थल में पदद्वय में जहल्लक्षणा है। पदद्वय में लक्षणा नहीं हो सकती हे यह कहना उचित नहीं है अर्थमन्तर्वेद्यर्थं बहिर्वेदी इत्यादि स्थल में एवं लोक में भी विषं भुंक्ष्व इत्यादि में उभय पद में ही लक्षणा स्वीकार की गई है। विवरणकार ने विचारमुपलक्ष्य यह जो कहा है यहां विचार भी साध्यावस्थापन्न ज्ञान का उपलक्षक है[2]।

परस्परान्वयासम्भवेन साध्यसाधनत्वेनान्वयानुपपत्तेः। न ह्येकवृत्त्युपस्थितानामपि परस्परमन्वयो व्युत्पत्तिसिद्धः। शक्यलक्ष्यसमुदायस्य एककार्यान्वयाभावाच्च न तत्राजहल्लक्षणा। नापि तत्र जहल्लक्षणा, ज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति श्रौतान्वयायोगात् इच्छाया अनन्वयप्रसंगात् कर्तव्यस्य विचारस्य इच्छया अन्वयासम्भवात् विचारातिरिक्तस्य लक्ष्यमाणार्थस्याभावाच्चेति।

भा० प्र०, पृ० १४

१ इच्छापदेन विचारो जहल्लक्षणयोपस्थाप्यते। ज्ञानपदमपि सिद्धावस्थज्ञानवाचकं पंचदशान्याज्यानीत्यत्र सिद्धावस्थस्तोत्राणामाज्यपदमिव पंचदशत्वसंख्यागुणान्वयाय साध्यावस्थं स्तोत्रं, विचारान्वययोग्यं साध्यावस्थं ज्ञानं लक्षयति, श्रूयमाणस्य शब्दस्य स्वाभिप्रेतन्यूनाधिकार्थकल्पनायां लक्षणादेरावश्यकत्वादिति

भावप्रकाशिकाकार का प्रासंगिक विश्लेषण प्रस्तुत कर पुनः उस प्रस्तुत विषय का विश्लेपण कर रहा हूं—युष्मद् इत्यादि अध्यासभाष्य प्रदर्शित सूत्र का एवं आर्थिक अर्थ का लेशतः भी स्पर्श नहीं कर रहा है। अतः, युष्मद् इत्यादि भाष्य भाष्य ही नहीं कहा जा सकता है और भाष्य न होने से यह व्याख्येय भी नहीं है।

इसके समाधान में विवरणकार ने कहा है कि अध्यास भाष्य के साथ सूत्र का आक्षरिक अर्थ संस्पृष्ट नहीं रहने पर भी आर्थिक अर्थ संस्पृष्ट है। जिज्ञासा सूत्र का आर्थिक अर्थ विषय और प्रयोजन का प्रदर्शन है। जीव और ब्रह्म का ऐक्य विषय और अविद्यानिवृत्ति प्रयोजन है। जीव ब्रह्म का ऐक्य रूप विषय और अविद्यानिवृत्ति रूप प्रयोजन ये दोनों ही अध्यास भाष्य के द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं। जिज्ञासा सूत्र से विषय और प्रयोजन का निर्देश न होने पर शास्त्र का आरम्भक ही नहीं कहा जा सकता है। इसलिये सूत्रार्थों वर्ण्यते इत्यादि के द्वारा जो भाष्य का लक्षण कहा गया है वह भी जिज्ञासा सूत्र का आर्थिक अर्थ लेकर अध्यास भाष्य के साथ संगत होता है। शास्त्र के आरम्भ का कारण है विषय और प्रयोजन की सिद्धि। "युष्मद् इत्यादि से आरम्भ कर नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" एतत्पर्यन्त भाष्य अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते इस भाष्य के साथ पर्यवसान लाभ कर प्रथम सूत्र के द्वारा अर्थात् सूत्रित विषय एवं प्रयोजन का प्रतिपादन कर रहा है। आशय यह है कि शास्त्रारम्भ निमित्त पूर्वोक्त विषय ओर प्रयोजन की सिद्धि है, विषय और प्रयोजन की सिद्धि का कारण

पदद्वयेऽपि जहल्लक्षणा न च पदद्वये लक्षणा अनुपपन्ना, अर्थमपन्तर्वेचर्थं गंगायां घोषः दीत्यादौ विषं भुंक्ष्वेत्यादौ च तस्या दृष्टत्वादिति भावः। एवं च विचारमुपलक्षयेत्यत्र विचारपदं साध्यावस्थज्ञानस्याप्युपलक्षणम्।

भा० प्र०, पृ० १४

अध्यास की सिद्धि है, और इस अध्यास भाष्य के द्वारा ही अध्यास की सिद्धि भी हो पाती है। भाव यह है कि अध्यास भाष्य के द्वारा बन्ध का अविद्यात्मकत्व प्रतिपादन किया गया है। बन्ध यदि अविद्यात्मक हो जाय तभी शास्त्रजनित तत्त्वज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति सम्भावित होगी। कारण, ज्ञान अज्ञान का विरोधी है। बन्ध यदि सत्य हो जाय तब तो ब्रह्मात्मैक्य साक्षाकार शास्त्र का विषय बन्ध निवृत्ति रूप शास्त्र के प्रयोजन—इन दोनों में किसी की भी सिद्धि सम्भव नहीं होगी। बन्ध का सत्यत्व शास्त्रारम्भ का निमित्तभूत विषय और प्रयोजन की सिद्धि का विरोधी है। अर्थात् विचार शास्त्र के विषय प्रयोजन का विरोधी बन्ध है। कारण, शास्त्र का कारण जीव ब्रह्म का ऐक्य बोध रूप विषय बन्ध है, क्योंकि, शास्त्र का कारण जीव और ब्रह्म का ऐक्य ज्ञान रूप विषय बन्ध रहने से नहीं होता है और यह बन्ध अविद्या रूप है। अत एव अविद्यात्मक बन्ध यदि सत्य हो जाय तब तो अविद्या निवृत्ति रूप शास्त्र का प्रयोजन भी उपपन्न नहीं होगा। बन्ध अर्थात् अविद्या की स्थिति दशा में अविद्या की निवृत्ति कैसे सम्भव है? अतः बन्ध अविद्यात्मक होने से ही तत्त्वज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति भी सम्भव होगी। फलितार्थ यह है कि बन्ध के अविद्यात्मक सिद्ध होने से ही अर्थात् बन्ध अविद्या रूप है यह सिद्ध होने से ही शास्त्र जनित ज्ञान के द्वारा उसकी निवृत्ति होगी और जीवब्रह्मैक्य साक्षात्कार भी सिद्ध होगा। बन्ध की अविद्यात्मक सिद्धि पर ही शास्त्रारम्भ का निमित्त विषय और प्रयोजन की सिद्धि उपपन्न होगी अन्यथा नहीं। बन्ध की अविद्यात्मक कहने का तात्पर्य है कि बन्ध आध्यासिक है। अध्यास और अविद्या आचार्यों ने एक ही स्वीकार किया है। शांकरभाष्य में कहा है तमेतमेवं लक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते। (शां० भा० पृ० ४१७) अध्यासो मिथ्याप्रत्ययरूपः—इत्यादि ग्रन्थों के द्वारा स्पष्ट रूप में ही अध्यास और अविद्या को पर्याय रूप में शंकराचार्य ने स्वीकार किया है[१]। इस शास्त्र का, आरम्भ

---

१ वि० पृ० २३-२६

करना चाहिए, जो सम्भावित विषय और प्रयोजन वाला होता है उसका आरम्भ किया जाता है, जैसे कृषि। इसका विषय है क्षेत्रकर्षणादि और प्रयोजन है शस्य रूप फल का लाभ, जैसे इस फल के लिए कृषि का आरम्भ होता है वैसे ही शास्त्र का भी आरम्भ होगा। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य विषय यह है कि शास्त्र का विषय और प्रयोजन सम्भावित रहने पर ही शास्त्र आरम्भणीय हो जाता है ऐसी कोई व्याप्ति नहीं है। अर्थात् जहां शास्त्र सम्भावित विषय प्रयोजनवान् है वहां शास्त्र का आरम्भणीयत्व है इस प्रकार सामान्य व्याप्ति न होने पर भी जो सम्भावित प्रयोजन है वह आरम्भणीय है-- जैसे कृषि इस प्रकार की विशेष विषयक व्याप्ति गृहीत है। अध्यास भाष्य न रहने पर बन्ध का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होगा, मिथ्यात्व सिद्ध न होने पर सूत्र का विषय प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा और विषय प्रयोजन सिद्ध नहीं होने पर शास्त्र का आरम्भ नहीं होगा[1]

---

१ एतत् शास्त्रम्, आरम्भणीयम्, सम्भावितविषयप्रयोजनवत्त्वात्, कृष्याद्यारम्भवत्, शास्त्रं च, सम्भावितविषयप्रयोजनम्, अविद्यात्मकबन्धप्रत्यनीकत्वात्, जाग्रद्बोधवदिति। तदेवं शास्त्रस्यारम्भनिमित्तविषयप्रयोजनवत्त्वप्रत्यनीकस्य बन्धस्याविद्यात्मकत्वं निर्दिशत् भाष्यद्वयं विषययोजने प्रतिपादयतीति।

वि०, पृ० २६-२७

विवरणाचार्य-मत-सम्मत-अध्यास का पूर्व-पक्ष

पूर्व परिच्छेद में विश्लेषण किया गया है कि ब्रह्म-जिज्ञासा-सूत्र के द्वारा अध्यास सूचित हुआ है। परन्तु यह अध्यास युक्ति संगत नहीं हैं। इस प्रसंग में विवरण-प्रमेय-संग्रह में परार्थानुमान प्रदर्शित किया गया है--आत्मा और अनात्मा (पक्ष) परस्पर तादात्म्याध्याससरहित हैं (साध्य) इन दोनों का तादात्म्यशून्य इतरेतरभाव न होने से (तादात्म्य सिद्ध नहीं है) (हेतु) जैसे अन्धकार और आलोक[1] (दृष्टान्त)। इस अनुमान का आशय यह है कि अन्यत्र जो प्रमित है उसीका आरोप होता है, अन्यत्र जो प्रमित नहीं है उसका अन्यत्र आरोप नहीं देखा जाता है। अन्धकार और प्रकाश का कहीं भी परस्पर-तादात्म्य प्रमित नहीं है इसलिए अन्धकार और प्रकाश का परस्पर-तादात्म्याध्यास नहीं हो सकता है (एक में दूसरे का आरोप नही हो सकता है)। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा के विषय में समझना चाहिए।

इसमें अद्वैतवेदान्ती प्रश्न करते हैं कि असिद्ध-हेतु साध्य की सिद्धि कराने में समर्थ नहीं होता है। प्रकृत में जो अनुमान प्रदर्शित किया गया है, इसमें यह अनुमान असिद्ध-हेतु होने से दुष्ट है[2]। इसके उत्तर में पूर्व पक्षी अपने

१ आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्याध्यासरहितौ, क्वापीतरेतरभावरहितत्वात्, तमःप्रकाशवत्।

वि० प्र० सं०, पृ० २६

२ न च हेत्वसिद्धिः वि० प्र० सं०, पृ० २६

हेतु को सिद्ध कराने के लिए अनुमानान्तर का प्रदर्शन कर रहें हैं---पूर्वोक्त आत्मा और अनात्मा (पक्ष) तादात्म्यशून्य है (साध्य) विरुद्ध स्वभाव होने से (हेतु) जैसे तमः और प्रकाश[1] (दृष्टान्त)। इसका आशय यह है कि तमः और प्रकाश विरुद्ध स्वभाव के हैं, अतः, इन दोनों में तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा में भी विरुद्ध स्वभाव होने के कारण तादात्म्य का अभाव समझना चाहिए। कारण, विरुद्ध स्वभाव होने वालों का परस्पर तादात्म्य नहीं होता है, वरन्, अविरुद्ध स्वभाव वालों का ही परस्पर तादात्म्य होता है। इसमें वेदान्ती यह शंका करते हैं कि इस प्रदर्शित अनुमान में भी हेतु असिद्ध ही है। अतः, इस असिद्ध हेतु से साध्य सिद्धि की आशा नहीं है[2]। इसके उत्तर में पूर्व पक्षी ने हेतु को सिद्ध कराने के लिए तृतीय अनुमान का प्रदर्शन किया है। विप्रत्तिपत्ति का विषयीभूत आत्मा और अनात्मा (पक्ष) विरुद्ध स्वभाव है (साध्य) कारण, वे युष्मद् और अस्मद् शब्द के ज्ञान का विषय होता है (हेतु) जैसे देवदत्त और उसका शत्रु[3] (दृष्टान्त)। इन तीन अनुमानों के प्रदर्शन का निष्कर्ष यही है कि युष्मद् और अस्मद् शब्द के ज्ञान के विषय में इस हेतु के द्वारा तादात्म्यशून्यता की सिद्धि है एवं तादात्म्यशून्यता की सिद्धि के द्वारा इतरेतर-तादात्म्याध्यास-राहित्य की सिद्धि प्रदर्शित की गई है।

इस प्रसंग में अद्वैतवेदान्ती शंका करते हैं कि देवदत्त का अपना शरीर इन्द्रिय आदि संघात देवदत्त के अस्मद् ज्ञान का विषय होता और वही देवदत्त के शत्रु का युष्मद् ज्ञान का विषय होता है यह अनुभव सिद्ध है। जिस पुरुष का जो पदार्थ युष्मद् ज्ञान का विषय है वही उसी पुरुष का अस्मद् ज्ञान का

---

१ विमतौ तादात्म्यशून्यौ, विरुद्धस्वभावत्वात्, तमःप्रकाशवत्।

वि प्र० सं०, पृ० २६

२ न चासिद्धो हेतुः

वि० प्र० सं०, पृ० २६

३ विमतौ विरुद्धस्वभावौ, युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरत्वाद् देवदत्ततद्वैरिवत्।

वि० प्र० सं०, पृ० २६

विषय नहीं होता है। अतः, एक पुरुष जिसको मैं हम शब्द से समझता हूँ उसको ही दूसरे व्यक्ति तुम इत्यादि शब्द से समझ सकते हैं, अतः, युष्मद् ज्ञान विषयत्व और अस्मद् ज्ञान विषयत्व के द्वारा विरुद्ध स्वभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? एक ही देवदत्त के शरीर आदि संघात युष्मद् प्रत्यय विषय और अस्मद् प्रत्यय का विषय होता है। अतः, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है, इसी प्रकार देवदत्त के शत्रु का जो शरीर है उस एक ही शरीर में अस्मत् ज्ञान (मैं) इस प्रकार ज्ञान होता है और उसी शरीर-संघात में युस्मद् ज्ञान की भी विषयता रहती है। इसलिए युष्मद् एवं अस्मत् ज्ञान का विषय होना इस हेतु के द्वारा इन दोनों में विरुद्ध स्वभावत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। अर्थात् युष्मद् ज्ञान एवं अस्मत् ज्ञान के विषय में परस्पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है। फल यही होगा कि देवदत्त एवं उसके वैरी के समान—यह जो तृतीय अनुमान के दृष्टान्त में कहा गया है इसमें भी साध्य में विरुद्ध स्वभावत्व नहीं है। दृष्टान्त साध्यशून्य होने से व्याप्ति गृहीत नहीं होगी और इसका परिणाम यही होगा कि यह हेतु व्याप्यत्वासिद्धरूप दोष से दुष्ट हो जायगा। अर्थात् साध्य का अव्याप्य यह सिद्ध होगा और अव्याप्त हेतु के द्वारा व्याप्ति सिद्ध नहीं होगी। फलतः, व्याप्ति सिद्ध नहीं होने से तृतीय अनुमान का उत्थान भी सुदूर पराहत रहेगा[१]। इसके उत्तर में पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रदर्शित अनुमान में युष्मत् प्रत्यय और अस्मत् प्रत्यय का आशय समान रूप से विवक्षित है। युष्मत् प्रत्यय एवं अस्मत् प्रत्यय के आश्रय भिन्न है इसको दृष्टान्त में नहीं कहा गया

---

१ न च धार्म्यं देवदत्तस्य स्वशरीरादिसंघातेऽस्मत्प्रत्ययस्तत्रैव तद्वैरिणो युष्मत्प्रत्ययः न च तत्र विरोधोऽस्ति। एवं तद्वैरिण्यपि प्रत्ययद्वयस्यासेन योजने दृष्टान्तः साध्यविकलः स्यादिति।

वि० प्र० सं० पृ० २६–२७

हैं। अर्थात् देवदत्त का पृथक्-पृथक् रूप में युष्मत् प्रत्यय विषयत्व एवं अस्मत् प्रत्यय विषयत्व ही विरुद्ध रहने से युष्मत् प्रत्यय विषयत्व एवं अस्मत् प्रत्यय विषयत्व विरुद्ध हैं। इसी प्रकार देवदत्त शत्रु का भी युष्मत् प्रत्यय विषयत्व एवं अस्मत् प्रत्यय विषयत्व विरुद्ध है। अतः, तृतीय अनुमान सर्वथा निर्दुष्ट है।

इसमें अद्वैतवादी की शंका है कि आत्मा और अनात्मा को पक्ष के रूप में ग्रहण किया गया है, यह आत्मा और अनात्मा किस दार्शनिक सिद्धान्त से सिद्ध है। यहां पर लोक प्रसिद्ध आत्मा और अनात्मा का ग्रहण किया गया है? अथवा प्राभाकर मत सिद्ध आत्मा और अनात्मा ग्रहण किया गया है? अथवा वेदान्तिमतसिद्ध आत्मा और अनात्मा का ग्रहण किया गया है? इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, लौकिक मत में चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है और प्रस्तर आदि अनात्मा हैं। इन दोनों का तादात्म्याध्यास एवं अभेद को वेदान्ती ने भी स्वीकार नहीं किया है। अतएव अद्वैतवेदान्त में यह दोष सर्वथा असमीचीन है। प्रथमानुमान का ऐक्याध्यास निषेध रूप साध्य है। द्वितीयानुमान के द्वारा ऐक्य निषेध रूप साध्य की सिद्धि करने का प्रयास करने से पूर्वोक्त प्रथम और द्वितीय अनुमान में सिद्ध साधन रूप दोष हो जायगा। इसी प्रकार लोक प्रसिद्ध आत्मा और अनात्मा को पक्ष कर जो तृतीय अनुमान दिखाया है उस तृतीय अनुमान में अनुभव विरोध अनुभूत नहीं होता है। इन दोनों में भेद सिद्ध होने पर भी विरोध का अनुभव किस प्रकार होता है? इसी प्रकार द्वितीय विकल्प (प्राभाकर मत) भी समीचीन नहीं है। प्राभाकर आदि ने प्रमातृत्व कर्तृत्व भोक्तृत्व का आश्रयभूत जडस्वरूप आत्मा को स्वीकार किया है। इन्द्रिय देहादि निखिल प्रपंच को अनात्मा के रूप में स्वीकार किया है। इस प्राभाकर मत के अनुसार विवेचन किया जाय तो वेदान्त मत में प्रमातृत्व आदि का आश्रय अन्तःकरण है एवं उसका कारण

अज्ञान भी जड है अन्तःकरण स्वयं भी जड है। अतः प्राभाकर सम्मत आत्मा और अनात्मा का वेदान्त सम्मत आत्मा में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसका फल यही होता है कि वेदान्त की दृष्टि से जब एक ही अनात्म वस्तु रह गया तब उसका अध्यास और तादात्म्य क्या हो सकता है? प्राभाकर सम्मत आत्मा वेदान्त-मत में अनात्मा ही है। अर्थात् एक कोटि अनात्मा में ही दोनों अवस्थित होने से तादात्म्याध्यास और विरोध का प्रसंग ही नहीं उठता है। कारण, दो वस्तुओं में ही अध्यास अथवा परस्पर विरोध होता है। इसलिए प्राभाकर मत का वेदान्त के अनुसार विवेचन किया जाय तो प्रथम दो अनुमान में सिद्ध साधन और तृतीय में अनुभव विरोध रहेगा[1]।

इस प्रकार तृतीय पक्ष वेदान्त सम्मत आत्मा और अनात्मा का ग्रहण भी असमीचीन है। वेदान्तिगण सर्वोपाधिरहित विज्ञान रूप आत्मा को स्वीकार करते हैं और इससे अतिरिक्त सभी पदार्थों को अनात्मा के रूप में स्वीकार करते हैं। इसमें जिज्ञासा हो सकती है कि एक ही विज्ञान रूप आत्मा में अर्थात् एक ही पूर्वोक्त अनात्मा में ये पूर्वोक्त द्विविध युष्मत् एवं अस्मत् प्रत्यय विषयत्व पूर्वोक्त हेतु रूप में विवक्षित है? अथवा आत्मा में ही केवल अस्मत् प्रत्यय गोचरत्व और युष्मत प्रत्यय विषयत्व को हेतु किया गया है? इसमें प्रथम पक्ष स्वीकार करने से स्वरूपासिद्धिरूप हेत्वाभास का प्रसंग है। कारण, पक्ष में हेतु के न रहने पर स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास रहता है। प्रकृत स्थल में एक ही विज्ञान रूप आत्मा में अथवा पूर्वोक्त अनात्मा में युष्मत् प्रत्यय विषयत्व और अस्मत् प्रत्यय विषयत्व रूप हेतु नहीं रह सकता है। पक्ष तो आत्मानात्म मिलित है, अतः, भिन्न रूप से रहने का प्रश्न ही नहीं है। इसलिए पूर्वोक्त हेतु के द्वारा आत्मा और अनात्मा का विरुद्ध स्वभावत्व का साधन तृतीय अनुमान के

---

१ वि० प्र० सं०, पृ० २७-२८

द्वारा सम्भव नहीं है। स्वरूपासिद्ध रूप हेत्वाभास दोष से दुष्ट हेतु अपने साध्य का साधक नहीं होता है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, कारण, इस पक्ष को स्वीकार करने से भागासिद्धि दोष हो जायगा। पक्ष के एक देश में (भाग में) हेतु के नहीं रहने से भागासिद्धि दोष होता है। कारण, देह इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण आदि अनात्म पदार्थ में युष्मत् प्रत्यय विषयता नहीं हैं। अतः अनात्मरूप पक्ष में हेतु न रहने के कारण भागासिद्धि होगी। इसमें पुनः शंका होती है कि व्यवहार की दृष्टि से देहेन्द्रियादि अनात्म वर्ग में युष्मत प्रत्यय की विषयता नहीं होती है, परन्तु शास्त्र दृष्टि के अनुसार चित्प्रकाश युष्मत् शब्द का अर्थ है। इस प्रकार चिदवभास्यत्व युष्मत् का अर्थ है यह स्वीकार करने से पूर्वोक्त देहेन्द्रियादि में युष्मत् ज्ञान की विषयता है, अतः, पूर्वोक्त भागासिद्धि दोष प्रदर्शन भी असमीचीन है। इस प्रकार विश्लेषण से भी निस्तार नहीं है। स्वप्रकाश-चिदात्मा में वेदान्ती लोग अस्मत् प्रत्यय का विषयत्व स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए पक्ष के एक देश स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा में अस्मत् प्रत्यय-विषयता न रहने से भागासिद्धि दोष दुर्निवार रहता है। आत्मा और अनात्मा दोनों मिलित पक्ष हैं। पक्ष रूप आत्मा में अस्मत् प्रत्यय विषयत्व नहीं है। कारण, अद्वैतवेदान्ती के अनुसार आत्मा सभी का अविषय है। वेद्य ही ज्ञान का विषय होता है, अवेद्य होकर अपरोक्ष व्यवहार की योग्यता रहना ही स्वप्रकाशत्व है। अतः, अवेद्य आत्मा में अस्मत् ज्ञान वेदनीयता कैसे सम्भव है? इसके उपसंहार में कहा जा सकता है कि पूर्वपक्षी का प्रदर्शित अनुमान साध्य की सिद्धि कराने में असमर्थ है[1]।

---

१ आद्ये स्वरूपासिद्धिः, द्वितीये भागासिद्धिः। देहेन्द्रियान्तःकरणप्राणादिष्वनात्मसु युष्मत्प्रत्ययाभावात्। व्यवहारदृष्ट्या तदभावेऽपि शास्त्रदृष्ट्या चिदवभास्यो युष्मदर्थः इत्येतल्लक्षणानुसारेणास्त्येव तत्र युष्मत्प्रत्यय इति चेद्, एवमपि स्वप्रकाशे चिदात्मनि वेदान्तिनामस्मत्प्रत्ययाभावात् स दोषस्तदवस्थः तस्मात् नानुमानसिद्धिरिति।

वि० प्र० सं०, पृ० २८-२९

प्रदर्शित आपत्ति का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है। उनका कथन यही है कि अद्वैतवेदान्ती के प्रति प्रदर्शित तृतीयानुमान से भेद की सिद्धि भी सम्भव है। इस प्रदर्शित अनुमान में जो भागासिद्धि का प्रदर्शन किया गया है उसके परिहार के विना यह अनुमान कैसे सम्भव है? किन्तु पूर्वपक्षी का कथन है कि स्वप्रकाश चैतन्य में अन्तःकरण का तादाम्याध्यास होने से स्वप्रकाश चैतन्य भीं व्यवहार के योग्य रहता है। अर्थात् मैं जा रहा हूँ, मैं सुन रहा हूं इस प्रकार स्फुटतर व्यवहार सम्भव होता हैं। मात्र शुद्ध स्वप्रकाश आत्मा स्फुटतर व्यवहार के योग्य नहीं रहता है। अतः, स्पष्ट है कि स्वप्रकाश चिदात्मा साक्षात् अस्मत् प्रत्यय का विषय न रहने पर भी उसमें अहंकार का तादात्म्याध्यास प्रयुक्त गौण रूप से उसमें अस्मत् प्रत्यय विषयता रह सकती है। इसमें पुनः शंका होती है कि देवदत्त और उसके शत्रु का जो शरीर है इन दोनों के देह का साक्षी ही चैतन्य है। वे ही परस्पर युष्मत् प्रत्यय एवं अस्मत् प्रत्यय का विषय होता है। अर्थात् देवदत्त शरीर का साक्षी है देवदत्त के शत्रु का चैतन्य इसलिए शत्रु देवदत्त शरीर युष्मत् प्रत्यय विषय हुआ। यद्यपि चैतन्य स्वरूपतः एक है फिर भी देवदत्त और उसके शत्रु के भिन्न देहद्वयरूप उपाधिद्वय के भेद से साक्षी चैतन्यद्वय है। वे ही दोनों अन्य (शत्रु) की अपेक्षा युष्मत् प्रत्यय विषय एवं अपने शरीर की अपेक्षा से अस्मत् प्रत्यय विषय होता है। अर्थात् दोनों ही साक्षी चैतन्य शत्रु और स्व की अपेक्षा से युष्मत् और अस्मत् प्रत्यय का विषय होता है। अतः, विरोध की अवस्था ही नहीं आती है। इसमें विरोध नहीं होने से प्रदर्शित अनुमान में हेतु व्यभिचारी हो जायगा। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त चैतन्यद्वय में युष्मत्-अस्मत् प्रत्यय विषयत्व रूप हेतु है और विरुद्ध स्वभावत्व रूप साध्य नहीं है। साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के सद्भाव से हेतु व्यभिचारी होगा और इस व्यभिचार हेतु से साध्य की सिद्धि सम्भावित नहीं है। अत एव युष्मत्

प्रत्यय-विषय और अस्मत्-प्रत्यय - विषय विरुद्ध स्वभाव है यह कथन अनुचित है। यह शंका भी वेदान्तियों की अनुचित है। कारण, चैतन्य में युष्मत्-प्रत्यय-विषयत्व नहीं रह सकता है। युष्मत् - प्रत्यय का विषय सतत चित्प्रकाश होता है। अतः चैतन्य चैतन्य से भासित नहीं होता है, वरन्, जड़ ही चैतन्य से अवभासित होता है।

प्रकृत स्थल में चित्प्रकाश्यत्व रूप युष्मत् शब्द का अर्थ विवक्षित है। इसलिए चैतन्य को युष्मत् शब्द का अर्थ स्वीकार कर जो विरोधाभाव प्रयुक्त व्यभिचार प्रदर्शित किया गया है वह असमीचीन है। फलतः, यह स्थिर हो गया कि अस्मत् शब्द का अर्थ चित् है और युष्मत् शब्द का अर्थ उससे भिन्न है। अस्मत् शब्द का अर्थ चित् है और युष्मत् शब्द का अर्थ चिदवभासित देहादि है। अतः, दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले हैं यह तृतीय अनुमान के द्वारा सिद्ध हो गया। इसमें वेदान्ती का पुनः यह कथन है कि—पूर्वोक्त तृतीय अनुमान के द्वारा प्रत्यय अर्थात् ज्ञान के द्वारा आत्मा और अनात्मा का विरोध सिद्ध किया गया है। परन्तु, स्वरूपतः आत्मा और अनात्मा का विरोध सिद्ध नहीं होता है, इसलिए, पूर्वपक्षी ज्ञान के द्वारा विरोध न दिखाकर स्वरूपतः विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं[1]। आत्मा अनात्मा (पक्ष) विरुद्ध स्वभाव है

---

१ वेदान्तिनं प्रत्यस्त्येवानुमानसिद्धिः। न चात्मनि भागासिद्धिः, स्वप्रकाशस्याप्यहंकारे स्फुटतरव्यवहारयोग्यत्वेनास्मत्प्रत्ययगोचरत्वस्योपचरितुं शक्यत्वात्। न चैवं मन्तव्यं देहद्वयसाक्षिणोश्चैतन्ययोरन्योऽन्यं युष्मदस्मदर्थत्वेऽपि विरोधाभावादनैकान्तिक इति, चैतन्यस्य चिदवभास्यत्वलक्षणलक्षितयुष्मदर्थत्वाभावात्। तादृश एव चात्राभिप्रेतो न तु लौकिकयुष्मदर्थः। तथाप्येतेनानुमानेन प्रत्ययद्वारा विरोधसिद्धिर्न तु स्वरूपेणेति चेत् तर्ह्येवमस्तु।

वि० प्र० सं०, पृ० २९-३०

(साध्य) विषयविषयित्वरूप होने से (हेतु) जैसे नेत्र और रूप (दृष्टान्त)। इस अनुमान में आत्मा विषयी है और अनात्मा विषय है। यह विषयिरूपता और विषयरूपता स्वभावतः विरुद्ध है। दृष्टान्त में भी नेत्र विषयी है और रूप विषय है। इस चतुर्थ अनुमान में भी यह आपत्ति है कि आत्मा चिद्रूप है और अनात्मा जड़ रूप है, इसलिए, चिद्रूप आत्मा जड़ रूप अनात्मा का साधक है, जड़ रूप अनात्मा उसका साध्य है। जो जिसका साधक है और जो जिसका साध्य है इन दोनों साध्य - साधक में परस्पर विरोध नहीं रह सकता है। साध्य और साधक का विरोध होने से कभी भी वस्तु की सिद्धि नहीं होगी, इसलिए, प्रकृत स्थल में यह आनुकूल्य है। अनुभूत होता है कि विरोध प्रतिकूलतास्वरूप है। इसलिए साध्य का साधक के साथ वध्य-घातक भाव रूप विरोध अथवा सहावस्थान सामर्थ्याभाव रूप विरोध सम्भव नहीं हो सकता है, इसलिए, आत्मा का अनात्मा के साथ पूर्वोक्त विरोध प्रसाधन करने से अनुभव विरोध रहेगा और नेत्र और रूप में भी परस्पर विरोध नहीं है, नेत्र के द्वारा रूप सिद्ध ही होता है, अन्यथा रूप का साधक दूसरा कौन हो सकता है ! इसलिए, नेत्र रूप दृष्टान्त में विरुद्ध स्वभाव साध्य नहीं है, अतः, दृष्टान्त साध्य-विकल है। दृष्टान्त की साध्यविकलता की स्थिति में दोष होता है[१]।

---

१ दृष्टान्त साध्यविकल होने से दृष्टान्त विपक्ष हो जायगा और इससे दृष्टान्त में हेतु के रहने पर व्यभिचार रहेगा——यह कथन अनुचित है। कारण, गृहीत व्याप्ति का ही स्थानान्तर में व्यभिचार प्रदर्शन किया जाता है। दृष्टान्त साध्यविकल होने से व्याप्ति ही गृहीत नहीं हो सकेगी, इसलिए, उसके व्यभिचार की चिन्ता कैसे हो सकती है ? साध्य का सामानाधिकरण्य गृहीत होने से ही हेतु में व्याप्तिग्रह होता है। अतः, साधन भी दृष्टान्त में नहीं रहे तब भी व्याप्ति गृहीत नहीं होगी। पूर्वोक्त स्थल में दृष्टान्त साध्यविकल अथवा साधनविकल रहने से व्याप्ति का अग्रहण रूप दोष रहेगा।

इस चतुर्थ अनुमान के द्वारा दो विरुद्ध स्वभाव साध्य का प्रसाधन किया गया हैं, यह विरुद्ध स्वभाव परस्परात्मतासामर्थ्याभाव है वध्य - घातक अथवा सहानवस्थानरूप विरोध नहीं है—यह कथन भी उचित नहीं होगा। यह विरोध भाव पदार्थ का अभाव पदार्थ में सुस्पष्ट अनुभव सिद्ध है, भावपदार्थ और अभाव पदार्थ में परस्पर तादात्म्य लाभ का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए परस्पर तादात्म्याभाव रूप विरोध ही इस चतुर्थ अनुमान में विवक्षित हैं[1]। इसमें पुनः आपत्ति यह है कि परस्पर आत्मसार्थ्याभावरूप विचार यदि साध्य है तब पूर्वप्रदर्शित द्वितीयानुमान में तमःप्रकाशवत् दृष्टान्त साध्य विकल हो जायगा। कारण, तमः और प्रकाश का सहावस्थान सामर्थ्याभावरूप विरोध प्रसिद्ध है। अर्थात् प्रकाश और अन्कार एक साथ नहीं रहता है।

इसके विरोध में अनुमानप्रदर्शनकारी का कथन है कि अन्धकार और प्रकाश का एक साथ अवस्थान होता हैं। मन्द प्रदीप वाले घर में अंधकार का प्रकाश के साथ सह अवस्थान देखा गया है। यदि ऐसा नहीं होता तो स्फीतालोक प्रदेश में रूप का जिस तरह स्पष्ट प्रदर्शन होता है उसी तरह मन्द प्रकाश वाले घर में भी स्पष्ट रूप का दर्शन होना चाहिए। यदि आलोक और अंधकार के साथ सह अवस्थान रूप सामर्थ्याभावविरोध स्वीकार किया जाय तो स्फीतालोक प्रदेश में जैसे रूप का दर्शन होता है वैसे ही मन्द प्रदीप वाले घर में भी रूप का स्पष्ट दर्शन होना चाहिए। कारण, आलोक के साथ अंधकार का सहावस्थान रूप सामर्थ्याभाव विरोध ही विरुद्धवादी स्वीकार करते हैं। मन्द प्रदीप वाले घर में भी स्फीतालोक न रहने पर भी आलोक तो है ही[2]।

---

१ आत्मानात्मानौ विरुद्धस्वभावौ, विषयिविषयत्वात्, नेत्ररूपवदिति ——भावाभाववत् परस्परात्मतासामर्थ्याभावलक्षणस्य विरोधस्येह विवक्षितत्वात्।
वि० प्र० सं० पृ० ३०

२ वि० प्र० सं०, पृ० ३०-३१

इसमें अद्वैतवेदान्ती कहना चाहते हैं कि तमः पद के द्वारा अंधकार सामान्य का ग्रहण न कर लक्षणा के द्वारा अंधकार विशेष छाया का ग्रहण किया जाता है, इसी प्रकार प्रकाश शब्द के द्वारा प्रकाश सामान्य का ग्रहण न कर लक्षणा के द्वारा छायातप का ही ग्रहण किया जाता है और इन दोनों में सहावस्थान सामर्थ्याभावरूप विरोध सिद्ध हो जाता है। किन्तु, अद्वैतवेदान्तिओं का यह कथन भी उचित नहीं है। एक प्रकार की छाया में उष्णता गुण का तारतम्य रूप से अनुभव होता है। इस उष्णता धर्म के द्वारा अपने धर्मी तेजः पदार्थ आतप का भी अवस्थान सूचित हो रहा है। इसमें सन्देह का अवसर नहीं है कि धर्मी को छोड़कर धर्म का अवस्थान सर्वथा असम्भावित है, इसलिए, एक प्रकार की छाया में उष्णता धर्म की न्यूनाधिक्य रूप से उपलब्धि अपने धर्मी आतप की भी अवस्थिति ज्ञापित करती है। जब धर्म की उपलब्धि हो रही है तब धर्मी का अस्तित्व अवश्य मानना पड़ेगा। इसलिए अंधकार प्रकाश को छोड़कर छायातपवत् दृष्टान्त स्वीकार करने पर भी इन दोनों का सहावस्थान रह ही जायगा[1]।

अद्वैतवेदान्ती का कथन है कि तमः प्रकाश शब्द में लक्षणा के द्वारा छायातप का ग्रहण न कर लक्षितलक्षणा के द्वारा शैत्य और उष्णता का ग्रहण होगा और इन दोनों का सहानवस्थान प्रसिद्ध है। इसके उत्तर में अनुमान करने वालों का कथन है कि शैत्य ओर उष्णता का भी तारतम्य से एक स्थान में अवस्थान अनुभव सिद्ध है। जहां अधिक ठण्डा है वहां भी गर्मी का स्वल्प साथ ही अनुभव होता है, जहां अधिक गर्मी है वहां ठण्डे का भी एक साथ अनुभव होता

---

१ तम- प्रकाशशब्दाभ्यां तदेकदेशभूतौ छायातपावुपलक्ष्येते इति चेत्, तथापि छायायामेकविधायां तारतम्येनोपलभ्यमानमौष्ण्यं स्वधर्मिण आतपस्यापि अवश्यमवस्थानं सूचयतीति सहावस्थानं दुर्वारम्।

वि० प्र० सं०, पृ० ३१

ही है। इस विश्लेषण से यही सिद्ध होता है कि जैसे जाति और व्यक्ति भिन्न है फिर भी अभिन्न रूप में उनका स्फुरण होता है। उस तरह अन्धकार और प्रकाश का तादात्म्य अनुभूत नहीं होता है। इसलिए, प्रकृत स्थल में सहावस्थान लक्षण विरोध अथवा वध्य-घातक रूप विरोध विवक्षित नहीं है, वरन्, परस्परात्मता-सामर्थ्याभावरूप विरोध ही विवक्षित है। जाति और व्यक्ति में परस्पर तादात्म्य का सामर्थ्य है। अयं घटः, नीलो घटः आदि स्थल में जाति द्रव्य के साथ अभिन्न रूप में भासित होती है, परन्तु अंधकार और प्रकाश में ऐसी बात नहीं है उसमें परस्पर तादात्म्यसामर्थ्याभाव लक्षण विरोध है। अत एव, यह सिद्ध हुआ कि द्वितीयानुमान में परस्पर-तादात्म्य-सामर्थ्याभाव ही विरोध शब्द का अर्थ है[1]।

इसमें वेदान्तियों की आपत्ति है कि द्वितीय अनुमान में तमः प्रकाश दृष्टान्त यदि स्वीकार किया जाय तब भावाभावत्व रूप उपाधि होगी। कारण, नैयायिक अंधकार को आलोकाभाव रूप में स्वीकार करते हैं। प्राभाकर रूप-दर्शनाभाव को ही अंधकार स्वीकार करते हैं और प्रकाश को भावरूप में ही सभी ने स्वीकार किया है। इसलिए तमः प्रकाश को यदि दृष्टान्त स्वीकार किया तब तो भावाभावत्वरूप उपाधि रहेगी। जो धर्म दृष्टान्त में रहकर पक्ष में नहीं रहता है वह उपाधि होता है। भावाभावत्व रूप तमः प्रकाश रूप दृष्टान्त में है। अर्थात् जहां जहां तमः प्रकाशत्व है वहां भावाभावत्व है। इसलिए, भावाभावत्व साध्य का व्यापक हो गया। अर्थात् जहां जहां तादात्म्याभाव है वहां वहां भावाभावत्व है और यह उपाधि पक्ष में न होने के कारण

---

१ एवमेव तमःप्रकाशशब्दाभ्यां लक्षितलक्षणया छायातपश्चयोः शैत्यौष्ण्ययोः स्वीकारेऽपि सहावस्थानं सुसंपादम्। तस्मात् जातिव्यक्त्योर्यथा तादात्म्यासामर्थ्यं नैवं तमःप्रकाशयोरित्ययमेव तयोर्विरोधः।

वि० प्र० सं०, पृ० ३१

साधन का अव्यापक है। प्रकृत में आत्मानात्म पक्ष है उसमें भावाभावत्व रूप उपाधि नहीं है। इसीलिए जहां जहां विरुद्ध स्वभावत्व है वहां भावाभावत्व है यह नहीं कहा जा सकता है। जो धर्म साध्य का व्यापक होकर हेतु का अव्यापक होता है, वही उपाधिरूप से गृहीत होता है। उपाधि के द्वारा हेतु के साध्य व्यभिचार का अनुमान किया जाता है और साध्य का व्यभिचारी हेतु साध्य साधन में समर्थ नहीं होता हैं। अतएव पूर्वोक्त द्वितीय अनुमान में तमः प्रकाश दृष्टान्त देना समीचीन नहीं है। इस प्रसंग में अवगति के लिए उपाधि का विश्लेपण आवश्यक प्रतीत होता है इसलिए पाद टीका में इसका सामान्य विश्लेपण प्रस्तुत कर रहा हूँ [1]।

---

१ उपाधि का लक्षण है साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। जो धर्म साध्य का व्यापक हो और साधन का अव्यापक हो उसको उपाधि कहते हैं। जैसे यदि कोई यह अनुमान करे कि अयोगोलकं, धूमवत्, वह्नेः लोहे का गोला वह्नियुक्त होने से धूमवान् है तो इस अनुमान में धूम साध्य है, वह्नि साधन है, और आर्द्रेन्धनसंयोग को यहां उपाधि कहा है। यह आर्द्रेन्धन संयोग रूप धर्म, साध्य जो धूम है, उसका व्यापक है। अर्थात् जहां जहां धूम होता है वहा आर्द्रेन्धन संयोग अवश्य होता है, अतः यह साध्यव्यापक हुआ। इसके विपरीत आर्द्रेन्धन संयोग साधनभूत धर्म वह्नि का व्यापक नहीं है। अर्थात् जहां जहां वह्नि हो वहां वहां आर्द्रेन्धन संयोग का होना आवश्यक नहीं है। जैसे इसी अयोगोलक (लोहे के गोले) में अग्नि तो है, परन्तु, आर्द्रेन्धन-संयोग नहीं है। यह साधनाव्यापक हुआ। इस प्रकार आर्द्रेन्धन-संयोग में साध्यव्यापकत्व और साधनाव्यापकत्व दोनों अंश घट जाने से उसमें उपाधि का पूरा लक्षण घट जाता है। इसलिए यह हेतु सोपाधिक है। अर्थात् यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः यह सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं औपाधिक है।

औपाधिक सम्बन्ध का दूसरा उदाहरण यह है कि कोई मैत्री नामक स्त्री व्यक्ति है। उसके पांच पुत्र हैं, जिनमें से चार को हमने देखा है और यह सब श्याम वर्ण हैं। पाचवें पुत्र को हमने नहीं देखा है किन्तु वह गौर वर्ण

इसके उत्तर में अनुमान प्रदर्शन करने वालों का कथन है कि हमलोग तमःको अभाव रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, इसलिए, दृष्टान्त में उपाधि की सम्भावना नहीं है, अतः, तमः को न्याय एवं प्राभाकर के मतानुसार अभाव रूप स्वीकार कर पूर्वोक्त उपाधि का प्रदर्शन समीचीन नहीं है। तमः अभाव रूप नही वरन् भाव रूप है इस प्रसंग में विवरण में विस्तृत विचार किया गया है। ग्रन्थ कलेवर की वृद्धि शंका से इस प्रसंग के विश्लेषण से विरत हो रहा हूँ।

का है। परन्तु जिसने मैत्री के चार पुत्रों में श्यामत्व देखा है वह उस भूयः सहचार दर्शन के आधार पर मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध अथवा व्याप्ति मान कर उसने देखे हुए पांचवें पुत्र में भी श्यामत्व का अनुमान "सः श्यामः मैत्रीतनयत्वात् परिदृश्यमानमैत्रीतमयवत्" इस प्रकार कर सकता है। यहां मैत्रीतनयत्वात् हेतु श्यामत्व की सिद्धि के लिए दिया गया है। परन्तु यह हेतु सोपाधिक है। इसमें शाक-पाक-जन्यत्व उपाधि विद्यमान है। अर्थात् श्यामत्व का प्रयोजक मैत्रीतनयत्व नहीं अपि तु शाकपाकजन्यत्व है। इस प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं। उपाधि का लक्षण साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् है। वह शाक-पाक-जन्यत्व में पूर्ण रूप से घट जाता है। यहां साध्य श्यामत्व और साधन मैत्रीतनयत्व है। शाकपाकजन्यत्व यह साध्यव्यापक हुआ।

शाकपाकजन्यत्व का अभिप्राय यह है कि बालक के गौर और श्याम वर्ण पर गर्भ काल में किए गए माता के आहार का प्रभाव पड़ता है। यदि माता दुग्ध दधि आदि पदार्थों का अधिक सेवन करती है तो बालक गौर वर्ण का होता है। इसके विपरीत यदि गर्भ काल में माता हरे शाक आदि का अधिक सेवन करती है तो बालक का वर्ण श्याम होता है। अर्थात् श्यामत्व का प्रयोजक या कारण मैत्रीतनयत्व नहीं अपि तु शाकपाकजन्यत्व है। जहां जहां शाक-पाक-जन्यत्व होता है वहां वहां श्यामत्व अवश्य है, अतः, साध्य-व्यापक हुआ। परन्तु जहां जहां मैत्रीतनयत्व होता है वहां वहां शाक-पाक-जन्यत्व अवश्य हो यह आवश्यक नहीं है। माता गर्भ काल में शाकादि के स्थान पर दुग्ध आदि का सेवन करे यह भी हो सकता है। ऐसी

पूर्वोक्त तृतीय अनुमान के द्वारा आत्मा और अनात्मा में प्रतीति के द्वारा विरोध कहा गया है और चतुर्थ अनुमान के द्वारा स्वरूपतः विरोध प्रदर्शन किया गया है। पूर्वोक्त अनुमानों के द्वारा यह सिद्ध कराने का प्रयास किया गया है कि आत्मा और अनात्मा में परस्पर सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण, आत्मा और अनात्मा में परस्पर तादात्म्य लाभ करने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिए इसमें तादात्म्याध्यास सम्भव नहीं है। आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य अर्थात् अभेद कहीं देखा जाता तो स्थानान्तर में तादात्म्य का बोध सम्भव होता। पूर्व पक्षी का जो यह कथन हैं कि आत्मा और अनात्मा का तादात्म्याध्यास का अभाव प्रदर्शन करने के लिए अनुमान प्रदर्शनकारी प्रधानतया आत्मा और अनात्मा में परस्पर तादात्म्याध्यास का अभाव सिद्ध कराने के लिए ही तादात्म्य सामर्थ्याभाव को हेतु के रूप में दिया है। किन्तु, यह हेतु व्यभिचार दोष से दुष्ट है। कारण, यह प्रत्यक्ष अनुभव सिद्ध है, इदं रजतं (यह रजत है) इस प्रमात्मक ज्ञान में पूर्व भाग में अवस्थित

दशा में यत्र यत्र शाक-पाक जन्यत्वं यह आवश्यक न होने से साधनाव्यापकत्व हुआ। इस प्रकार शाक-पाक-जन्यत्वरूप उपाधि के वर्तमान होने से साधना-व्यापकत्व हुआ। इस प्रकार शाक-पाक-जन्यत्व रूप उपाधि के वर्तमान होने से मैत्री तनयत्व और श्यामत्व का स्वभाविक सम्बन्ध नहीं है अपि तु औपाधिक सम्बन्ध है।

यद्यपि जहां जहां मैत्रीतनयत्व है वहां वहां श्यामत्व भी है इस प्रकार (मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का भूयः सहचार मैत्री के चार पुत्रों में. धूम और वह्नि के भूयः सहचार दर्शन के समान) भूयो दर्शन समान रूप से प्रतीत होता है। फिर भी मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है अपितु औपाधिक (सम्बन्ध.) ही है। शाकादि अन्न परिणाम रूप उपाधि के विद्यमान होने से श्यामत्व है, क्योंकि, श्यामत्व का प्रयोजक मैत्रीतनयत्व नहीं है, किन्तु, शाकादि अन्न परिणाम ही (श्यामत्व में) प्रयोजक है। प्रयोजक को ही उपाधि कहते हैं।

जो वस्तु (शुक्ति खण्ड) और जो रजत ये दोनों वस्तु परस्पर भिन्न हैं, इसीलिए इन दोनों में तादात्म्य लाभ करने का सामर्थ्य नहीं है। किन्तु भ्रमस्थल में पूर्ववर्ती वस्तु और रजत का तादात्म्य भ्रम होता है। यदि इस प्रकार का भ्रम नहीं होता तब पूरोवर्ती वस्तु और रजत को समान रूप में निर्देश नहीं किया जाता। इस स्थिति में पूर्वोक्त भ्रान्ति स्थल में अन्योन्य तादात्म्यात्माभाव रूप हेतु रहने पर भी परस्पर तादात्म्याध्यासाभाव रूप साध्य नहीं है, अपितु परस्पर तादात्म्याध्यास ही हैं। इसलिए परस्पर तादात्म्यसामर्थ्याभाव रूप हेतु परस्पर तादात्म्याध्यासाभाव रूप साध्य का व्यभिचारी हो गया। अतः अनुमानवादी इस प्रकार प्रदर्शित पूर्वोक्त हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं। इस आपत्ति के समाधान में अध्यास-पूर्वपक्षवादी का कथन है कि प्रदर्शित भ्रम स्थल में पुरोवर्ती इदं वस्तु और रजत इन दोनों में परस्पर तादात्म्य का सामर्थ्य है, अतएव यह रजत है, इस भ्रम स्थल में परस्पर तादात्म्याध्यास का साधक परस्पर तादात्म्य सामर्थ्याभाव रूप हेतु नहीं है। पुरोवर्ती इदं वस्तु और रजत इन दोनों में परस्पर तादात्म्य सामर्थ्य बाजार में स्थित रजत खण्ड में प्रत्यक्ष सिद्ध है। जिस प्रकार भ्रम ज्ञान के स्थल में यह रजत है, इस प्रकार ही इदं वस्तु के साथ रजत की तादात्म्य प्रतीति होती है, उसी प्रकार वीपणिस्थ समीचीन रजत स्थल में भी यह रजत हैं, इस प्रकार ज्ञान होने से पुरोवर्ती वस्तु के साथ रजत का तादात्म्य है। इस तादात्म्य का प्रत्यक्षतः अनुभव हो रहा है। निष्कर्ष यह हुआ कि समीचीन रजत स्थल में जिस प्रकार पुरोवर्ती वस्तु और रजत का तादात्म्य प्रतीत होता है, अन्यत्र भ्रम स्थल में भी पुरोवर्ती शुक्तिका-खण्ड में भी यह रजत है, इस प्रकार रजत का अभेद होता है। किन्तु आत्मानात्म का तादात्म्य सामर्थ्य कहीं भी अवगत नहीं है। इसलिए पुरोवर्ती वस्तु और रजत तादात्म्याध्यास के दृष्टान्त से आत्मा और अनात्मा में तादात्म्या-

ध्यास सिद्ध नहीं किया जा सकता है। पुरोवर्ती वस्तु के साथ रजत का तादात्म्य सामर्थ्य वीपणिस्थ सत्य रजत स्थल में अवधृत है। इसलिए भ्रम स्थल में इन दोनों का तादात्म्याध्यास ही सम्भावित है। परन्तु आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य कहीं भी अवधृत नहीं है, इसलिए पुरोवर्ती वस्तु और भ्रम स्थल स्थित रजत दृष्टान्त के द्वारा आत्मानात्म के तादात्म्याध्यासा का आपादन सर्वथा असमीचीन है।

अध्यासवादी ने जो यह कहा है कि पुरोवर्ती वस्तु और रजत भिन्न होने के कारण इन दोनों में तादात्म्य सामर्थ्य का अभाव है—यह कथन सर्वथा असमीचीन है। कारण, सत्य रजत स्थल में यह सम्भव है, इसका उपपादन पूर्व में ही कर दिया है। अध्यासवादी वेदान्ती शंका करते हैं कि सत्य रजत स्थल में पुरोवर्ती वस्तु और रजत का जिस प्रकार वास्तव तादात्म्य है, इसी प्रकार आत्मा और अनात्मा का भी वास्तव तादात्म्य कहीं स्वीकार किया जायगा। इसलिए आत्मा और अनात्मा में परस्पर तादात्म्यसामर्थ्य सम्भव होने के कारण अनुमानवादी के द्वारा प्रदर्शित तादात्म्यसामर्थ्याभाव रूप हेतु असिद्ध है। अध्यासवादी का यह कथन भी समीचीन नहीं है, पुरोवर्ती वस्तु और रजत के समान आत्मा और अनात्मा में वास्तव तादात्म्य कहीं भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है[1]। कारण, आत्मा द्रष्टा है और अनात्मा जड़-वर्ग दृश्य है। इस स्थिति में अध्यासवादी क्या द्रष्टा आत्मा का दृश्य अनात्मा के साथ तादात्म्य स्वीकार करना चाहते हैं? अथवा दृश्य का ही द्रष्टा के साथ तादात्म्य (अभेद) मानना चाहते हैं? यदि प्रथम विकल्प

---

१ न चैवमात्मानात्मनोरपि क्वचिद्वास्तवतादात्म्ये सति तत्सामर्थ्यासम्भवादसिद्धो हेतुरिति वाच्यम्, वास्तवतादात्म्यस्य तयोः क्वापि दुःसंपादत्वात्।

वि० प्र० सं०, पृ० ३६

स्वीकार किया जाय अर्थात् द्रष्टा का दृश्य का साथ तादात्म्य अभ्युपगम किया जाय तो इस में यह प्रश्न होता है कि यह तादात्म्य स्वाभाविक है या बाह्य किसी कारण से उत्पन्न होने से आगन्तुक है ? द्रष्टा ओर दृश्य का तादात्म्य स्वभाविक नहीं हो सकता है। कारण, आत्मा चिद् रूप है। इसलिए उसमें दृश्यांश का रहना सम्भव नहीं है। यदि अध्यासवादी यह स्वीकार नहीं करना चाहते हैं तो कर्म-कर्तृ भाव का विरोध होने के कारण द्रष्टा और दृश्य में तादात्म्य उपपन्न नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि द्रष्टा कर्त्ता है और द्रष्टा की अपेक्षा कर दृश्य उसका कर्म[1] होता है। दृश्य और द्रष्टा का कर्म और कर्तृभाव में अवस्थान तभी सम्भव होगा जब दृश्य द्रष्टा से भिन्न रूप में अवस्थित रहे। प्रकारान्तर में दृश्य और द्रष्टा में कर्म और कर्तृभाव सम्भव नहीं रहेगा[2]।

---

१ आचार्यों ने परसमवेतक्रियाजन्य फल के आश्रय को कर्म कहा है। (परसमवेत-क्रिया-जन्य-फल-शालित्वं कर्म)जैसे--चैत्र नगर जाता है, इस वाक्य में कर्त्ता चैत्र है और कर्म नगर है। यहां पर क्रिया गमन है। इस क्रिया का आश्रय चैत्र है और इस क्रिया से जन्य फल नगर संयोग है, इस संयोग रूप फल का आश्रय नगर है, इसलिए प्रकृत में नगर कर्म है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि चैत्र में समवेत क्रिया से जन्य नगर संयोगरूप फल की प्राप्ति होने पर संयोग द्विष्ठ होता है, अतः चत्र भी क्रियाजन्य फल का शाली है। यद्यपि चैत्र गमन क्रिया जन्या फलशाली है तथापि गमनक्रिया चैत्र में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान है -अन्य में समवाय सम्बन्ध से वर्त्तमान नहीं है। नगर में कर्मत्व मानने पर नगर से पर जो चैत्र है उसमें समवेत जो क्रिया उससे जन्य फलशाली नगर है, अतः इसको कर्मत्व माना है। आशय यह है कि चैत्र गमनक्रियाफलशाली होने पर भी स्व समवेत ही क्रिया है, अतः परसमवेतक्रियाजन्य फलशाली न होने से चैत्र गमनक्रिया का कर्म नहीं, वरन्, चैत्र गमन क्रिया का कर्त्ता है। (स्वासमवेतक्रियाजन्याफलशालित्वं कर्म

२ वि० प्र० सं०, पृ० ३६-३७

यदि द्रष्टा के साथ दृश्य का आगन्तुक तादात्म्य स्वीकार किया जाय तो पुनः यही जिज्ञासा होगी कि द्रष्टा क्या स्वयं दृश्यांश के आकार में परिणत होता है ? अथवा किसी कारण के द्वारा होता है ? ये दोनों हीं मत सम्भव नही है। कारण, कर्ता जो द्रष्टा आत्मा है वह निरवयव है, जैसे आकाश। आकाश निरवयव होने के कारण स्वतः अथ वा किसी कारणान्तरवश सावयवाकार में परिणत नहीं होता है वैसे ही निरवयव द्रष्टा का सावयव दृशकार में परिणाम सम्भव नहीं हो सकता है[१]। इसी प्रकार दृश्य का द्रष्टा के साथ तादातम्य रूप द्वितीय पक्ष जो कहा गया है वह भी सम्भव नही है। इस का तात्पर्य यह है कि दृश्यधर्मिक द्रष्टृप्रतियोगिकतादात्म्य अर्थात् अभेद सम्बन्ध अर्थात् दृश्य रूप धर्मों में द्रष्टृत्व रूप धर्म का तादात्म्य यह द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, दृश्य का द्रष्टृत्व धर्म यदि स्वाभाविक स्वीकार किया जाय तो दृश्यत्व का ही सर्वथा उच्छेद हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि धर्मी दृश्य में अंशतः दृश्यत्व धर्म भी है तब तो अवश्य ही सुस्पष्ट कर्म कर्तृत्व का विरोध हो जायगा। कारण, एक ही दृश्य रूप धर्मी में अन्ततः द्रष्टृत्व और अंशतः दृश्यत्व किस प्रकार रह सकता है ? द्रष्टा कर्त्ता है और दृश्य कर्म है। दर्शन क्रिया का कर्त्ता द्रष्टा होता है और दर्शन क्रिया का कर्म दृश्य होता है। दृश्य धर्मो का द्रष्टृत्व रूप धर्म स्वाभाविक न मान कर आगन्तुक कहा जाय तब इस में यह प्रश्न होगा कि दृश्य स्वयं चिद् रूप मेंय परिणत हुआ है, अतएव उस में चिद् रूप द्रष्टृत्व धर्म हो गया है ? अथवा दृश्य स्वयं अपने में आत्म चैतन्य को संक्रमित कराया है, इसलिए द्रष्टृत्व उसका

---

१ आगन्तुकत्वे ऽपि किं द्रष्टा स्वयमेव दृश्यांशाकारेण परिणमते उत हेतुवशात् ? उभयमप्यसंगतम्, द्रष्टुर्निरवयवत्वात्। नहि निरवयवमाकाशं स्वतो वा कारणान्तराद्वा सावयवाकारेण परिणममानं दृष्टम्।

वि० प्र० सं०, ३७-३८

धर्म हो गया है और दृश्य का द्रष्टा के साथ तादात्म्य हो गया है[1]? इसमें पूर्व कल्प समीचीन नहीं है। दृश्य जड़ है जन्य कार्य, चिद् रूप नहीं हो सकता है। कारण, जड़ मिट्टी के परिणाम घड़े को चिद् रूप में नहीं देखा गया है। द्वितीय संक्रमण पक्ष भी सम्भव नहीं है। कारण, आत्मचैतन्य सर्वगत है, इसलिए आत्मचैतन्य का दृश्य में प्रवेश किस प्रकार सम्भव होगा? संक्रमण अथवा प्रवेश कहने से ही प्रतीत होता है कि जिस स्थल में पूर्व में वह नहीं था वह बाद में उस स्थल में आकर संक्रान्त अथवा प्रविष्ट हो गया है। आत्मचैतन्य सदा सर्वत्र व्याप्त है। इसलिए इसके प्रवेश योग्य स्थान नहीं है। कारण, वह सर्वत्र प्रविष्ट ही है। पहले जो जिस स्थान में अप्रविष्ट रहता है उसी का बाद में उस स्थान में प्रवेश सम्भावित हो सकता है, परन्तु आत्मचैतन्य में यह बात नहीं है। अतः, यही सिद्ध हुआ कि चित् और अचित् अर्थात् आत्मा एवं अनात्मा का वास्तव तादात्म्य सामर्थ्य सम्भव नहीं है! इसीलिए द्वितीय अनुमान में तादात्म्य सामर्थ्याभाव रूप जो हेतु कहा गया है, वह समीचीन है। फलतः यह द्वितीय अनुमान **विमतौ, तादात्म्यशून्यौ, विरुद्धस्वाभावत्वात्, तमः प्रकाशवत्** यह अनुमान सर्वथा सुस्थिर है। इस द्वितीय अनुमान के सिद्ध हो जाने से मूलभूत प्रथमानुमान भी सिद्ध हो जायगा। आत्मानात्मानौ इतरेतरतादात्म्याध्यासरहितौ, क्वापीतरेतरभावरहितत्वात्, तमःप्रकाशवत् यही प्रथमानुमान है। इस मूलानुमान सिद्ध होने पर इसके द्वारा अध्यास का अभाव भी सिद्ध हो जायगा[2]।

---

१ दृश्यस्य धर्मिणो द्रष्टा प्रतियोगिना तादात्म्यमित्यस्मिन् द्वितीयेऽपि पक्षे द्रष्टृत्वस्य स्वाभाविकत्वे दृश्यत्वं हीयेत। — आगन्तुकत्वेऽपि किं दृश्यं स्वयमेव चिद्रूपेण परिणमते उतात्मचैतन्यं सर्वस्मिन् संक्रामयति।

वि० प्र० सं०, पृ० ३८

२ जड़जन्यस्य कार्यस्य चिद्रूपत्वासम्भवात् --- ततो मूलानुमानसिद्धेरध्यासाभावः सुस्थितः।

वि० प्र० सं०, पृ० ४८

इस में अध्यासवादियों की पुनः शंका है कि मैं युक्ति को अनुरोध से स्वीकार करता हूं कि धर्मिद्वय का तादात्म्याध्यास सम्भव नहीं है, किन्तु, आत्मधर्म का अनात्मा में संसर्गाध्यास (सम्बन्धाध्यास) हो सकता है। यदि इसके उत्तर में अध्यास विरोधी कहते हैं कि आत्मा तो चिदेकस्वभाव है इसलिए आत्मा में कोई धर्म ही सम्भव नहीं है, अतः, आत्मधर्म का अनात्मा में संसर्गाध्यास कैसे हो सकता है ? किन्तु, यह शंका समीचीन नहीं है। कारण, आत्मा में आनन्द विषय का ज्ञान नित्यत्व प्रवृत्ति धर्म वर्त्तमान है। यह बात सत्य है कि आनन्दादि आत्मा का स्वरूप है अतिरिक्त नहीं, तथापि अन्तःकरण का वृत्तिरूप उपाधि निबन्धन वे सब आत्मा से भिन्न रूप में भासमान होते हैं। इसीलिए आनन्दादि में आत्म धर्मत्व का गौण रूप से व्यवहार होता है। यह भी कथन अनुचित है कि धर्मी को छोड़ कर धर्म का स्वातन्त्र्य रूप में अध्यास सम्भव नहीं है। कारण, जपापुष्प के सन्निधान से लोहितः स्फटिकः इत्यादि स्थल में धर्म मात्र का अध्यास प्रत्यक्ष सिद्ध है। कारण, इस स्थल में जपाकुसुम और स्फटिक धर्मी का परस्पर तादात्म्याध्यास नहीं है फिर भी धर्म का अध्यास नहीं है यह स्वीकार करना सम्भव नहीं है। इसलिए सिद्ध होता है कि आत्मा और अनात्मा में धर्मी का तादात्म्याध्यास असम्भव होने पर भी पूर्वोक्त जपाकुसुम दृष्टान्त से इन दोनों के धर्मों का संसर्गाध्यास हो सकता है[1]।

---

१ मा भूद् धर्मिणोस्तादात्म्याध्यासः। तथाप्यात्मधर्माणामनात्मनि संसर्गाध्यासोऽस्तु। न च चिदेकरसस्यात्मनो धर्मासम्भवः आनन्दविषयानुभवनित्यत्वादीनां सत्वात्। यद्यपि एते स्वरूपभूता एवात्मनः, तथाप्यन्तःकरणवृत्त्युपाधौ नानेवावभासन्त इति तेषां धर्मत्वमुपचर्यते। न च धर्मिणं विहाय धर्माणां स्वातन्त्र्येणाध्यासासम्भवः, जपाकुसुमसंनिधौ लोहितः स्फटिक इत्यादौ धर्ममात्राध्यासदर्शनात्।

वि० प्र० सं०, पृ० ३९

यह पूर्व पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, धर्मिद्वय का अध्यास छोड़ कर केवल धर्म का स्वतन्त्र रूप से अध्यास नहीं हो सकता है। स्फटिक लोहित है यह दृष्टान्त भी सर्वथा असमीचीन है। कारण, स्फटिक में जपाकुसुम प्रतिबिम्बित है अर्थात् अध्यस्त है। इसीलिए जपाकुसुम का धर्म लौहित्य का स्फटिक में आरोप होता है धर्मी जपाकुसुम का अध्यास छोड़ कर स्वतन्त्र रूप से लौहित्य का अध्यास स्फटिक में नहीं हुआ है। इसलिए जहां भी देखा जाय सर्वत्र ही धर्म का आश्रय अर्थात् धर्मी को छोड़ कर केवल धर्म का संसर्गाध्यास सम्भव नहीं है। फलित यही हुआ कि धर्म और धर्मिरूप विषय का जब अध्यास निराकृत किया गया तब विषय का अविनाभूत ज्ञानाध्यास को भी निराकृत समझना चाहिए। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि धर्मिद्वय का तादात्म्याध्यास सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में धर्मी में आश्रित धर्म का भी अन्यत्र संसर्गाध्यास सम्भव नहीं है। केवल इतना ही नहीं विषय का भी जब परस्पर तादात्म्याध्यास सम्भव नहीं है तो विषय के ज्ञान के लिए परस्पर अध्यास बताना भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः अध्यास ही सम्भव नहीं है यही सिद्ध होता है[1]।

अध्यास जब असम्भव है तब इस पक्ष में प्रधान वक्तव्य है विरुद्ध स्वभाव जो वस्तुद्वय उसका तादात्म्य सम्भव नहीं है। कारण, दो पदार्थों में विरोध रहने से उन दोनों का तादात्म्य अर्थात् अभेद नहीं हो सकता है

१ स्फटिकेऽपि प्रतिबिम्बितजपाकुसुमाश्रितमेव लौहित्यं प्रतीयते न तु स्वातन्त्र्येण। तस्मात् नास्ति धर्माणामप्याश्रयव्यत्यासेन संसर्गाध्यासः। धर्मधर्मिणोरर्थयोरध्यासे निराकृते तदविनाभूतो ज्ञानाध्यासोऽपि निराकृत एव। तस्मात् न युक्तिसहोऽध्यास इति।

वि० प्र० सं०, पृ० ३९-४०

यह अनुभव सिद्ध है। विरोध तादात्म्य का व्याघातक है। इस प्रसंग में विवरणाचार्य का कथन है कि लोग में दो प्रकार का विरोध प्रसिद्ध है और इन दो प्रकार के विरोध रहने से इतरेतरभाव (तादात्म्य) की अनुपपत्ति होती है। विवरणाचार्य विरोध के स्वरूप का प्रदर्शन इस प्रकार करते हैं—दो पदार्थों का एक देश में एक काल में अवस्थान करने के सामर्थ्य का अभाव पदार्थद्वय का स्वभाव है—यह प्रथम प्रकार का विरोध है। दो पदार्थों में विरोध तभी होगा जब पदार्थद्वय में एक देश और एक काल में रहने का समर्थ्याभाव पदार्थद्वय का स्वभाव हो जायगा और इस स्वभाव से ही अवस्थान सामर्थ्याभाव पदार्थद्वय रहेगा। इस प्रकार पूर्वोक्त विरोध - निमित्तक पदार्थद्वय का अवस्थान लक्षणाकार्य का अभाव हो जायगा। इसके फलस्वरूप इतरेतरभाव की अनुपपत्ति प्रसक्त होगी यह विरोध का प्रथम प्रकार है। इसीको सहानवस्थान लक्षण विरोध कहा जाता है। एक पदार्थ के रहने पर अन्य पदार्थ की भी समान देश-काल में स्थिति सहावस्थान है। द्वितीय पदार्थ का विरोध है पदार्थद्वय का परस्परात्मता सामर्थ्याभाव। पूर्वोक्त परस्परात्मता सामर्थ्याभाव ही पदार्थद्वय का स्वभाव हो जाना विरोध है। इस विरोध के फलस्वरूप इतरेरात्मता रूप कार्य का अभाव होता है। इस विरोध के रहने पर पदार्थद्वय में अभेद रूप तादात्म्य नहीं हो सकता है। इसके फलस्वरूप विरुद्ध पदार्थद्वय में इतरेतरभाव की उपपत्ति नहीं हो सकती है। सहानवस्थान विरोध एवं इतरेतरात्मता सामर्थ्याभाव रूप विरोध रहने से विरुद्ध पदार्थद्वय की इतरेतरभावता की अनुपपत्ति होती है। प्रकृत में आत्मा और अनात्मा में किस प्रकार का विरोध है? इसके उत्तर में इनका कथन है कि आत्मा और अनात्मा में अन्धकार और प्रकाश के समान सहावस्थान सम्भावित होने के कारण इन दोनों में

सहानवस्थान लक्षण विरोध सम्भावित नहीं है। इसलिए इन दोनों में परस्परानात्मता लक्षण विरोध ही सम्भव है[1]।

तत्त्वदीपनकार का कथन है कि आत्मा को पदार्थरूप में स्वीकार करने से ही पदार्थ निर्णायक शास्त्र के अनुसार इसका अर्थ बोध करना भी आवश्यक है। यदि इसका विचार से अर्थ नहीं मिले तो इस जिज्ञासा की परिसमाप्ति यहीं हो जायगी। जिस किसी वस्तु का प्रतिपाद्य असम्बद्ध एवं अविज्ञेय है वह केवल भ्रम में भासमान विषय के समान ही अस्तित्व हीन है।

अध्यासवादी का कथन है कि प्रतिपक्षी ने विरुद्ध स्वभावयुक्त आत्मानात्म के तादात्म्य की सम्भावना का निरास किया है। परन्तु आत्मा और अनात्मा में पारमार्थिक तादात्म्य न रहने पर भी तादात्म्य भ्रम हो सकता है, और इस तादात्म्य विभ्रम निमित्तक आत्मा और अनात्मा में तादात्म्य भ्रम भी सम्भव हो सकता है। अब प्रश्न होता है कि विभ्रम और अवभास तो एक ही वस्तु है, अत एव, आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य विभ्रम आत्मा और अनात्मा के तादात्म्यावभास का कारण कैसे हो सकता है? निमित्त-नैमित्तिक-भाव एक में ही नहीं रहता है। इसके उत्तर में अध्यासवादी का कथन है कि पूर्व-पूर्व भ्रम उत्तर-उत्तर भ्रम का निमित्त हो सकता है, इसलिए एक भ्रम को अन्य भ्रम का निमित्त स्वीकार करने में प्रकृत में आपत्ति नहीं है। शुक्ति

१ तत्र द्विविधो विरोधः, द्विविधा चेतरेतरभावानुपपत्तिः, कथम्? द्वयोःपदार्थयोरेक-देशकालानवस्थानसामर्थ्याभावः पदार्थधर्मो विरोधः, तन्निमित्तोऽवस्थानलक्षणकार्याभाव इतरेतरभावानुपपत्तिरित्येकः स्कन्धः। अपरस्तु पदार्थयोरितरेतरात्मता-सामर्थ्याभावः पदार्थधर्मो विरोधः, तन्निमित्त इतरेतरात्मतालक्षणकार्याभावानुप-पत्तिरित्यत ——।

वि०, पृ० ४९-५२

का और रजत का तादात्म्य तो नहीं है, किन्तु, विभ्रम के कारण इन दोनों का ऐकाधिकरण्य भ्रम में भासमान होता है[1]। तात्पर्य यह है कि शुक्ति और रजत का विभ्रम ऐकाधिकरण्य भ्रम का कारण कहा गया है। प्रकृत में दृक् दृश्य के सम्बन्ध में यही बात होगी। इसके उत्तर में प्रतिपक्षी का कथन है कि मैं आपके कथन का आधा अंश तो स्वीकार कर सकता हूं, किन्तु, पूर्ण रूप से स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हूँ। इदं रजतं इस भ्रमस्थल में इदं अंश अधिष्ठान है और रजत अध्यस्यमान है, इसलिए तादात्म्य नहीं है, यह जो कहा गया है वह सर्वथा अनुचित है। अन्यत्र इदं के साथ रजत को तादात्म्य देखने से भ्रमस्थल में भी इदं इस अंश के साथ रजत का तादात्म्यावभास हो गया है सर्वथा तादात्म्यहीन का तादात्म्य भ्रम नहीं है। आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं है, अतः रजत दृष्टान्त से इन दोनों का तादात्म्यावभास सम्भव नहीं है। अध्यास में अधिष्ठान का सामान्य अंश भासित रहता है और विशेषांश आवृत रहता है, अध्यस्यमान के विशेष अंश का ही स्फुरण होता है। इदं और रजत ये दो अंश हैं सम्यक् रजत स्थल में इन दोनों अंशों का तादात्म्य इदं रजतं इस प्रकार गृहीत हुआ है। इसीलिए अन्यत्र भ्रम स्थल में भी अन्यतर अंश के (इदं अंश के) देखने से रजत का अध्यास हो सकता है। इसी प्रकार रक्तः स्फटिकः यहां पर स्फटिक के अन्यतरांश गुणी के देखने से रक्तिमा गुण का अध्यास होता है। परन्तु प्रकृत स्थल में अधिष्ठान चैतन्य अध्यस्यमान अनात्मा का अन्योऽन्यांश सम्भव नहीं है। कारण, यहां चित्

---

१ दृग्दृश्ययोरितरेतराभावानुपपत्तेरतयोर्विभ्रमनिमित्तं तादात्म्यावभासं न निरुणद्धि, शुक्तिका-रजतयोरपि हि तादात्म्यहीनयोरेव विभ्रमनिमित्तमैकाधिकारण्यमवभासते तद्वदिहापि स्यादिति।

वि०, पृ० ५९

और अचित् में सामान्य और विशेष अंश नहीं है। अर्थात् न चित् ही सामान्य अंश है और न अचित् ही सामान्य अंश है। सत्य रजत स्थल में इदं शब्द से सामान्यांश द्रव्य का ग्रहण होता है और रजत से द्रव्य के विशेषांश का ग्रहण होता है और इन दोनों का तादात्म्य है। गुणगुणिभाव स्थल में भी सामान्यांश गुणी और विशेषांश रक्तादि गुण होता है और इन दोनों का तादात्म्य है। चित् ओर जड में न तो गुणगुणिभाव है और न सामान्य-विशेषभाव है। अतः, अंशांशिभाव रूप से एक अंश का ग्रहण होने से अन्य अंश का तादात्म्यावभास नहीं हो सकता है। चित् और जड का सामान्य विशेष अंश के रूप में या गुणगुणिभावरूप में सामान्यविशेषांश गृहीत नहीं होता है। चित् ओर जड स्वतः एक दूसरे का अंश नहीं हो सकता है। कारण, विषयी चित् आत्मा स्वयंभास ज्ञान रूप है, अतः, अचित् (जड) इसका अंश नहीं हो सकता है। पूर्वोक्त कथन का गूढ आशय स्वयं विवरणाचार्य ने इन शब्दों में कहा है—चित् और अचित् ये दोनों पृथक् रूप में विद्यमान वस्तु हैं, इन दोनों में तादात्म्य की कल्पना की जाय तो अंशांशिभाव से ही उपपन्न हो सकता है। चित्रूप द्रष्टा का अचित् अंश है यदि यह स्वीकार किया जाय तो इसमें प्रश्न होगा कि यह अचित् अंश द्रष्टा का स्वाभाविक अंश है अथवा किसी कारण विशेष से द्रष्टा में आने से आगन्तुक है। अचित् द्रष्टा का स्वभाविक अंश नहीं कहा जा सकता है। कारण, चितिक्रिया का प्रकाश रूप ज्ञान का प्रकाश्य विषय है अर्थात् कर्म है और प्रकाशक ज्ञान प्रकाशन क्रिया का कर्त्ता है यही स्वभाविक स्थिति है। प्रकाश्य अर्थात् चैत्य जड प्रकाशन अर्थात् चितिक्रिया का कर्म कारक रूप में प्रतीत हो रहा है। यदि अचित् (जड को) चित् का अंश माना जाय तो वह चैत्य जड चिदंश होने से कर्त्ता हो जायगा। कर्म कारक क्रिया-जन्य फलवान् होता है। अतः, वह प्रधान होता है, परन्तु कर्त्ता क्रिया का सम्पादक मात्र होने के कारण कर्म की अपेक्षा अप्रधान

है। इसलिए एकक्रियानिरूपित प्राधान्य और अप्राधान्य एक में ही कैसे रह सकता है? जड को चिदंश स्वीकार करने से चिदंश कर्त्ता कर्म रूपता का लाभ करेगा। परन्तु कर्त्ता क्रिया का निर्वर्तक होने के कारण अप्रधान है और कर्म क्रिया-जन्य फल का आश्रय होने से प्रधान है जैसा पूर्व में ही कहा गया है। इसलिए एक ही प्रकाशन क्रिया चिद् रूप कर्त्ता अप्रधान होकर अचिदंश रूप से कर्म होने से प्रधानरूपता लाभ करेगा। एक ही अधिकरण में गुणत्व और प्राधान्य परस्पर विरुद्ध है।

इसमें प्रश्न होता है कि गमनादि क्रिया का कर्त्ता ज्ञान क्रिया का कर्म तो हो सकता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि एक ही क्रिया की अपेक्षा कर जो कर्त्ता है वही उसी क्रिया का कर्म नहीं हो सकता है, अतः, पूर्वोक्त द्रष्टा में अचिदंश का स्वाभाविकत्व - कल्पन पक्ष सम्भव नहीं है[1]।

द्रष्टा में अचिदंश को आगन्तुक माना जाय तो यह विकल्प होगा कि यह आगन्तुक अचिदंश सहेतुक है अथवा अहेतुक है? द्वितीय विकल्प का आशय यह है कि आत्मा का अनात्मा के रूप में परिणाम में कोई अन्य हेतु है या नहीं? यदि कोई हेतु नहीं है अर्थात् निर्हेतुक आत्मा का परिणाम है यह स्वीकार किया जाय तो ठीक नहीं है। कारण, आत्मा निरवयव है। निरवयव वस्तु स्वतः सावयवाकार में परिणत नहीं हो सकती है। आत्मा का अनात्माकार में परिणाम सहेतुक है यह भी नहीं कहा जा सकता है। कारण,

---

१ द्रष्टुरचिदंशः स्वाभाविको वा स्यादागन्तुको वेति——चैत्यं हि जडं चैतन्यस्य कर्मकारकतयावभासते। तत्कथमेकस्यां क्रियायां कर्तुर्विपरीतस्थानगतं कर्मकारकमात्मा स्यादित्यभिप्रायः।

वि०, पृ० ६०

आत्मा निरवयव है। निरवयव आकाश को किसी हेतु के सम्बन्ध से सावयव रूपमें परिणति नहीं हो सकती है। यदि यह कहा जाय कि चैतन्य में जडांश (अनात्मांश) का अभाव सिद्ध होने पर भी अनात्मा में ही चैतन्य का अंश स्वीकार किया जायगा। अर्थात् अधिष्ठान अनात्मा ही आत्मांशात्मक हो जायगा यही कहा जाय। कारण, अंहमुपलभे (हमको ज्ञान हो रहा है) इस अनुभव में ज्ञान का आश्रय अनात्मा अहंकार को देखा जा रहा है। किन्तु, यह कथन अनुचित है। अनात्मा में जो चैतन्यांश है वह स्वभाविक है अथवा आगन्तुक है? इसमें स्वाभाविकत्व यह ठीक नहीं है। कारण, द्रष्टा का द्रष्ट्रन्तर प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है द्रष्ट्रन्तर अनुमेय ही होता है वैसे ही अनात्मविषय ही आत्मांशात्मक हो जाय तब सभी विषय नियत रूप से अनुमेय ही रहेगा प्रत्यक्ष विषय नहीं रहेगा। इस स्थिति में सभी विषय द्रष्टाके रूपमें हो गया, अतः, द्रष्टा का विषय रूप द्रष्ट्रन्तर अनुमेय रहता है वैसे ही विषय रूप द्रष्टा का विषय रूप द्रष्ट्रन्तर अनुमेय ही हो जायगा[1]। इस प्रकार आगन्तुक अर्थात् परतः भी अनात्मा का चिदाकार में परिणाम नहीं हो सकता है। कारण, जड़ (अनात्मा) का परिणाम कहना जड़ को उपादन के रूप में स्वीकार करना है और उसका फल यही होगा कि जड़ उपादान का कार्य भी जड़ ही हो सकता है चेतन नहीं। यह भी शंका नहीं की जा सकती है कि आत्मचैतन्य को भी अनात्मा अपने अंश रूप में मानता है।

---

१ आगन्तुकश्चेत्, सहेतुरहेतुर्वा। निर्हेतुश्चेत् ——नहि निरवयवं वस्तु स्वतः सावयवाकारेण परिणम्मानं दृष्टमित्यभिप्रायः— —नानात्मैवाधिष्ठानमात्मांशात्मकं क्वचिद् दृष्टमिति——यथा द्रष्टुर्द्रष्ट्रन्तरं न प्रत्यक्षगोचरः, अनुमेयमेव तत्, एवं विषयोऽपि स्यादिति।

वि, पृ० ६०-६१

चैतन्य की अचित् के परिणाम में उपलब्धि नहीं की जा सकती है, चित् और अचित् जब अंशांशिभाव रूप से स्थित है तब आगे के सभी परिणामों में चिदंश भी रहना चाहिए अर्थात् चिदचिदंश विशिष्ट ही सभी परिणाम होंगे। किन्तु, अचित् परिणाम में चिदंश का प्रतिसंक्रमण नहीं देखता हूँ। अतः द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है[1]।

तत्त्वदीपनकार ने द्वितीय विकल्प को विशेष अवधानपूर्वक समझाया है। उनका आशय यह है कि पूर्वपक्षी का यह कथन है कि मुख के सन्निधान से दर्पण तदाकार लाभ करता है इसी प्रकार अनात्मा भी चित् सन्निधान प्रयुक्त चित् के प्रतिबिम्ब होने से चिद्रूपता का लाभ करेगा। इसमें प्रश्न यह है कि अनात्मा को चिच्छायता कहा गया है। वह क्या अनात्मा का चिदाकार परिणाम है? अथवा चैतन्य का अनात्मा में संक्रमण है? प्रथम कल्प असमीचीन है, कारण, पूर्व रूप अवस्थित हैं अथवा पूर्व रूप नष्ट हो जाय—इन दोनों अवस्थाओं में परिणाम नहीं कहा जा सकता। अनात्मा का यदि चिदाकार परिणाम कहा जाय तो अनात्मा का स्वरूप अनात्मत्व है या समाप्त हो गया है? यदि अनात्मा के चिदाकार परिणाम में अनात्मा पूर्व रूप में अवस्थित है तब उसका परिणाम नहीं हुआ यही मानना होगा और यदि अनात्मा का पूर्व रूप निरन्वय विनष्ट हो गया तब भी परिणाम नहीं कहा जा सकता है। कारण, वह तो नवीन वस्तु हो जायगी उसे अनात्मा का परिणाम नहीं कहा जायगा[2]।

---

१ परतोऽपि नानात्मनश्चिदाकारपरिणामः, जडोपादानस्यापि कार्यस्य जडत्वात्, तदात्मचैतन्यमेवानात्मा स्वांशत्वेन स्वीकरोतीति चेत्—तस्मात् क्वचिदपि तादात्म्यादर्शनादन्यत्रान्यतरांशदर्शनेनान्यतरांशाध्यासो नोपपद्यत इति।

वि, पृ० ६१

२ मुखसन्निधानाद्दर्पणस्य तदाकारत्ववदनात्मनोऽपि —पूर्वरूपे स्थिते नष्टे वाऽन्यस्यान्यभावासंभवात्।

त० दी०, पृ० ६१

द्वितीय कल्प में भी चैतन्य का अनात्मा में संक्रमण तात्त्विक है या अतात्त्विक ? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, चैतन्य निष्क्रिय एवं पूर्ण है सक्रिय होने से ही संक्रमण सम्भावित है। अपूर्ण होने से ही स्थानान्तर का संक्रमण हो सकता है, जो स्वयं पूर्ण एवं निष्क्रिय है उसका स्थानान्तर में संक्रमण किस प्रकार सम्भव हो सकता है ? इसी प्रकार संक्रमण को अतात्त्विक कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है। कारण, किसी स्थल में भी किसी का तात्त्विक रूप देखा जाता है तभी उसके अन्यत्र अतात्त्विक रूप की कल्पना की जा सकती है। अतात्त्विक कहने से यही स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका तात्त्विक रूप भी कहीं सिद्ध है। परन्तु आत्मा और अनात्मा का कहीं भी तात्त्विक अंशांशित्वभाव नहीं देखा गया है। इसलिए प्रकृत स्थल में चैतन्य का अतात्त्विक अंशांशिताभाव का कल्पन भी असम्भव है। आशय यह है कि अनात्मा कर्त्ता आत्म चैतन्य को अंश रूप में स्वीकार करे तो स्फुरति घटः इस प्रतीति के बल से जड को भाट्टमीमांसक प्राकट्य के (प्रकाश का) आश्रय रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु, यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, आत्म चैतन्य निष्क्रिय है, असंग है, इसलिए, आत्म चैतन्य का अनात्मांश वस्तुतः उपपन्न नहीं हो सकता है, अतः, पूर्वोक्त द्वितीय पक्ष सम्भव नहीं हो सकता है[1]।

इसलिए उपसंहार में यही कहा जा सकता है कि आत्मा और अनात्मा का तादात्म्य नहीं देखा गया है, इसलिए, अन्यत्र धर्मी में अन्यतरांश के देखने से अन्यतरांश का अध्यास हो गया है यह कहना ठीक नहीं है। आत्मा और अनात्मा का तादात्म्याध्यास असम्भव होने से आत्मा और अनात्मा के धर्म का भी संसर्गाध्यास नहीं हो सकता है।

---

१ अन्त्येऽपि संक्रमणं किं तात्त्विकम्, उतातात्त्विकम ? न प्रथमः। निष्क्रियत्वात्पूर्णत्वाच्च। न द्वितीयः। क्वचित्तात्त्विकांशांशिताभावे तत्कल्पनाया एवासंभवाद्।
न० टी, पृ० ६१

इस आशय को अर्थात् अध्यासासम्भवपक्ष को प्रदर्शन करने के समय में भाष्यकार शंकराचार्य ने कहा है कि अस्मत् प्रत्यय का विषय होता है, इस विषयी चिदात्मा में युष्मत् प्रत्यय गोचर विषय एवं उसके धर्म का अध्यास असम्भव है, इसी प्रकार इसके विपरीत रूप में विषयी एवं विषयी के धर्म का भी विषय में अध्यास का अभाव ही मानना होगा[1]।

भाष्यकार ने अस्मत् प्रत्ययगोचरः यह कहा है! इसके अर्थ प्रदर्शन प्रसंग में पंचपादिकाकार ने कहा है कि अस्मत् प्रत्यय का विषय अंग है! यह अहं शुद्ध चिद्रूप नहीं वरन् अध्यस्तान्तःकरण चिद्रूप है! इसलिए अहं में भासमान अनिदम् अंश इदम् अंश (जडांश अन्तःकरणांश) दो है। प्रकृत में अस्मत् - प्रत्यय - गोचरः अस्य इस प्रकार बहुव्रीहि स्वीकार कर इस पद के द्वारा इदं अंश को छोड़कर मात्र अनिदम अंश को लिया गया है! अर्थात् प्रकृत में अस्मत् प्रत्यय गोचरः इस पद के द्वारा शुद्ध चिदंश लिया गया है। अतः भाष्यकार का आशय यह है कि अस्मत् प्रत्यय में जो अनिदम् अंश है वह चिदेक स्वभाव है। उसी में युष्मत् प्रत्यय का विषय मनुष्याभिमान का अध्यास होता है। अर्थात् मनुष्योऽहं इस प्रकार अध्यास होता है। इसमें प्रश्न होता है कि अहंकार अन्तःकरण से आरम्भ कर शरीर पर्यन्त सभी में अहं इस प्रकार का ज्ञान ही होता है अर्थात् सभी अहमर्थ ही है। आशय यह है कि ये सब इदं के विषय नहीं हैं। अस्मत् प्रत्यय का विषय अहं, युष्मत् प्रत्यय का विषय इदं है। इसलिए अहंकारादि से लेकर शरीर पर्यन्त तक पंचपादिकाकार ने युष्मत् प्रत्यय का विषय कहा है। इस विषय का प्रतिपादन पंचपादिकाकार ने इस रूप में क्यों किया है इसका विश्लेषण करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि अहंकारादि

---

१ शां० भा० पृ० ४६ - ६२

को युष्मदर्थ इसलिए नहीं माना है कि वह अहंकारादि चैतन्य के बल से प्रकाश्य है। अपरोक्षादि में अपरोक्षतया अवभासस्यत्व को ही युष्मदर्थ कहा गया है। इसमें भी अहंकारादि में अपरोक्षतया अवभास्यत्व रहने के कारण पंचपादिकाकार ने उसको युष्मदर्थ के रूप में ग्रहण किया है। और यह आशय विवरणकार ने भी पंचपादिका के आशय विश्लेषण के प्रसंग में व्यक्त किया है[1]।

अस्मत् प्रत्यय में जो चित् स्वाभाव अनिदम् अंश है इसी में जो युष्मदर्थ मनुष्य अर्थात् शरीर का मिश्रित रूप में जो ज्ञान है वह अध्यास हो जाता है। इसीप्रकार चिदात्मा में युष्मद् प्रत्यय का विषय जो शरीरादि उसके धर्म स्थूलत्व कार्श्य प्रभृति का अध्यास होता है। इसमें प्रश्न होता है कि शरीरादि विषय का तादात्म्यध्यास होने में ही उसका जो धर्म है इसका अध्यास भी तो अर्थत, सिद्ध ही हो जाता है, पुनः उसके उल्लेख की भाष्य में क्या आवश्यकता है? इसके समाधान में यही कहा जा सकता है कि धर्मी के तादात्म्याध्यास के बिना भी स्वतंत्र रूप में उसके धर्म का अध्यास हो सकता है। जैसे बधिरता प्रभृति श्रवणेन्द्रिय का धर्म है, अथ च श्रवणेन्द्रिय का चैतन्य में अध्यास न होकर भी मैं बधिर हूं इस प्रकार ज्ञान तो होता ही है। इसी प्रकार अध्यास के पूर्वपक्ष भाष्य में कहा गया है कि विषयी चिदेकरस और उसके धर्म का भी विषय में अध्यास होता है, इसके द्वारा भाष्यकार ने ज्ञान में विषय का अध्यास विषय में ज्ञान का अध्यास हो सकता है इसी की सूचना दी है। इसमें यह शंका होती है कि विषयी चैतन्य में तो कोई धर्म नहीं है, इसलिए, चैतन्य के धर्म का विषय में अध्यास किस प्रकार होगा? इसका उत्तर यही है कि

---

१ तस्य अस्मत्प्रत्ययगोचरस्य चैतन्यस्य बलेन निर्भास्यत्वादहंकारादेः प्रतिभानतो युष्मदर्थत्वाभावेऽप्यपरोक्षतयावभास्यत्वेन लक्षणेन युष्मदर्थभावो युक्त इत्यर्थः।

वि०, पृ० ६६-६७

आनन्द, विषय का ज्ञान, नित्यत्व प्रभृति चैतन्य का धर्म है उसीका विषय में अध्यास हो जायगा। इससे पुनः शंका होती है कि आनन्दादि तो चैतन्य का स्वरूप है चैतन्य की धर्म नहीं है। इसके समाधान में विवरणकार का कथन है कि यद्यपि आनन्दादि चैतन्य का स्वरूप ही है तथापि अन्तःकरण वृत्ति रूप उपाधिनिबन्धन चैतन्य से भिन्न चैतन्य के धर्म रूप में पूर्वोक्त आनन्दादि का अवभासन होता है। इसीलिए पूर्वोक्त चैतन्य धर्म का अध्यास सम्भावित है[1]।

अध्यासभाष्य का निष्कर्ष यह है कि अध्यास तो लोक में प्रसिद्ध है लोक प्रसिद्ध अध्यास के कारण सादृश्य अथवा विवेकाग्रह (भेदाग्रहण) होते हैं, परन्तु आत्मा निर्गुण और निरवयव है, इसलिए आत्मा के साथ अनात्मा का का किसी प्रकार का सादृश्य नहीं है एवं इन दोनों का प्रत्यक् और पराक् रूप में भेद उपलब्ध है। इसलिए इन दोनों में भेदाग्रह भी सम्भव नहीं हो सकता है। सादृश्य और विवेकाग्रह अध्यास का कारण हैं, इसलिए ये दोनों अध्यास के व्यापक हैं, व्यापक के न रहने से व्याप्य का भी अभाव होता है। अतएव अध्यास का व्यापक न रहने से अध्यास का अभाव ही सिद्ध होता है और अध्यास की असिद्धि होने से शास्त्र का विषय एवं फल सम्भावित नहीं होगा

१ यद्यपि विषयाध्यासे तद्धर्माणामप्यर्थसिद्धोऽध्यासः, तथापि भिन्नानि विषयाध्यासेन तद्धर्माध्यासो बाधिर्यादिषु श्रोत्रादिधर्मेषु विद्यत इति पृथग्धर्मग्रहणम्। तद्विपर्ययेण विषयिणस्तद्धर्माणाञ्चेति। चैतन्यस्य तद्धर्माणां चेत्यर्थः। ननु विषयिणश्चिदेकरसस्य कुतो धर्माः? ये विषयेऽध्यसेरन्, उच्यते, आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वमिति सन्ति धर्माः, अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्त इति न दोषः।

पं० पा०, पृ० ६६-६७

एवं इसका परिणाम यही होगा कि अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र से शास्त्र का अनारम्भ ही सिद्ध होगा[१]।

अध्यास की असम्भावना के प्रदर्शन द्वारा विषयादि की असम्भावना प्रदर्शन कर शास्त्रारम्भ का आक्षेप किया गया है और भाष्यकार ने तो अध्यास की असम्भावना को अंगीकरण करके समाधान भी किया है। अध्यास यदि असम्भव हो जाय तब तो शास्त्रारम्भ का निमित्त विषय और फल अनुपपन्न हो जायगा। इसके फलस्वरूप शास्त्र का अनारम्भ रूप पूर्व पक्ष ही सुस्थिर हो जायगा। इसका निगूढ तात्पर्य उद्घाटन करते हुए विवरणाचार्य यही कहना चाहते हैं कि भाष्यकार ने जो अध्यास का असम्भवत्व स्वीकार किया है उसका एक गम्भीर आशय है—वह यही है कि लोक प्रसिद्धि का अनुसरण कर सादृश्य को यदि अध्यास का कारण अंगीकार किया जाय तबतो आत्मा और अनात्मा में अध्यास असम्भव ही है।

पुनः यह शंका हो सकती है कि सादृश्य तो अध्यास का व्यापक नहीं है। कारण, स्फटिक में जहां लोहित्य का भ्रम होता है, वहां सादृश्य नहीं है। सादृश्य न रहने के कारण पूर्वोक्त कार्यकारणभाव का व्यभिचार है। इसलिए सादृश्याभावनिबन्धन अध्यास की असम्भावना को अंगीकार करना असंगत मालूम पड़ता है। इस शंका के उत्तर के प्रसंग में यह प्रश्न हो सकता है कि सादृश्य में जो भ्रम व्यापकता का निषेध किया गया है वह क्या सोपाधिक भ्रम में निषेध किया गया है! अथवा निरुपाधिक भ्रम में निषेध किया गया है? प्रथम पक्ष मानने पर तो हमलोग भी इसे स्वीकार करते हैं कि सादृश्य सोपाधिक

---

१ निर्गुणत्वान्निरवयत्वाच्च——शास्त्रानारम्भ इति पूर्वपक्षः।

स० टी०, पृ० ६७

भ्रम में व्यापक नहीं है। किन्तु द्वितीय पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, इदं रजतं इत्यादि निरुपाधिक भ्रम का स्थल है और इसमें सादृश्य की व्यापकता देखी जा रही है। इसी प्रकार शरीरादि-अध्यास निरुपाधिक भ्रम है, अतः, यहां भी सादृश्य रहना चाहिए, किन्तु यहां सादृश्य नहीं है, अतः, आत्मा और अनात्मा का अध्यास असम्भव है यही स्वीकार करना उचित है। यद्यपि आत्मा में कर्तृत्वादि का अध्यास अन्तःकरणरूप उपाधिनिमित्तक है। इसलिए वहां सादृश्य का अनुसन्धान करना आवश्यक नहीं है। परन्तु शरीरादि अध्यास उपाधिजन्य भ्रम नहीं है, अर्थात् किसी उपाधि से जन्य नहीं है। शरीरादि अध्यास निरुपाधिक भ्रम है अतः, यहां सादृश्य की अपेक्षा रह जायगी और यहां सादृश्य नहीं है इसलिए अध्यास भी नहीं होगा। यहां यह प्रश्न होता है कि गुण अथवा अवयव-सामान्य-रूप सादृश्य नहीं रहने पर भी निरुपाधिक भ्रम प्रत्यक्ष सिद्ध है—इसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसलिए केतकी पुष्प के गन्ध के सदृश सर्प गन्ध है इत्यादि निरुपाधिक भ्रम में जैसे सादृश्य की कल्पना की जाती है, शंख के पीतिमादि के भ्रम में जिस प्रकार कारणान्तर की कल्पना की जाती है, इसी प्रकार प्रकृत में भी किसी कारण की कल्पना करनी पड़ेगी[1]।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में भाष्यकार का आशय प्रदर्शन करते हुए विवरणाचार्य ने कहा है कि आत्मा और अनात्मा का इतरेतराध्यास नैसर्गिक

---

१ गुणोऽवयवसामान्यसादृश्याभावात्, आत्मनि कर्तृत्वादेरहंकाराद्युपाधिनिमित्त-भ्रमत्वेऽपि शरीराद्यध्यासस्य सोपाधिकभ्रमत्वाभावात् द्रष्टर्यहंकारादिशरीरान्तपदार्थाध्यासस्य सम्भवं ग्रासमंगीकरोति——निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशस्सर्पगन्ध इतिवत् सादृश्यं वा शंखपीतिमादाविव कारणान्तरं वा कल्पयतीति।

वि०, पृ० ६७-६८, ७८

अर्थात् अनादि है अहमिदम् ममेदम् यही इतरेतराध्यासात्मक लोक व्यवहार अपरोक्ष रूप में अनुभूत होता है। इसलिए इस अपरोक्ष अनुभूति का अपलाप करना असम्भव है। आशय यह है कि शुक्ति में रजत का भ्रम प्रभृति अध्यास लोक में प्रसिद्ध है, इस अध्यास की उपपत्ति के लिए सादृश्य अथवा विवेकाग्रह रूप कारण का अनुसन्धान किया जा सकता है, किन्तु ये सब अध्यास बन्ध के कारण नहीं है। आत्मा और अनात्मा का अध्यास संसार रूप बन्ध का बीजभूत है और यह अध्यास अनादि है। कारण, यह अनादि चैतन्य का अनुबन्धी है। यह अभिप्राय पंचपादिकाकार ने प्रत्यक्चैतन्यसत्ता-मात्रानुबन्धी इन शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया है। चैतन्य पद के द्वारा अहंकारानुबन्धित्व (अन्तःकरणानुबन्धित्व) प्रत्यक् पद के द्वारा तटस्थ ब्रह्म चैतन्यादि अनुबन्धित्व का एवं सत्ता शब्द के द्वारा कार्यानुबन्धित्व का निषेध किया है। अर्थात् यह अध्यास मात्र अनादि चैतन्यानुबन्धी है। इसलिए ये सभी अध्यास अनादि हैं। ये अध्यास प्रवाह रूप से अनादि होने के कारण इनका उपादान भी अनादि अविद्या ही है। सुषुप्ति आदि अवस्था में भी यह अध्यास संस्कार रूप में अवस्थान करता है। पूर्व-पूर्व अध्यास संस्कार उत्तरोत्तर अध्यास का हेतु है, इस प्रकार प्रवाह रूप से अनादि विद्यमान अध्यास का अपलाप करना अनुचित है। इस अध्यास के लिए सादृश्यादि कारण का अनुसन्धान करना अप्रासंगिक है।

विवरणकार और भामतीकार दोनों ने ही अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र में सूत्रारम्भ के प्रयोजन का पर्यालोचन किया है। दार्शनिक विचार-परम्परा के अनुसार ये दोनों ही पूर्व पक्ष और सिद्धान्त रूप में जिज्ञासासूत्र के आरम्भ प्रसंग में विवेचन प्रस्तुत करते हैं। जिस दृष्टिकोण से विवरणाचार्य

ने जिज्ञासा सू॰ के आरम्भ में पूर्व पक्ष का प्रदर्शन किया है, वाचस्पति ने सर्वथा भिन्न दृष्टि में ही इस विचार को प्रस्तुत किया है। विवरणाचार्य ने जिज्ञासा सूत्र को विधिरूपत्व प्रतिपादन के लिए कर्त्तव्या पद का अध्याहार किया हैं। कर्त्तव्या पद के अध्याहार का विश्लेषण पूर्व में ही किया गया है। श्रवणादि की विधि विचार वेला में इसका विस्तृत निरूपण किया गया है। विवरणाचार्य ने जिज्ञासा पद की विचार रूप अर्थ में लक्षणा स्वीकार की है—इस लक्षणा स्वीकार का कारण भी इसी प्रसंग में पूर्व में किया गया है। वाचस्पति मिश्र ने कर्त्तव्या पद का अध्याहार नहीं किया है एवं इस सूत्र को विधि रूप में स्वीकार नही किया है—इसका विश्लेषण विधिपक्ष के विश्लेषण प्रसंग में वाचस्पति मत प्रदर्शन करते हुए किया गया है।

विवरणाचार्य ने अध्यास भाष्य में भाष्यत्व की शंका कर सूत्र का श्रौतार्थ और आर्थिकार्थ कल्पन कर आर्थिकार्थ ग्रहण को अध्यास भाष्य के लिए प्रदर्शित किया है और इससे अध्यास भाष्य को सूत्रोपारूढ़ बताया है।

वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व ही नहीं रह सकता हैं इसी को पूर्व पक्ष रूप में ग्रहण कर विस्तृत विचार किया है और इसके द्वारा जिज्ञासा सू॰ का आरम्भ नहीं हो सकता हैं यह प्रदर्शन किया हैं।

अध्यास पूर्व पक्ष प्रदर्शन प्रसंग में अन्धकार की भावरूपता का प्रदर्शन किया गया है एवं अन्धकार और प्रकाश का सहावस्थान भी प्रदर्शित किया गया है।

वाचस्पति मिश्र ने अन्धकार को भावरूप में स्वीकार नहीं किया है एवं अन्धकार और प्रकाश का सहावस्थान भी उनके मत का अभिमत नहीं है यही अवगत होता है[1]।

वाचस्पति मिश्र ने अध्यास के पूर्व पक्ष भाष्य में लिखा है कि धर्मी का तादात्म्याध्यास के विना भी अर्थात् धर्मिद्वय का विवेकग्रह रहने पर भी धर्म का संसर्गाध्यास हो सकता है[2]।

विवरणानुसारी आचार्यों का कथन है कि स्फटिक में जपा का प्रतिबिम्ब होने पर ही स्फटिक में लौहित्य का आरोप होता है।

विवरणाचार्य ने पंचपादिका के अनुसार लोक व्यवहार शब्द में लोक इति व्यवहारः यह मध्यमपद-लोपी-समास स्वीकार किया है। पंचपादिकाकार का मत अनुसरण कर लोक व्यवहार शब्द के द्वारा अध्यास का ग्रहण किया है[3]।

---

१ न हि जातु कश्चित् समुदाचरद्वृत्तिनी प्रकाशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति।

भा०, पृ० ५८

समुदाचरन्त्यौ भेदेन प्रतिभासमाने वृत्ती वर्तने ययोः ते तथोक्ते, ते च ते प्रकाशतमसी च, ते इत्यर्थः

ऋ०प्र०, पृ० ५८

२ मा भूद्धर्मिणोः परस्परभावः, तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्य-नित्यत्वानित्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति, दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासः, यथा कुसुमाद् भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छतया जपाकुसुमप्रतिबिम्बोद्ग्राहिणि—अरुणः स्फटिकः इत्यारुण्यविभ्रम इति।

भा०, पृ० ६१६२

३ लोकव्यवहारशब्दोऽध्यासाभिधायीति।

वि०, पृ० ८४

विवरण की टीका तत्त्वदीपन में लोक-व्यवहार शब्द का आशय प्रदर्शन करते हुए यह कहा है कि लोक शब्द—लोक्यत इति लोकः इस प्रकार लोक शब्द में कर्म साधन ग्रहण कर विषय रूप अर्थ ग्रहण किया है व्यवहार शब्द के अर्थ प्रदर्शन में पंचपादिकाकार ने व्यवहरणं व्यवहारः यह भाव साधन स्वीकार किया है। लोक शब्द में कर्म व्युत्पत्ति ग्रहण कर ज्ञानोपसर्जनार्थाध्यास और व्यवहार शब्द के द्वारा अर्थोपसर्जनज्ञानाध्यास स्वीकार किया है। पंचपादिका के टीकाकार **आत्मस्वरूपाचार्य** ने अपनी प्रबोध-परिशोधिनी टीका में पंचपादिका के **सम्भेद इवावभासः स स्वाध्यासः** इस अंश की व्याख्या में अर्थ प्रधान ज्ञानाध्यास और ज्ञान प्रधान अर्थाध्यास का उल्लेख किया है[1]। **विज्ञानात्मा** ने तात्पर्यार्थद्योतिनी टीका में लोक शब्द के द्वारा ज्ञानोपसर्जनार्थप्रधान अध्यास और व्यवहार शब्द के द्वारा अर्थोपसर्जन ज्ञानप्रधानाध्यास स्वीकार किया है[2]।

विवरणाचार्य ने विवरण ग्रन्थ में अध्यास, मिथुनीकरण और लोक-व्यवहार इन तीनों को एक अर्थ में स्वीकार किया है। अर्थात् इन तीनों को समानार्थक माना है।

वाचस्पति मिश्र ने **लोकानां व्यवहारः** इस प्रकार षष्ठी-तत्पुरुष-समास स्वीकार किया है[3]। व्यपदेश शब्द को इसके पर्याय रूप में स्वीकार किया

---

१ अर्थप्रधानज्ञानाध्यासो ज्ञानप्रधानार्थाध्यासश्चात्रोक्तः।

प्र० परि०, पृ० २२

२ लोकशब्देन ज्ञानोपसर्जनार्थप्रधानाध्यास उक्तः। व्यवहारशब्देनार्थोपसर्जन-ज्ञानप्रधानाध्यास उक्तो द्रष्टव्यः।

ता० द्यो०, पृ० २४

३ लोकव्यवहारः—लोकानां व्यवहारः, स चायमर्थमिति व्यपदेशः।

भा०, पृ० ६७

है। षष्ठी-तत्पुरुष-समास स्वीकार करने के प्रसंग में ऋजुप्रकाशिकाकार ने कहा है कि समासान्तर के भ्रम का वारण करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने यह विग्रह प्रदर्शन किया है। पंचापदिका ने लोक व्यवहार पद में मध्यमपद-लोपी समास स्वीकार किया गया है, यह पूर्व में ही कहा गया है, उसी पर कटाक्ष करने के लिए ऋजुप्रकाशिका में यह कहा गया है[1]। आगे यह भी कहा गया है कि अभिज्ञा, अभिवदन, उपादान, अर्थक्रिया ये चार व्यवहार हैं। इन में प्रकृत स्थल में व्यवहार शब्द के द्वारा मात्र अभिवदन ही गृहीत किया है। इसीलिए वाचस्पति ने भी व्यवहार शब्द के पर्याय में व्यपदेश शब्द का निर्देश किया है।

भाष्यकार ने अध्यस्य व्यवहारः प्रयोग किया है। इसका आशय प्रदर्शन में भामती एवं पंचपादिकानुसारी विवरण में भिन्न रूप से समाधान प्रदर्शन किया है। शंका यह है कि— पाणिनि का अनुशासन है **"समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा"** इस का आशय यह है कि एक कर्तृक पूर्वापरीभाव में अवस्थित जहां दो क्रियायें रहती हैं, वहां पूर्वकाल वाची धातु से क्त्वा प्रत्यय होता है, जैसे भुक्त्वा व्रजति आदि प्रयोग में भोजन और व्रजन क्रिया का कर्त्ता एक होने से ओर भोजन क्रिया पूर्वकाल में निष्पन्न होने के कारण भुज् धातु से क्त्वा प्रत्यय हुआ है। प्रकृत स्थल में अध्यास-और व्यवहार में एककर्तृकत्व का अभिधान न होने से अध्यस्य यह क्त्वा प्रत्यय-घटित प्रयोग उचित नहीं है[2]। इसके समाधान में वाचस्पति मिश्र का कथन है कि व्यवहरण क्रिया के द्वारा किसी व्यवहार-कर्त्ता का आक्षेप होता है और

१ तत्र समासान्तरभ्रमं वारयति।

ऋ० प्र०, पृ० ७१

२ क्त्वाप्रत्ययोगदानादर्थतः क्रियाभेदः पूर्वापरभावश्चांगीकर्तव्यः,।

वि०, पृ० ८०

वह आक्षिप्तकर्त्ता ही अध्यास क्रिया का भी कर्त्ता है, इसलिए अध्यस्य व्यवहारः यह क्त्वा-प्रत्यय-घटित प्रयोग उपपन्न है। अध्यस्य व्यवहारः इस स्थल में अध्यास क्रिया में व्यवहरण क्रिया की अपेक्षा पूर्वकालिकत्व प्रतिपादन किया गया है[1]।

विवरणकार का सिद्धान्त प्रकृत में अतिशय जटिल हो गया है। इनका कथन है कि पूर्वोक्त स्थल में क्त्वा प्रत्यय का उपादान किया है, अतः, अर्थतः क्रिया भेद और दोनों क्रियाओं में पूर्वापरीभाव स्वीकार करना होगा। यदि यही स्वीकार करना पड़े तो अध्यास मिथुनीकरण और लोकव्यवहार ये तीनों एकार्थक कैसे होंगे? ये दोनों ही अध्यास के अभिप्रायी होने से इनमें क्रिया-भेद और पूर्वापरीभाव किस प्रकार सम्भव होगा? विवरण के मतानुसार अध्यस्य व्यवहारः इस वाक्य में व्यवहार तो अध्यास क्रिया से व्यतिरिक्त नहीं है। इसके समाधान में विवरण में कहा गया है कि अध्यस्य व्यवहारः इस वाक्य में अध्यास क्रिया का ग्रहण नहीं है! कारण, भाष्यकार ने उपसंहार में "एवमय-मनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽध्यासः" इसके द्वारा अध्यास को नैसर्गिकत्वगुणविशिष्ट विशेष्य पदार्थ के रूप में उल्लेख किया है। इसीलिए अध्यस्य व्यवहारः इस स्थल में अध्यास को क्रिया रूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं। कारण, तब उपक्रम और उपसंहार में विरोध हो जायगा। जिस रूप से उपक्रम रहता

समानकर्तृकयोः पूर्वकाले इत्यनेन सूत्रेण, एककर्तृकयोः पूर्वापरीभावेन स्थितयोः क्रिययोः पूर्वकाले धात्वर्थे क्त्वाप्रत्ययस्य विहितत्वात् क्रियाभेदो द्रष्टव्य इत्यर्थः।

त० दी०, पृ० ८५

१ अत्र चाध्यास-व्यवहारक्रियाभ्यां यः कर्ताऽन्नीतः स समान इति समानकर्तृकत्वेनाध्यस्य व्यवहार इत्युपपन्नम्।

भा०, पृ० ८०-८१

है उसी रूप में उपसंहार होने से एकवाक्यता होती है, उपक्रम और उपसंहार में विरोध होने से वाक्य-भेद हो जाता है। इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि यद्यपि एक ही अध्यास-क्रियामें अर्थतः क्रिया-भेद और पूर्वापरीभाव सम्भव नहीं है तथापि प्रातीतिक क्रिया-भेदादि सम्भव है। जैसे चेतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् इस स्थल में चैतन्य और पुरुष एक होने पर भी प्रातीतिक भेद स्वीकार कर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग होता है। इसी प्रकार एक ही अध्यास-क्रिया में औपचारिक भेद स्वीकार करना होगा। इसलिए क्त्वा प्रत्यय मुख्य आलम्बन न होने पर भी उसमें उपचरित आलम्बन सम्भव है। अन्यत्र अन्यगत धर्म का आरोप ही उपचार है[1]। एक ही अध्यास में प्रातीतिक औपचारिक क्रिया-भेद और पूर्वापरीभाव नहीं हो सकता है - यह सन्देह हो सकता है।

इसके समाधान में विवरण में कहा गया है कि एक अध्यास क्रिया होने पर भी विशेषणभेदप्रयुक्त उसका भेद हो जायगा। एक ही अध्यास में अन्योन्यात्मकता, सत्यानृत, अहमिदं ममेदम्, इस प्रकार विशेषण कहा गया है। विशेषण-भेद-प्रयुक्त अध्यास भी भिन्न हो जायगा।

इसमें पुनः शंका होगी कि विशेषणभेद से अध्यास का भेद कथन अनुचित है दण्ड और कमण्डलु को चैत्र के विशेषण रूप में निर्देश किया जा सकता है, परन्तु, दण्ड और कमण्डलु के भेद से चैत्र का भेद तो नहीं होता है। इसके उत्तर में विवरणकार कहते हैं कि विशेषण-भेद-प्रयुक्त स्वरूप भेद न होने पर भी विशेषणविशिष्टरूप में व्यक्ति भेद होता है। इसमें पुनः शंका होती है कि

---

१ नहि पदमात्रवैयर्थ्यभयाद्वाक्यार्थो नैसर्गिकत्वगुणविशिष्टो विशेष्यपदार्थोऽध्यास उपक्रमोपसंहारयोर्भेत्तुं युक्त इत्यभिप्राय. ।

वि, पृ० ८९

विशेषण-भेद-प्रयुक्त विशिष्ट का भेद होगा, विशेषण के सम्बन्ध से विशेष्य में तत्तद्वैशिष्ट्य होने पर भी विशेष्य स्वरूप में भेद नहीं होता है। इसके समाधान में विवरणकार का कथन है कि उपाधि के भेद से विशेष्य का भेद होता है, जैसे घट मठ आदि उपाधि के भेद से एक ही आकाश का भेद अनुभव सिद्ध है। अस्तु, यह मान लिया जाय तब भी पूर्वापरीभाव अध्यास क्रिया में किस प्रकार उपपन्न होगा? इसके समाधान में कथन है कि तत्तद्विशेषण-विशिष्ट अध्यासरूप-अर्थ को पूर्व में अवगत कर पश्चात् तत्तद्विशेषण-विशिष्ट-अध्यास का वाचक शब्द की रचना क्रम को अवलम्बन करके ही होती है। अत एव अर्थतः पौर्वापर्य न रहने पर भी प्रतिपत्तितः अर्थात् औपचारिक पूर्वापरीभाव एक ही क्रिया में सम्भव है, इसलिए, विवरण का उपसंहार यहीं हुआ कि एक ही अध्यास क्रिया में अर्थतः पूर्वापरीभाव और क्रिया-भेद न रहने पर भी पूर्वोक्त प्रदर्शित रीति से ये सम्भव हैं, अतः क्त्वा-प्रत्यय उपपन्न हो जायगा[1]।

वाचस्पति मिश्र ने व्यवहार शब्द का यथाश्रुत अर्थ ग्रहण कर क्त्वा-प्रत्यय उपपन्न करने के लिए दो क्रियायें उपपन्न की है, केवल कर्त्ता की अनुपपत्ति होती है, इसलिए कर्त्ता का अध्याहार किया है। इनके मत में पूर्वापरीभाव की उपपत्ति क्रिया भेद से सिद्ध ही है। अतः, कर्त्ता की उपपत्ति आक्षेप से कर दी गई है।

---

१ एकोऽप्यध्यासोऽन्योन्यात्मना सत्यानृतेअहमिदं ममेदमिति च विशेषणभेदाद्विशिष्टः परोपाधौ भिद्यते, विशिष्टार्थप्रत्ययाश्च क्रमेण वक्तुर्भवन्तीति, प्रतिपत्तितः पूर्वापरीभावं विशेषणभेदाच्च विशिष्टक्रियाभेदं चाङ्गीकृत्य क्त्वाप्रत्यय इति।

वि०, पृ० ८७-८८

विवरण के मत में लोक व्यवहार पद अध्यास का अभिधायी है, इसलिए अध्यस्य यह एक ही क्रिया है।

भामतीकार ने मिथ्या ज्ञान का अर्थ अध्यास किया है और अध्यास निमित्तक ही व्यवहार माना है[1]। परन्तु पंचपादिकाकार ने मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम् इस प्रकार विग्रह प्रदर्शन किया है। मिथ्या शब्द का अर्थ अनिर्वचनीय और अज्ञान का अर्थ जडात्मिका अविद्या शक्ति है। अर्थात् तन्निमित तदुपादान है। अर्थात् अनिर्वचनीय जडात्मिका अविद्या शक्ति अध्यास का उपादान है। इसका निर्गलित अर्थ यही हुआ कि मिथ्या ज्ञान अध्यास का उपादान है[2]।

---

१ मिथ्याज्ञानम्=अध्यासः, तन्निमित्तः। तद्भावाभावानुविधानाद् व्यवहार-भावाभावयोरित्यर्थः।

भा०, पृ० ८१-९२

स मिथ्याज्ञानलक्षणोऽध्यासो निमित्तं यस्य सः, तन्निमित्त इत्यर्थः।— मिथ्या-ज्ञानलक्षणाध्यासभावाभावानुविधानादित्यर्थः।

क॰ प्र० पृ० ८१-८२

२ मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याऽज्ञानम्। मिथ्येत्यनिर्वचनीयतोच्यते। अज्ञान-मिति च जडात्मिकाऽविद्याशक्तिर्ज्ञानपर्युदासेनोच्यते। तन्निमित्तः=तदुपादान इत्यर्थः।

पं० पा०, पृ० ८८

अध्यास में उपादान का निरूपण

भाष्यकार ने अध्यास का उपादान अज्ञान है, यह प्रदर्शित कराने के लिए कहा है—**मिथ्याज्ञाननिमित्तः।** इसके विग्रहप्रदर्शनप्रसंग में पंचपादिकाकार ने कहा है कि मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानम्—इस प्रकार विग्रह वाक्य के आशय विवरण के प्रसंग में विवरणकार ने कहा है मात्र अज्ञान को ही भाष्य में निर्दिष्ट किया जाता तब उसके द्वारा ज्ञानाभाव मात्र का ही कथन होता, केवल मिथ्या शब्द का ही प्रयोग रहता तब यह अर्थ होता भ्रान्तिज्ञान, परन्तु भाष्यकार ने मिथ्या ज्ञान को अज्ञान के विशेषण रूप में व्यवहृत किया है। कारण, अभाव अथवा भ्रान्ति-ज्ञान को किसी के उपादान के रूप में कहीं भी नहीं देखा गया है। इसलिए ज्ञानाभाव अथवा भ्रान्ति-ज्ञान अविद्या का उपादान नहीं हो सकता है। इसी विषय को व्यक्त करने के लिए मिथ्या च तदज्ञानं च इस प्रकार विग्रह-वाक्य प्रदर्शन के द्वारा मिथ्या शब्द को अज्ञान के विशेषण रूप में ग्रहण किया गया है। मिथ्या शब्द का अर्थ है अनिर्वचनीय और अज्ञान शब्द का अर्थ है जडात्मिका अविद्या शक्ति, यह ज्ञान का पर्युदास रूप है, यही पञ्चपादिकाकार का आशय है। प्रश्न हो सकता है कि अज्ञान पद में जो नञ् है, उसका अर्थ अभाव है। इसलिए अविद्या को अनिर्वचनीय कहना असंगत है। अज्ञान ज्ञानाभाव रूप में निर्वचनीय है। इस शंका के समाधान में विवरणकार ने

कहा है कि पंचपादिकाकार ने अज्ञान को ज्ञान के पर्युदास रूप में कहा है। अर्थात् अज्ञान ज्ञान से भिन्न है, पर्युदासार्थक नञ् रहने से न का अर्थ भेद होता है। अज्ञान जडात्मक है यही अज्ञान का ज्ञान भेद है। यह अज्ञान ज्ञान का विरोधी है और यही आशय अविद्या शब्द के द्वारा पंचपादिका में कहा गया है। अज्ञान स्वयं ही कारण है, इसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं है, इसलिए अविद्या शक्ति कहा गया है। निष्कर्ष यही हुआ कि अज्ञान अनिर्वचनीय ज्ञान भिन्न जडात्मक भाव रूप है। अज्ञान अध्यास का उपादान है। यही मिथ्या अर्थात् अनिर्वचनीय ज्ञान के द्वारा सबल ईश्वर में अधिष्ठानत्व है, अर्थात् ईश्वर अधिष्ठान है। अज्ञान संस्कार को द्वार बना कर अध्यास का निमित्त है, इस आशय से ही भाष्यकार ने अज्ञाननिमित्तः इस स्थल में निमित्त पद का प्रयोग किया है। इसमें शंका होती है कि मिथ्याज्ञान अध्यास का उपादान है, इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, अनुमान भी सम्भव नहीं है। कारण, व्याप्ति ज्ञान न होने से अनुमान प्रमाण नहीं हो सकता है और व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष के अधीन है, अतः, प्रत्यक्षज्ञान न होने से व्याप्ति-ज्ञान सम्भव नहीं है। इसमें आगम का भी प्रामाण्य नहीं है। कारण, व्युत्थित चित्त संसारी पुरुष के प्रति भी आगम प्रमाण का उपन्यास करना सर्वथा असमीचीन है। अर्थापत्ति भी इसमें प्रमाण नहीं है। अर्थापत्ति तभी सम्भव हो सकती है जब मिथ्या-ज्ञान-निमित्तत्व को छोड़ कर अध्यास अनुपपन्न हो जाय, परन्तु मिथ्याज्ञान को अध्यास का निमित्त स्वीकार न करने पर भी अध्यासरूप कार्य उपपन्न हो सकता है। इसलिए किसी अवस्था में मिथ्याज्ञान को अध्यास का निमित्त मानना उचित नहीं है। कारण, मिथ्याज्ञान के बिना अध्यास नहीं हो सकता है, यह

प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि अज्ञान में अध्यास की उपादानता अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है। शुक्ति-विषयक-अज्ञान रहने से रजत भ्रम[1] अर्थात् रजताध्यास का उदय होता है और शुक्त्यज्ञान न रहने पर रजतभ्रम का उदय नहीं होता है। इस पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा ही अज्ञान रजतभ्रम का उपादान है यह सिद्ध होता है। इसी दृष्टान्त के बल से अहंकारादि अध्यास आत्मा में अनात्मा के अध्यास का अज्ञान ही उपादान है—यह निश्चय होता है। इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अज्ञान भ्रम का उपादान है यह प्रत्यक्षतः रजतादि भ्रम-स्थल में गृहीत हुआ है। उसी के दृष्टान्त से अहंकारादि अज्ञान का अध्यास ही निमित्त है यह निश्चित होता है और अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा जब अज्ञान और अध्यास इन दोनों में उपादानोपादेयभाव रजतादि स्थल में सिद्ध हुआ तब इस व्याप्ति के बल से अज्ञान अध्यास का उपादान है यह अनुमान भी किया जा सकता है। अनुमान का आकार निम्न लिखित प्रकार का होगा विमत, (आत्मा अनात्मा का अध्यास) अज्ञानोपादानक है, क्योंकि, वह अध्यास है जैसे सम्मत शुक्तिरजतादि। इसमें पुनः शंका होती है कि अज्ञान के साथ जो अध्यास का अन्वय-व्यतिरेक दिखाया गया यह प्रकारान्तर से भी सिद्ध हो सकता है। तब तो इस प्रदर्शित अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा अज्ञान में अध्यास का उपादान नहीं स्वीकार किया जा सकता है इसका फल यही होगा कि दृष्टान्त रजत साध्य-विकल हो जायगा, क्योंकि, पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक के प्रकारान्तर से भी उत्पन्न होने के कारण रजत भ्रम-स्थल में अज्ञान उपादान के रूप में नहीं रह सकता है। दृष्टान्त की साध्य-विकलता से जो दोष होता है वह पूर्व में ही कहा गया है। प्रश्न हो सकता है कि प्रकारा-

---

१ भ्रम और अध्यास को इस प्रसंग में समानार्थक माना गया है।

न्तर से अन्वय-व्यतिरेक किस प्रकार उपपन्न होगा? पूर्वपक्षी का कथन है कि अध्यास का प्रतिबन्धक तत्त्वज्ञान है और तत्त्वज्ञानाभाव (अज्ञान) अध्यास का प्रतिबन्धक नहीं है यह अनुभव सिद्ध है। अतएव अज्ञान रहने से अध्यास के प्रतिबन्धक का अभाव रहता है और अज्ञान नहीं रहने से अध्यास का प्रतिबन्धक रहता है। इस प्रकार अज्ञान के साथ अध्यास का प्रतिबन्धकाभावत्व और प्रतिबन्धकत्व प्रदर्शन में ही प्रदर्शित अन्वय-व्यतिरेक चरितार्थ हो जायगा। अज्ञान के साथ उपादान-उपादेय भाव पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सिद्ध नहीं होगा[1]।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि इस प्रकार का विश्लेषण सर्वथा असमीचीन है। कारण, पूर्वपक्षी ने प्रतिबन्धक का स्वरूप ही नहीं समझा है। ज्ञान को जो अध्यास का प्रतिबन्धक कहा गया यह ठीक नहीं है। कारण, तत्त्वज्ञान में अध्यास के प्रतिबन्धक का लक्षण सम्भावित नहीं है प्रतिबन्धक का लक्षण यही है कि पुष्कल कारण विद्यमान रहने से कार्योत्पाद का विरोधी जो है वही प्रतिबन्धक है। निष्कर्ष यह है कि प्रतिबन्धक उत्पत्ति का विरोधी होता है। मात्र विरोधी प्रतिबन्धक है इस प्रकार स्वीकार करने से पूर्वज्ञान का विरोधी उत्तर ज्ञान में प्रतिबन्धक लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। उत्तर-ज्ञान पूर्वज्ञान का विरोधी होता है, परन्तु उत्तर-ज्ञान को पूर्वज्ञान का प्रतिबन्धक स्वीकार नहीं किया जाता है। उत्तर-ज्ञान में पूर्वज्ञान का प्रतिबन्धकत्व मानने पर तो पूर्वज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं होगी। इसलिए विवरणकार ने कार्योत्पाद विरोधी को ही प्रतिबन्धक स्वीकार किया है। कारण, सामग्री

---

१ ननु कथं मिथ्याज्ञानमध्यासस्योपादानम्? तस्मिन्सत्यध्यासस्योदयादसति चानुदयादिति ब्रूमः। ननु अध्यासस्य प्रतिबन्धकं तत्त्वज्ञानं तदभावश्चाज्ञानमिति प्रतिबन्धकाभावविषयतयाज्ञानस्याध्यासेनान्वयव्यतिरेकावन्यथासिद्धौ।

वि०, पृ० ८९

का अभाव भी प्रतिबन्धक नहीं हो सकता है, इसीलिए विवरणाचार्य ने पुष्कल कारण की विद्यमानता दशा में यह कहा है। प्रतिबन्धक कार्योत्पाद विरोधी है। कारण, सामग्री के अभाव प्रयुक्त कार्य की उत्पत्ति न होने पर उस स्थल में प्रतिबन्धकत्व प्रयुक्त कार्याभावकल्पन उचित नहीं है। इसी प्रकार पुष्कल कारण की विद्यमान दशा में विरोधी जो रहता है वही प्रतिबन्धक है यह भी कहना अनुचित है। कारण, पूर्वज्ञान निवृत्ति के पुष्कल कारण उत्तरज्ञान में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान निवृत्ति का पुष्कल कारण है और विरोधी भी है, इसीलिए विवरणाचार्य ने कार्योत्पाद विरोधी शब्द प्रतिबन्धक लक्षण में प्रयुक्त किया है। उत्तरज्ञान पूर्वज्ञान का उत्पाद विरोधी नहीं है, पूर्वज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के बाद उत्पत्ति होती है, कार्य पूर्वज्ञान तो पूर्व में ही उत्पन्न हो गया, अतः, कार्योत्पाद विरोधिता नहीं है। प्रकृत में निष्कर्ष यही हुआ कि अध्यास कार्य है। अध्यासरूप कार्य के पुष्कल कारण में दोष अन्तर्भूत है। अतः, दोष का अस्तित्व रहने पर तत्त्वज्ञान नहीं रहता है। निर्दुष्ट इन्द्रियां और विषय के साथ सम्प्रयोग होने से तत्त्वज्ञान का उदय होता है, दोष की सत्त्वदशा में यह सम्भव ही नहीं है, अतः, पुष्कल कारण दोष का सत्त्वज्ञान अध्यास के उत्पाद का विरोधी नहीं है। कारण, दोष सत्त्वदशा में तत्त्वज्ञान का अस्तित्व नही है, इसलिए तत्त्वज्ञान अध्यास के प्रतिबन्धक लक्षण से आक्रान्त नही है। अध्यास का कारण न रहने से ही तत्त्वज्ञान का उदय होता है। उपसंहार यही हुआ कि अज्ञान के साथ अध्यास का अन्वय-व्यतिरेक अध्यास का प्रतिबन्धकाभाव विषयक नहीं है। अर्थात् अज्ञान रहने से अध्यास का प्रतिबन्धकाभाव अर्थात् तत्त्वज्ञानाभाव और अज्ञान न रहने से अध्यास का प्रतिबन्धक अर्थात् तत्त्वज्ञान इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक नहीं समझना चाहिए। अर्थात् अज्ञान के साथ अध्यास का अन्वय व्यतिरेक अंगीकार कर अध्यास

के प्रतिबन्धक और प्रतिबन्धकाभाव के साथ अन्वय-व्यतिरेक की कल्पना उचित नहीं है। कारण, तत्त्वज्ञान पूर्वप्रदर्शित प्रतिबन्धक-लक्षण से आक्रान्त नहीं है[1]।

पूर्वपक्षी पुनः शंका करते हैं कि तत्त्वज्ञान अध्यास का अप्रतिबन्धक है यह मैं भी स्वीकार करता हूँ, परन्तु तत्त्वज्ञान अध्यास का निवर्तक है इसीलिए तत्त्वज्ञान अध्यास का विरोधी है। अतएव अध्यासरूप कार्य का विरोधी जो तत्त्वज्ञान उसका संसर्गाभाव अर्थात् अज्ञान के साथ अध्यास रूप कार्य का अन्वय-व्यतिरेक स्वीकार करेंगे अर्थात् अज्ञान रहने से अध्यास कार्य के विरोधी तत्त्वज्ञान का अभाव रहता है। अज्ञान के साथ अध्यास का जो अन्वय-व्यतिरेक है यह उपादानोपादेयभावविषयक नहीं है। अध्यास-विरोधी (तत्त्वज्ञान) संसर्गाभाव (अज्ञान) को लेकर ही उपपन्न होता है। अर्थात् अध्यास विरोधी तत्त्वज्ञान उसका संसर्गाभाव (अज्ञान) उसका विषयतया ग्रहण कर ही अन्वय-व्यतिरेक मालूम पड़ता है। अज्ञान में अध्यास-विरोधी तत्त्वज्ञान का संसर्गाभाव ही अवगत होता है, अध्यास का उपादानत्व अवगत नहीं होता है यह भी कथन अनुचित है। कारण, विधि का विषय अपेक्षित है या अनपेक्षित इस सन्देह में अपेक्षित का ही प्रतिपादन उचित होता है। अध्यास

---

१ नैतत्सारम्, पुष्कलकारणे हि सति कार्योत्पादविरोधि प्रतिबन्धकम्। नचाध्यासपुष्कलकारणे सति तत्त्वज्ञानोदयः। तस्मान्नाज्ञानान्वयव्यतिरेकौ प्रतिबन्धकाभावविषयौ।

वि०, पृ० ८९-९०

जब उत्पन्न ही नहीं हुआ उस अवस्था में उसका विरोधी संसर्गाभाव का ग्राहक अन्वय-व्यतिरेक कैसे होगा ? किसी पदार्थ की उत्पत्ति के बाद उसके निवर्तक के अभाव की अपेक्षा होती है उसके पूर्व में नहीं। अपेक्षित विधान अनपेक्षित विधान इन दोनों में अपेक्षित विधान ही बलवान् होता है यही मीमांसक सम्मत न्याय है। इसीलिए विवरणाचार्य ने कहा है कि आपको उपादान की अपेक्षा ही प्रथमतः उत्पन्न होती है इसके बाद विरोधी संसर्गाभाव की अपेक्षा होती है। अन्तरंग और बहिरंग में अन्तरंग ही बलवान् होता है, अर्थात् अपेक्षित और अनपेक्षित में अपेक्षित ही बलवान् रहता है—इसी न्याय के अनुसार प्रथमापेक्षित कारण-क्लृप्ति ही अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा सम्पन्न होती है। इसीलिए पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक का अध्यास उपादान-क्लृप्ति ही विषय होगा। इसमें पुनः शंका होती है कि क्लृप्त विषय दोष सादृश्य इन्द्रिय दोष काचादिरोग प्रमातृ-दोषरागादि अध्यास का कारण हो जायगा। इसमें प्रश्न होता है कि दोष अध्यास के निमित्त-कारण के रूप में अथवा उपादान-कारण के रूप में क्लृप्त है ? इसमें तो पूर्व विकल्प ही स्वीकार किया जाता है, द्वितीय विकल्प समीचीन नहीं है अध्यास अर्थात् भ्रम-ज्ञान के उपादानान्तर का निरूपण नहीं किया गया है, अतः, अज्ञान को ही अध्यास का उपादान कारण स्वीकार करना उचित है[1]।

---

१ कार्यस्य कारणापेक्षा हि प्रथममुत्पद्यते, न विरोधिसंसर्गाभावापेक्षा। तस्मात् प्रथमापेक्षितकारणक्लृप्तिमेवान्वयव्यतिरेकौ न्यायसहितौ कुर्वाते। ननु क्लृप्तं विषयेन्द्रियादिदोषः कारणमिति; सत्यम्, निमित्तं तु तत्, उपादानापेक्षा त्व-मज्ञानमनुप्रविशति।

वि०, पृ० ९०

इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने इस प्रकार अनुमान किया है--सभी कार्य (पक्ष) सोपादान है (साध्य) भावकार्य होने से (हेतु) जैसे घट[1] (दृष्टान्त)। इसमें पुनः शंका होती है कि कार्य होने से ही उसमें उपादान की अपेक्षा रहे यह तो सिद्ध नहीं है। कारण, प्रध्वंसाभाव कार्य है, किन्तु, इसको उपादान की अपेक्षा नहीं है, अतः, इसी प्रकार भ्रमज्ञान के सम्बन्ध में भी यह कहा जाय कि यह कार्य होते हुए भी इसमें उपादान की अपेक्षा नहीं है तो क्या हानि है? इसके उत्तर में विवरण में कहा है कि भाव-कार्यत्व-विशेष यहां हेतु किया है—भाव होकर जो कार्य है वहां उपादान सापेक्ष है। प्रध्वंसाभाव कार्य होने पर भी अभाव रूप है भाव रूप नहीं है। अतः, उसमें उपादान की अपेक्षा न होने पर भी प्रकृत में कोई व्यभिचार सम्भव नहीं है। अतएव पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा कार्यमात्र की उपादान-सापेक्षता सिद्ध होती है। पुनः शंका होती है कि कि गुण किया आदि भाव कार्य है, अथ च वे किसी उपादान के विना ही उत्पन्न होते हैं। फल यही हुआ कि क्रिया गुण आदि भाव कार्यत्व रूप हेतु हैं अथ च साध्य में सोपादानत्व नहीं है, इसलिए विवरणाचार्य-सम्मत भावकार्यत्वहेतु व्यभिचारी है। इस विषय की अभिव्यक्ति के लिए यह कहा जा सकता है कि पट के गुण रूप में यह भावकार्यत्वरूप हेतु है और उसका उपादान सम्भव नहीं है, इसलिए विवरण-प्रदर्शित हेतु गुण में व्यभिचारी होता है। गुण का उपादान क्यों नहीं है इसके विश्लेषण-प्रसंग में कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त रूप का क्या पट ही उपादान होगा? या द्रव्यान्तर? पूर्व विकल्प असमीचीन है। कारण, सव्येतर-विषाण के समान (वाम और दक्षिण सींग के समान) युगपत् उत्पन्न वस्तुद्वय में कार्य

---

१ सर्वं च कार्यम्, सोपादानम्, भावकार्यत्वात्, घटादिवदित्यनुमानात्।

वि० पृ० ९०-९१

कारणभाव नहीं रह सकता है। पट ओर पटरूप युगपत् उत्पन्न होते हैं। इसलिए उपादान कारणता पट में सम्भावित नहीं है। द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है, द्रव्यान्तर को यदि पटरूप का उपादान स्वीकार किया जाय तब तो पटरूप का उपादान द्रव्यान्तर में ही आश्रित रूप से प्रतीत होगा वह पटरूप पट में प्रतीत नहीं होगा। कारण, उपादेय-उपादान में ही आश्रित होता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि पटरूप में व्यभिचारोपपादन सर्वथा असमीचीन है। कारण, तार्किक-मत में उत्पन्न द्रव्य प्रथमक्षण में निर्गुण एवं निष्क्रिय रहता है। अतः, इस मत के अनुसार पट और पटरूपता में यौगपद्य नही होने से पट उपादान हो जायगा और वेदान्त-मत में तन्तु ही पट रूप का उपादान है। उपादानभूत तन्तु के साथ उपादेय पट का अभेद है। क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में कार्य-कारण में अभेद स्वीकार किया जाता है, इसलिए पट रूप पट का गुण हो सकता है। अर्थात् पट रूप द्रव्यान्तर तन्तु का गुण होने पर भी उसको (पूर्वोक्त-विश्लेपण से) पट गुण कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसीलिए विवरणाचार्य ने कहा है कि क्रिया गुणादि साश्रय (आश्रय के साथ) विद्यमान होकर ही उत्पन्न होता है और उत्पद्यमान क्रिया गुणादि का जो आश्रय वही क्रिया गुणादि का उपादान होता है। इसी प्रकार उत्पद्यमान घटादि का जो आश्रय मिट्टी आदि वही घटादि का उपादान होता है। यह शंका होती है कि मिट्टी आदि यदि घटादि का उपादान हो जाय तब तो उत्पद्यमान घटादि के आश्रय रूप में मिट्टी आदि का अभिन्नरूप से ज्ञान नहीं होगा। यह शंका ठीक नहीं है। कारण, उपादानोपादेयभाव के भेदवादी ही इस प्रकार शंका कर सकते हैं। वेदान्ती तो उपादानोपादेय में अभेद ही स्वीकार करते हैं। पूर्वोक्त विश्लेपण से यह सिद्ध हुआ कि भाव कार्य मात्र ही सोपादानक है। परन्तु यह मानने पर भी

अज्ञान को अध्यास का उपादान स्वीकार करने में किसी प्रकार की युक्ति नहीं है। काचादि दोष ही अध्यास का उपादान हो सकता है[1]।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि अध्यास रूप भ्रम-ज्ञान और उसका उपादान एक ही आश्रय में रहेगा यही नियम है। अध्यास आत्मा में आश्रित है और दोषादि इन्द्रियाश्रित है, इसलिए, दोषादि अध्यास का उपादान नहीं हो सकता है। दोषादि अध्यास का निमित्त कारण है यह सिद्धान्ती भी स्वीकार करते हैं। उपादेय उपादान में आश्रित होता है, दोषादि को यदि अध्यास का उपादान स्वीकार किया जाय तो अध्यास दोष में ही आश्रित रहेगा, किन्तु, अध्यास दोषाश्रित रूप में उपलब्ध नहीं होता है। प्रश्न होता है कि उपादेय सर्वत्र उपादान में आश्रित है यह कहना तो अनुचित है। कारण, अज्ञान मिथ्याज्ञान अध्यास के आश्रय रूप में उपलब्ध नहीं होता है। अथ च अज्ञान को उसके उपादान रूप में स्वीकार किया जाता है, इसी प्रकार काचादि दोष में अध्यास नहीं रहने पर भी काचादि दोष उसका उपादान हो जायगा। इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि दोष सत्य है और अध्यास उसके विपरीत है, इसीलिए इन दोनों में उपादानोपादेयभाव नहीं हो सकता है। अध्यास अर्थात् भ्रमज्ञान मिथ्या है, इसका कारण क्या है? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि मिथ्याज्ञान का विषय मिथ्या होने के कारण उसका ज्ञान भी मिथ्या है। प्रश्न हो सकता है कि अध्यास अर्थात् भ्रमज्ञान मिथ्या होने पर भी उसके उपादान को सत्य स्वीकार करने में क्या हानि है? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि उपादान के सत्य होने से उपादेय कार्य भी सत्य हो जायगा। कारण,

---

१ वि, पृ० ६०

उपादान और उपादेय दोनों अभिन्न होते हैं साथ ही काचकामलादि दोष परस्पर व्यभिचारी है अर्थात् एक के रहने पर दूसरा नियतरूप से नहीं रहता है, इसलिए काचकामलादि दोष मिलित होकर अध्यास का उपादान होगा यह सम्भव नहीं है। दोष अध्यास का उपादान है यह कहने से सभी दोष मिलित होकर अध्यास के उपादान हैं--यही स्वीकार करना होगा और प्रदर्शित व्यभिचार के अनुसार यह सम्भव नहीं है। विशेषतः उपादान उपादेय में अनुगत रहता है जैसे घड़े में मिट्टी, पट में तन्तु, परन्तु दोष अध्यास रूप कार्य में अनुवृत्त नहीं है, अतः, वह उपादान नही हो सकता है। इसोलिए अज्ञान ही भ्रमज्ञान का उपादान हो सकता है। कारण, अज्ञान सभी भ्रमों का अनुपाती है। अर्थात् सभी भ्रमज्ञान में अनुवृत्त है।

इसमें पुनः शंका होती है कि अज्ञान भ्रान्तिज्ञान का उपादान नहीं हो सकता है। कारण, अज्ञान में भ्रमज्ञान आश्रित नहीं है—जैसे काचादि के भ्रम में भ्रमज्ञान का आश्रित काचादि न होने के कारण अज्ञान का काचादि को उपादान कारण स्वीकार नहीं किया जाता है। इसका उपोद्बलक अनुमान भी इस प्रकार है, अज्ञान, भ्रान्ति का उपादान नहीं है, कारण, अज्ञान भ्रमज्ञान का आश्रय नहीं है, जैसे काचादि। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि अज्ञान आत्मा में आश्रित है, भ्रान्तिज्ञान अध्यास भी आत्मा में ही आश्रित है, इसीलिए, अज्ञान भ्रान्तिज्ञान के आश्रित कोटि में निक्षिप्त होने से एक आश्रितत्व उपपन्न हो सकता है[1]।

---

१ अज्ञानम्, न भ्रान्त्युपादानम्, तदनाश्रयत्वात्, काचादिवद्।

त० दी० पृ० ६३

भ्रान्तिज्ञानाश्रयकोटिनिक्षिप्तत्वाच्च मिथ्याज्ञानमेवाध्यासोपादानम्, नात्मान्तःकरण-काचादि-दोषा इति युक्तम्।

वि, पृ० ६३-८४

इसने पुनः शंका होती है कि भ्रमज्ञान आत्मा में आश्रित होकर स्फुरित होता है। अज्ञान में आश्रित होकर तो यह स्फुरित नहीं होता है। इसके समाधान में यह कथन है कि अज्ञान आत्मा में अध्यस्त है, इसीलिए अज्ञानजन्य जो कार्य है उसका भी अध्यास में ही स्फुरण होना उचित है। वस्तुतः भ्रमज्ञान अज्ञान में ही आश्रित है, परन्तु अज्ञान आत्मा में आश्रित होने के कारण आत्मा ही भ्रान्तिज्ञान के आश्रय रूप में प्रतीत होता है।

वाचस्पति मिश्र ने अध्यास के उपादान निरूपण प्रसंग में केवल भाष्य पंक्तियों की योजना हीं की है। उनका वेदान्तप्रक्रियानुसारी विश्लेषण की ओर दृष्टि नही है। आत्मा और अनात्मा का अध्यास अद्वैतवेदान्त दर्शन का असाधारण विषय है, इस उपादान निरूपण के विषय में वाचस्पति ने औदासीन्य प्रदर्शन किया है। वस्तुतः सर्वतन्त्रस्वतन्त्र दार्शनिक के लिए यह उचित नहीं कहा जा सकता है।

इसमें पुनः शंका होती है कि रजत का अध्यास शुक्ति में आश्रितरूप से प्रतीत होता है और इस रजताध्यास का उपादान अज्ञान आत्माश्रित है इसलिए अध्यास और अज्ञान का एकाश्रितत्व अद्वैतवादी के मत में हीं सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्तो का कथन है कि अध्यास आत्माश्रित हो है। आत्माश्रित अध्यास का शुक्तिकासंसर्ग समझना चाहिए। विवरण के इस विषय का आक्षेप ओर समाधान के रूप में तत्त्वदीपनकार ने सुस्पष्ट व्याख्यान किया है। आक्षेप यह है कि ज्ञान आन्तर पदार्थ है, इसलिए ज्ञानाध्यास आत्माश्रित होने पर भी विषयाध्यास को किस प्रकार आत्माश्रित स्वीकार किया जा सकता है। यह रजत है इस प्रकार की प्रतीति के बल से विषय का अध्यास बाह्य प्रदेश में ही उपलब्ध होता है। इसके समाधान में पुनः कहा

है कि शुक्ति में जो इदंमश है वही इदमंशावच्छिन्न जो चैतन्य है उस चैतन्य का आवरक जो अज्ञान उसी का कार्य विषयाध्यास है। इसलिए आरोपित रजत का शुक्तिआदि आश्रय रूप में प्रतीत होता है। परन्तु यह प्रतीति भ्रमात्मक है पूर्वोक्त सिद्धान्त ही इस प्रकार सुस्थिर होता है[1]। इसमें प्रश्न होता है कि रजतादि अर्थाध्यास का उपादान अज्ञान है यही कहना चाहें तो कह सकते हैं किन्तु ज्ञानाध्यास का आत्मा या अन्तःकरण उपादान होगा। भावरूप अज्ञान अप्रसिद्ध है, इसलिए, भावरूप अज्ञान को उपादान रूपमें कल्पनकर प्रसिद्ध आत्मादि को ही उपादान स्वीकार किया जाना चाहिए। तात्पर्य यह है कि आत्मा सुखादि का उपादान है। इसी प्रकार भ्रान्ति का भी उपादान हो जायगा—यह कथन ठीक नहीं है। कारण, केवल आत्मा ही उपादान है अथ वा अविद्योपहित आत्मा को उपादान स्वीकार करना चाहते हैं! प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, आत्मा स्वतः निरवयव होने के कारण स्वतः सावयव रजतादि रूप से और अज्ञान के निमित्त संयोग की अभावता में ज्ञान रूप से परिणाम नहीं होगा। अविद्योपहित आत्मा को उपादान स्वीकार करने में अद्वैतियों के लिए इसमें इष्टापत्ति ही है। आत्मा को सुखादि का उपादान कहा गया—यह भी अद्वैतवादी स्वीकार नहीं करते हैं। अन्तःकरण भी रजतादि ज्ञानाध्यास का उपादान नहीं हो सकता है। कारण, इन्द्रिय-संयोगादि के विना अन्तःकरण को रजतज्ञानाध्यास का उपादान मानने पर अन्धे को भी रजतभ्रम होने लगेगा। इसमें और भी कारण है कि बाह्य विषय-ग्रहण में मन परतन्त्र है। इस सिद्धान्त के जागरूक रहने पर इन्द्रिय-संयोग-निरपेक्ष अन्तःकरण ज्ञानाध्यास का उपादान नहीं हो सकता है, यदि यह कहा जाय कि इन्द्रिय-संयोगादि की अपेक्षा करके

---

१ आत्माश्रयाध्यासस्य शुक्तिकासंसर्गो विभ्रम इति।

वि, पृ० ९४

त० दी ५० ८४-८५

हो अन्तःकरण ज्ञानाध्यास का उपादान हो जायगा तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, मिथ्या-पदार्थ ज्ञानमात्र शरीर है, ज्ञान के पूर्व में उसकी सिद्धि नहीं है, इसीलिए इन्द्रिय इसके साथ संयुक्त होगा? इसमें शंका होती है कि मिथ्याज्ञान (अध्यास) इन्द्रिजन्य नहीं रहेगा तो इन्द्रिय के साथ मिथ्याज्ञान का अन्वयव्यतिरेक भी नहीं रहेगा, परन्तु इन्द्रिय के रहने से मिथ्याज्ञान होता है और नहीं रहने से नहीं होता है—इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक अनुभव सिद्ध है।

विवरणाचार्य कहते हैं कि भ्रम के प्रति अधिष्ठान का सामान्य ज्ञान कारण है, इसलिए, इन्द्रिय का अन्वय-व्यतिरेक विषय भ्रान्तिज्ञान के अधिष्ठान ज्ञान के साथ है भ्रान्ति के ज्ञान के साथ नहीं है, और भी कारण है कि भ्रान्तिज्ञान को अन्तःकरण का परिणाम स्वीकार किया जाय तब अन्तःकरण को भ्रान्तिज्ञान का आधार स्वीकार करना पड़ेगा। कारण, उपादेय का उपादान ही आधार होता है। परन्तु यह सम्भव नहीं है। कारण, इसमें यह शंका होगी कि क्या केवल अन्तःकरण भ्रमज्ञान का आधार है? अथवा चैतन्य में अध्यस्त अन्तःकरण भ्रम-ज्ञान का आधार है। प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, कारण, अन्तःकरण जड है वह चिद्-रूप ज्ञान का आधार किस प्रकार हो सकता है? द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, अन्तःकरण का चैतन्य में अध्यास स्वीकार करने से चैतन्य के साथ अन्तःकरण का तादात्म्य अर्थात् अभिन्न रूप में स्फुरण होगा और यह तादात्म्य स्फुरण रूप अध्यास अभी आकाशपुष्प के समान है। कारण, अध्यास की सिद्धि के लिए ही तो यह प्रकृत प्रसंग चल रहा है। अतः, चैतन्य के साथ अन्तःकरण का अभिन्न रूप में अपरोक्षज्ञान किस प्रकार सम्भव है? पूर्वोक्त विवरण का आशय इस प्रकार भी प्रतिपादन कर सकते हैं अन्तःकरण जड होने के कारण ज्ञाता नहीं हो सकता है। अर्थात् ज्ञातृत्व धर्म उसमें नहीं रह सकता है भ्रान्तिज्ञान में अन्तःकरण का परिणाम स्वीकार करने पर

अन्तःकरण को ही अपने परिणाम स्वरूप भ्रान्तिज्ञान का अधिष्ठान (आश्रय) स्वीकार करना पड़ेगा। कारण, उपादान उपादेय में आश्रित होता है। किन्तु यह उपपन्न नहीं हो सकता है। क्योंकि-अन्तःकरण जड है और जड अन्तः-करण में ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है। भ्रान्तिज्ञान भी ज्ञान है उसके आश्रय में ज्ञातृत्व धर्म रहेगा और यह जड में सम्भव नहीं है—अन्य भी कारण है —केवल अन्तःकरण भ्रमज्ञान का उपादान नहीं हो सकता है, वरन् अज्ञान भ्रम और सम्यग् ज्ञान का एकाश्रयत्व नियम है, इसीलिए इष्टसिद्धिकार ने कहा है कि जिसको अज्ञान रहता है उसी को भ्रम और उसी को सम्यग् ज्ञान होता है[1]। यदि अन्तःकरण को भ्रान्तिज्ञान का उपादान स्वीकार किया जाय तब भ्रान्तिज्ञान को अन्तःकरणाश्रित ही स्वीकार करना पड़ेगा और इसका फल यह होगा कि भ्रान्ति आत्मा में नहीं है और इसका परिणाम इतना ही नहीं होगा आत्मा में सम्यग् ज्ञान एवं बन्ध और इसकी निवृत्ति का भी आश्रय आत्मा नहीं होगा। अर्थात् नित्यमुक्तत्व को आपत्ति होगी।

फलतः, आत्मा और अन्तःकरण अध्यास का उपादान कारण नहीं हो सकता है। अतः, मिथ्याज्ञान को ही अध्यासका उपादान मानना उचित है। दोष को अध्यास का उपादान मानना तो उचित नहीं है, कारण, दोषाश्रित अध्यास की उपलब्धि नहीं होती है और यह नियम है कि जो उपादान होता है वही आश्रय भी होता है। यदि यह आशंका हो कि अज्ञान का आश्रय आत्मा है मिथ्याज्ञान तो अज्ञान का आश्रय नहीं है फिर भी अज्ञान का उपादान मिथ्याज्ञान को मानते हैं, इसी तरह अध्यास के आश्रय दोष के न होने पर भी पूर्वोक्त अन्वय-व्यतिरेक देखने से दोष को अध्यास का उपादान मानने में आपत्ति नहीं

१ यस्याज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक्च वेत्ति सः।

इष्टसि०, पृ० १८१

होनी चाहिए। विषय मिथ्या है, अत, उसका ज्ञान भी मिथ्या ही मानना होगा। अर्थात् विषयाध्यास और ज्ञानाध्यास उभय अध्यास मिथ्याभूत हैं। अतः, इन अध्यासों का कोई मिथ्याभूत ही उपादान कारण होगा। कारण, कार्य उपादान कारण सापेक्ष ही होता है। कार्य के मिथ्याभूत होने पर कारण भी मिथ्याभूत ही है यह अवश्य स्वीकार करना होगा उपादान के मिथ्या होने से ही उपादेय भी मिथ्या होगा। अतः, मिथ्याभूत अज्ञान ही उभयविध अध्यास का उपादान कारण है यह स्वीकार करना होगा।

अन्य कारणों के आधार पर भी अज्ञान ही मिथ्याभूत अध्यास का उपादान हो सकता है दोष नहीं। वेदान्त सिद्धान्त में कार्यकारण में अभेद होने के कारण सत्यभ्रम दोष को उपादान मानने पर उसके कार्य अध्यास को भी सत्य मानना पड़ेगा। कारण, वे दोनों अभिन्न हैं। अतः काचकामलादि दोष निमित्त कारण है यही स्वीकार करना उचित है। अज्ञान की कारणता में यह दोष नहीं रहता है। कारण, अज्ञान को सत्य मानने पर उसमें ज्ञान निवर्त्यत्व नहीं रहेगा, सत्य की निवृत्ति नहीं होती है, अतः, ज्ञान निवर्त्यत्व स्वीकार करने से ही अज्ञान मिथ्या है यह सिद्ध है, अतः, मिथ्या अध्यास का मिथ्या अज्ञाम ही उपादान निमित्त है यह स्वीकार करना उचित है।

अन्य भी कारण हैं, जिससे दोष को अध्यास का उपादान कार स्वीकार नहीं किया जा सकता है। काचकामलादि दोष अननुगत हैं—अनेक-भेद-भिन्न हैं। अनुगत ही उपादान कारण हो सकता है, यहां तो परस्पर दोषों का व्यभिचार होने से अर्थभेद प्रयुक्त दोष के अभाव में कार्य की उत्पत्ति और दोष के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होन से व्यभिचार होने पर अध्यास रूप कार्य में अनुगत उपादान कारण को सिद्धि दोष के उपादान मानने पर नहीं हो सकती है अज्ञान के उपादानत्वपक्ष में अनुगतरूप से अज्ञान ही अध्यास के प्रति उपादान

रहता है अतः दोष नहीं है। इसलिए अध्यास और अज्ञान आत्माश्रयत्व रूप में एकाश्रित होने से एवं अज्ञान की अनुगत रूप से प्रतीति होने के कारण अध्यास का अज्ञान ही उपादान कारण है आत्मा अथवा दोष नहीं है। फलतः अज्ञान भ्रान्ति का उपादान नहीं है अध्यास का आश्रय होने से काचादि दोष के समान इस अनुमान से अज्ञान का अध्यासकारणत्व का विघटन नहीं हो सकता है, कारण, दोनों आत्मरूप आश्रय में एक कोटि-निक्षिप्त है।

इसमें पुनः शंका होती है कि अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय-संयोग से ही भ्रान्ति ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध हो जायगी यह कहना अनुचित है। कारण, मिथ्या विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं होने से भ्रान्तिज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती है, मिथ्या-वस्तु-विषयक ज्ञान ही भ्रान्तिज्ञान होता है। इसमें पुनः शंका होती है कि विषय के साथ इन्द्रिय संयोग नहीं रहने पर भी सोऽयं देवदत्तः इस प्रत्यभिज्ञा में जिस प्रकार संस्कार के द्वारा उपनीत तत्तांश का ज्ञान होता है उसी तरह भ्रम स्थल में भी रजतादि मिथ्या विषय के साथ इन्द्रिय-संयोग न होने पर भी उसका ज्ञान होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। इस कथन का और भी स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है—प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ज्ञान है। कालान्तर में किसी व्यक्ति या वस्तु का प्रत्यक्ष कर पुनः अन्य समय में जब उसको देखता है तब प्रत्यक्षात्मक प्रत्यभिज्ञा होती है—जैसे किसी ने अन्य समय में देवदत्त का प्रत्यक्ष किया था वही प्रत्यक्षानुभवजनित-संस्कार प्रत्यक्षकर्त्ता के मन में रह सकता है कुछ दिन के बाद उस देवदत्त को देखते ही यह वही देवदत्त है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा कर लेता है। इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में तत्ताविशिष्टवस्तु के साथ इदन्ताविशिष्टवस्तु का अभेद भासमान होता है। सः यह अंश तत्तांश का बोधक है और अयं यह इदमंश का बोधक है। इसमें इन्द्रिय-संयोग और संस्कार कारण है। प्रकृत स्थल में वक्तव्य यह है कि जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा में पूरोवर्ती देवदत्त के साथ इन्द्रिय-संयोग होता है

पूर्वानुभूत देवदत्त का इस समय परोक्ष रहने से उसके साथ इन्द्रिय का संयोग सम्भव नहीं है, किन्तु देवदत्त का पूर्वानुभवजनित संस्कार उद्बुद्ध होकर तत्तांश की प्रतीति करा देता है इस प्रकार भ्रम-स्थल में भी अधिष्ठान के साथ ही इन्द्रिय का संयोग है रजत के साथ नहीं तथापि पूर्ववर्ती वस्तु को सितभास्वर देखकर पूर्वानुभूत रजत संस्कार उद्बुद्ध होता है और रजत संस्कार का उद्बुद्ध होना ही रजत-विषयक-प्रत्यक्ष करा देता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा स्थल में जिस प्रकार संस्कार के द्वारा उपनीत तत्तांश की प्रतीति होती है उसी प्रकार भ्रम स्थल में भी संस्कार के द्वारा उपनीत होकर रजत की प्रतीति हो जायगी रजत की प्रतीति कराने के लिए इन्द्रिय-संयोग अपेक्षित नहीं है यह कहना अनुचित है। प्रत्यभिज्ञा के साथ भ्रान्तिज्ञान का सादृश्यापादन करने से प्रत्यभिज्ञा के समान भ्रान्तिज्ञान भी अभ्रान्तिज्ञान हो जायगा। प्रत्यभिज्ञा स्थल में तत्तांश का ज्ञान जैसे प्रमिति रूप है वैसे ही प्रकृत स्थल में रजत ज्ञान भी भ्रमज्ञान न होकर यथार्थज्ञान हो जायगा। यदि यह कहा जाय कि भ्रम स्थल में शुक्त्यादि अधिष्ठान के साथ रजत का सम्बन्ध नहीं है इसीलिए वह भ्रम रूप है, प्रत्यभिज्ञा में प्रत्यक्षीक्रियमाण पुरोवर्ती देवदत्त के साथ पूर्वानुभूत परोक्ष देवदत्त का सम्बन्ध है इसलिए इन दोनों में वैलक्षण्य रक्षित हो जायगा। अर्थात् प्रत्यभिज्ञा दृष्टान्त से तत्तांश ज्ञान के समान रजतांश की प्रमात्व प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु, यह भी कथन अनुचित है। कारण, भ्रान्तिज्ञान में अधिष्ठान के साथ रजत का सम्बन्ध नहीं है यदि यही स्वीकार किया जाय तब तो वहां रजत नहीं है यही मानना पड़ेगा। कारण, रजत नहीं रहने से ही अधिष्ठान में रजत का सम्बन्ध नहीं हो सकता है और इसका फल यही होगा कि रजत नहीं रहने के कारण वह इन्द्रिय के साथ संयोग-योग्य नहीं है यही स्वीकार करना होगा। इसके परिणाम-स्वरूप आरोप्य रजत का अपरोक्षरूप से ज्ञान नहीं होगा किन्तु भ्रम स्थल में रजत का अपरोक्ष ज्ञान अनुभव सिद्ध है।

इसमें आपत्ति हो सकती है कि मिथ्या-विषयक ज्ञान के लिए अन्तःकरण इन्द्रिय-संयोग की अपेक्षा नहीं रखता है। यद्यपि परतन्त्रं न बहिर्मनः इस अभियुक्त वचन के अनुसार बाह्य यथार्थ विषय के ज्ञान में अन्तःकरण विषय के साथ इन्द्रिय-संयोग की अपेक्षा करता ही है फिर भी मिथ्या विषय में इसका व्यतिक्रम है, कारण, स्वप्न में विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध नहीं रहने पर भी स्वप्नज्ञान उत्पन्न होता है यह कथन भी अनुचित है, कारण, अन्तःकरण को भ्रम का उपादान स्वीकार किया जाय तो अन्तःकरण भ्रम ज्ञान के आकार में होता है यह स्वीकार करना पड़ेगा। कारण, उपादान उपादेयाकार में परिणत होता है यह स्वीकृत है। किन्तु अन्तःकरण यदि ज्ञानाकार में परिणत हो जाय तब ज्ञाता कौन रहेगा? ज्ञाता न रहने से मिथ्या विषय का व्यवहार न होगा। विवरणाचार्य ने कहा है कि व्यवहार अभिवदन, उपादान और अर्थक्रिया[१] ये चार प्रकार के व्यवहार होते हैं। ज्ञाता, ही इन पूर्व चार प्रकार के व्यवहार को कर सकता है। ज्ञातृत्व का निष्पादक अन्तःकरण जब मिथ्याज्ञानाकार में परिणत होगया तब मिथ्या वस्तु का व्यवहार सिद्ध नहीं होगा। इसमें यह शंका हो सकती है कि अन्तःकरण जड होकर भी ज्ञान के कर्त्ता रूप में परिणत हो जायगा अथवा आत्मा को ही ज्ञाता स्वीकार किया जायगा —यह कथन ठीक नहीं है, कारण, भ्रान्ति, सम्यक् दर्शन, बन्ध-निवृति का एक आश्रयत्वनियम है यह पूर्व में ही कहा गया है। अन्तःकरण में भ्रान्ति ज्ञान का कर्तृत्व स्वीकार किया जाय तो अन्तःकरण में सम्यक् ज्ञान और मोक्ष की प्रसक्ति होगी। किन्तु आत्मा में ही भ्रान्तिआदि स्वीकार की जाती है और यह आत्मा में आश्रित अज्ञान को उपादान स्वीकार पक्ष में ही सिद्ध हो सकता है, अन्यथा इसका असम्भवत्व प्रतिपादन विवरणानुसार किया गया है। अतः, अज्ञान ही उभयविध अध्यास का उपादान कारण है।

---

१ वि०,पृ० ८५

ब्रह्मजिज्ञासा में वाचस्पतिमिश्र के अनुसार अध्यास के मूलाधारत्व का विवेचन

विवरणकार एवं भामतीकार दोनों ने ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (ब्र० सू० १।१।१) सूत्र के आरम्भ के भाष्य के प्रयोजन की आलोचना की है। दार्शनिक विचार परम्परा के अनुसार इन दोनों ने ही पूर्वपक्ष एवं सिद्धान्त के रूप में जिज्ञासा-सूत्र के आरम्भ का प्रसंग विवेचित किया है।

जिस दृष्टिकोण से विवरणाचार्य ने जिज्ञासा सूत्र के आरम्भ का पूर्वपक्ष प्रदर्शित किया है उस दृष्टिकोण से वाचस्पतिमिश्र ने नहीं किया है। विवरणाचार्य ने जिज्ञासासूत्र के विधिरूपत्व प्रतिपादन के लिए "कर्तव्या" पद का अध्याहार कर अध्यास का प्रसंग उपस्थापित किया है। विवरण में जिज्ञासा पद को विचार अर्थ में लाक्षणिक माना है। किन्तु, वाचस्पति मिश्र ने "कर्तव्या" पद का अध्यहार नहीं किया है। विवरणाचार्य ने अध्यासभाष्य में भाष्यत्व की शंका कर सूत्र का श्रोतार्थ और आर्थिकार्थ की कल्पना कर आर्थिकार्थ ग्रहण कर अध्यासभाष्य को सूत्रोपारुढ़ किया है।

वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म में जिज्ञास्यत्व हो नहीं रह सकता है इसी को पूर्वपक्ष में ग्रहण कर विस्तृत विचार और जिज्ञासासूत्र का आरम्भ नहीं हो सकता है—इसका विस्तृत विचार किया है। इसी प्रसंग में भाष्य के आरम्भ का प्रदर्शन कर अध्यासभाष्य की व्याख्या की है।

विवेक, वैराग्य, शम, दम आदि और मुमुक्षुत्व इन चारों साधनों से सम्पन्न व्यक्ति के लिए "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" (सू० १।१।१) इस सूत्र से भगवान् सूत्रकार ने ब्रह्मजिज्ञासा का उपदेश दिया है। यह जिज्ञासा अभिन्न ब्रह्म की ही हो सकती है। जीव से भिन्न ब्रह्म की नहीं हो सकती है। कारण, श्रुतिओं के अध्ययन से ही यह सिद्ध है कि भेदश्रवण अनर्थ का साधन है। द्वितीय से भय होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति) जो अनेकत्व का दर्शन करता है, वह मरण से मरण प्राप्त करता है (मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति) बृ० ४।४।१९। इस प्रकार, भेदज्ञान से अनर्थ का श्रवण होने से भिन्न ब्रह्मज्ञान इच्छा का विषय नहीं हो सकता है।

किन्तु यह विचारणीय है कि जीव के साथ ब्रह्म का अभेद हो सकता है या नहीं ? जीव में अल्पज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म और ब्रह्म सर्वज्ञ अकर्ता एवं अभोक्ता है। अत, इन दोनों में अभेद कैसे हो सकता है ?

जीव में अल्पज्ञत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म अध्यस्त हैं वास्तव नहीं हैं। अतः, जीव और ब्रह्म का अभेद हो सकता है। इसलिए अभिन्न ब्रह्म को ही सन्दिग्धत्व एवं सप्रयोजनत्वरूप हेतु होने से जिज्ञासा होती है। अभिन्न ब्रह्म की जिज्ञासा अध्यास की सिद्धि के अधीन है, कारण, अध्यास की सिद्धि के बिना जीव के धर्म अध्यस्त सिद्ध नहीं हो सकते हैं। इस अध्यास की सिद्धि के लिए तथापि से पूर्व के युष्मदस्मत् आदि भाष्य को अध्यास के आक्षेपरूप में सूचित करते हुए तथापि से कोऽयमध्यासो इससे पूर्व के भाष्यको इस आक्षेप का परिहारपरक स्वीकार किया है। इस पूर्वोक्त विषय का विश्लेषण ही इन भामती-वाक्यों से किया जा रहा है।

वेदान्तदर्शन के प्रथम सूत्र का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म जिज्ञास्य है, कारण, अभिन्न ब्रह्मज्ञान के द्वारा ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त के प्रतिकूल पक्षों का उद्घाटन भाष्यकार ने यथास्थान किया है। भामतीकार ने भाष्यकार की भूमिका को इस स्थल में ही जिज्ञासाव्यापक सन्देह का प्रदर्शन कर विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

भामतीकार ने जो अथ शब्द का प्रयोग किया है—यह अथ शब्द आनन्तर्यवाची नहीं है। कारण, आनन्तर्यवाची अथ शब्द मानने पर आनन्तर्य के प्रतियोगी का निर्देश आवश्यक होगा। अर्थात् जिसके अनन्तर उस अनन्तर के प्रतियोगी का निर्देश आवश्यक होगा। किन्तु यहाँ पर आनन्तर्य के प्रतियोगी का कथन नहीं है। अतः, यहाँ पर अथ शब्द ग्रन्थ का आरम्भार्थक है।

अन्य पक्ष के अवलम्बी यह कह सकते हैं कि ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। हमलोग जिस वस्तु के विषय में जिज्ञासा करते हैं वह जिज्ञासा से पहले अविदित = सन्दिग्ध एवं प्रयोजनीय रहता है। यदि जिज्ञासा का विषय ज्ञात और निष्प्रयोजन रहता है तब उसको जानने की इच्छा किसी भी विद्वान् व्यक्ति को नहीं होती है। अद्वैतवेदान्त में ब्रह्म को जीव से अभिन्न कहा गया है। जीव अहं प्रत्यय से वेद्य होता है, अहम्भाव में प्रकाशमान जो आत्मा वह सदा सभी के द्वारा अविदित है, अतः, वह ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान मुक्तिरूप प्रयोजन का हेतु होने से भी ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। कारण, ज्ञान के द्वारा जिसकी निवृत्ति होती है उसीको मिथ्या या आध्यासिक कहा जाता है, किन्तु, जगत् मिथ्या नहीं है। अतः, जैसे शुक्ति के ज्ञान से रजत की निवृत्ति होती है वैसे ही ब्रह्मज्ञान से

इस जगत् की निवृत्ति होने की सम्भावना नहीं है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान मुक्ति का साधन नहीं हो सकता है। फलतः, ब्रह्मज्ञान निष्प्रयोजन है एवं इसके फलस्वरूप ब्रह्म जिज्ञास्य भी नही हो सकता है[1]।

भामती की व्याख्या ऋजुप्रकाशिका में इसका अनुमान प्रदर्शन करते हुए इस प्रकार व्याख्यान किया है—सिद्धान्ती ने अपने पक्ष की स्थापना करते हुए इस प्रकार अनुमान प्रदर्शित करते हुए कहा है—

ब्रह्म (पक्ष) जिज्ञास्य है (साध्य) (१) अविदित एवं (२) सप्रयोजन होने से (हेतु) (दो हेतु हैं) यथा—धर्म्म (उदाहरण)। पूर्वमीमांसा में इन दो हेतुओं से धर्म जिज्ञास्य होता है, उत्तरमीमांसा में भी वैसे ही ब्रह्म का जिज्ञास्यत्व सिद्ध किया जाता है।

पूर्वपक्षी ने इस अनुमान के विरुद्ध यह अनुमान सत्प्रतिपक्ष रूप हेत्वाभास का प्रदर्शन करते हुए कहा है–

ब्रह्म (पक्ष)
जिज्ञास्य नहीं है (साध्य)

असन्दिग्ध (विदित) एवं निष्प्रयोजन होने से (हेतु) जैसे आलोक में स्थित समनस्क–व्यक्ति का इन्द्रिय–सन्निकृष्ट घट एवं कौए का दांत। प्रति-पित्सागोचर का अर्थ जिज्ञासागोचर होता है। असन्दिग्ध = विदित वस्तु के अजिज्ञास्यत्व होने में समनस्क–इन्द्रिय-सन्निकृष्ट घट, दृष्टान्त दिया गया है–और निष्प्रयोजन के अजिज्ञास्यत्व होने में काकदन्त दृष्टान्त है अर्थात् काकदन्त का दृष्टान्त निष्प्रयोजन हेतुपक्ष में है। असन्दिग्ध एवं अप्रयोजन वस्तु की अजिज्ञास्यता

१अथ यदसन्दिग्धमप्रयोजनं च न तत्प्रेक्षावत्प्रतिपित्सागोचरः।

भा० पृ० ४

होने से प्रकृत में क्या हानि होती है, यह ब्रह्म भी असन्दिग्ध एवं निष्प्रयोजन है। ब्रह्म असन्दिग्ध एवं निष्प्रयोजन है इससे क्या ? "जिज्ञास्यत्व सन्दिग्धत्व एवं निष्प्रयोजनत्व का व्यापक है, सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व भी जिज्ञास्यत्व के व्यापक हैं। इस प्रकार इन दोनों में समान रूप से व्याप्यव्यापकभाव स्वीकार किया गया है। इसलिए जिज्ञास्यत्व का व्यापक जो सन्दिग्धत्व एवं सप्रोजनत्व है उससे विरुद्ध सन्दिग्धत्वाभाव और सप्रयोजनत्वाभाव की ब्रह्म में उपलब्धि होने से सन्दिग्धत्व और सप्रयोजनत्व न होने से उसका व्याप्य जो ब्रह्मजिज्ञास्यत्व है उसका भी अभाव होना चाहिए।

प्रदर्शित अनुमान में दो हेतु हैं। एक असन्दिग्धत्वात् और द्वितीय हेतु अप्रयोजनत्वात् हैं। असन्दिग्धत्व हेतु में स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः यह दृष्टान्त है और अप्रयोजनत्वात् इस हेतु में करटदन्ता यह उदाहरण है। दोनों हेतुओं से अजिज्ञास्यत्व यह साध्य है[1]।

पूर्व प्रसंग के द्वारा ही यह अवगत हो जाता है कि सन्देह एवं प्रयोजन न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है। इस प्रसंग में पूर्वकथित विषय की ही विस्तारपूर्वक व्याख्या की जा रही है। पूर्व में असन्देहात् इस हेतु की ही विवेचना की जा रही है। यह विचारणीय है कि ब्रह्म में सन्देह न होने से वह जिज्ञास्य नहीं हो सकता है—इसका क्या आशय है ? ब्रह्म शब्द का अर्थ आत्मा होता है।

वृद्धि अर्थ को कहनेवाले बृह धातु या बृंहि धातु से मनिन् प्रत्ययकर के ब्रह्म शब्द की सिद्धि होती है। अतः, बृहत् होने से या देहादि के परिणाम

---

१ यथा समनस्केन्द्रियसन्निकृष्टः स्फीतालोकमध्यवर्ती घटः, करटदन्ता वा।

वाला होने से ही आत्मा ब्रह्म है, अपना ज्ञान, इच्छा, यत्न के अनुकूल पय आदि के पान से शरीर का वर्धन करता है। इसी बात की सूचना इस श्लोक से दी गई है=ब्रह्मसंज्ञाक बृंहण जो देहादि का परिणामी है वह आत्मा ही इस प्रकार का अहम् प्रत्ययवेद्य कहा जाता है[१]। इस प्रकार यह अहं प्रत्यय वेद्य आत्मा ही ब्रह्म है। वह आत्मरूप ब्रह्म सद्वितीय है। उस आत्मा की मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं कुछ जानता हूँ—अल्पज्ञ हूँ (अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, अहं किञ्चिज्ज्ञः) इस व्यवहार के द्वारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विशिष्टरूप से आत्मा निश्चित है, अर्थात् आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म निश्चित है और इस कर्तृत्व आदि का बाध भी नहीं होता है, इसलिए, इस कर्तृत्व आदि को वास्तव ही मानना पड़ेगा। यदि कर्तृत्व आदि का बाध होता तब यह वास्तव न होकर मिथ्या या अध्यस्त होता और अध्यस्त कर्तृत्वादि धर्मवान् होने पर ब्रह्म के साथ आत्मा का अभेद होता, किन्तु, अध्यस्त न होने पर प्रदर्शित आत्मा से भिन्न ब्रह्म न होने से अभेद-प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों का उपासना-परक रूप लाक्षणिक अर्थ में प्रयोग होने से आत्मा से अभिन्न ब्रह्म जिज्ञास्य है—यह कथन अनुपपन्न है।

यह आत्मा कीट, पतंग, देवर्षि आदि सभी प्राणियों के अहं इस ज्ञान से ग्राह्य होता है और यह अहं देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से सर्वथा भिन्न है—इसमें किसी को सन्देह नहीं होता है। अहं नास्मि (मैं नहीं हूं) यह विपरीत निश्चय या अहं वा नाहं वा (मैं हूं या नहीं) इस प्रकार का आत्म सन्देह किसी को भी नहीं होता है। अतः, अहं पद वाच्य आत्मा या ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता है, इसलिए, ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है। इदंकारास्पद से अभिप्राय है इदं प्रत्यय का

---

१ बृहत्वाद् बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते।

विषय अर्थात् 'यह' इस शब्दज्ञान का विषय। यह का शरीर इन्द्रिय आदि ही विषय होता है और आत्मा अहं प्रत्यय का विषय होता है अहं प्रत्यय का विषय आत्मा है। इस अहं प्रत्यय का विषय देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न असन्दिग्ध और अविपर्यस्त अपरोक्ष अनुभव से सिद्ध है, इसलिए, जिज्ञासा का विषय नहीं हो सकता है। असन्दिग्धत्व और अविपर्यस्तत्व का व्यतिरेक मुख से अर्थात् सन्दिग्धत्व और विपरीतनिश्चय के निषेधरूप से प्रदर्शन कर रहे हैं। इस विषय में किसी समय भी किसी ने सन्देह नहीं किया कि मैं हूँ या नहीं हूँ और न विपरीत निश्चय ही किया कि मैं नही ही हूँ।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अहं शब्द के द्वारा देह की भी अवगति होती है। मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मैं जाता हूँ इत्यादि जो प्रतीति हो रही है इसमें अहं में देह के धर्म जो स्थूलत्व, कृशत्व आदि है उनकी प्रतीति हो रही है, अतः, अहं शब्द देह का ही आलम्बन कर रहा है। अतः, अहं के सम्बन्ध में सन्देह होने से ब्रह्म की जिज्ञासा उचित ही है।

इसके उत्तर में जिज्ञासा के अभाववादी का कथन है कि अहं का विषय देह नहीं है, क्योंकि, अहं प्रत्यय का आलम्बन यदि देह होता तो जिस मैं ने बाल्यावस्था में माता पिता का अनुभव किया है वही मैं नाती, पोता का अनुभव कर रहा हूँ—यह अहं के विषय के साथ ऐक्य का प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। देह को आत्मा मानने पर बाल्य अवस्था में जो देह है उसको मैं के द्वारा कहा जाता है और वृद्ध अवस्था में जो देह है उसको भी मैं के द्वारा कहा गया है अर्थात् दोनों को एक माना गया है। इसलिए'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभुवं सोऽहमिदानीं प्रणप्तॄननुभवामि'यह प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है। किन्तु, अहं का आलम्बन देह को मानने पर यह प्रत्यभिज्ञा

सम्भव नहीं है। कारण, बाल्यावस्था का शरीर और वृद्धावस्था का जो शरीर इन दोनों का परिमाण समान नहीं है और जब इन दोनों शरीरों मे भेद है तब बाल्यावस्था और वृद्धावस्था के दोनों शरीर एक नहीं हो सकते हैं, इसलिए, पूर्वोक्त ऐक्यरूप प्रत्यभिज्ञान इन भिन्न दो शरीरों में सम्भव नहीं है। बाल्य और "स्थविर" वृद्धावस्था के शरीर में मनाक् = कुछ भो "प्रत्याभिज्ञान" सादृश्य नहीं है यदि दोनों में प्रत्यभिज्ञान रहे तो एकत्व का निश्चय हो। अतः, जिसके व्यावृत्त होने पर जो अनुवृत्त होता है वह उनसे भिन्न रहता है। जैसे पुष्पों से सूत्र भिन्न रहता है। माला में ग्रथित पुष्पों में परस्पर भेद होने पर भी सूत्र एक रूप में अनुवृत्त रहता है। अतः, सूत्र (जिसमें माला के फूल गाथे जा रहे हैं) वह भिन्न होता है। बाल्य शरीर और स्थविर शरीर में परिणाम का ही भेद है और परिणाम भेद से भेद होने से शरीर के ऐक्य का गोचर जो प्रत्यभिज्ञान वह उचित नहीं है। अर्थात् परिणाम के भेद से द्रव्य का भेद होता है, अतः, परिणाम के भेद से भिन्न परिणामवाले शरीरों में भी भेद सहज है। इसके उत्तर में यह कथन है कि परिणाम का भेद रहने पर भी ऐक्य-गोचर प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः, शरीर को आत्मा स्वीकार करने से उसकी एकता के गोचर प्रत्यभिज्ञान के होने में किसो प्रकार की आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार बाल्य स्थविर शरीर में परिणाम भेद रहने पर भी दोनों देहों की एकता को सिद्ध कर देह में प्रत्यभिज्ञा मानने पर भी अहंकार आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकती है—कारण, परिणाम भेद-में ही नहीं सर्वथा शरीर भेद होने पर भी अहं की एकरूप में अनुवृत्ति देखी जाती है—क्योंकि स्वप्न में दिव्य देवदि शरीर को धारणकर मैं देखता हूं —यह मानता हुआ देवोचित

दिव्य भोगों का भोग करता हुआ जागकर मनुष्य शरीर वाला अपनेको देखता हुआ (मनुष्यः शरीरं यस्य-मनुष्य शरीर है जिसका) मैं मनुष्य हूं देवता नहीं हूं इस ज्ञान से देव शरीर का बाध होने पर भी मनुष्य शरीर और बाधित देव शरीर में अबाधित होता हुआ शरीर से भिन्न अहम् जिसका आलम्बन है ऐसे आत्मा का अनुभव करता है।

यदि यह कहा जाय कि स्वप्न में जो देव शरीर का अनुभव हो रहा है-- यह तो भ्रमात्मक अनुभव है। क्योंकि स्वाप्निक ज्ञान भ्रमात्मक होते हैं। इस आशंका से भामतीकार ने जाग्रत अवस्था में शरीर भेद होने पर भी अहं की एकरूप में प्रतीति जिस स्थल में हो रही है उस स्थल के उदाहरण को प्रदर्शित किया है—स्वयं मनुष्य होता हुआ योग की महिमा से कृत्रिम व्याघ्र शरीर को धारणकर विचरण करता हुआ योगी व्यक्ति देहों के भिन्न होने पर भी सभी शरीरों में आत्मा को अभिन्न रूप में अनुभव करता है[1]। अतः, शरीर अहंकार का आलम्बन नहीं है, फलतः, देह से अतिरिक्त ही आत्मा अहं प्रत्यय का आलम्बन है[2]। देहात्मवाद निरास के लिए पूर्वोक्त अर्थ भी समीचीन ही है। अन्यथा

---

१ योग के प्रभाव से योगी दुर्बलत्व, स्थूलत्व, बाल्य, वार्धक्य, यौवन अनेक-जातिस्वरूप अच्छागन्ध पार्थिवांश के बिना चार भूतों से देह धारण आदि कार्य करता है। लीलादि के लिए वे व्याघ्र शरीर को धारण करते हैं। यह व्याघ्र शरीर योगी के संकल्प मात्र से कृत्रिम है।

२ अपिच योगव्याघ्रः शरीरभेदेऽप्यात्मानमभिन्नमनुभवति, इति नाहंकारा-लम्बनं देहः।

भा०, पृ० १०-११

नाहंकारालम्बन देह इसका अर्थ आत्मा के साथ ऐक्य अध्यासापन्न देह अहं प्रत्यय का आलम्बन नहीं है। इसलिए, आत्मा में किसी प्रकार का सन्देह न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं हो सकता है।

पूर्व विश्लेषण से अहं शब्द से देह की अवगति न होने पर भी अहं प्रत्यय का आत्मैक्याध्यासापन्न इन्द्रिय तो आलम्बन हो सकता है। कारण, "अहं पश्यामि" में देखता हूं "अहं श्रृणोमि" में सुनता हूँ, "अहं स्पृशामि" में स्पर्श करता हूँ इत्यादि जो प्रतीति हो रही है वहाँ अहं प्रत्यय इन्द्रिय को ही आलम्बन कर रहा है, अतः, आत्मा इन्द्रिय है अथवा उससे भिन्न है इस प्रकार का सन्देह हो सकता है। इसलिए ब्रह्म जिज्ञास्य हो सकता है। फलतः, ब्रह्म असन्दिग्ध होनेसे अजिज्ञास्य है--यह कथन ठीक नहीं है।

इस प्रदर्शित समाधान के उत्तर में कहा है कि इन्द्रियाँ भी अहं प्रत्यय का आलम्बन नहीं हो सकती हैं। कारण, इन्द्रियाँ अनेक हैं, और इन्द्रिय का भेद रहने पर भी देखनेवाले और स्पर्शकरनेवाले में ऐक्यगोचर प्रत्यभिज्ञान हो रहा है। अर्थात् अहं प्रत्यय को इन्द्रिय विषयक मानने पर अहं = मैं के द्वारा जिस एक अर्थ का प्रत्यक्ष हो रहा है—जो मैं देखता था वह मैं स्पर्श कर रहा हूँ — इस ऐक्य का प्रत्यक्ष करनेवाले प्रत्यभिज्ञान को इन्द्रिय विषयक ही मानना पड़ेगा और साथ ही इस प्रत्यभिज्ञान में स्पर्श करनेवाला और देखनेवाला में एक होने से इन्द्रिय के अभेद विषय का प्रत्यभिज्ञान स्वीकार करना होगा, किन्तु, देखनेवाली इन्द्रिय और स्पर्श करनेवाली इन्द्रिय में भेद है। अतः, पूर्वोक्त का प्रत्यभिज्ञा इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा के एकत्व को विषयकरनेवाला अहमर्थ

प्रत्यभिज्ञान है, इसलिए, इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा ही अहं प्रत्यय का विषय है यह स्वीकार करना होगा, फलतः ब्रह्म में सन्देह न होने से ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है।

अद्वैतवेदान्त मत में आत्मा को ज्ञानस्वरूप स्वीकार किया है, किन्तु; अन्तःकरण के सम्बन्ध से इसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि माना है। इस तरह आत्मा या जीव ज्ञानाश्रय के रूप में सिद्ध है। इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है—यह सर्व-सिद्धान्त-संगत है—यह कथन नितान्त असंगत नहीं है।

यह विचारणीय है कि ज्ञान का आश्रय कौन है—देह, विषय, इन्द्रिय या बुद्धि आदि। ज्ञाता—ज्ञानकर्ता अपने ज्ञात विषय का कालान्तर में स्मरण करता है। शरीर को यदि ज्ञाता स्वीकार किया जाय तो यह सम्भव नहीं है। कारण, सामान्यतया ज्ञान को गुण पदार्थ स्वीकार किया गया है। गुण का स्वभाव है कि वह किसी द्रव्य में आश्रित रहता है। शरीर भौतिक-पदार्थ है और ज्ञान विशेष गुण है। भौतिक पदार्थ का विशेष गुण कारण-गुण-पूर्वक होता है। शरीर के कारणभूत परमाणु का ज्ञान गुण नहीं है। क्योंकि, शरीर के समान घटादि भी परमाणु गुण का कार्य है, किन्तु, घटादि में ज्ञान अनुभूत नहीं होता है और परमाणु में ज्ञान रहने पर उससे आरब्ध सभी कार्यों में ज्ञान अनुभूत होना चाहिये। मृत शरीर मृत्तिका के रूप में परिणत होता है और उस मृत्तिका के द्वारा घटादि का निर्माण होता है, किन्तु, उसमें ज्ञान अनुभूत नहीं होता है।

यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक परमाणु में सूक्ष्म भाव में ज्ञान अवस्थित है, किन्तु, इन्द्रियादि की सहायता से ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है। घटादि को इन्द्रिय नहीं है, इसलिए, घटादि में ज्ञान रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती है। इस विषय में इतना ही कहना उचित होगा कि परमाणु

और उससे आरब्ध घटादि में सूक्ष्मरूप में ज्ञान का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध होने पर ही इन्द्रिय नहीं हैं, अतः, उस ज्ञान की अभिव्यक्ति नहीं होती है—यह स्वीकार किया जाता, किन्तु, परमाणु एवं उससे आरब्ध घटादि में सूक्ष्मभाव में ज्ञान का अस्तित्व किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, अतः, परमाणुप्रभृति में सूक्ष्मरूप में ज्ञान है यह कल्पनामात्र है और कल्पना के द्वारा कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती है। अतः, अहं प्रत्यय विषय आत्मा का विषय से भेद सर्वथा सिद्ध है।

निश्चयात्मिका बुद्धि और संशयात्मक मन भी आत्मा नहीं हो सकता है। कारण, अहं इस ज्ञान का विषय कर्ता होता है। इसीलिए, कर्तृत्व शब्द का प्रयोग होता है। बुद्धि और मन करण है, अतः, कर्तृत्व के आश्रय अहं की प्रतीति का विषय जो आत्मा है वह आत्मा बुद्धि और मन नहीं हो सकता है।

मैं दुर्बल हूँ, मैं मन्द हूँ इत्यादि प्रयोग से शरीर का समानाधिकरण ही आत्मा है यह सिद्ध हो रहा है। दुर्बलत्व, मन्दत्व आदि शरीर के धर्म हैं, अतः, अहं प्रतीत का विषय देह को ही आत्मा क्यों नहीं माना जाता है? मैं दुर्बल हूँ, मैं अन्धा हूँ, मैं बधिर हूँ, इत्यादि प्रतीति हो रही है, यह देह में आरोपित आत्मा का अभेद न रहने पर भी जैसे कुर्सी बोल रही है यह लाक्षणिक प्रयोग होता है वैसे ही इस प्रयोग को भी समझना चाहिए। मञ्च पर स्थित व्यक्ति जहां बोल रहा है वहाँ "मञ्चाः क्रोशन्ति" यह प्रयोग किया जाता है। प्रकृत में भी देह के धर्म को अहं आत्मा में आरोप कर औपचारिक (लाक्षणिक) प्रयोग किया जाता है।

"असत्यप्यभेदे" इस भामती वाक्य का व्याख्यान "असत्यप्यारोपितात्माभेदे" (आरोपितात्मा का भेद देह में न रहने पर) इस लिए कहा गया है कि देह के साथ आत्मा का वास्तविक अभेद अध्यासवादी एवं अन्य सिद्धान्तवालों ने भी नहीं माना है अतः, देह के साथ आत्मा के अभेद का प्रश्न ही नहीं उठता है, इसलिए, आरोप

पर्यन्त अनुधावन कर आरोपितात्माभेदे यह व्याख्यान किया गया है। लौकायतिक ने देह के साथ आत्मा का वास्तविक अभेद ही माना है, अतः, उस मत के निरसन के समय असत्यप्यभेदे यह कथन भी ठीक ही है। इस पक्ष में आरोप पर्यन्त अनुधावन की आवश्यकता नहीं है। अतः, इदंकारास्पद देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और विषय से भिन्न स्फुटतर अहं का प्रतीति विषय आत्मा संशय न होने से जिज्ञासा के योग्य नहीं है। मैं मन से सन्देह करता हूँ (अहं मनसा सन्दिहे), मैं बुद्धि से निश्चय करता हूँ (अहं बुद्ध्या निश्चिनोमि) इन उदाहरणों से मन और बुद्धि में करणत्व तथा अहं में कर्तृत्व प्रत्यक्ष सिद्ध है। संशयात्मक मन होता है और निश्चयात्मक बुद्धि होती है।

जिज्ञासा के अभाव का साधक द्वितीय हेतु अप्रयोजनत्व है। इस द्वितीय हेतु का विश्लेषण "तथा हि" इस भामती शब्द से किया गया है।

इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। ब्रह्म जिज्ञासा सप्रयोजन होने पर भी ब्रह्म की जिज्ञासा हो सकती है। किन्तु ब्रह्मजिज्ञासा का कोई प्रयोजन नहीं है, इसलिए, ब्रह्म जिज्ञास्य नहीं है। ब्रह्मजिज्ञासा का प्रयोजन संसारनिवृत्ति-रूप मुक्ति है। आत्मा में प्रमातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का होना ही संसार शब्द का अर्थ है, इस संसार का निमित्त है आत्मतत्त्व का अज्ञान रहना ही। भामतीकार ने "आत्मयाथात्म्याननुभवनिमित्त" यह प्रयोग किया है। इसमें "निमित्त" शब्द उपादान अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अध्यासवादियों के मत में भावरूप अज्ञान सादिप्रपञ्च का परिणामी उपादान कारण है, अतः, संसार का यह उपादान कारण है निमित्तकारण नहीं है। आशय यह है कि अहं, मम इत्यादि जो अध्यास है वही संसार है और यह संसार आत्मा का यथार्थ अनुभव न होने के कारण है। आत्मा का यथार्थ अनुभव होने पर आत्मा का जो अज्ञान है इसकी निवृत्ति हो जायगी, आत्मा का यथार्थ अनुभव निमित्तक ही संसार है, अतः,

आत्मा के यथार्थ अनुभव—आत्मतत्त्वज्ञान से संसार की निवृत्ति होनी चाहिए। संसार अज्ञान निबन्धन होने के कारण उसकी निवृत्ति अन्य उपायों से नहीं हो सकती है, वरन्, आत्मा के यथार्थ ज्ञान से ही अज्ञान की निवृत्ति सम्भव है। आत्मतत्त्वज्ञान से निवर्तनीय नहीं होता अन्य कारण से भी संसार की निवृत्ति सम्भव रहती तब संसार की निवृत्तिरूप प्रयोजन का लाभ हो जाने से प्रयोजन का अभाव नहीं रहता। इसी विषय की सूचना "आत्मयाथात्म्यज्ञानेन निवर्तनीयः" इस वाक्य के द्वारा दी गई है।

आत्मतत्त्वज्ञान से संसार की निवृत्ति सम्भव होने पर इस तत्त्वज्ञान के द्वारा ही संसार की निवृत्ति की जाय। प्रकृत में ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन तो नहीं हुई, ब्रह्मजिज्ञासा होने पर ब्रह्मज्ञान होगा, ब्रह्मज्ञान ही तो आत्मतत्त्वज्ञान है, आत्मतत्त्वज्ञानरूप आत्मयाथात्म्यानुभव होने से आत्मयाथात्म्याननुभवजनित—संसार की निवृत्ति सिद्ध हो जायगी, अतः, प्रयोजन का लाभ हो जाने से ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन नहीं है।

भामतीकार ने यह प्रश्न उठाया है कि आत्मा का यथार्थानुभव अर्थात् अहं की अनुभूति अनादि है या आगन्तुक? यदि यह यथार्थानुभव अनादि नहीं आगन्तुक है। तब यह विचारणीय है कि यह आगन्तुक आत्मा का यथार्थज्ञान सभी लोगों को होनेवाला प्रत्यगात्मविषयक ही है, या अकर्त्ता, अभोक्ता ब्रह्माभिन्न आत्मा जिस ज्ञान का विषय होता है वह ज्ञान है? यह संसार अनादि है और आत्मा का यथार्थ ज्ञान भी अनादि है तब संसार आत्मा के यथार्थज्ञान (आत्मतत्त्वज्ञान) के साथ ही अनुवर्तमान रहता है। अहं यह अनुभव ही तो आत्मयाथात्म्यज्ञान = तत्त्वज्ञान है और यह अनादि है। अनादि संसार के साथ अवस्थान भी करता है। इसलिए आत्मयाथात्म्यज्ञान और संसार दोनों ही अनादि हैं। दोनों के अनादि होने पर परस्पर अविरोध रहेगा। दोनों का अविरोध रहने पर एक से दूसरे की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

संसार को आत्मयाथात्म्याननुभवनिमित्तक अर्थात् अज्ञाननिबन्धन स्वीकार किया है। यदि संसार अज्ञाननिबन्धन है तो यह अनादि कैसे हो सकता है! संसार की प्रवाहरूप में अनादिता है। अज्ञान अद्वैतवादियों के मत में अनादि हैं, अतः, अज्ञाननिबन्धन संसार भी प्रवाहरूप में अनादि है—यही स्वीकार करना उचित होगा। प्रवाहरूप में अनादि संसार आत्मा के यथार्थज्ञान के साथ ही वर्तमान है तब कैसे संसार की आत्मा के यथार्थज्ञान से निवृत्ति सम्भव है। जो जिसके साथ अनुवृत्त = वर्तमान रहता है, उसकी निवृत्ति उससे नहीं होती है। संसार की निवृत्ति न होने के कारण के रूप में भामतीकार ने "अविरोधात्" यह पञ्चम्यन्त पद दिया है।

आत्मज्ञान को आगन्तुक मानना भी उचित नहीं है, कारण, ब्रह्मात्मभाव का अवबोधन तो उपनिषद् के द्वारा होता है। अतः, आत्मतत्त्वज्ञान अनादि नहीं है। इस समय आत्मा का यथार्थानुभव ही नहीं है। इसलिए, यह कैसे कहा जा सकता है कि अनादि आत्मयाथात्म्यज्ञान के साथ संसार वर्तमान है। इस समय का संसार आत्मयाथात्म्यज्ञान के साथ अनुवृत्त नहीं है। भावी संसार आत्मयाथात्म्यज्ञान होने से निवृत्त ही हो जायगा। अतः, अविरोधरूप हेतु से संसार की निवृत्ति का वारण सम्भव नहीं है। इसलिए, यह ब्रह्मजिज्ञासा सप्रयोजन है, कारण ब्रह्मज्ञान (आत्मयाथात्म्यानुभव) होने से संसार निवृत्ति अपवर्ग प्रयोजन की सिद्धि होगी।

अहं का अनुभव ही तत्त्वज्ञान है और यह अहं का अनुभवरूप आत्मयाथात्म्यज्ञान संसारदशा में भी वर्तमान है। इसलिए, ब्रह्मजिज्ञासा निष्प्रयोजन ही सिद्ध होगी। कारण, अहं का अनुभवरूप आत्मयाथात्म्यज्ञान सभी लोगों को सदा वर्तमान ही है। साथ में अनुवृत्त होनेवाले आत्मयाथात्म्यज्ञान से संसार का बाध सम्भव नहीं है, अतः, ब्रह्मजिज्ञासा निरर्थक है।

यदि यह कहा जाय कि अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा से अभिन्न ब्रह्मज्ञान ही आत्मयाथात्म्यज्ञान है और यह आत्मयाथात्म्यज्ञान उपनिषद् से होता है। इसी आत्माभिन्न ब्रह्मज्ञान से संसार की निवृत्ति होती है, अतः, इस प्रकार के ज्ञान से संसार की निवृत्ति का प्रसंग ही नहीं होता है, फलतः, संसार दशा में आत्मयाथात्म्यज्ञान की वर्तमानता होने से दोनों का अविरोध नहीं है। भावी संसार की पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञान के साथ ही निवृत्ति हो जाती है।

पूर्व प्रदर्शित द्वितीय पक्ष के द्वितीय कल्प के समाधान में भामतीकार का कथन है कि सकललोकप्रत्यक्षसिद्ध अहं इस अनुभव से समर्थित देह, इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा से अतिरिक्त ब्रह्माभिन्न आत्मा को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सभी लोगों के द्वारा देह, इन्द्रियादि से भिन्न अहं का अनुभव होने से उससे अतिरिक्त आत्मा नहीं हो सकता है। उपनिषद् के द्वारा अवगत आत्माभिन्न ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है। कारण, सभी लोगों के प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध आत्मतत्त्व का उपनिषद् के द्वारा अन्यथा समर्थन नहीं हो सकता है अर्थात् आत्माभिन्न ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता है—इसमें प्रत्यक्ष अनुभव का विरोध है।

भामतीकार ने इस विषय का प्रतिपादन "नाहमि" त्यादि वाक्यों के द्वारा निषेधरूप से किया है इसी का विश्लेषण "न च अहम्" इन पंक्तियों में व्यतिरेक रूप से किया है।

इस पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि अनुभव (प्रत्यक्षज्ञान) का विरोध होने से उपनिषद् से अन्य ब्रह्माभिन्न आत्मज्ञान तत्त्वज्ञान हो ही नहीं सकता है। मैं ब्रह्म नहीं हूँ (नाहं ब्रह्म) मैं कर्ता हूँ (अहं कर्ता) मैं भोग करने वाला हूँ (अहं भोक्ता) मैं अल्पज्ञ हूँ (अहं किञ्चिज्ज्ञः) इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभूत आत्मतत्त्व अकर्ता, अभोक्ता सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्नरूप में प्रतीत हो रहा है, अतः, प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वादि आत्मा का उपनिषद्

के द्वारा अकर्त्ता अभोक्ता ब्रह्माभिन्न रूप में प्रतिपादन सम्भव नहीं है। अतः, अनुभव के विरोध से उपनिषद् के द्वारा प्रतिपादित आत्माभिन्न ब्रह्म उपचरितार्थक है अर्थात् मुख्य अर्थ का बोधक नहीं वरन् लक्षणा के द्वारा अर्थ का बोधक है। वेद के अनेक वचनों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत घट को पट कहने पर भी उसका समर्थन नहीं हो सकता है।

अहं से अतिरिक्त आत्मा मानने पर उसका ब्रह्म के साथ अभेद हो सकता है। अहं की प्रतीति ही तो अहं कर्त्ता, अहं भोक्ता, इत्यादि रूप में हो रही है, अतः, अहं आत्मा का ब्रह्म के साथ उपनिषद् के आधार पर अभेद स्वीकार करने पर प्रत्यक्षानुभव का विरोध होने से उपनिषद् का लाक्षणिक अर्थ मानना पड़ेगा। यदि यह मान लिया जाय कि अहंकार से अतिरिक्त ही आत्मा है और उसी का ब्रह्म के साथ अभेद बोधन उपनिषद् के द्वारा कराया गया है। आत्मा को ब्रह्म से अभिन्न स्वीकार करने पर ब्रह्म अकर्त्ता, अभोक्ता है। अतः, ब्रह्म से अभिन्न आत्मा भी कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता है तब आत्मा में मैं करता हूँ (अहं कर्त्ता) मैं भोक्ता हूं (अहं भोक्ता) इत्यादि से कर्तृत्व, भोक्तृत्व की प्रतीति हो रही है यह कैसे सम्भव होगी ?

आत्मा में कर्तृत्व आदि की प्रतीति वास्तविक नहीं वरन् भ्रम (अध्यास) के कारण होती है। आत्मा अहंकार (अन्तःकरण) के साथ तादात्म्य अभेद का अध्यास होने से अन्तःकरणगत (अहंकारगत) कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का आत्मा में अध्यास (भ्रान्ति) ज्ञान है, यथार्थ नहीं। जैसे अहंकार का आत्मा (चेतन) के साथ तादात्म्य (अभेद) होने से अहं में चैतन्य की प्रतीति होती है, आत्मा में वास्तविक कर्तृत्व आदि नहीं है। अहंकार और आत्मा इन दोनों में समान धर्म रहने पर ही परस्पर तादात्म्य (अभेद) अध्यास हो सकता है जैसे शुक्ति और चांदी में चाकचिक्य रूपसमानधर्म होने से शुक्ति में रजत (चांदी) का अध्यास (भ्रम) होता है। आत्मा चेतन अहंकार जड़ है इन दोनों में

विरुद्ध धर्म हैं, अतः, परस्पर तादात्म्याध्यास संभव नहीं है, इसी प्रकार दोनों के धर्मों का भी एक का दूसरे में अध्यास सम्भव नहीं है—इस प्रकार अध्यास के आक्षेप के रूप में "युष्मदित्यादि से" "मिथ्याभवितुं युक्तम्" यहाँ तक भाष्य प्रवृत्त है। अर्थात् पूर्वोक्त भाष्य से अध्यासाक्षेप शंका की गई है[1]। आशय यह है कि भामती प्रस्थान में "युष्मदस्मदित्यारभ्यन्ते" यहाँ तक का भाष्य अध्यास का समर्थन कर शास्त्रारम्भ का समर्थक है। "युष्मदस्मद्" इत्यादि भाष्य अध्यास के निमित्त का समर्थक है, "आह कोऽयम्" इत्यादि आरोप्य स्वरूप का समर्थक है, "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि" इत्यादि भाष्य आत्मा के अधिष्ठानत्व का समर्थक है "कथं पुनरविद्यावद्विषयाणि" इत्यादि भाष्य प्रमाण के अविद्या विषयत्व का समर्थक है और "सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते" इसके द्वारा समर्थित शास्त्रारम्भ का उपकार होता है।

अध्यास के कारणों का निरूपण

अध्यास तीन कारणों से होता है। (१) भेद का अग्रहण, [२] सादृश्यज्ञान, [३] पूर्वतन प्रमाहित संस्कार—पूर्वानुभूत संस्कार। अर्थात्-शुक्ति में यह चांदी है यह भ्रम उसी व्यक्ति को होता है जिसे पूर्व से व्यावहारिक रजत का ज्ञान रहता है, जो व्यक्ति रजत को नहीं जानता है उसको यह रजत है—यह भ्रम नहीं होता है। प्रकृत में अहं यह ज्ञान चैतन्य में अन्तःकरण का अध्यास होने के कारण भ्रमात्मकज्ञान है तब पारमार्थिक अन्तःकरण को अवश्य ही जानना होगा। पारमार्थिक अन्तःकरण में अद्वितीय बाधित हो होगा, अतः, भ्रम के साधारण कारणों में पूर्वानुभव संस्काररूप तृतीयकारण के न रहने के

---

१ तथा हि बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाद्वात्मैव ब्रह्मेति गीयते · तस्मादनुभवविरोधादुपचरितार्था एवोपनिषद इति युक्तमुत्पश्यामः।

भा० पृ० ५-६ (निर्ण० सं०)

कारण अहं इसको भ्रमात्मकज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इस तृतीय कारण के अभाव के कारण अध्यास की अनुपपत्ति मन में स्थिर कर भेदाग्रह रूप प्रथम कारण के अभाव से भी अध्यास नहीं हो सकता है इसी की सूचना--युष्मदस्मत्-प्रत्ययगोचरयोः इत्यादि भाष्य से दी गई है।

जैसे प्रकाश और अन्धकार में परस्पर सारूप्य या सम्बन्ध नहीं है-- वे दोनों परस्पर विरुद्ध हैं वैसे ही चैतन्यरूप आत्मा के साथ इस जड़ जगत् का किसी प्रकार का सादृश्य या सम्बन्ध कुछ भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार जड़ और चैतन्य का परस्पर किसी प्रकार का सादृश्य नहीं है।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अन्धकार और प्रकाश के समान विरुद्ध-स्वभावता किस तरह की है ? [१] निवर्त्यनिवर्त्तकभावरूप = जैसे प्रकाश अन्धकार का निवर्त्तक होता है या [२] सहानवस्थायित्व [एक साथ न रहना] जैसे अन्धकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकता है। विषय और विषयी में परस्पर निवर्त्यनिवर्तकभाव नहीं है, कारण, इन दोनों में निवर्त्यनिवर्तकभावका अभाव है। इन दोनों का साथ में अवस्थान ही देखा जाता है। इन दोनों विरोधों को स्वीकार करने पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः, परस्पर विलक्षणता ही प्रकृत में विरुद्धस्वभावत्व है। अत्यन्त विलक्षणत्व दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानरूप से वर्तमान है, इसलिए, वैलक्षण्य में ही यह दृष्टान्त है। अत्यन्त वैलक्षण्य होने से ही परस्परतादात्म्याध्यास की सम्भावना नहीं है।

स्वरूपतः अत्यन्त वैलक्षण्य परस्पर तादात्म्याध्यास न होने में कारण नहीं है, क्योंकि, प्रकाश और अन्धकार में अत्यन्त वैलक्षण्य रहने पर भी उल्लू को प्रकाश में अन्धकार का तादात्म्याध्यास होता है ? परस्पर भेदरूप में अनवभास-स्वलक्षण वैलक्षण्य परस्परतादात्म्याध्यास न होने का कारण है। उल्लू को

अन्धकार और प्रकाश में परस्पर भेद का ग्रहण न होने से दोनों में तादात्म्य का आरोप होता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि भिन्नरूप से प्रतिभासमान अन्धकार और प्रकाश में परस्पर तादात्म्य अर्थात् अभेद नहीं हो सकता है। इसी अर्थ को अवगत कराने के लिए भाष्य में कहा गया है "इतरेतरभावानुपपत्तौ" प्रकृत स्थल में इतरेतरभाव का अर्थ इतरेतरत्व अर्थात् तादात्म्य है। भिन्न धर्मी का भिन्न धर्मी में रहना इतरेतरभाव, इसकी अनुपपत्ति, यह अर्थ स्वीकार करने से, धर्मी की धर्मी में स्थिति किसी सम्बन्ध से ही हो सकती है अतः, इतरेतरभाव का पूर्वोक्त अर्थ स्वीकार करने पर दो धर्मियों का तादात्म्याध्यास मानकर उनके संसर्गाध्यास का ही निषेध सिद्ध होगा, दो धर्मियों के तादात्म्य का निषेध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में सिद्ध का साधन होगा। कारण, सिद्धान्ती ने दो धर्मियों का तादात्म्य-अध्यास स्वीकार किया है और दो धर्मियों के संसर्गाध्यास का निषेध किया है। इसलिए इतरेतरभाव का अर्थ, भामतीकार ने इतरेतरत्व अर्थात् तादात्म्य स्वीकार किया है। "इतरेतरभावानुपपत्तौ" इस भाष्य का आशय व्यक्त करते हुए भामतीकार का यही तात्पर्य है कि—तादात्म्याध्यास की अनुपपत्ति सिद्ध होने पर। इसका अनुमान निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है—युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर रूप से और विषयविषयिभाव से कथित अनात्मा और आत्मा [पक्ष], परस्परतादात्म्यप्रतीत्यापन्न नहीं है [साध्य], इतरेतरानात्मरूप से प्रतिभासमान होने से [हेतु] अन्धकार और प्रकाश के समान [उदाहरण]। प्रकृत में इतरेतरतादात्म्यापन्न नहीं है, इसको साध्यरूप से स्वीकार करने पर सिद्धसाधन दोष होगा, कारण, अनात्मा और आत्मा परस्पर तादात्म्यापन्न नहीं हैं यह सिद्ध ही है, अतः, साध्यरूप में तादात्म्यप्रतीत्यापन्न नहीं है—यही साध्य है। कारण, अनात्मा और आत्मा में तादात्म्य की प्रतीति होती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि अनात्मा और आत्मा,

इन दो धर्मियों में परस्पर तादात्म्य अध्यास नहीं हो सकता है। किन्तु उक्त धर्मियों का तादात्म्य अध्यास नहीं होने पर भी इन दो धर्मियों के धर्मों के अध्यास में क्या आपत्ति है? फलतः अनात्मरूप विषय के धर्म जाड्य एवं अनित्यत्व आदि का और विषयिस्वरूप आत्मा के धर्म चैतन्य, नित्यत्व आदि का अर्थात् अनात्मभूतविषय में रहने वाले धर्मों का विषयिभूत आत्मा में एवं विषयिभूत आत्मा में रहनेवाले धर्मों का अनात्मभूत विषय में परस्पर अध्यास होने में क्या आपत्ति है? लौकिक उदाहरणों के विश्लेषण से यह सुस्पष्ट है कि धर्मियों का अध्यास होने पर ही धर्मों का अध्यास होता है। जैसे—रस्सी रूप धर्मी में सर्परूप धर्मी का अध्यास होने पर ही सर्प के धर्मों का भी अध्यास होता है। यदि धर्मियों के अध्यास के बिना भी धर्मों का अध्यास कहीं देखा जाता तो प्रकृत में सन्देह का औचित्य सिद्ध होता। इस आशंका को मन में रखकर ही मिश्र जी ने आगे के उदाहरण से धर्मी के अध्यास के बिना भी धर्म के अध्यास के स्थल को उद्धृत किया है। देखा जाता है कि दो धर्मियों का परस्पर भेद प्रतीत होने पर भी उनके धर्मों का अध्यास होता है। जैसे—स्फटिकमणि जपा के पुष्प से भिन्न रूप में प्रतीत होने पर भी अर्थात् दोनों धर्मियों का भेद रहने पर भी अत्यधिक स्वच्छता के कारण ही स्फटिकमणि जपा पुष्प का प्रतिबिम्ब ग्रहणकर लाल स्फटिक है यह प्रतीत होता है, जपापुष्प से स्फटिकमणि का भेदरूप से ग्रहण होने पर भी जपापुष्प के धर्म लालिमा का अध्यास होता है। स्फटिक में जपापुष्प में रहनेवाला आरुण्य धर्म [लालिमा] का अध्यास रहने पर भी जपापुष्प में स्फटिक में रहनेवाले धर्मों का अध्यास नहीं है। इस प्रकार धर्मियों के अध्यास के बिना धर्मों के अध्यास का स्थल दिखाकर "लाल स्फटिक" इस प्रतीति से लालिमा की भ्रान्ति का उदाहरण प्रदर्शित कर प्रकृत में आत्मा और अनात्मा में भेद रहने पर भी उनमें रहनेवाले धर्मों के अध्यास की आशंका से भाष्यकार ने कहा है—उनके धर्मों का भी भिन्न धर्मी में अन्य धर्मी के धर्मों के अध्यास की अनुपपत्ति होगी।

दोनों धर्मियों में दोनों के धर्मों का अध्यास पूर्वोक्त उदाहरण में न रहने से इसके अनुसार दोनों धर्मियों में दोनों के धर्मों के भ्रम की सिद्धि न होने पर भी स्फटिक रूप धर्मी में जपाकुसुम के धर्म का अध्यास होने से प्रकृत में भी किसी एक धर्मी में भिन्न धर्मी के धर्मों का अध्यास मानने में क्या अनुपपत्ति है? इस विषय को सुस्पष्ट करते हुए तथा अध्यास की अनुपपत्ति का कारण बताते हुए भामतीकार ने–"अयमभिसन्धिः" इत्यादि कहा है। धर्म के अध्यास में दो कारणों की अभिव्यक्ति उक्त उदाहरणों से सिद्ध होती है [१] दो धर्मियों में एक का दूसरी धर्मी में प्रतिबिम्ब होने पर धर्मों का अध्यास सम्भव है, जैसे–स्फटिकमणि में जपापुष्प के धर्मों का अध्यास। [२] दो धर्मियों में परस्पर तादात्म्याध्यास रहने पर उन दो धर्मियों में किसी एक के धर्मों का अध्यास सम्भव होता है। जैसे–शुक्ति और चांदी का तादात्म्याध्यास होने से शुक्ति में रजत के धर्मों का अध्यास होता है। प्रकृत में आत्मा और अनात्मा के धर्मों के अध्यास की सिद्धि के लिए प्रदर्शित दो धर्माध्यास के निमित्तों में प्रथम निमित्त तो नहीं है। कारण, ऐसा देखा जाता है जो रूपवान् द्रव्य स्वच्छ रहता है वह अत्यन्त स्वच्छता के कारण भिन्न रूप से अनुभूत अन्य रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करते हैं। प्रतिबिम्बग्राही उदाहरणों से यह स्पष्ट विदित हो रहा है। प्रकृत में आत्मा रूपरहित विषयी [ज्ञान] है अतः, रूपवान् न होने के कारण अनात्मा विषय में प्रतिबिम्बित होने में समर्थ नहीं हो सकता है, इसी प्रकार नीरूप आत्मा में भी विषय प्रतिबिम्बित होने में समर्थ नहीं हो सकता है। यह प्रश्न हो सकता है कि पूर्वोक्त नियम = रूपवान् द्रव्य का प्रतिबिम्बग्राही होता है–सार्वजनिक नहीं है। कारण, नीरूप आकाश का प्रतिबिम्ब जल में देखा जाता है। आकाश के प्रतिबिम्ब को प्रायः सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है, अतः, पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार है। ऐसी स्थिति में नीरूप आकाश के जल में प्रतिबिम्ब के समान नीरूप आत्मा में प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में क्या

आपत्ति है ? आचार्य वाचस्पति के मत में आकाश का प्रतिबिम्ब जल में नहीं होता है वरन् आकाश में अवस्थित सूर्यकिरण का प्रतिबिम्ब जल में होने से ही आकाश का जल में प्रतिबिम्बत्व का भ्रम है। सूर्यकिरण रूपवान् द्रव्य है, अतः, इसका जल में प्रतिबिम्ब मानने पर भी पूर्वोक्त नियम का व्यभिचार नहीं है, इसलिए नीरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब विषय में नहीं हो सकता है। गुण में गुण नहीं रहता है, गुण द्रव्य में ही रहता है। रूप गुण है, अतः, रूप में रूप नहीं रह सकता है, फलतः, रूप नीरूप है और नीरूप रूप का भी प्रतिबिम्ब देखा जाता है, जैसे आरुण्य का प्रतिबिम्ब स्फटिकमणि में है, अतः, यहाँ भी नीरूप आत्मा का अनात्मा में प्रतिबिम्ब मानने में क्या आपत्ति है ? इसके उत्तर में इनका कहना है कि मैंने पूर्व में ही यह व्यक्त कर दिया है कि द्रव्य का प्रतिबिम्ब यदि कहीं होता है तो रूपवान् द्रव्य का ही होता है। उक्त स्थल में जो व्यभिचार है वह द्रव्य नहीं है रूप गुण है और मैंने द्रव्य के विषय में यह नियम स्वीकार किया है द्रव्य का प्रतिबिम्ब यदि होगा तो रूपवान् द्रव्य का ही होगा। चिदात्मा द्रव्य है, अतः, इसका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है, क्योंकि, यह रूपवान नहीं है[1]। इस विषय के समर्थन के लिए प्राचीनाचार्यों की उक्ति का उद्धरण भी आचार्य ने प्रस्तुत किया है—शब्द, गन्ध और रस का कैसा प्रतिबिम्ब हो सकता है।

इस प्रकार पूर्वकल्प के आधार पर धर्मी का प्रतिबिम्ब न होने से धर्म का अध्यास सम्भव नहीं है—इसका विश्लेषण भामतीकार ने प्रदर्शन किया है।

---

१ इस स्थल में न्यायवासना प्रबल है। चिदात्मा के द्रव्य होने में कोई कारण नहीं है। द्रव्य का लक्षण चिदात्मा में घटित नहीं होता है साथ ही वेदान्त मत में द्रव्य गुण का विभाजन भी इस प्रकार नहीं है जिसके आधार पर ब्रह्म को द्रव्य मान लिया जाय।

द्वितीय कल्प के आधार पर धर्म के अध्यास की असम्भवता का प्रतिपादन आगे की पंक्तियां से हो रहा है। प्रकृत स्थल में विषय धर्मी और विषयी धर्मी का परस्पर ऐक्य या तादात्म्याध्यास सम्भव हो तो उनके धर्मों का भी सम्बन्ध या तादात्म्याध्यास सम्भव हो। जैसे तपे हुए लोह में वह्नि का तादात्म्य हो जाने से वह्नि के धर्म का भी अध्यास होता है "अन्योऽन्यात्मसम्भेदेनैव" परस्पर तादात्म्याध्यास होने पर ही। फलतः विषय = अनात्मधर्मी और विषयी चिदात्मधर्मी का परस्पर तादात्म्याध्यास होने पर ही इन दो धर्मियों के धर्मों का भी परस्पर तादात्म्याध्यासरूप विनिमय होगा। अर्थात् दो में एक धर्मी में अन्य धर्मी के धर्म का अध्यास होगा। प्रकृत में आत्मा और अन्तःकरण अर्थात् विषयी और विषयरूप धर्मी परस्पर तादात्म्यासानापन्न है अर्थात् ये दोनों धर्म अत्यन्त भेदरूप से गृहीत होते हैं तब इन दो धर्मिओं के धर्म भी विनिमयरूप से परस्पर अध्यासानापन्न ही, अर्थात् इन दोनों के धर्म भी अमिश्रतरूप में ही रहेंगे। धर्मों के अध्यासानापन्न रहने में हेतुप्रदर्शन करते हुए भामतीकार ने कहा है—दोनों के धर्मों के आश्रय भिन्न-भिन्न धर्मी है। इन दो धर्मियों का परस्पर भेद रहने से भिन्न धर्मियों में आश्रित धर्मों का आश्रय अन्य धर्मी नहीं है अर्थात् अन्य धर्मी में अन्य धर्मी के धर्मों के अनाश्रयत्वका ज्ञान होने से धर्मों का विनिमय सम्भव नहीं है। इन धर्मों के दो आश्रयों का धर्मों के मध्य में परस्पर—व्यवधान रहने से धर्मों का विनिमय किसी भी तरह सम्भव नहीं है। विषय = अचेतन के विपरीत चैतन्य रूप में अवस्थित विषयी का और उसके धर्मों का विषय में अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में अध्यास मिथ्या है अर्थात् अध्यास नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है— मिथ्या शब्द अपह्नव अर्थात् प्रत्याख्यानपरक है। आशय यह है कि चिदात्मक विषयी में देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि विषय का तादात्म्याध्यास नहीं है, इसलिए, चिदात्मक विषयी में देह, इन्द्रिय आदि विषय के धर्मों का अध्यास भी नहीं है। इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि विषय में चिदात्मक विषयी का तदात्म्याध्यास

नहीं है और इसीलिए उक्त विषय में चिदात्मक विषयी के धर्मों का अध्यास भी नहीं है।

उक्त अध्यास न होने का कारण निरूपण करते हुए भामतीकार ने कहा है—जिस विषय का अध्यास जिसमें होता है उसके साथ उसका भेदाग्रह रहना आवश्यक है। भेदाग्रह अध्यास का व्यापक है और व्यापक के न रहने पर उसके व्याप्य का सद्भाव नहीं हो सकता है। प्रकृत में चिदात्मा में भामती के पूर्वोक्त प्रदर्शित रीति से देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि विषयों का भेद-ग्रह सिद्ध है। अर्थात् शरीर आत्मा नहीं है इत्यादि प्रतीति होने से शरीर प्रतियोगिक-भेद का अनुभव आत्मा में हो रहा है। अतः, भेदग्रह रहने से भेदाग्रह की निवृत्त करता हुआ भेदाग्रह से व्याप्य अध्यास को भी निवृत्ति कर देता है। अर्थात् भेदाग्रह अध्यास का व्यापक होने से व्यापकीभूत भेदाग्रह के अभाव में व्याप्यभूत अध्यास का अभाव है।

यद्यपि अहंकारातिरिक्त आत्मा में अहंकार से भेद का अग्रह न होने से आत्मा में अहंकार का तादात्म्याध्यास उचित है अतः, अहंकारादिगत कर्तृत्वादिधर्म का अध्यास भी आत्मा में होना ही चाहिए। तथापि अहंकार से अतिरिक्त आत्मा में प्रमाण नहीं है। अहंकार से अतिरिक्त आत्मा में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, कारण, अहम् (मैं) इस आत्मा का अहंकारात्व रूप से ही अनुभूत होता है। अनुमान प्रमाण भी नहीं है, कारण, उसकी व्याप्ति नहीं है। आगम प्रमाण भी नहीं है, कारण, अहंकार से अतिरिक्त बोधक आत्मा में आगम प्रमाण रहने पर भी आत्मा का अहंकार रूप से जो प्रत्यक्ष हो रहा है उस प्रत्यक्ष के विरोध से आगम को गौणार्थक ही मानना उचित होगा इसी पूर्वपक्ष के आधार पर आगे की भामती की योजना होती है।

भामती में इस भाष्य के शंकाग्रन्थ में यद्यपि पद देने से शंकाग्रन्थ के बाद तथापि पद का प्रयोग होगा। "युष्मदस्मद्" इत्यादि भाष्य से "तथापि" इससे पूर्व के भाष्य से आध्यासाभाव का हेतु भेदग्रह है उसके रहने से अध्यास का

अभाव है। "तथापि" इत्यादि परिहार भाष्य के द्वारा भेदग्रह (अध्यास के अभाव का हेतु) ही असिद्ध है—यह सूचित होता है। इसी का विवरण आगे के भामतीग्रन्थ से होगा।

पूर्वोक्त भाष्य और भामती का संक्षिप्त सारांश

ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रथमतः वेदान्त वाक्यार्थ का श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश वेदान्त में किया गया है। मनन अर्थात् विचार कार्य की सुविधा के लिए व्यासदेव ने इस वेदान्त दर्शन को रचना की है। यद्यपि अन्य दर्शनों का प्रणयन भी इसी उद्देश्य से हुआ है तथापि इस दर्शन का वैशिष्ट्य यह है कि उपनिषद् के वाक्यार्थ विचार के व्याज से दार्शनिक तत्त्वों की यथाक्रम में आलोचना हुई है अर्थात् इसमें उपनिषद्—वाक्यार्थ—विचार एवं दर्शनशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों का समावेश किया गया है।

इस ग्रन्थ के "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र में प्रथम आलोच्य विषय ब्रह्म का जिज्ञास्यत्व या विचार्यत्व है और "तद्विजिज्ञासस्व" "सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः "आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः इत्यादि कुछ श्रुतियों से एवं एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "अयमात्मा ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" कतिपय श्रुतिवाक्यों से उत्पन्न संशय की निवृत्ति है। द्वितीय पक्ष में ब्रह्मज्ञान से ही अनर्थ-निवृत्तिरूपानन्दात्मकमुक्तिस्वरूप प्रयोजन सिद्ध होने से ब्रह्म का विचार्यत्व सिद्ध किया गया है।

आचार्य शंकर ने इस विषय को सुचारूरूप से अवगत कराने के लिए भाष्यारम्भ में ही उपक्रमणिका दी है। इस उपक्रमणिका का नाम अध्यासभाष्य है। इस अध्यासभाष्य में उन्होंने कहा है कि अनादि अनन्त सकलजनप्रत्यक्ष कर्तृत्व-भोक्तृत्व का प्रवर्त्तक सभी अनर्थों का साधन मिथ्याप्रत्ययरूप अध्यास की निवृत्ति के लिए वेदान्तशास्त्र में आत्मैकत्वविद्या कही गई है। अध्यास

के मिथ्यात्व के सम्बन्ध में उत्थापित आपत्तियों को ही संक्षेप में देने के लिए "युष्मदस्मत्" इत्यादि भाष्य से आरम्भ कर "मिथ्येति भवितुं युक्तम्" यह भाष्य लिखा गया है। अत्यन्त विरुद्ध पदार्थों की अभेदरूप में प्रतीति नहीं होती है और इसी कारण से एक पदार्थ के धर्म उससे अत्यन्त-विरुद्ध पदार्थों के ऊपर आरोपित भी नहीं होते हैं, इसीलिए आत्मा का अथवा अनात्मधर्मों का भ्रम या अनात्मा में आत्मा का या आत्मधर्मों का भ्रम भी सम्भव नहीं होता है। अनन्तर आचार्य शंकर सकललोकव्यवहार से सिद्ध, इस भ्रम का लक्षण और इस भ्रम की निवृत्ति से सभी अनर्थहेतुसंशय की निवृत्ति साथ ही इस भ्रम की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है—इत्यादि विषयों का प्रदर्शनपूर्वक सूत्र की व्याख्या में प्रवृत्त होते हैं। इस प्रथम संक्रान्त अध्यास का पूर्ण स्वरूप और इसका कारण क्या है? इसकी अवगति के लिए प्रथम यह समझना आवश्यक है कि (१) वेदान्त का उद्देश्य क्या है (२) इस उद्देश्य की सिद्धि के उपाय के साथ अध्यास का सम्बन्ध क्या है, (३) इस अध्यास के विरुद्ध में क्या आपत्तियाँ हैं?

इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि अध्यास के निरूपण के लिए उक्त तीन विषयों का ज्ञान नितान्त—एकान्त अपेक्षित है।

वेदान्त का उद्देश्य

वेदान्त का उद्देश्य मुक्ति है। श्रुति में कहा गया है कि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० ६।२।१) "तरति शोकमात्मवित्" (छा० ७।१ ३) "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मुण्ड० ३।२।९) अर्थात् ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं देश काल और वस्तु रूप परिच्छेद से रहित है। ब्रह्म एक ही अद्वितीय है। ब्रह्मज्ञ व्यक्ति परम पुरुषार्थ का लाभ करता है। आत्मवेत्ता शोक से मुक्त होता है। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है इत्यादि।

इन श्रुतिवाक्यों से यही प्रतिपादित हो रहा है कि जीव की ब्रह्मस्वरूपता-प्राप्ति और अविद्यानिवृत्तिपूर्वक आनन्दरूपता ही मुक्ति है। इस मुक्ति के होने पर वह संसार से विमुक्त हो जाता है, संसार से पूर्व जिस प्रकार वह ब्रह्म था अर्थात् अध्यास से पूर्व कर्तृत्व--भोक्तृत्व रहित सर्वज्ञ था वैसे ही मोक्ष होने से भी वही ब्रह्मभाव की प्राप्ति होती है! यह जीवरूपता वास्तविक नहीं है। कारण, ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है और वह कूटस्थ नित्य है इसलिए उसका विकास परिमाण या अवस्थान्तर नहीं हो सकता है। यह सत्य है कि वेदान्त में ब्रह्मस्वरूप आदि के निरूपण के लिए एकमात्र श्रुति ही प्रमाण है। अतः, उपनिषद् के आधार पर हो वेदान्त में ब्रह्म - स्वरूप मुक्ति का प्रतिपादन किया गया है। अब यह विचारणीय है कि इसका साधन क्या है और उसके साथ अध्यास का सम्बन्ध क्या है?

वेदान्त के उद्देश्य की सिद्धि के उपाय के साथ अध्यास का सम्बन्ध प्रतिपादन करते हुए अद्वैतवेदान्तियों ने कहा है कि यदि ब्रह्मभावापत्ति संसार निवृत्ति या अविद्यास्तमय ही मुक्ति है तब संसार निवृत्ति या अविद्यास्तमय का साधन ही मुक्ति का साधन है। संसार को वास्तव या यथार्थ मानने पर उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। संसार को अवास्तव या अयथार्थ मानने पर ही इसकी निवृत्ति सम्भव हो सकती है। शांकर–वेदान्त–सिद्धान्त में संसार को वास्तव या यथार्थ नहीं माना है। कारण, श्रुति के अनुसार ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की वास्तविक-सत्ता नहीं है। ऐसी स्थिति में संसार का अस्तित्व रस्सी में परिकल्पित सर्प के समान अथवा शुक्ति में भ्रान्ति कल्पित चांदी के समान आध्यासिक है—यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। जिस वस्तु का अस्तित्व आध्यासिक रहता है, उसको निवृत्त करने के लिए उस वस्तु का स्वरूप-ज्ञान आवश्यक होता है जिस वस्तु के अज्ञान के कारण उस आध्यासिक वस्तु की प्रतीति हो रही है। जिस वस्तु के स्वरूप का ज्ञान न होने के कारण

आध्यासिक वस्तु की प्रतीति होती है उस वस्तु के स्वरूपज्ञान से अतिरिक्त आध्यासिक वस्तु के अस्तित्व की निवृत्ति का अतिरिक्त कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए प्रकृत में अज्ञान या अज्ञान (अविद्या) निबन्धन संसार की निवृत्ति का एक मात्र साधन ब्रह्मज्ञान ही है। फलतः यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म का स्वरूपज्ञान ही अज्ञान और उसके कार्य (संसार) की निवृत्ति का साधन है—यही अविद्यास्तमय अखण्डानन्द मोक्ष है।

इस विषय की स्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ—

कभी-कभी अन्धकार में रस्सी को देखने से साँप की भ्रान्ति हो जाती है और इस भ्रान्ति से हमलोगों को भय कम्पन आदि होने लगता है। कभी-कभी तो भागने के प्रसंग में गिर जाने के कारण बहुत दुःखभोग करना पड़ता है। इस अनर्थ की निवृत्ति के लिए अन्धकार में उस कल्पित सर्प के ऊपर कितना भी दण्ड का प्रहार करें फिर भी उस सर्प की निवृत्ति नहीं होती है। किन्तु यदि प्रकाश की सहायता से उस सर्प-भ्रम के आधार रस्सी को अच्छी तरह देख लें उसी क्षण वह सर्प भ्रान्ति वह कल्पित सर्प और भ्रान्तिमूलक भय निवृत्त हो जाते हैं। अतः, यही सिद्ध होता है कि कल्पितवस्तु की निवृत्ति करने के लिए उस भ्रान्ति की अधिष्ठान स्वरूप जो वस्तु अर्थात् जिस आधार पर भ्रम के कारण कल्पित वस्तु की प्रतीति होती है उस आधार स्वरूप वस्तु के स्वरूप का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है अन्य किसी भी उपाय से भ्रम की निवृत्ति नहीं होती है। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में ब्रह्मविषयक जो अज्ञान वही इस संसार का मूल कारण है एवं यह संसार ही हमलोगों के सभी अनर्थों का साधन है इसीलिए कोई भी दुःख से अमिश्रित सुख के लाभ करने में समर्थ नहीं होता है—यह सभी को सुस्पष्ट विदित है। इस संसार की निवृत्ति करने के लिए मणि, मन्त्र या

अच्छी दवा का सेवन, चित्तवृत्तिनिरोधस्वरूप योग, यज्ञादि का अनुष्ठान या पूजा उपासनादि कुछ भी उपाय कार्यक्षम नहीं है, किन्तु ब्रह्मतत्त्वज्ञान ही इस अनर्थमय संसार की निवृत्ति के लिए साक्षात् साधन है। ऐसी स्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि मिथ्याज्ञान या अध्यास ही संसार का कारण है। अध्यास या मिथ्याज्ञान संसार का मूल न मानने पर ब्रह्मात्मैक्यज्ञान से अर्थात् अध्यास के अधिष्ठान जीवाभिन्न ब्रह्मज्ञान से कभी भी उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती है। अध्यास या मिथ्याज्ञान को संसार का मूल न माना जाय तो संसार को सत्य मानना पड़ेगा और संसार को वास्तविक मानने पर संसार की निवृत्ति नहीं होगी। अध्यास की सिद्धि होने पर ही मुक्ति का कथित उपाय उपायपदवाच्य हो सकता है अन्यथा वह मुक्ति का उपाय नहीं होगा और साथ ही ब्रह्म जिज्ञास्य भी नहीं होगा।

अध्यास के सम्बन्ध में उत्थापित आपत्तियाँ

प्रथम यह विचारणीय है कि पूर्व प्रदर्शित मुक्ति का स्वरूप संगत है या नहीं ? पूर्व प्रदर्शित मुक्ति का स्वरूप संगत नहीं है। कारण, यदि जीव और ब्रह्म एक ही पदार्थ सिद्ध हो तब जीव और ब्रह्म का भेद कल्पित सिद्ध होगा। किन्तु यह वास्तविक नहीं हो सकता है। कारण, वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप सत्य ज्ञान और आनन्द कहा गया है। जैसे—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० २।१।१) एकमेवाद्वितीयम् (छा० ६।२।१) इत्यादि। इस ब्रह्म में जीव का धर्म कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं रह सकता है। उपनिषद् में भी जीव ही को भोक्ता और कर्ता कहा गया है। जैसे—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो ऽभिचाकशीति ॥
(श्वेताश्वतरो० १।३।९)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ।
एको बहूनां यो विदधाति कामान् ॥

दो पक्षी एक वृक्ष पर रहते हैं, उनमें एक पिप्पल (कड़ुआ तीता) फल खाता है और दूसरा केवल दर्शन कर ही आनन्द करता है। अर्थात जीव कर्त्ता और भोक्ता है एवं ईश्वर द्रष्टा मात्र है। वह नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है। वह एक होकर भी अनेक जीवों की कामना पूर्ण करता है इत्यादि। इससे यह सुस्पष्ट है कि जीव और ब्रह्म अभिन्न नहीं है।

इसके अतिरिक्त सभी लोगों का अनुभव भी इसमें प्रमाण है। कारण, अहं (मैं) यह अनुभव जीवात्मा को ही विषय करता है और यह जीव प्रत्येक देहभेद से भिन्न है यह भी अनुभव के द्वारा ही अवगत हो रहा है। फलतः, श्रुतिवाक्य एवं सर्वजनीन अनुभव—इन दो प्रमाणों की सहायता से—यह विषय अवगत हो रहा है—जीव और ब्रह्म कभी भी अभिन्न नहीं हो सकता है। इन दोनों का परस्पर भेद अज्ञानकल्पित या आध्यासिक भी नहीं हो सकता है। फलतः, पूर्व में जो कहा गया है—अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष है—यह भी किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। जीव और ब्रह्म का भेद वास्तविक रहने पर, इस जीव और ब्रह्म के भेद विषयक-ज्ञान को अज्ञान या भ्रम नहीं कहा जा सकता है।

दूसरी बात यह है कि जीव और ब्रह्म का भेद भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है और इसकी निवृत्ति अधिष्ठान के द्वारा ही सम्भव है, अन्यथा नहीं— इत्यादि जो पूर्व में कहा गया है, यदि इसको स्वीकार किया जाय तब संसार भ्रान्ति या अज्ञानमूलक है अर्थात् भ्रम या अज्ञान का कार्य ही यह संसार है—यह किसी प्रकार संगत नहीं हो सकता है और ब्रह्मज्ञान से अज्ञाननिवृत्ति ही मोक्ष का स्वरूप है—यह किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता है। कारण, भ्रम या अज्ञान दो

प्रकार का होता है—(१) एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम। जैसे शुक्ति में रजत का भ्रम। (२) एक धर्मी में अन्य धर्मी के धर्म का भ्रम। जैसे—स्फटिक में जवापुष्प की लालिमा का भ्रम। अब यह विचारणीय है कि जगत् या संसार को भ्रम मानने पर इसको प्रथम प्रकार का भ्रम मानना पड़ेगा अर्थात् एक धर्मी में अन्य धर्मी का भ्रम, कारण, अज्ञान या भ्रम जब होता है तब इस भ्रम में एक आरोप्य और दूसरा अधिष्ठान अर्थात एक विशेष्य एवं दूसरा विशेषण होता है। जैसे—शुक्तौ इदं रजतम् (शुक्ति में यह रजत है) इस प्रकार भ्रमज्ञान होता है तब इस भ्रमज्ञान में आरोप्य या विशेषण रजत है और अधिष्ठान या विशेष्य इदम (यह) होता है। इनमें आरोप्य या विशेषण का पूर्व से अनुभव अपेक्षित है और विशेष्य का अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि अधिष्ठान या विशेष्य को ज्ञेय वस्तु होना चाहिये, अधिष्ठान ज्ञान का विषय (ज्ञेय) या ज्ञान विषय के योग्य नहीं हो तो उसमें भ्रम हो ही नहीं सकता है।

सांसारिक सभी ज्ञान को भ्रम मानने पर इसका अधिष्ठान या विशेष्य ब्रह्म है और आरोप्य या विशेषण जगत् होगा अथवा इस भ्रम का अधिष्ठान या विशेष्य जगत् या संसार और विशेषण या आरोप्य ब्रह्म होगा अर्थात् ब्रह्म में इस संसार का भ्रम या जगत् में ब्रह्म का भ्रम इन दोनों में एक मानना होगा।

किन्तु पूर्व में उल्लिखित वेदान्त में दो में किसी एक की भी सम्भावना नहीं है। कारण, प्रथम पक्ष का अवलम्बन कर यह कहा जाय कि ब्रह्मको अधिष्ठान कर इस जगत् का भ्रम होता है, तब शुक्तौ इदं रजतम् इस स्थल में जैसे शुक्ति को "इदं" पदवाच्य और इन्द्रियसन्निकृष्ट एवं ज्ञेय वस्तु स्वरूप माना जाता है वैसे ही ब्रह्म को भी "इदं" पदवाच्य इन्द्रियसन्निकृष्ट और ज्ञेय वस्तु मानना होगा। किन्तु वास्तवपक्ष स्वीकार करने पर वेदान्त मत में यह नहीं हो सकता है।

कारण, वेदान्त मत में ब्रह्म सभी का आत्मभूत एवं सभी में अनुस्यूत व्यापक पदार्थ है। जो सर्वगत और सभी का आत्मभूत है, वह इन्द्रिय का सन्निकृष्ट नहीं हो सकता है। कारण, सन्निकर्ष व्यवधान सापेक्ष है, व्यवधान नहीं रहने पर सन्निकर्ष का प्रश्न ही नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि इस मत में ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है ज्ञेय स्वरूप नहीं है वह स्वयं-प्रकाश है ज्ञान से प्रकाश्य नहीं है। इसलिए ब्रह्म जगत् रूप भ्रम का अधिष्ठान नहीं होता है।

यदि प्रदर्शित दोनों पक्षों में द्वितीय पक्ष माना जाय अर्थात् जगत् ही उक्त भ्रम का इदं पदवाच्य वस्तु के समान अधिष्ठान है, ब्रह्म ही रजत के समान आरोप्य या विशेषण स्वरूप है—यह कथन भी संगत नहीं है। कारण, वेदान्त मत में जगत् की वास्तव सत्ता नहीं है और अधिष्ठान के सत्य न होने पर उसमें भ्रम भी नहीं हो सकता है। एक विषय यह भी देखने योग्य है कि वेदान्त मत में आरोप्य की सत्ता से अधिष्ठान की सत्ता न्यून या लघु होती है तब भ्रम नहीं होता है। इसलिए वेदान्त मत में जगत् की व्यावहारिक सत्ता है और इस व्यावहारिक अस्तित्व वाले जगत् को भ्रम का अधिष्ठान माना जाय तो ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा व्यावहारिक सत्ता अधिक या समान हो जायगी। अत एव पारमार्थिक सत् ब्रह्म का आरोप व्यावहारिक सत् जगत् में नहीं हो सकता है। फलतः जगत् अज्ञानमूलक या भ्रान्तिमूलक सिद्ध नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि जगत् का मूल भ्रम या अज्ञान प्रदर्शित द्वितीय प्रकार का भ्रम अर्थात् स्फटिक में जपापुष्प के लौहित्य के भ्रम के समान धर्मी में धर्म का भ्रम है तो यह भी ठीक नहीं है। कारण, स्फटिक में जपालौहित्य का भ्रम होने पर जपापुष्प और स्फटिक परस्पर भिन्न रूप में प्रतीत होने पर इन दोनों में सामीप्य रूप सम्बन्ध के कारण स्फटिक में जपालौहित्यरूप धर्म का भ्रम सिद्ध होता है। प्रकृत स्थल में यह स्वभावतः नहीं है। कारण, अन्धकार एवं आलोक के समान परस्पर विरुद्ध स्वभाव जड़ और चैतन्य में सामीप्यरूप

कोई भी सम्बन्ध सम्भव नहीं है। धर्म का आरोप रूप भ्रम जिस स्थान में होता है वहाँ अधिष्ठान रूपवान द्रव्य ही होता है। किन्तु प्रकृत स्थल में उपनिषद् में ब्रह्म को "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" कहा है, अतः, स्फटिक सादृश्य अर्थात् रूपवान वह नहीं है। फलतः ब्रह्म को अधिष्ठान या आरोप्य मानकर अर्थात् स्फटिक स्थानीय या जपालौहित्य स्थानीय मानकर भ्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि ब्रह्म-विषयक अज्ञानमूलक संसार नहीं है। भ्रम का यह स्वभाव है कि जिस प्रकार का भ्रम होता है उसी आकार का एक प्रमाज्ञान इस भ्रम से पूर्व उस व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है और उस प्रमाज्ञान से जनित-संस्कार को उस भ्रम का मुख्य कारण माना जाता है। जैसे किसी को रस्सी में सर्प का या शुक्ति में चाँदी का भ्रम होता है तो उससे पूर्व में जिस व्यक्ति को इस समय भ्रम हो रहा है उसको वास्तविक सर्प में "यह सर्प है" या प्रकृत रस्सी में "यह रस्सी है" और प्रकृत रजत में "यह चांदी है" इस प्रकार का भ्रम के आकार के समान प्रमाज्ञान या यथार्थज्ञान रहता है इस प्रमाज्ञान से जनित संस्कार ही बाद में भ्रम का हेतु होता है। इसलिए सिद्ध होता है कि भ्रम का समानाकार यथार्थानुभव न रहने पर भ्रमज्ञान सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में ब्रह्म में जगत् का भ्रम या जगत में ब्रह्म का भ्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है। कारण, यदि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है तब पूर्व में भ्रमज्ञान का समानाकार प्रमाज्ञान हुआ था अर्थात् जगत् भ्रम के आकार के समान आकार वाला एक यथार्थज्ञान हुआ था। इस प्रकार का प्रमाज्ञान स्वीकार करने पर जगत् को सत्य मानना पड़ेगा और जगत् को सत्य मानने पर उसकी ज्ञान के द्वारा निवृत्ति कैसे हो सकती है? यदि कहा जाय कि जगत् में ब्रह्म का भ्रम होता है तब उक्त युक्ति के अनुसार जगत् एवं ब्रह्म दोनों को ही सत्य

मानना पड़ेगा और इसके फलस्वरूप ब्रह्म को ज्ञेय मानना पड़ेगा तब ब्रह्मज्ञान से जगत् की निवृत्ति नहीं हो सकती है।

यह जो कहा गया है कि अज्ञान ब्रह्म को आवृत कर स्वयं इस विश्व प्रपञ्च की सृष्टि करता है। यह जगत् अज्ञान का ही परिणाम है जैसे शुक्ति के स्वरूप को आवृत कर अज्ञान शुक्ति को रजत रूप में परिकल्पित करता है वैसे ही जगत् ब्रह्मावरक अज्ञान की ही सृष्टि है। किन्तु यह भी कैसे सम्भव हो सकता है? कारण, ब्रह्म स्वयंप्रकाश स्वरूप है और अज्ञान अन्धकाररूप आवरक वस्तु विशेष है। जैसे अखण्ड प्रकाश सूर्यमण्डल को अन्धकार कभी भी आवृत नहीं कर सकता है, वैसे ही इस स्वप्रकाश सर्वव्यापी अविनाशी ब्रह्म को अज्ञान भी आवृत नहीं कर सकता है। आवरक एवं आवरणीय दो वस्तुओं में कोई सम्बन्ध सम्भव होने पर ही आवरणरूप कार्य सम्भव हो सकता है। प्रकृत स्थल में जब वैसा कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता है तब अज्ञान ब्रह्म का आवरण कैसे कर सकता है? इसलिए यह मानना पड़ेगा कि जो अज्ञान ब्रह्मस्वरूप का आवरण कर संसाररूप अनर्थ की सृष्टि करता है, उस अज्ञान की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान हेतु नहीं हो सकता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सदा वर्तमान रहता है और उसकी सत्ता में ही अज्ञानावरण होने पर पुनः उसी के ज्ञान से उसी अज्ञानावरण का नाश कैसे सम्भव हो सकता है? यह कभी भी सम्भव नहीं है।

ऐसी स्थिति में वेदान्त शास्त्र में कहा गया ब्रह्मस्वरूप अधिष्ठान के द्वारा कल्पित भ्रान्तिरूप संसार की निवृत्ति स्वरूप मोक्षफल किसी प्रकार भी युक्तिसंगत नहीं हो सकता है। इसका फल यह होगा कि जड़ और चेतन का परस्पर अध्यास भी मिथ्या हो जायगा। इसलिए अध्यास की निवृत्ति के लिए ब्रह्मज्ञान भी निष्प्रयोजन है और इस ब्रह्मज्ञान के लिए अद्वैतवेदान्तानुमोदित वेदान्तसूत्र का व्याख्यान भी निष्प्रयोजन है, अर्थात् ब्रह्म जिज्ञासा नहीं हो सकती है।

यही मुक्ति एवं उसके साधननिर्णयमूलक अध्यास के विषय में पूर्वपक्ष की आपत्ति है। अद्वैतमतविरोधियों की इस प्रकार की आपत्तियों को लक्ष्य कर आचार्य शंकर ने "युष्पदस्मत्प्रत्यय" से "मिथ्या भवितुं युक्तम्" भाष्य की रचना की है। इसमें अपने विरोधी दार्शनिकों के मतों का सार–संकलन कर विरोधी दार्शनिकों के विभिन्न मतों का पर्यालोचन सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं इसमें द्वैत—विशिष्टाद्वैत— द्वैताद्वैत–सिद्धान्त के आचार्य भास्कर रामानुजादि सभी बाद में होनेवाले वेदान्तसू: के व्याख्याकार के आधार पर प्राचीन मतवादों के गूढ़ आशयों का एवं कपिल–कणाद–गौतम–जैमिनि आदि–आदि आचार्यों के मर्मों का इस अध्यास भाष्य में संकलन किया है। इतने संक्षेप में पूर्व मतवादों का प्रदर्शन कर अनवद्य अद्वैतमत की स्थापना ही इसका वैशिष्ट्य है और वैशिष्ट्य के गौरव के कारण इसको अतुलनीय माना गया है[१]।

---

१ तथापीत्यसम्बन्धाच्छङ्कायां यद्यपीति पठितव्यम्। इदमस्मत्प्रत्यय-गोचरयोरिति वक्तव्ये युष्मद्ग्रहणमत्यन्तभेदोपलक्षणार्थम्। यथा ह्यहंकारप्रतियोगी त्वंकारो नैवमिदंकारः, एते वयमिमे वयमास्महे इति बहुलं प्रयोगदर्शनादिति। चित्स्वभाव आत्मा विषयी, जडस्वभावा बुद्धीन्द्रियदेहविषया विषयाः। एते हि चिदात्मानं विषिण्वन्ति अवबध्नन्ति, स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्तीति यावत् परस्पराध्यासहेतावत्यन्तवैलक्षण्ये दृष्टान्तः तमःप्रकाशवदिति। नहि जातु कश्चित्समुदाचरद्वृत्तिनी प्रकाशतमसी परस्परात्मतया प्रतिपत्तुमर्हति, तदिदमुक्तम्—इतरेतरभावानुपपत्ताविति। इतरेतरभाव इतरेतरत्वम्, तादात्म्यमिति यावत्, तस्यानुपपत्ताविति। स्यादेतत्-माभूद्धर्मिणोः परस्परभावः, तद्धर्माणां तु जाड्यचैतन्यनित्यत्वादीनामितरेतराध्यासो भविष्यति, दृश्यते हि धर्मिणोर्विवेकग्रहणेऽपि तद्धर्माणामध्यासः. यथा कुसुमाद् भेदेन गृह्यमाणेऽपि स्फटिकमणावतिस्वच्छ तया जपाकुसुमप्रतिबिम्बोद्ग्राहिण्यरुणः स्फटिक इत्यारुण्यविभ्रम, इत्यत उक्तम्--तद्धर्माणामपीति। इतरेतररूप धर्मिणि धर्माणां भावो विनिमयस्तस्यानुपपत्तिः। अयमभिसन्धिः-रूपवद्धि द्रव्यमतिस्वच्छतया रूपवतो द्रव्यान्तरस्य तद्विवेकेन गृह्यमाणस्यापि ... ... तथापीति योजना।

भा० पृ० ६ ८

पूर्वपक्ष भाष्य में कहा गया है कि अध्यास मिथ्या है। शास्त्र में मिथ्या शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हो सकता है—

(१) अपह्नव अर्थात् अपलाप

(२) अनिर्वचनीय

प्रकृत में पूर्वपक्षी ने अध्यास को मिथ्या कहा है। यह मिथ्या कथन अपह्नव अर्थ में कहे जाने पर भाष्यकार की सम्मति नहीं होगी और यदि मिथ्या शब्द अनिर्वचनीय अर्थ में कहा गया है तब भाष्यकार का कोई विरोध नहीं है। इस प्रसंग में—अध्यास का अपलाप क्यों नहीं हो सकता है इसी का प्रदर्शन करने के लिए भाष्यकार ने "तथापि" से "लोकव्यवहार :" इतने भाष्य की रचना की है।

पूर्व प्रसंग में यह सूचित किया है कि भेदग्रह अध्यासाभाव का कारण है और उसके रहने से प्रकृत में अध्यास का अभाव है। तथापि इस भाष्य से अध्यासाभाव के हेतु भेदग्रह की असिद्धि की सूचना दी है। इस भामती की योजना निम्नलिखित है—

सभी प्रकार के विशेषणों से रहित, अनन्त, आनन्द, चैतन्य एकस्वभाव, निरपेक्ष, एक, अद्वितीय आत्मतत्त्व श्रुति स्मृति इतिहास और पुराण में जैसा कहा गया है वैसा ही आत्मतत्त्व यदि "अहं" इस अनुभव से प्रकाशित होता तब "अहं" इस अनुभव में प्रकाशमान का कथित प्रकार से शरीरादि से भिन्न रूप में अवगत होने से अध्यास का अभाव कहा जाता, किन्तु ऐसा नहीं है।

श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि के वाक्य अनुभव विरोध होने से उपचरितार्थक (गौण) हैं। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति, इन तात्पर्य निर्णायक हेतुओं से अद्वितीय आत्मतत्त्व में निश्चिततात्पर्यवाले और उसी अद्वितीय आत्मतत्त्व के प्रतिपादक इन श्रुतिवाक्यों को उपचरि-

सार्थक इन्द्र भी नहीं कर सकते हैं। परामर्श = मध्य में निर्देश करना। क्रियासमभिहारः = पुनः पुनः। तात्पर्य निर्णायक हेतुओं में कथित अभ्यास का अर्थ = अद्वितीय आत्मतत्त्व प्रतिपादकरूप में श्रुति वाक्यों की आवृत्ति है।

अब यह जिज्ञासा होती है कि "अभ्यास से क्या लाभ है? अभ्यास से प्रतिपादित अर्थ का आधिक्य प्रतीत होता है। अभ्यास से अर्थ के आधिक्य को भामतीकार ने दृष्टान्त देकर समझाया है—जैसे अहो देखने योग्य देखने योग्य सुन्दरी। इस वाक्य में दर्शनीय के अभ्यास (आवृत्ति) से सुन्दरी में आधिक्य की प्रतीति होती है अर्थात् अधिक सौन्दर्य की अवगति होती है। फलतः प्रतिपादित अर्थ का आधिक्य अवगत होता है, प्रतिपादित अर्थ की न्यूनता प्रतीत नहीं होती है। जब अभ्यास से न्यूनता की अवगति नहीं होती है तब उपचरितार्थत्व पहिले ही नहीं हो सकता है।

प्रकृत में "न न्यूनत्वम्" इस पद में प्रयुक्त नञ् का "उपचरितत्व" में भी अन्वय होता है। इसलिए फलितार्थ होता है—"अर्थस्य उपचरितत्वं प्रागेव न" अर्थ का न्यूनत्व जब अवगत नहीं होता है तब अर्थ का उपचरितत्व तो पहिले ही नहीं हो सकता है[1]। "उपचरितार्थत्वमपि प्रागेव नेत्यर्थः"।

---

१ "उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ॥

यह प्राचीन उक्ति सभी दार्शनिकों के द्वारा अंगीकृत है। इस कारिका में तात्पर्य के निर्णायक छः हेतु कहे गये हैं।

१ उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता।

२ अभ्यास

३ अपूर्वता

४ फल

५ अर्थवाद

६ उपपत्ति

श्रुति आदि में जैसा आत्मतत्त्व का प्रकाश किया गया है वैसा आत्मतत्त्व

इन प्रदर्शित हेतुओं का सामान्य-परिचय प्रकृत में करा देना आवश्यक समझता हूँ। ग्रन्थ या प्रबन्ध का आदिभाग उपक्रम और अन्त्य भाग उपसंहार कहा जाता है। कथित कारिका में उपक्रम और उपसंहार इन दो पदों के द्वारा आद्यन्त भाग का उस अर्थ में ही पर्यवसान लक्षित होता है। जिस अर्थ में ग्रन्थ का उपक्रम और उपसंहार पर्यवसित होता है उसी अर्थ में उस ग्रन्थ का अभिमत तात्पर्य अवगत होता है। इसीलिए यह उक्ति प्रचलित है—"येन चोपक्रम्यते येन चोपसंह्रियते स एवं शब्दार्थः। रेखागणित में भी प्रतिज्ञावाक्य और उपसंहार वाक्य का एक अर्थ में पर्यवसान के द्वारा प्रतिज्ञा आदि सभी वाक्यों का तात्पर्य अवगत होता है।

तात्पर्य का निर्णायक द्वितीय हेतु—"अभ्यास" है। एक ही सिद्ध अर्थ का पुनः पुनः कथन अभ्यास है। जिस प्रबन्ध का जो प्रतिपाद्य अर्थ रहता है उसी का कथन उस प्रबन्ध में पुनः पुनः रहता है। जो तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं रहता है, उसका कथञ्चित उल्लेख होने पर भी उसका पुनः पुनः उल्लेख सर्वथा असम्भव है। पुनः पुनः कथन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि यही इस प्रबन्ध का तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है।

तात्पर्य का निर्णायक तृतीय हेतु अर्थवाद है। स्तुति या निन्दा—इन दोनों में किसी एक के बोधक वाक्य का नाम अर्थवाद है। स्तुति-प्रतिपादक-वाक्य प्रशंसार्थवाद और निन्दा प्रतिपादक--वाक्य--निन्दार्थवाद है। प्रबन्ध के द्वारा प्रतिपाद्य या अभिप्रेत अर्थ की प्रबन्ध में स्तुति रहती है एवं निषेधयोग्य अर्थ की निन्दा रहती है। स्तूयमान अर्थ ही विधीयमान रहता है एवं निन्दित अर्थ ही निन्द्य रहता है। निन्दा और स्तुति पर लक्ष्य करने से ही ग्रन्थ के प्रतिपाद्य अर्थ की अवगति हो जाती है। स्तूयमान अर्थ ही ग्रन्थ का प्रतिपाद्य होता है।

यद्यपि पूर्वोक्त कारिका में अर्थवाद का पंचम स्थान है तथापि विशेष कारणवश इसका तृतीय स्थान में निर्देश किया गया है। उपक्रम और उपसंहार की एकता, अभ्यास और अर्थवाद--ये तीनों शब्द--घटित होने से शब्दनिष्ठ हैं। उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता किस प्रकार वाक्य के तात्पर्य की निर्णायक

"अहं" इस अनुभव में प्रकाशित नहीं होता है- यह पूर्व में ही कहा गया है—

हो सकती है ! इस जिज्ञासा के उत्तर में वक्तव्य यही है कि वाक्य के तात्पर्य विषय के रूप में सन्दिग्ध अनेक अर्थों में जिस अर्थ में अद्यन्त भाग का पर्यवसान होता है- उस अर्थ में यदि तात्पर्य नहीं रहे तो उस अर्थ में आद्यन्तभाग का पर्यवसान व्यर्थ रहेगा।

अभ्यास के सम्बन्ध में यही कथन है कि सिद्ध वस्तु के विषय का पुनः पुनः कीर्त्तन उस पुनः पुनः श्रुत विषय में वाक्य के तात्पर्य का निर्णायक होता है। पुनः पुनः श्रुत सिद्ध वस्तु में भी यदि वाक्य का तात्पर्य नहीं रहे तो पुनः कीर्त्तन व्यर्थ हो जायगा। सिद्ध वस्तु का पुनः पुनः कीर्त्तन उस वस्तु के आदर का ज्ञापक रहता है। आदर ज्ञापन के द्वारा ही अभ्यास तात्पर्य का निर्णायक होता है। यही विषय निरुक्त में भी कहा है-"अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते, यथाहो दर्शनीयाऽहो दर्शनीयेति" (नि० उ० ४२) पुनः पुनः कथन के द्वारा जो आदरातिशय सूचित होता है उसी को व्यक्त करने के लिए यास्क ने कहा है-- "अहो दर्शनीया अहो दर्शनीया" इस प्रकार अभ्यास के द्वारा वक्ता ने किसी सुन्दरी के सौन्दर्य में आदरातिशय का प्रकाश किया है। यद्यपि आदर के द्वारा उस वस्तु का प्राशास्त्य ही सिद्ध होता है और उससे अभ्यस्यमान अर्थ विधेयत्वरूप से अनुमान के द्वारा तात्पर्य विषय होता है। अर्थवाद भी प्राशस्त्य-ज्ञापन द्वारा तात्पर्य- विषय का ज्ञापक होता है। ऐसा होने पर भी अर्थवाद बोध्य प्राशस्त्य और अभ्यासबोध्य प्राशस्त्य एक नहीं है। अर्थवाद बोध्य प्राशस्त्य-बलवदनिष्ठाजनकत्वरूप और अभ्यासबोध्य प्राशस्त्य अन्य अर्थ से उत्कृष्टत्व रूप है।

तात्पर्य-निर्णायक हेतुओं में चतुर्थ हेतु "अपूर्वता" है "अपूर्वत्व" शब्द का अर्थ पूर्व में अज्ञातरूप होता है। अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है वह अर्थ उस वाक्यार्थ के ज्ञान से पूर्व में किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं था। अज्ञात अर्थ का ज्ञापक वाक्य ही अपूर्वार्थक होता है। अज्ञातविषय में ही वाक्य का तात्पर्य रहता है। ज्ञातज्ञापक अर्थ अनुवाद होता है।

तात्पर्यनिर्णायक पंचम हेतु—"फल" है। फल का अर्थ प्रयोजन होता है। प्रयोजनयुक्त अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही सफल वाक्य है। निष्प्रयोजन अर्थ का प्रतिपादक वाक्य निष्फल वाक्य है।

इसी का विश्लेषण आगे के भामती ग्रन्थ से किया है। लौकिक "अहं" का अनुभव परिच्छिन्न तथा अनेक प्रकार के शोक, दुःख उपद्रवयुक्त विपरीत आत्मा का ज्ञान कराता हुआ (यह "अहं" अनुभव) आत्मतत्त्व विषयक कैसे हो सकता है अर्थात् "अहं" यह अनुभव श्रुति आदि से अवगत आत्मतत्त्व से विपरीत अर्थ को विषय कर रहा है। कारण, श्रुति आदि में प्रतिपादित आत्मतत्त्व अपरिच्छिन्न एवं शोक दुःख आदि से शून्य है। प्रकृत में "उपप्लव" का अर्थ विपर्यास होता है। अपरिच्छिन्न आत्मा को "मैं इसी घर में हूँ" इत्यादि प्रतीति से

तात्पर्य-निर्णायक छठा हेतु "उपपत्ति" है। वाक्य के द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन होता है, यह अर्थ अन्य प्रमाण से बाधित तो नहीं है। अन्य प्रमाण से अबाधित अर्थ का प्रतिपादक वाक्य ही उपपत्तियुक्त वाक्य कहा जाता है। अपूर्वत्व, फल और उपपत्ति ये तीनों प्रमात्व-घटक अथवा सम्पादक होकर तात्पर्य के ज्ञापक होते हैं। इन तीनों में "अपूर्वत्व" अनुवाद वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्यवारण के लिए एवं "फल" निष्फल अर्थ में वाक्य का तात्पर्य वारण करने के लिए आवश्यक है। उपपत्ति भी प्रमाणान्तर बाधित अर्थ में वाक्य का तात्पर्य निषेध करने के लिए आवश्यक है। जैसे—"ग्रावाणः प्लवन्ते" (पत्थर जल में तैरते हैं) इस वाक्य का अर्थ प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है, अतः, इस अर्थ में यह वाक्य तात्पर्य-रहित है-यही मानना होगा।

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि उपक्रम और उपसंहार स्वतन्त्र रूप में तात्पर्य-निर्णायक हेतु नहीं है। उपनिषद्वाक्यों के तात्पर्यनिर्णय के कतिपय अंशों को उद्धृत कर अवगत कराने की चेष्टा करता हूं।

भा० द० स० पृ० १-२

छान्दोग्यपनिषद् अद्वैतब्रह्म में तात्पर्य

छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठप्रपाठक में "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" (हे सौम्य यह पूर्व में सद्रूप एक और अद्वितीय था) इससे उपक्रम कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वंतत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीति" (यह सभी आत्मरूप है वह सत्य है, वह आत्मा है, तुम वही हो) इससे उपसंहार किया है। इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता है। उसी का "तत्त्वमसि" (वह तुम हो) इसके द्वारा नव बार अभ्यास किया है। यह अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व अन्य प्रमाणों से अधिगत नहीं है, अतः, इसमें अपूर्वत्व है।

विषयी करता हुआ "अहं" अनुभव विपर्यासवान् (विपरीतार्थक) है। "अहं" यह अनुभव विपर्यासवान् होने पर "अहं" अनुभव आत्मतत्त्व विषयक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है। इस उपनिषद् गम्य अद्वितीय आत्मतत्त्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से अज्ञात है और अज्ञात अद्वितीय आत्मतत्त्व श्रुतिप्रमाण विषय अर्थात् श्रुति–प्रमेय होने से अज्ञातार्थबोधक होने से उसमें श्रुति का प्रामाण्य है इसलिए श्रुति उपचरितार्थक नहीं है।

यह जिज्ञास्य है कि इन दो प्रमाणों से (प्रत्यक्ष और श्रुति से) आत्मतत्त्व की अवगति हो रही है। दोनों प्रमाणों से अवगत आत्मतत्त्व सर्वथा विरुद्ध है। श्रुति के द्वारा अद्वितीयापरिच्छिन्न आत्मतत्त्व अवगत होता है एवं प्रत्यक्ष से शोक दुःखादि युक्त परिच्छिन्न आत्मतत्त्व अवगत होता है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध से उपनिषद् का अप्रामाण्य मानना होगा या उपनिषत्प्रामाण्य मानने पर प्रत्यक्ष का अप्रामाण्य रहेगा—इसी का विचार प्रकृत ग्रन्थ में भामतीकार ने किया है—

अहं सुखी [मैं सुखी हूँ] इत्यादि जो "अहं" अनुभव है वह तो पूर्व प्रदर्शित रीति से प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा पूर्ववर्ती होने के कारण ज्येष्ठ [बड़ा] है, अतः ज्येष्ठ प्रमाण का विरोध होने से उपक्रम आदि तात्पर्य-निर्णायक साधनों से अद्वितीय आत्मतत्त्व में निश्चित तात्पर्य वाले प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखनेवाली श्रुति [वेद] का ही अप्रामाण्य और उपचारितार्थत्व उचित है। कारण, श्रुति का प्रामाण्य या बोधित अर्थ परक मानने पर प्रत्यक्ष गम्य अर्थ का ही अप्रामाण्य या विपरीतार्थकता स्वीकार करनी पड़ेगी। किन्तु यह अनुचित है।

इसी आशय को व्यक्त करते हुए भामतीकार ने कहा है कि—"प्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव"। अब यह विचारणीय है कि प्रत्यक्ष बलवान् है या आगम [शब्द प्रमाण] प्रमाण बलवान् है। इतना सत्य है कि प्रत्यक्ष प्रमाण पूर्व में

उत्पन्न होता है, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण अन्य प्रमाणों की अपेक्षा ज्येष्ठ है, श्रेष्ठ प्रमाण होने से अन्य प्रमाणों का यह उपजीव्य भी है किन्तु श्रुति का दौर्बल्य कैसे सिद्ध होगा? कारण, मीमांसा में यह निर्णय किया गया है कि पूर्व और पर की स्थिति में पूर्व ही पर की अपेक्षा दुर्बल होता है [पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यम्] अतः, पूर्व में उत्पन्न प्रत्यक्ष के ही दुर्बल होने से आगम प्रमाण ही बलवान् है। फलतः आगम का विरोध होने से प्रत्यक्ष के द्वारा उसी अर्थ का बोध होगा जो आगम के द्वारा अधिगत अर्थ है, अतः, अज्ञात अर्थ का बोधक न होने से प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य ही रहेगा[1]।

यदि यह कहा जाय कि आगम-प्रमाण में प्रत्यक्ष प्रमाण की अपेक्षा है, अतः, सापेक्षत्व रूप अप्रामाण्य आगम में होने से सापेक्षत्व रूप अप्रामाण्य आगम में ही वर्तमान है।

आशय यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा बलवत्तम है, कारण, प्रत्यक्ष प्रमाण सभी प्रमाणों की अपेक्षा पूर्व में उत्पन्न होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वेद की अपेक्षा प्रत्यक्ष बलवत्तर प्रमाण नहीं है।

प्रत्यक्ष के वेदभिन्न प्रमाणों की अपेक्षा बलवत्तम होने का कारण निम्नलिखित है—

अनुमान प्रमाण में व्याप्तिज्ञान आवश्यक है और इस व्याप्तिज्ञान के लिए हेतु और साध्य आदि का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान पूर्व में आवश्यक है, अतः, अनुमान के मूल में प्रत्यक्ष न रहने पर अनुमान सम्भव ही नहीं है। यथा—पर्वत, वह्निमान् है, धूम होने से। इस अनुमान में हेतु धूम है, साधन वह्नि है और पर्वत पक्ष है। इस स्थल में हेतु धूम और साध्य वह्नि का साहचर्य नियम या अविनाभावरूप जो सम्बन्ध है—वही व्याप्ति है। इस व्याप्तिज्ञान के न रहने पर

१ ज्येष्ठप्रमाणप्रत्यक्षविरोधादाम्नायस्यैव तदपेक्षस्याप्रामाण्यमुपचारितार्थत्वं चेति !

भा० पृ० ६०

अनुमान नहीं हो सकता है। किन्तु व्याप्तिज्ञान के लिए पूर्व में धूम और वह्नि का साहचर्यदर्शनरूप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान आवश्यक होता है। किसी-किसी स्थल में यह व्याप्तिज्ञान शब्द आदि प्रमाणों से भी हो सकता है, किन्तु इन स्थलों में भी उसके मूल में प्रत्यक्षज्ञान का रहना आवश्यक होता है। इसलिए अनुमान प्रत्यक्षापेक्ष होने से ज्येष्ठ प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान की अपेक्षा बलवान् है इसमें सन्देह नहीं है।

शब्द प्रमाण के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। शब्द के द्वारा अर्थज्ञान करने के लिए शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध बोध रूप शक्तिज्ञान आवश्यक होता है। यह शक्तिज्ञान साक्षात् या परम्परा क्रम में प्रत्यक्षमूलक होता है—यह सभी लोगों ने स्वीकार किया है। कारण, पद की शक्ति के ज्ञान के लिए व्याकरण, उपमान, कोप, आप्तवाक्य, व्यवहार ओर सिद्धपद का सान्निध्य इन छ कारणों में किसी एक की आवश्यकता होती है। किन्तु इन छ कारणों में व्यवहार ही सर्वप्रधान एवं सभी का मूल है। क्योंकि बालकों को व्यवहार दर्शन के विना अन्य उपायों से शक्तिज्ञान नहीं होता है। इस तरह साक्षात् या परम्परा क्रम में प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दप्रमाण में नितान्त आवश्यक रहता है। पूर्वोक्त विश्लेपण से यह सिद्ध है कि किसी भी अर्थ को शब्द से अवगत करने से पूर्व प्रत्यक्षात्मक ज्ञान की एकान्त आवश्यकता रहती है। इसलिए यह मानना होगा कि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सभी प्रमाणों की अपेक्षा ज्येष्ठ [पूर्वभागी] प्रमाण है।

इस प्रकार यह सिद्ध था कि प्रत्यक्ष मात्र पूर्ववर्ती होने से ही आगम की अपेक्षा बलवान् नहीं है वरन आगम प्रत्यक्ष सापेक्ष होने से प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है और इसीलिए आगम का अप्रामाण्य है।

प्रकृत में विचारणीय यह है कि आगम किस अंश में प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है :—

१ क्या आगम से अन्य ज्ञान के प्रामाण्य के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है ?

२ या अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है ?

प्रथम कल्प में भी यह विचारणीय है कि अपने अप्रामाण्य शंका के निरास करने के लिए आगम प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है ? या अपने विषय के संवाद के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है ?

इसी आशंकाओं को दूर करने के लिए आगे का भामतीग्रन्थ है। प्रथम कल्प का पूर्व में निरसन कर रहे हैं अर्थात आगम जन्य ज्ञान के अप्रामाण्यशंका को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं है। कारण, आगम अपौरुषेय हैं, अत:, अपौरुषेय होने से नित्य निर्दोष है इसलिए अप्रामाण्यशंका का प्रसंग ही नहीं है, अतः, अप्रामाण्यप्रयोजक शंका को दूर करने के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा आगम को नहीं है। फलतः नित्य निर्दोष होने से ही प्रामाण्य होने से प्रथम कल्प के प्रथम पक्ष की प्रसक्ति ही नहीं है। इसी विषय को भामतीकार ने कहा है कि आगम [वेद] अपौरुषेय होने से सभी दोषों की आशंका से रहित है।

प्रथम कल्प के द्वितीय पक्ष अर्थात् आगम प्रामाण्य अपने विषय संवाद के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा करता है—यह पक्ष भी ठीक नहीं है। आगमप्रामाण्य अज्ञात अर्थ का बोधक है, अतः, आगम में स्वतः सिद्ध प्रामाण्य है, इसलिए अपने विषय में अपने प्रामाण्य संवाद की अपेक्षा नहीं है। फलतः प्रथम कल्प का द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। इसीविषय की अभिव्यक्ति भामतीकार ने की है कि बोधकतया = अज्ञात अर्थ का बोधक होने से, स्वतः सिद्धप्रमाणभावत्पात् प्रामाण्य होने से स्वकार्य प्रमितौ = अपने कार्य प्रामाण्य में। प्रमिति यह भाव प्रधान निर्देश होने से प्रमितित्व अर्थ का बोधक है।

इस आद्यकल्प का निरसन हो जाने से प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा न होने पर भी अर्थात् प्रमितित्व में प्रत्यक्ष की अपेक्षा न होने पर भी द्वितीय कल्प के अनुसार अर्थात् आगम से प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिए प्रत्यक्ष की अपेक्षा है, अतः, प्रत्यक्ष का विरोध होने से आगम प्रामाण्य का व्याघात होने से [बाध होने से] आगम में याथार्थ्यरूप प्रमा का उत्पाद न होने से अनुत्पत्ति स्वरूप अप्रामाण्य का आगम में निवारण नहीं किया जा सकता है। किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, उत्पादक अंश में दोनों प्रमाणों में किसी प्रकार का विरोध ही नहीं है जिससे प्रत्यक्ष के विरोध से आगम प्रामाण्य की उत्पत्ति न हो। इस विषय का प्रतिपादन भामतीकार ने "उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्" इस पद से किया है। प्रत्यक्ष प्रमा के उत्पादक का आगम विरोधी नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि आगम के साथ प्रत्यक्ष का विरोध है। यहाँ दो प्रकार का विरोध हो सकता है। १ आगम प्रामाण्य का प्रत्यक्ष के व्यावहारिक प्रामाण्य के साथ विरोध है ? या २ प्रत्यक्षगत [प्रत्यक्ष में रहनेवाले] तत्त्वबोधकप्रामाण्य के साथ आगमप्रामाण्य का विरोध है ? इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। कारण, आगमज्ञान प्रत्यक्ष के व्यावहारिक—प्रामाण्य का विघातक नहीं है। अर्थात् आगम से उत्पन्न प्रमारूपज्ञान का प्रत्यक्ष विघातक नहीं होता है अर्थात् प्रमारूप ज्ञान की उत्पत्ति के प्रयोजक आगमगत प्रामाण्य का विघातक नहीं होता है। अतः, अप्रतिहत प्रामाण्य होने से आगमप्रामाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है। प्रत्यक्षगत व्यावहारिक प्रमाण्य के साथ आगम के तात्त्विकप्रामाण्य का कोई विरोध नहीं है, अतः, विरोधरूप कारण का अभाव होने से अप्रतिहत रूपकारणभाव से आगम प्रमाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नही है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने कहा है कि "आगमज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के प्रामाण्य का विघात नहीं करता है जिससे प्रतिहतप्रामाण्यरूप कारण के सद्भाव से आगम प्रामाण्य की उत्पत्ति न हो। फलतः विघातक के अभाव में आगमप्रामाण्य की उत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि प्रत्यक्षगत सांव्यवहारिक प्रामाण्य आगम प्रामाण्य का विघातक नहीं है तो आगमप्रामाण्य का कौन विघातक है ! आगम में तात्त्विक प्रामाण्य है, अतः, तात्त्विक प्रामाण्य ही आगमप्रामाण्य का विघातक हो सकता है। अस्तु प्रदर्शित द्वितीय पक्ष ही ठीक है। प्रत्यक्षगत तात्त्विक प्रमाण्य ही आगमगतप्रमाण्य का विघातक है। प्रत्यक्ष में तात्त्विप्रामाण्य नहीं है। अर्थात् प्रत्यक्ष में व्यावहारिक प्रामाण्य होने से तात्त्विक प्रमाण्य नहीं है, आगम ही तत्त्वावेदकप्रमाण है, वेद ही तत्त्व का आवेदक है अतः वेद में ही तत्त्वावेदक प्रामाण्य है। अतः प्रत्यक्ष में तात्त्विकप्रामाण्य न होने से आगमगततात्त्विकप्रामाण्य का विघातक यह नहीं होता है[1]।

यदि यह कहा जाय कि जो तत्त्वज्ञान का जनक होता है वही तत्त्वावेदक प्रमाण होता है। प्रत्यक्ष भी तत्त्वज्ञान का जनक है इसलिए प्रत्यक्ष भी तत्त्वावेदक प्रमाण है, तत्त्वावेदक प्रमाण ही तत्त्वज्ञान का उत्पादक नहीं होता है। यदि यह नियम रहता तो प्रत्यक्ष को भी तत्त्व का उत्पादक प्रमाण कहा जाता। कारण, लौकिक प्रमाणों से भी [प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, रूप सांव्यवहारिक प्रमाणों से भी] अभ्रान्तज्ञान की उत्पत्ति होती है। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान से जायमान ज्ञान भ्रान्तिरूप नहीं होता है वरन् प्रत्यक्ष आदि प्रमाणाभास से उत्पन्न ज्ञान ही भ्रमात्मक ज्ञान होता है। यह सभी को विदित है कि लौकिकशब्दों से अन्य ज्ञान भी अभ्रान्तज्ञान रहता है। कारण, वर्ण में [लिपि में] ह्रस्वत्व और दीर्घत्व आदि अपना धर्म नहीं है, उच्चारण के आधार पर ही ह्रस्वत्व, दीर्घत्व आदि का विभाजन किया गया है। काल के कारण उच्चारण में भेद होता है और इसीका वर्ण में आरोप कर समझा जाता है, जैसे "नाग" शब्द से हाथी अर्थ को एवं

१ तस्यापौरुषेयतया निरस्तसमस्तदोषाशङ्कस्य, बोधकतया स्वतः सिद्धप्रमाणभावस्य स्वकार्ये प्रमितावनपेक्षत्वात्, प्रमितावनपेक्षत्वेऽप्युत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात्तद्विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेत्, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्।

भा० पृ० ६९-७०

"नग" शब्द से वृक्ष अर्थ को जाननेवाला व्यक्ति भ्रान्त नहीं होता है। अतः, यह मानना पड़ेगा कि तत्त्वावेदक प्रमाण ही तत्त्वज्ञान का जनक नहीं होता है। इसलिए यही मानना होगा कि भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में जिसका बाध नहीं होता है ऐसे तत्त्व का बोधक प्रमाण ही तत्त्वावेदक प्रमाण है और इसका आवेदक प्रमाण श्रुति आदि स्वरूप ही है, इस श्रुतिप्रमाण का प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से बाध नहीं होता है। फलतः, प्रत्यक्ष तत्त्वावेदक प्रमाण न होने से भी इसमें तात्त्विकप्रमाण्य नहीं है और तात्त्विकप्रमाण्य ही श्रुति प्रमाण्य का विघातक हो सकता है, इसलिए प्रत्यक्ष आम्नायप्रामाण्य का विघातक नहीं हो सकता है, अतः, द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है[1]।

स्वतः सिद्ध प्रमाण शब्द का अर्थ

हमलोगों को जो ज्ञान होता है वह यथार्थ है कि नहीं इसको समझने का क्या उपाय है? नैयायिकों का कथन है कि इसके लिए अनुमान की आवश्यकता है। हमलोगों को जब ज्ञान होता है, उसी समय उसको यथार्थ या अयथार्थ नहीं समझ पाते हैं, वरन, बाद में यह देखते हैं कि जिन कारणों से इसकी उत्पत्ति है वे कारण निर्दोष हैं कि नहीं। यदि वे कारण निर्दुष्ट रहते हैं तब हमलोग अनुमान करते हैं कि—ज्ञान यथार्थ है, निर्दुष्ट कारणों से उत्पन्न होने से और यदि

१ (क० मा० पृ० ७०-७१) श्रुति के साथ इस बलवत्तर-प्रत्यक्ष-प्रमाण का विरोध होने से श्रुति का ही दौर्बल्य स्वीकार करना उचित है साथ ही श्रुति का दौर्बल्य होने से आत्मतत्त्वबोधक श्रुतिवाक्यों का लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ की कल्पना ही उचित है। इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि वेद ही प्रत्यक्ष-प्रमाण की अपेक्षा बलवान् है। कारण, श्रुति अपौरुषेय है अर्थात् पुरुष बुद्धि से उत्पन्न प्रमाण विशेष नहीं है-यह स्वतः सिद्ध प्रमाण एवं निर्दुष्ट है। प्रत्यक्षादि प्रमाण पौरुषेय है, इसलिए भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा एवं अनवधानता प्रभृति दोषों से दुष्ट है। निर्दोष प्रमाण के साथ दोषयुक्त प्रमाण का विरोध होने पर निर्दोष प्रमाण का ही प्राधान्य होगा--इसमें सन्देह नहीं है।

ज्ञान कारणों में दोषदर्शन होता है तब हमलोग अनुमान करते हैं कि ज्ञान अयथार्थ या भ्रम है, दुष्ट कारणों से उत्पन्न होने से। इस प्रकार परतः प्रामाण्यवाद की स्थापना की है।

किन्तु वेदान्ती एवं मीमांसकों का कथन है कि ज्ञान का स्वभाव है कि जो ज्ञान हमलोगों को उत्पन्न होता है उसको हमलोग प्रमा ही समझते हैं-- यही ज्ञान का स्वभाव है। उत्पन्न ज्ञान का प्रमात्व बोध करने के लिए यदि दूसरे ज्ञान की अपेक्षा हो तो वह अपेक्षणीय ज्ञान प्रमा है कि नहीं---यह जानने के लिए एक दूसरे ज्ञान की अपेक्षा करनी होगी, इसी प्रकार इस ज्ञान के प्रमा और अप्रमा को समझने के लिए दूसरे ज्ञान की अपेक्षा होगी। फलतः, इस रूप में अनवस्था दोष उपस्थित होगा और इसका परिणाम होगा कि किसी भी ज्ञान का प्रामाण्य स्थिर नहीं होगा। इसलिए परतः प्रामाण्यवाद ठीक नहीं अर्थात् ज्ञानमात्र स्वतः प्रमाण है। इस प्रकार ज्ञानमात्र की प्रथमतः प्रमारूप में प्रतीति होने पर भी यदि बाद में अनुसन्धान करने पर ज्ञान कारण में दोष का दर्शन होगा तब हमलोग मन में अवगत कर लेते है कि हमलोगों ने जिस ज्ञान को प्रमा समझा था वह ज्ञान प्रमा नहीं है। इस तरह ज्ञान का अप्रामाण्य ही बाद में अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है, किन्तु प्रामाण्य ज्ञान के उदय होने के साथ ही सिद्ध हो जाता है। इसी को वेदान्त सम्मत--स्वतः प्रामाण्यवाद कहते हैं।

अब यह विचारणीय है कि सभी प्रमाण स्वतः सिद्ध प्रमाण होने पर वेद का विशेषरूप में आदर क्यों होता है---

प्रत्यक्ष प्रमाण स्वतः सिद्ध प्रमाण होने पर भी उसके कारण इन्द्रिय आदि में दोष देखने पर उसके प्रामाण्य का बाध या अपवाद होने की आशंका बनी रहती है। इसी प्रकार लौकिक शब्द-प्रमाण स्वतः सिद्ध प्रमाण होने पर भी उसके कारण शब्द-प्रयोग-कर्त्ता में भ्रम, प्रमाद आदि दोषों को देखने पर उसके प्रामाण्य

के बाध या अपवाद होने की शंका सम्भावित रहती है, किन्तु अपौरुषेय वेदरूप शब्द–प्रमाण में उक्त दोषों की आशंका न होने से उसके प्रामाण्य का बाध या अपवाद होने की सम्भावना नहीं है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि वेद ही सभी प्रमाणों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रमाण है। फलतः, प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने पर श्रुतिवाक्यों की लक्षणावृत्ति के द्वारा अन्यार्थ-कल्पन समीचीन नहीं है।

पूर्वोक्त विश्लेषण से श्रुति के अप्रामाण्य का निरसन होने पर भी श्रुति का अर्थ उपचरित (गौण) क्यों नहीं होता है? "तत्पराणि शक्यानि शक्रेणाप्युपचरितार्थानि कर्त्तुम्" इस भामती के विश्लेषण से पूर्व में ही सिद्ध हो गया है कि तत्परक वाक्य उपचारितार्थक नहीं होता है अर्थात् उस अर्थ में जिस वाक्य का निश्चिततात्पर्य रहता है वह उपचरितार्थक नहीं हो सकता है। इस तरह यह पूर्व में सिद्ध है कि तत्परक शब्द अनुपचरित अर्थ को कहते हैं तब पुनः भामतीकार ने तत्परक वाक्य अनुपचरितार्थक हैं यह पुनरुक्ति क्यों की है? विषय के भेद से पुनरुक्ति नहीं है। कारण, पूर्व में अध्यास के प्रयोजक भेदाग्रह की सिद्धि के लिए "अनुपचरितार्थत्व" कहा गया था और प्रकृत में उपजीव्य–प्रत्यक्ष–प्रमाण के विरोध के परिहार करने के लिए कहा गया है। अतः, दोनों स्थलों में पुनरुक्ति दोष नहीं है। जिस अर्थ को कहनेवाला शब्द होता है वही उस शब्द का मुख्य रूप से प्रतिपाद्यमान अर्थ होता है, वह उपचरित अर्थ नहीं होता है। इस विषय का भामतीकार ने शबरस्वामी की उक्ति से भी समर्थन किया है–विधायक वाक्य में लक्षणा या गौणी वृत्ति के द्वारा प्रतीयमान अर्थ शब्दार्थ नहीं होता है, किन्तु, जो तात्पर्य–विषयभूत अर्थ होता है, वही शब्दार्थ होता है। प्रकृत में वेदान्त श्रुतियों का भी अपरिच्छिन्न अद्वितीय सत्, चित्, आनन्द ब्रह्म में उपक्रम आदि छ लिङ्गों से तात्पर्य रहने से पूर्वोक्त ब्रह्म ही वेदान्त श्रुति का अर्थ है। अहं अनुभव का तो पूर्वोक्त अर्थ विषय नहीं होता है जिससे पूर्वोक्त रीति से "अहं" इस अनुभव गोचर का देह आदि से भेदग्रह होने से अध्यास नहीं है–यह कहा जाय।

यह जो कहा गया है प्रत्यक्ष प्रमाण, ज्येष्ठ है, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण आम्नाय का बाधक है। अब यह प्रश्न है कि क्या ज्येष्ठत्व उपजीव्यत्व है या ज्येष्ठत्व मात्र मुख्यत्व है? इन दो पक्षों में प्रत्यक्ष का उपजीव्यत्वरूप ज्येष्ठत्व तो प्रत्यक्ष का पूर्वोक्त रूप से निराकृत हो गया है। द्वितीय कल्प के अनुसार ज्येष्ठत्व पूर्वोत्पन्नत्व रूप मुख्यत्व है तब आगम में अनपेक्षित पूर्वोत्पन्नत्व मात्र ज्येष्ठत्व प्रत्यक्ष में मानने पर पूर्वोत्पन्नत्व बाध्य होने का कारण होता है, कारण, भ्रमज्ञान स्थल में मात्र पूर्वोत्पन्नत्व रूप ज्येष्ठता शुक्ति स्थल में भ्रमात्मक रजतज्ञान में होने पर भी बाद में उत्पन्न होनेवाले कनिष्ठ शुक्तिज्ञान से रजतज्ञान का बाध हो जाता है। भ्रमज्ञान का बाधक होने से ही यह शुक्ति है यह ज्ञान उत्पन्न होता है, अतः, शुक्ति में यह रजत है इस ज्ञान का बाध न मानने पर अनन्तर उत्पन्न ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती है। अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण ज्येष्ठ होने पर भी अनन्तर उत्पन्न अपेक्षित आम्नाय के द्वारा बाधित ही होगा। पूर्व उत्पन्न ज्ञान बाद में उत्पन्न होने वाले ज्ञान से बाधित हो जाता है, इस विषय में जैमिनि के वचन को प्रमाण के रूप में प्रदर्शित किया है—पूर्वापरभाव विद्यमान रहने पर पूर्व ही दुर्बल होता है प्रकृति के समान। इस न्याय का यह आशय है—

मीमांसा के छठे अध्याय में कहा गया है अग्निष्टोम में परस्पर सम्बद्ध होकर (एक दूसरे पर हाथ रखकर) यज्ञशाला से जाते हुए ऋत्विजों के अलग होने पर प्रायश्चित् कहा गया है—यदि उद्गाता छोड़ दे तो बिना दक्षिणा लिये ही यज्ञ का सम्पादन करे, और प्रतिहर्ता अलग हो जाय तो सर्वस्व दक्षिणा के रूप में देकर यज्ञ करे। उद्गाता और प्रतिहर्त्ता इन दोनों का क्रमपूर्वक विच्छेद होने पर बिना दक्षिणा के याग और सर्वस्व दक्षिणापूर्वक याग इन परस्पर विरुद्ध प्रायश्चित की प्राप्ति होने से दोनों का एक साथ अनुष्ठान सम्भव नहीं है, अतः, क्रमिक दोनों का अनुष्ठान प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में पूर्व में अदक्षिण यागानुष्ठानरूप प्रायश्चित किया जायगा या सर्वस्वदक्षिणयागानुष्ठानरूप प्रायश्चित का सम्पादन

किया जायगा इस प्रकार संशय होने पर प्रतिहर्ता के बाद में अलग होने पर भी उद्गाता पूर्व में ही अलग होता है, अतः, उद्गाता के विच्छेद काल में प्रतिहर्ता का विच्छेद न होने से किसी प्रकार के विरोध का प्रसंग न होने से पूर्वप्राप्त बिना दक्षिणा के याग का ही अनुष्ठान पूर्व में होना चाहिए—यह पूर्वपक्ष प्राप्त होने पर सिद्धान्त किया गया है—प्रायश्चित्त के निमित्तभूत दोनों विच्छेदों का पूर्वापरभाव होने पर पूर्वप्राप्त अदक्षिण याग दुर्बल होता है बाद में प्राप्त निरपेक्ष सर्वस्व दक्षिण याग पूर्व में प्राप्त अदक्षिण याग का बाधन कर ही उदय होने से पूर्व अदक्षिण याग की प्राप्ति के काल में सर्वस्व दक्षिण याग की प्राप्ति न होने से पूर्व में उसका बाध सम्भव नहीं है, अतः, उत्तरवर्ती से पूर्व का बाध हो जाने से सर्वस्व दक्षिणावाले याग का अनुष्ठान ही विहित होता है। इसी विषय को कहा गया है—पहले बादवाले की प्राप्ति न होने से बिना बाधन किए ही पूर्व की प्रसक्ति होती है, बादवाले की अन्यथा उत्पत्ति न होने से पूर्व का बाधन कर ही सम्भव होता है अर्थात् बिना पूर्व का बाधन किये उत्तर की सम्भावना ही नहीं है।

पूर्वं परमजातत्वादबाधित्वैव जायते ।
परस्यानन्यथोत्पादान्न त्वबाधेन सम्भवः ॥

प्रकृति याग में कुशमय बर्हि के आस्तरण (फैलाना) का उपदेश किया गया है, अतः, कुशमय बर्हि का आस्तरण (फैलाना) प्राप्त होता है। विकृति याग में भी प्रकृति के समान विकृति का भी अनुष्ठान करना चाहिये इस अतिदेश से कुशमय बर्हि का ही फैलाना प्रसक्त होता है। किन्तु, विकृति याग में पृथक् सुना गया है कि—शरमय बर्हि का आस्तरण करता है। अब यह सन्देह होता है कि विकृति याग में कुशमय बर्हि का आस्तरण करना चाहिए अथवा शरमय बर्हि का आस्तरण करना चाहिए। प्रकृतिवत् विकृतिः कर्तव्या (प्रकृति के समान विकृति याग करना चाहिए) इस अतिदेश के प्राप्त होने से कुशमय बर्हि का ही आस्तरण विकृति में भी करना चाहिए—यह पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त किया गया

है कि कुश का उपकार प्रकृति याग में निश्चित है और शर के उपकार की कल्पना करनी पड़ेगी। दूसरी बात यह है कि कुशों का आस्तरण प्रकृति याग में होने से-यह कुश का आस्तरण सावकाश है शरों का आस्तरण अन्यत्र किसी भी स्थल में सावकाश नहीं है, अतः, सावकाश और निरवकाश में निरवकाश ही बलवान् होता है (सावकाशनिरवकाशयोर्निरवकाशं बलीयः) इस न्याय से विकृति याग में निरवकाश शर का आस्तरण अन्त में प्राप्त होने पर भी पूर्ववर्ती प्रकृति याग में सावकाश कुश के आस्तरण का बाध हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि परस्पर निरपेक्ष पूर्ववर्ती और परवर्ती में पर बलवान् होता है एवं पूर्व का बाध हो जाता है। इसी विषय की पुष्टि करते हुए भामतीकार ने अन्य प्राचीनाचार्यों की उक्तियों का भी उद्धरण दिया है—

परस्पर निरपेक्ष ज्ञानों की उत्पत्ति होने पर पूर्ववर्ती प्रमाण की अपेक्षा परवर्ती ज्ञान बलवान् होता है।

"पूर्वात्परबलीयस्त्वं तत्र नाम प्रतीयताम्।
अन्योऽन्यनिरपेक्षाणां यत्र जन्म धियां भवेत् ॥"

इस पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि श्रुत्यादि से गम्य अहं प्रत्यय विषय अद्वितीय आत्मतत्त्व का देह इन्द्रिय आदि से भेदग्रह मानने पर भी उक्त आत्मतत्त्व का देह आदि से भेदग्रह होने से अध्यास सम्भव होता है।

आगे की पंक्तियों से भामतीकार ने यह कहा है कि "अहं" के द्वारा तात्त्विक आत्मा का ज्ञान भी नहीं होता है। क्योंकि "अहमिहैवास्मि सदने जानानः" (ज्ञान करता हुआ मैं इसी घर में हूँ) इस व्यावहारिक प्रयोग के द्वारा सर्वत्र व्याप्त आत्मा की प्रादेशिकत्व (अल्प परिमाणवान्) के रूप में प्रतीति हो रही है। जैसे उच्चतर पर्वत के शिखर पर स्थित विशाल वृक्ष भूमि पर रहनेवाले को दूर्वा के समान प्रतीत होते हैं। "अहमिहैव" इत्यादि के ज्ञान से शरीर का ही

प्रादेशिकत्व अनुभूत होता है आत्मा का प्रादेशिकत्व अनुभूत नहीं होता है। अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञान देह-प्रादेशिकत्वविषयक है आत्मप्रादेशिकत्वविषयक नहीं है। किन्तु, यह कथन समीचीन नहीं है। कारण, अहं ज्ञान शरीरादि भिन्न आत्मज्ञान है, अहं से देहादिभिन्न आत्मविषयक ज्ञान होने से पूर्वोक्त ज्ञान देह के प्रादेशिकत्व को विषय नहीं कर रहा है। देह के प्रादेशिकत्वविषयक प्रतीति में "अहं" इस रूप में प्रतीति नहीं हो सकती है। अहं प्रत्यय देहादि से भिन्न आत्मा को विषय करता है, अतः, अहं प्रत्यय प्रादेशिक शरीर को विषय नहीं कर रहा है। "अहमिहैव" इसमें अहं शब्द का देह में गौण प्रयोग है। देह अहं शब्द का गौण अर्थ मानकर पूर्वोक्त प्रयोग में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इस प्रकार गौण प्रयोग मानकर उपपत्ति प्रदर्शन का खण्डन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि देह के प्रादेशिकत्व की उपपत्ति होने पर भी "जानानः" इस प्रयोग की उपपत्ति नहीं हो सकती है। क्योंकि, अहं शब्द अपने शक्य अर्थ आत्मा को छोड़कर आत्मभाव का जिसमें उपचार है उस देह अर्थ का बोधक है। अतः, उपचरित आत्मरूप देह में ज्ञातृत्व नहीं रह सकता है। देह ज्ञाता नहीं हो सकता है, अतः, "जानानः" यह प्रयोग अहं का देह में गौण प्रयोग मानने पर उपपन्न नहीं हो सकता है। कारण, जानानः यह प्रयोग "लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे" (३।२।१२४) इस पाणिनि सूत्र के द्वारा ज्ञा धातु से लट् के स्थान में शानच् (आन) प्रत्यय कर सिद्ध होता है। यद्यपि लट् के स्थान में आदेश हुए विना प्रयोग नहीं होता है, अतः, किसी भी सुबन्त के साथ समानाधिकरण्य (अभेदान्वय) सम्भव नहीं है, तथापि शतृ और शानच् प्रत्यय से युक्त प्रयोगों के साथ समानाधिकरण्य होता है, इसलिए, शतृ और शानच् में भी समानाधिकरण्य की कल्पना की जाती है।

प्रकृत में "जानानः" का ज्ञान के अनुकूल व्यापार का आश्रय यह अर्थ होता है कारण, प्रातिपदिक में द्रव्य की प्रधानता होती है अतः, ज्ञान के अनुकूल व्या-

पार का आश्रय अहं यह अर्थ होने से "अहं" का शरीर में गौण प्रयोग मानने पर शरीर को ज्ञान का आश्रय मानना पड़ेगा, अन्यथा जानानः यह प्रयोग ही उपपन्न नहीं हो सकता है और शरीर ज्ञान का आश्रय नहीं है इसीलिए भामतीकार ने कहा है—

"गौणत्वे वा न जानानः"

पूर्वोक्त अनुपपत्ति का परिहार करने के लिए यदि यह कहा जाय कि "अहं" के समान ही "जानानः" यह भी देह में गौण है। अर्थात् "जानानः" इसका गौण प्रयोग होने के कारण देह में ज्ञातृत्व का गौण प्रयोग है। प्रकृत वाक्य के द्वारा वक्ता अपने ज्ञान का ही प्रकाशन इस वाक्य से कर रहा है, अतः अज्ञाता शरीर में जानानः यह गौण प्रयोग नहीं कर सकता है। "अहं" ज्ञान का विषय आत्मा ही है, उस आत्मा में देह के प्रादेशिकत्व का उपचार "इहैव" इस शब्द से होता है ऐसा मानने पर देह के प्रादेशिकत्व का बोधक "इहैव" शब्द का आत्मा में और "अहं" शब्द का देह में गौण प्रयोग है-यह मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अर्थात् "इहैव" शब्द का आत्मा में और "अहं" शब्द का देह में गौण प्रयोग मानने पर देह और आत्मा में भेदग्रह आवश्यक है। इसी विषय को अभिव्यक्त करते हुए भामतीकार ने कहा है—दूसरे अर्थ का बोधक शब्द का अपने अर्थ से भिन्न अर्थ में प्रयोग मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो धर्म उस धर्म के सम्बन्ध के कारण होता है। अतः, जहाँ प्रयोक्ता और ज्ञाता को इस प्रकार का अर्थ बोध होता है— वह गौण प्रयोग होता है। गौणत्व दो प्रकार का होता है—(१) साम्प्रतिक और (२) निरूढ़। सिंहो माणवकः (माणवक सिंह है) इस प्रयोग में बालक में सिंह शब्द का प्रयोग साम्प्रतिक गौण प्रयोग है। सिंह में रहनेवाली जो शूरता तथा क्रूरता है वह बालक में उपलब्ध होती है, अतः, इस गुण के सम्बन्ध के कारण बालक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग होता है। यही साम्प्रतिक गौणप्रयोग है। दूसरा गौणप्रयोग सरसों के रस में तैल

शब्द का प्रयोग है। तिल से उत्पन्न को तैल कहते हैं, किन्तु, स्नेह के (रसके) कारण तैल शब्द का सरसों के तैल में गौण प्रयोग है। यह निरूढ़ गौण प्रयोग है।

प्रकृत में यह विचारणीय है कि देह में अहं शब्द का गौणत्व सिंह का माणवक में गौण शब्द के प्रयोग के समान साम्प्रतिक गौणत्व है या सरसों के रस में तैल शब्द के प्रयोग के समान निरूढ़ गौणत्व है? इनमें साम्प्रतिक गौणत्व का खण्डन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि "परशब्द" अन्य अर्थ का बोधक शब्द अन्यत्र मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो धर्म उस धर्म का सम्बन्ध होने के कारण प्रयुक्त रहता है, जहाँ इस प्रकार शब्द प्रयोगकर्ता और अर्थ का ज्ञाता रहता है वहाँ गौण होता है। जैसे माणवक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग "सिंहो माणवकः" इस वाक्य में होता है। इस वाक्य में सिंह शब्द के मुख्य अर्थ में दृश्यमान जो शूरता एवं क्रूरता उन धर्मों को माणवक में देखकर यह गौण प्रयोग होता है, किन्तु यहाँ सिंह के शक्य अर्थ सिंह और लक्ष्य अर्थ माणवक का भेदज्ञान रहने से ही हो रहा है।

वाक्यार्थ निर्णय में मीमांसकों का प्रामाण्य सभी लोगों के द्वारा स्वीकृत है, अतः, अपने पूर्वोक्त कथन का समर्थन करते हुए भामतीकार ने मीमांसक सिद्धान्तों का प्रदर्शन किया है "तद्यथा" प्रमाण लक्षण में कहा गया है—"अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः" यह तैत्तिरीय संहिता वाक्य है। इस वाक्य में सन्देह होता है कि अग्निहोत्र शब्द से अग्निदेवता रूप गुणविशेष का विधान है या यह कर्म का ज्ञान है? इस संशय में पूर्वपक्षी का कथन है कि अग्निहोत्र शब्द में बहुव्रीहि समास होने से "अग्नये होत्रं = हविः अस्मिन्" (अग्नि के लिए होत्र अर्थात् हविः है इसमें) इसके अन्तर्गत अग्नि शब्द में जो चतुर्थी विभक्ति से अग्नि का होम में देवतात्व की प्रतीति होने से होमरूप कर्म अग्निदेवता के लिए है यह पूर्वोक्त वचन अग्निदेवतारूपगुणविधि है। पूर्वपक्षी का आशय है कि "अग्निहोत्र" पद द्वारा कर्म का नाम नहीं कहा जा सकता है। कारण, इसको कर्म का नाम

मानने पर याग का स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि द्रव्य और देवता ये ही दो याग के रूप होते हैं। इनमें इस स्थल में "अग्निहोत्र" इस शब्द के द्वारा गुण का विधान पूर्वोक्त विग्रह वाक्य में स्थित अग्नि शब्द के द्वारा आई हुई चतुर्थी विभक्ति के आधार पर हो सकता है और अग्निदेवतास्वरूप गुण का विधान होने से कर्म का स्वरूप सिद्ध होता है। इसको कर्म का नाम मानने पर द्रव्य एवं देवता इन दोनों में एक की भी स्थिति न रहने के कारण कर्म का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होगा। अतः "अग्निहोत्रं जुहोति" यह अग्निदेवतारूप-गुणविधि है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि "यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति" इस शास्त्र से अग्निदेवतारूपगुण का विधान होता है, अतः "अग्नि-होत्रं जुहोति" इस वाक्य के द्वारा विधान किये जाने वाले गुण का प्रदर्शित वाक्य से प्राप्ति होने से यह गुणविधि नहीं है, कर्म का ही नाम है। जिसमें अग्निदेवता के उद्देश्य से होम होता है, वह अग्निहोत्र है यह यौगिक अर्थ स्वीकार कर अग्निहोत्र शब्द को कर्म का नाम मानने पर कोई अप्रसिद्ध कल्पना नहीं होती है। देवतारूप गुण का अन्य शास्त्र से विधान हो जाने से कर्म का नाम मानने पर याग के स्वरूप की सिद्धि में कोई अनुपपत्ति नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त समास के अन्तर्गत प्रदर्शित चतुर्थी विभक्ति के बल से अग्नि देवता रूप गुण की विधि कही गई है—यह अनुपपत्ति वर्तमान है। यजमान के द्वारा कृत अग्नि का विकार नहीं हो सकता है। आशय यह है कि जहाँ तादर्थ्य में चतुर्थी रहती है वहाँ प्रकृतिविकृतिभाव रहता है जैसे—"कुण्डलाय हिरण्यम्" "यूपाय दारु" (यूप के लिए लकड़ी) कुण्डलाय हिरण्यम् (कुण्डल के लिए सोना) इत्यादि तादर्थ्य में चतुर्थी का उदाहरण है। इन उदाहरणों में कुण्डल और यज्ञीय पशुबन्धनस्तम्भ विकृति है एवं हिरण्य और लकड़ी प्रकृति है। फलतः तादर्थ्य में चतुर्थी होने पर प्रकृतिविकृतिभाव रहता है। प्रकृत में अग्नि यज-मान हविः का विकार नहीं है। अतः, तादर्थ्य में चतुर्थी समास नहीं है। इसलिए

प्रकरणान्तर से अग्नि के देवतात्व की प्राप्ति होने से यह कर्म का ही नाम है। इसी प्रकार नित्य अग्निहोत्र वाचक अग्निहोत्र शब्द का गुण के योग से अन्य कर्म में वृत्ति कहने के लिए मुख्य नित्य अग्निहोत्र अर्थ से भेद का ग्रहण कर यह कर्म अवस्थित है। इसी का प्रतिपादन "नैयमिकाग्निहोत्र" इत्यादि कहा है। "कुण्डपायिनामयन" नामक विशेष के प्रकरण में श्रुतियों के मध्य में कहा है— "मासमग्निहोत्रं जुहोति" "मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्यादि। इस स्थल में यह संशय होता है कि नित्य अग्निहोत्र में मासरूपगुण का विधान है मास-गुणविशिष्ट कर्म है। इसमें पूर्वपक्षियों ने कहा है कि इन वचनों के द्वारा नियत अर्थात् नित्य अग्निहोत्र प्रभृति कर्म में मासादिरूप काल का ही विधान किया गया है, अतः यह गुणविधि है। कारण, "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य में अग्निहोत्र प्रभृति कर्म का ही विधान किया गया है—यह पूर्व में ही कहा गया है और इस स्थल में इस वाक्य में उस नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म में अप्राप्त-मासादि कालरूपगुण विहित होता है।

इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि इसमें संशय होता है कि अग्निहोत्र नाम से नित्य प्रसिद्ध अग्निहोत्र का अनुवाद कर मासगुण का विधान है या "जुहोति" इस तिङन्त से प्रसिद्ध अग्निहोत्र का अनुवाद कर मासगुण का विधान है। इसमें द्वितीय पक्ष अर्थात् "जुहोति" इस तिङन्त से प्रसिद्ध अग्नि-होत्र का साध्यावस्थापन्न कर्म का ही बोध होने सन्निहित अर्थ का ही बोध होगा। तिङन्त असत्त्वभूत = साध्यावस्थापन्न कर्म का ही बोधक होता है सिद्धा-वस्थापन्न कर्म का बोधक नहीं होता है। अतः सिद्ध एवं व्यवहित प्रसिद्ध अग्निहोत्र का परामर्श "जुहोति" इस तिङन्त से संभव नहीं है। प्रथम कल्प भी ठीक नहीं है, कारण, अग्निहोत्र नामक धातुसमानाधिकृत ही धात्वर्थ से बोधित होता है, अतः, सन्निहित का ही परामर्श होगा भिन्न एवं व्यवहित अर्थ का बोध नहीं हो सकता है, साथ ही मास कालरूप है और काल पुरुषव्यापार से सम्पादित

नहीं होता है, अतः, कालरूपगुण का विधान अनुपादेय है, इसलिए इसका विधान नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि मासरूपगुण का अनुवाद कर नित्य अग्निहोत्र का ही विधान है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, नित्य अग्निहोत्र का "यावज्जीवमग्निहोत्रं "जुहोति" इससे ही विहित होने के कारण विहित का ही पुनः इस वाक्य से विधान नहीं हो सकता है। "जुहोति" के द्वारा या अग्निहोत्रनाम से असन्निहित नित्य अग्निहोत्र का परामर्श सम्भव नहीं है—यह पूर्व में ही कहा गया है। यह भिन्न प्रकरण होने से और पूर्वकर्म असन्निहित होने से यह मासगुणविशिष्ट अतिरिक्त कर्म ही है। इसीलिए विधेयभावना का भेद है। अब यह प्रश्न होता है कि अग्निहोत्र शब्द का कुण्डपायिनामयन कर्म में नित्य अग्निहोत्रवाची अग्निहोत्र शब्द के गौण प्रयोग से क्या लाभ है? क्या नित्य अग्निहोत्र के साथ कुण्डपायिनामयन कर्म में क्रियादि का सादृश्यबोध करना प्रयोजन है या अन्य कुछ प्रयोजन है, क्योंकि गौणप्रयोग निष्प्रयोजन तो नहीं हो सकता है। सादृश्यबोधक अकिञ्चितकर होने से स्वयम् अप्रयोजन होने से व्यर्थ है और अन्य किसी प्रयोजन की अवगति ही नहीं हो रही है। इसी शङ्का की निवृत्ति के लिए भामती में कहा है "साध्यसादृश्येन" साध्यकुण्डपायिनामयन कर्म में नित्याग्निहोत्र के सादृश्य से प्रयुज्यमान अग्निहोत्र शब्द गौण है अर्थात् नित्य अग्निहोत्रादि धर्म, देवता आदि का अतिदेश ही प्रयोजन है।

इसकी व्याख्या शाबर भाष्य में निम्नलिखित है—प्रकरण का भेद होने से कर्म का भेद होता है। "कुण्डपायिन" नामक यज्ञ के प्रकरण में श्रुतियों में कहा गया है—"मासमग्निहोत्रं जुहोति" "मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते" इत्यादि। इस प्रकार के स्थल में यह सन्देह होता है—यह गुणविधि है या भिन्न कर्म का उपदेश किया गया है? इस संशय में पूर्वपक्षी का कहना है कि इन वचनों के द्वारा नियत अर्थात् नियत अग्निहोत्र आदि कर्म में मासादिरूप काल का ही

विधान होता है अतः—यह गुणविधि है। "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वचनों से अप्राप्त मासादि कालरूप गुण ही विहित होता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि "प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्" (२।३।२४) जो वाक्य अन्य प्रकरण में निबद्ध हैं वे जिस प्रकरण में पढ़ गये हैं उसी के वाचक होंगे। "मासमग्निहोत्रम्" वाक्य अयन—प्रकरण में पढ़े गये हैं, अतः, अन्य कर्म के ही विधायक है वाक्यभेद दोष की अपत्ति होने से यह पूर्वोक्त गुण विधि नहीं है। कारण, इस स्थल में "उपसद्भिश्चरित्वा अग्िहोत्रं जुहोति" इस प्रकार का वचन होने से केवल मासगुण रूप का ही विधान नहीं हो सकता है वरन मास एवं उपसत् (होम विशेष) इन दो गुणों का विधान करना होगा। क्योंकि अग्निहोत्र या दर्शपूर्णमास में "उपसत्" गुण की प्राप्ति नहीं है। अन्य वचन के द्वारा विहित कर्म में एक साथ अनेक गुण का विधान वाक्यभेद के विना सम्भव नहीं है। इन्हीं कारणों से यह गुण विधि नहीं है। कथित कारणों से यह गुणविधि न हो किन्तु यह स्वतन्त्र कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में कहा गया है कि "प्रकरणान्तरत्व" ही कर्मभेद का हेतु है। कारण, यह अग्निहोत्रादि का प्रकरण नहीं है, वरन् अयन (यज्ञविशेष) का ही प्रकरण है। प्रकरण का अर्थ पूर्व कर्म का असन्निधान होता है। पूर्व कर्म के समीप में किसी प्रकार का उपदेश होने पर सामीप्य के कारण पूर्व कर्म का ही ज्ञान हो जाता है और ऐसी स्थिति में गुणविधि का प्रसंग हो सकता था, किन्तु इस स्थल में "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य अग्निहोत्रं जुहोति इस वाक्य के द्वारा कथित अग्निहोत्रादि कर्म के समीप में नहीं कहा गया है; अतः, सान्निध्य न होने के कारण पूर्वकर्म की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है। ऐसा न होने पर पूर्वकर्म के साथ अभेद का ज्ञान भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्राप्त कर्म में गुणविधि का प्रसंग ही नहीं होता है। फलतः "प्रकरणान्तरत्व" भिन्न प्रकरणत्व रूप कारण से कर्मभेद हो है।

अधिकरण का प्रयोजन यह है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार अग्निहोत्र में यावज्जीवन रूप काल के साथ मासादि काल का विकल्प एवं कुण्डपायिनामयन-नामक कर्म में अग्निहोत्र का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता है। सिद्धान्ती के मत में विकल्प नहीं है किन्तु अग्निहोत्र का अनुष्ठान कुण्डपायिनामयननामक यज्ञ में करना पड़ता है¹।

ऋजुप्रकाशिकार ने इस मीमांसा वाक्य के अन्य प्रश्न का समाधान निम्नलिखित किया है—कुण्डपायिनामयन कर्म में अग्निहोत्र शब्द नित्य अग्निहोत्र

---

१ जिस विधि वाक्य में "इस प्रकार करें" इस रूप में प्रत्यक्ष भाव में इतिकर्त्तव्यता का निर्देश रहता है—वह "उपदेशविधि" होती है। जिस विधि में "इस प्रकार करे" इस रूप में किसी कर्म विशेष के धर्म विशेष अर्थात् इति-कर्त्तव्यता का निर्देश रहता है—वह "अतिदेशविधि" होती है।

प्राकृत कर्म से इतिकर्तव्यतारूप सकल धर्म उसके सजातीय अन्य कर्मो में प्रदिष्ट अर्थात् प्रापित होता है, इसी कारण से क्रिया के द्वारा प्राकृत कर्म से धर्म प्रदिष्ट होता है, उसी का नाम अतिदेश होता है। जिस कर्म में सभी अङ्ग-कलापों का उपदेश रहता है—वह प्राकृत कर्म होता है। जिसमें कतिपय अंगों का उपदेश नहीं रहता है अन्य कर्म के अंग का ग्रहण होता है-वह विकृति या वैकृत कर्म कहा जाता है।

यह अतिदेश (१) नाम के अनुसार एवं (२) शास्त्रीय वचन के अनुसार दो प्रकार का होता है। (१) जहाँ अनेक कर्मों का एक ही नाम रहता है उस स्थान में उसी नाम के एक कर्म का धर्म अर्थात् "इतिकर्त्तव्यता" उस नाम के अन्य कर्म में अतिदिष्ट होता है। नाम सादृश्य होने से "नित्याग्निहोत्र" कर्म के सभी धर्मों का "मासाग्निहोत्र" नामक कर्म में अतिदेश होता है। इस स्थल में नाम ही अतिदेश का प्रापक होता है। इसीलिए इसको नामातिदेश कहा जाता है।

शास्त्रीय वचन भी कहीं कहीं अतिदेशक होता है इस स्थल में आगे के ग्रन्थ के साथ अविरोध की रक्षा करने के लिए यौगिक नाम अतिदेशक नहीं होता है यह कहा है। कर्मनाम एवं संस्कारनाम ही अतिदेशक होता है।

के धर्मों का अतिदेश[1] करेगा या नहीं ? यदि इस सत्रविशेप में अग्निहोत्र शब्द को गौण माना जाय तब नित्य अग्निहोत्र के धर्मों का अतिदेश करेगा। किन्तु प्रकृत में अग्निहोत्र शब्द गोण नहीं हो सकता है। अग्निहोत्र शब्द का जुहोति के साथ सामानाधिकरण्य नित्य अग्निहोत्र शब्द के समान यहाँ भी वर्तमान है, अतः नाम एक होने से इस यज्ञविशेप में अग्निहोत्र शब्द को गौण नहीं माना जा सकता है। अग्निदेवता के विधान के लिए होने से भी यहाँ पर अग्निहोत्र शब्द गौण नहीं हो सकता है। अतः अग्निहोत्र शब्द कुण्डपायिनामयन (यज्ञ-विशेप) में नित्य अग्निहोत्र धर्म का अतिदेश नहीं करता है। आशय यह है कि पूर्वपक्षवादी का यह कथन है कि नैयमिक अग्निहोत्र में मासाग्निहोत्र धर्म का अतिदेश नहीं हो सकता है। कारण, नित्य अग्निहोत्र एवं मासाग्निहोत्र ये दोनों ही कर्म अपूर्व हैं अर्थात् पूर्व में अप्राप्त होने से दोनों समान युक्ति के आधार पर नामधेय है और दोनों की नामधेय में युक्ति की समानता है, तब दोनों ही का समान विधान होगा अर्थात् दोनों में ही अपनी अपनी विधि से अपना अपना सकल धर्म प्राप्त होगा। ऐसी स्थिति में नित्य अग्निहोत्र में उपदेश मासाग्नि होत्र में अतिदेश—नहीं हो सकता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि अग्निदेवता के विधान के लिए मासाग्निहोत्रशब्द में अग्निहोत्र शब्द नहीं है। "यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति" इत्यादि से अग्निदेवतात्व विहित होने से विहित का पुनः विधान सम्भव नहीं है। पूर्व कथन के अनुसार चतुर्थी समास के बल से भी अग्निदेवता की विधि सम्भव नहीं है। कारण, चतुर्थी समास यहाँ सम्भव नहीं है। प्रकृति विकृतिभाव में ही चतुर्थी समास होता है—यह पूर्व में ही कहा गया है। इसलिए कर्म-भेद सिद्ध होने से दोनों वचनों में प्रयुक्त एक अग्निहोत्र शब्द नित्य

अग्निहोत्र में अग्निहोत्र नामपदप्रवृत्तिनिमित्तक और अग्निदेवता का सम्बन्ध वर्त्तमान होने से यहाँ पर मुख्य प्रयोग है और कुण्डपायिनामयन में मुख्य जो नित्य अग्निहोत्र है उसका सादृश्य अवलम्बन कर प्रवृत्त यह अग्निहोत्र शब्द गौण है। मुख्य अग्निहोत्र का प्रकृत में सादृश्य है—कर्तव्य अर्थ बोधक तिङन्त समभिव्याहृत नाम से बोध्यत्व। इसलिए अग्निहोत्र के समान हवन करता है इस साध्यत्व से वह विधेय है, इसकी सिद्धि के लिए नित्य अग्निहोत्र धर्मों का अतिदेश अग्निहोत्र में होगा ही[1]।

शावरभाष्य में इसका आशय व्यक्त करते हुए कहा है—अर्थ के साथ शब्द का स्वभाविक सम्बन्ध है। एक ही शब्द का अनेकार्थकत्व उचित नहीं है। अतः, अग्निहोत्र शब्द नित्य अग्निहोत्र एवं मासाग्निहोत्र दोनों का वाचक नहीं हो सकता है एक ही अर्थ का वाचक हो सकता है और अन्य अर्थ में इसका गौण प्रयोग मानना होगा। ऐसी स्थिति में जो प्रथम प्राप्त होगा उसी का वाचक होगा। नित्य अग्निहोत्र ही प्रथम प्राप्त है, अतः, उसी का वाचक होने से मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द की गौणी वृत्ति का आश्रयण कर भी बोधक होता है। नित्य अग्निहोत्र में रहनेवाले सभी धर्म इस मास अग्निहोत्र में भी वर्तमान है, अतः गुणगत सादृश्य होने से "अग्निर्माणवकः" माणवक अग्नि है, "देवत सिंह है" "सिंहो देवदत्तः" इत्यादि स्थलों के समान लक्ष्यमाण गुण के सम्बन्ध से अग्निहोत्र शब्द मासाग्निहोत्र का भी बोधक होता है। धर्मों के अतिदेश के बिना गुणगत सादृश्य सम्भव नहीं है, इसलिए, नित्याग्निहोत्र के सभी धर्म मासाग्निहोत्र में अतिदिष्ट होंगे। इस प्रकार वेद में मासाग्निहोत्र से नित्य अग्निहोत्र का भेद सिद्ध रहने पर मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द का गौण प्रयोग माना गया है।

इस तरह वेद में गौण प्रयोग का निर्देश कर लौकिक गौण प्रयोग का

---

१ ऋजुप्रकाशिका पृ०--७२

अभिधान कर रहे हैं। "सिंहो माणवकः" माणवक सिंह है। सिंह से माणवक में भेद सिद्ध रहने के कारण सिंह से अन्य माणवक में मुख्यार्थभूतसिंह में स्थित जो शौर्य आदि गुण उसके सम्बन्ध से माणवक में सिंह शब्द का गौण प्रयोग है। प्रकृत में देह आदि में "अहं" शब्द का गौण प्रयोग मानने पर देह से अहं पद के मुख्य अर्थ का भेद अवश्य ही मानना होगा। किन्तु वह भेदग्रह नहीं है–"अहं" पद का मुख्य अर्थ (निर्लुठितगर्भतया = निष्कृष्य लुठितः प्रतिभासितः गर्भः = असाधारणाकारो यस्य तथा।) अहंकारात्मवादी जो अनुभव करते हैं, अर्थात् अहं का असाधारण आकार प्रतिभासित हो जाने से पूर्वोक्त रीति के अनुसार देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप अहंकार से भिन्न रूप में अनुभूत होता तब "अहमिहैव" इस प्रतीति में देह में इसको गौण स्वीकार करते। यदि यह कहा जाय कि अत्यन्त निरूढ़ लक्षणा होने के कारण गौण होने पर भी गौणत्व का अभिमान नहीं होता है जैसे सरसों के तैल में तैल शब्द का प्रयोग। इसमें तिल से उत्पन्न तैल के साथ सरसों से उत्पन्न तैल का भेद रहने पर ही सरसों से उत्पन्न रस में तैल शब्द का व्यवहार होता है। इस प्रकार निरूढ़ गौण प्रयोग स्थल में भी गौण और वास्तविक अर्थ में तादात्म्य नहीं है। प्रयोग आधिक्य के कारण ही इसको निरूढ गौण कहा जाता है। सरसों के रस और तिल के रस में अभेद निश्चय के कारण तैल शब्द का प्रयोग नहीं है। प्रकृत में देह और आत्मा में अभेद प्रतीति हो रही है। पूर्वोक्त विश्लेषण से यह निर्णय हो चुका है कि गौणत्व दोनों के देखनेवाले में गौण और मुख्य के भेदज्ञान से व्याप्त है। प्रकृत में गौण देह और मुख्य आत्मा का भेदज्ञान जो गौणत्वका व्यापकीभूत है उसकी निवृत्ति रहने से गौणत्व की भी निवृत्ति कर देता है। ज्ञानरूप अहं से देहात्मा के भेद की असिद्धि होने पर भी प्रत्यभिज्ञा रूप से देह और आत्मा का भेद सिद्ध है। इसी विषय का प्रतिपादन भामतीकार ने "न च बालस्थाविर" इत्यादि से कहा है बालक और वृद्ध के शरीर में भेद रहने पर भी "वह मैं"

इस प्रत्यभिज्ञा से एक ही आत्मा का ज्ञान होने से देहादि से भिन्न आत्मा का अनुभव हो रहा है। अतः, गौणत्व व्यवहार के लिए आवश्यक जो भेदज्ञान है उसकी उपलब्धि रहने से प्रकृत में देह में अहं को गोण मानने में क्या आपत्ति है? इसके उत्तर में भामतीकार ने कहा है कि साधारण व्यक्ति की दृष्टि से यह विवेचन नहीं हो सकता है, वरन्, विवेचकों की दृष्टि से शरीर और आत्मा का भेद सिद्ध है। किन्तु परीक्षकों को युक्ति के आधार पर भेदज्ञान रहने पर भी प्रत्यक्ष भेद भ्रम का उच्छेद नहीं होता है, दूसरी बात यह है कि विवेचक भी व्यवहार में साधारण लोगों की उपेक्षा नहीं करते हैं। इसी कथन के समर्थन में भाष्य वचन का भी निर्देश किया है-"पश्वादिभिश्चाविशेषात्"। अतिरिक्त कथन भी प्रमाण रूप से उद्धृत कर रहे हैं। शास्त्र चिन्तक ऐसा कहते हैं। शास्त्रचिन्तक लोक के अनुसार ज्ञाता होते हैं। इस उपक्रम का उपसंहार करते हुए कहा है—प्रादेशिकत्व भ्रम में दृष्टान्त देते हुए कहा है कि लौकिक व्यक्ति शरीरादि के साथ अभेदग्रह होने से आत्मा का प्रादेशिकत्व अनुभव करते हैं।

पूर्वोक्त विश्लेषण के आधार पर यह भ्रम हो सकता है कि यदि आत्मा सर्वगत अर्थात् व्यापक हो तब देहतादात्म्य भ्रम से आत्मा में प्रादेशिकत्व का ज्ञान भ्रमात्मक होगा, आत्मा सर्वगत नहीं है वरन् प्रादेशिक ही है। फलतः, आत्मा में प्रादेशिकत्वज्ञान भ्रमात्मक नहीं है। इसी विषय की आशंका करते हुए भामतीकार ने "न च अहंकारप्रामाण्याय" इत्यादि कहा है। पूर्वकथित 'अहमिहैवास्मि" इस ज्ञान के प्रामाण्य के लिए देह आदि के समान आत्मा भी प्रादेशिक ही है। यदि आत्मा प्रादेशिक है—यह स्वीकार किया जाय तब यह संशय होगा कि आत्मा अणुपरिमाणवाला है या देहपरिमाणवाला है? यदि यदि आत्मा को अणुपरिमाणवाला माना जाय तब अहं स्थूलः" (मैं मोटा हूँ) "अहं दीर्घः" (मैं लम्बा हूँ) इत्यादि प्रतीति नहीं होगी। कारण, अणुपरिमाणवालों में स्थूल, दीर्घ आदि नहीं हो सकता है। अस्तु, प्रथम पक्ष न होने पर

भी देह परिमाण ही आत्मा को माना जाय तो क्या आपत्ति है ? देह परिमाण आत्मा का मानने पर अवयव से आरब्ध यह आत्मा है ? अर्थात् क्रम से आरंभ होकर आत्मा देह परिमाण धारण करता है ? या अवयव समुदायरूप आत्मा है ? प्रथम पक्ष से इसमें वैलक्षण्य यह है कि प्रथम में अवयव क्रम से देह-परिमाणवाले आत्मा की उत्पत्ति माननी पड़ेगी और द्वितीय पक्ष में पृथक्-पृथक् अवयव एकत्र होकर समुदाय रूप में देह परिमाणवाला होगा। इन दो पक्षों को हृदय में धारण कर आगे की पंक्ति में दो आपत्तिओं का उद्भावन किया है। प्रथम कल्प मानने पर देहपरिमाण आत्मा सावयव होने से जन्य होगा और जन्य वस्तु अनित्य होती है इसलिए आत्मा को अनित्य मानना पड़ेगा। यदि अवयव समुदाय को आत्मा माना जाय तब यह प्रश्न उठता है कि अवयव समुदाय का चैतन्य मानते हैं या प्रत्येक अवयव का चैतन्य स्वीकार करते हैं ? प्रत्येक अवयव का चैतन्य स्वीकार करने पर अनेक स्वतन्त्र चेतन की एक शरीर में स्थिति माननी पड़ेगी। इन स्वतन्त्र अनेक चेतनों की एक-वाक्यता न होने के कारण एकवाक्यता के अभाव में विरुद्ध दिशाओं की क्रियाओं का एक साथ सम्पादन की स्थिति में शरीर का उन्मथन या अक्रियत्व की प्रसक्ति होगी। अतः, प्रत्येक अवयव का चेतन्य पक्ष सम्भव नहीं है।

समुदाय के चैतन्य पक्ष में भी यह प्रश्न उठता है कि अनेक अवयवों का संयोगरूप समुदाय की प्राप्ति शरीरौपाधिक है ? या स्वाभाविक है ? इन पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। कारण, समुदाय में चैतन्य रहने पर शरीर के किसी एक अवयव के भिन्न होने पर चिदात्मा का भी अवयव छिन्न होगा। अतः, समुदाय के न रहने के कारण चैतन्य भी नहीं रहेगा। एक अवयव-संश्लेप के नष्ट हो जाने से अवयवसंश्लेपरूप समुदाय नहीं रहेगा, अतः, अवयव के छेद से चैतन्य नहीं रहेगा—यह कहा गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, अनेक अवयवों का अविनाभावनियम रहता है, अर्थात् अनेक अवयव

एक समुदायरूप में हुए बिना रह ही नहीं सकते तब स्वाभाविक समुदाय की प्राप्ति स्वीकार की जाती, किन्तु, ऐसा कोई अविनाभावनियम नहीं है। अतः, समुदाय की प्राप्ति स्वाभाविक नहीं होने पर उसका चैतन्य भी स्वाभाविक नहीं होगा।

तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, काकतालीय न्याय से अकस्मात् (बिना किसी कारण के) अवयवों के संश्लेष के समान ही अकस्मात् अवयवों का विश्लेष भी उसी न्याय के अनुरूप हो जायगा। अतः, स्वस्थ व्यक्ति भी अकस्मात् अचेतन हो जायगा। इस तृतीय पक्ष का खण्डन भामतीकार ने "यदैवावयव" इत्यादि पंक्ति से किया है।

अहं प्रतीति से विज्ञान का ही अवलम्बन किया जा रहा है। विज्ञान का अवलम्बन "अहं" इस प्रतीति से मानने पर अहं प्रत्यय का भ्रान्तत्व अपरिहार्य ही रहेगा। कारण, विज्ञान तो क्षणिक है और "अहं" प्रत्यय के द्वारा स्थिर वस्तु का ही ज्ञान हो रहा है, जो मैं पूर्व में था वही मैं इस समय भी हूँ इस ज्ञान के द्वारा पूर्व और उत्तरकाल से अविच्छिन्न एक स्थिर वस्तु ही अहं प्रत्यय का विषय हो रहा है।

इस प्रकार अहं प्रत्यय को गौण स्वीकार करनेवाले मुख्य और गौण वस्तु के भेदग्रहण का उपपादन कर "मैं दुर्बल हूँ" "मैं अन्धा हूँ" इत्यादि प्रत्ययों को गौण कहा, किन्तु वह कथन भी भेद का ग्रहण न होने के कारण स्थित नहीं रह सका। कारण, गौणप्रयोग भेदग्रह से व्याप्त है—यह पूर्व में ही कहा गया है। अतः, इसको गौण प्रयोग स्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। भ्रम अध्यास शब्द का अर्थ है। पूर्व एवं आगे के ग्रन्थों में भ्रम ही अध्यास शब्द का अर्थ माना गया है। भ्रम अध्यास होने से भामतीकार ने "अध्यासतया" यह प्रयोग किया है। इस प्रकार देहादि से अविविक्त (अभिन्न) आत्मविषय अहं प्रत्यय भ्रम रूप होने से अहं प्रत्यय का विषय अहंकारगत कर्तृ-

त्व आदि का आत्मा में कर्तृत्व का आश्रय अहंकार का तादात्म्य (अभेद) अध्यास होने से अध्यस्त है। अतः, कर्तृत्व आदि आत्मा में अवास्तविक होने से अकर्त्ता, अभोक्ता, शोकादिरहित, भूख-प्यास से अतीत अद्वितीय आत्मतत्त्व ही वेदान्तशास्त्र का प्रतिपाद्य है—इस आशय से इस शास्त्र के विषय की सिद्धि का प्रतिपादन करते हुए भामतीकार ने कहा है—इस प्रकार अहं ज्ञान को सड़े कुष्माण्ड फल के समान दुर्गन्धित कर देने पर श्रुति के द्वारा कर्तृत्व, भोक्तृत्व विशिष्ट रूप में अहं अनुभव से प्रसक्त आत्मा का निषेध कर सकती हैं। इस प्रकार परस्पर एकवाक्यतापन्न वेद, स्मृति, इतिहास, पुराण से प्रसिद्ध मिथ्यात्व अहं प्रत्यय का स्वरूप है उस अहं प्रत्यय का स्वरूप, निमित्त और फल के रूप में विशदरूप में इस "अन्योऽन्यस्मिन्" इत्यादि भाष्य के द्वारा कहा गया है। आत्मा और शरीर में परस्पर अभेदाध्यास और दोनों में दोनों के धर्मों का ज्ञान अध्यास-स्वरूप है। यह एक का दूसरे के साथ भेद के अग्रहण का निमित्त है। व्यवहार-फल है।

---

१ न च इदं देहस्य प्रादेशिकत्वमनुभूयते, न त्वात्मन इति साम्प्रतम्, न हि तदा एवं भवति-"अहम्" इति' गौणत्वे वा न "जानानः" इति, अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तत इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्रोः संप्रतिपत्तिः स गौणः। स च भेदप्रत्ययपुरःसरः, तद्यथा-नैयमिकाग्निहोत्रवचनोऽग्निहोत्रशब्दः प्रकरणान्तरावधृतभेदे कौण्डपायिनामयनगते कर्मणि "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यत्र साध्यसादृश्येन गौणः, माणवके चानुभवसिद्धभेदे सिंहात्सिंहशब्दः। नत्वहंकारस्य मुख्योऽर्थो निर्लुठितगर्भतया देहादिभ्यो भिन्नोऽनुभूयते, येन परशब्दः शरीरादौ ... अन्योन्यस्मिन्नित्यादि।

भा० पृ० ७२।७६

स्वरूप-निमित्त-फलैरित्युक्तम्, तत्र स्वरूप-निमित्त-फलानि कथ्यन्ते। स्वरूपम् = अन्योऽन्यात्मकत्वाध्यासोऽन्योन्यधर्माध्यासश्च। निमित्तम् = इतरेतराविवेकः। फलम् = व्यवहारः।

ऋ० प्र० पृ० ७६

"अत्यन्तविविक्तयोरितरेतराविवेकेन" अहमिदमिति "अन्योऽन्यस्मिन्नन्योऽन्यात्मकताम्, ममेदमिति अन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्य, सत्यानृते मिथुनीकृत्य मिथ्याज्ञाननिमित्तोऽयं लोकव्यवहारः नैसर्गिकः" यह भाष्य की योजना है।

महामहोपाध्याय अनन्तकृष्ण शास्त्री के अनुसार इस भाष्य का आशय यह होता है कि सादृश्यज्ञान भ्रम सामान्य के प्रति कारण नहीं है। कारण, सादृश्य के विना भी केतकी पुष्प के गन्ध में सर्प का गन्ध भ्रम से जानते हैं—यह प्रतीति होती है। अतः, विशेष दर्शन के द्वारा अध्यास का प्रतिबन्ध होने पर सादृश्यज्ञान की अध्यास के प्रति कारणता समीचीन नहीं है[1]। प्रतिबन्धक के रहने पर कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। इसलिए यह तो मानना ही पड़ेगा कि विशेष दर्शन सामग्री का अभाव भी अध्यास के प्रति कारण है, विशेष दर्शन सामग्री से अध्यास का प्रतिबन्ध है, इसलिए उक्त सामग्री के अभाव को प्रतिबन्धकाभावरूप में कारण कोटि में सन्निविष्ट करना ही होगा और इसको कारणकोटि में सन्निवेश करने से ही जब कार्य सिद्ध हो सकता है तब अध्यास में अतिरिक्त सादृश्यज्ञान को कारण रूप में मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

यह प्रश्न हो सकता है कि सादृश्यज्ञान को अध्यास का कारण न मानने पर सर्वथा विरुद्ध पदार्थ में भी अध्यास हो सकता है। जैसे कोयला में रजत का अध्यास। क्योंकि, आपकी दृष्टि में सादृश्यज्ञान की कारणता मानी ही नहीं गई है; अतः, पूर्वोक्त परस्पर विसदृश पदार्थों में भी अध्यास मानने में कोई आपत्ति नहीं है?

इसके उत्तर में सादृश्यज्ञान को कारण न मानने वालों का समाधान यह है कि प्रकृत में यह दोष तब सम्भव था जब अध्यास की सभी सामग्री रहती,

---

१ सादृश्यज्ञानं भ्रमसामान्यं प्रति न कारणम्; विनापि सादृश्यं केतकीगन्धे सर्पगन्धं हि भ्रान्त्या जानीमः।

किन्तु प्रकृत में विशेष दर्शन सामग्री का अभाव नही है वरन् नीलत्व आदि विशेषदर्शन सामग्री ही यहाँ सुलभ है। अतः, अध्यास कारण के अभाव से ही यहाँ अध्यास नहीं होता है।

उपसंहार में कहा है कि सादृश्य की कारणता यदि मान भी ली जाय तब भी आपत्ति नहीं है। कारण, आत्मा और अन्तःकरण ज्ञान और जड रूप में परस्पर विरुद्ध स्वभाव के होने पर भी सत्त्वधर्म से दोनों में सादृश्य है। अतः, विरुद्ध स्वभाव वाले आत्मा और अन्तःकरण सत्त्वादिरूप से सदृश हैं, इसलिए परस्पर अध्यास होने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है[1]। इस प्रकार सादृश्य ज्ञान का अभाव होने से आत्मा और अन्तःकरण में अध्यास नहीं हो सकता है— यह शंका नहीं हो सकती है, इसलिए भेद के अग्रहण से अध्यास नहीं हो सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार ने कहा है—

अन्योऽन्यस्मिन् लोकव्यवहार इति।

परस्पर भेद के अग्रहण से एक का दूसरे में तादात्म्य और एक में दूसरे के धर्मों का अध्यास होता है। "अहमिदम्" इस भाष्य में इदं शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है जिससे यह अवगत हो कि अहं के अध्यास में अन्तःकरण का अंश भी प्रतीत होता है, अतः, "इदं रजतम्" इत्यादि अध्यास में जैसे इदं और रजत, इन दो अंशों से घटित अध्यास है वैसे ही यहाँ दो अंशों से घटित अध्यास है, यह हो सकता है कि कहीं दोनों अंश स्पष्ट रहते हैं, कहीं एक अंश स्पष्ट रहता है और दूसरा अंश अस्पष्ट रहता है। जैसे—लोहा जलता है (अयो दहति) यहाँ वह्नि अंश अस्पष्ट है और लोहा अंश स्पष्ट है। अतः, एक अंश अस्पष्ट रहने पर "अहं" का अध्यास भी होता है। "लोकव्यवहार" इस भाष्य के

---

१ आत्मान्तःकरणयोरपि जडत्व-चित्त्वादिना विरुद्धस्वभावयोरपि सत्त्वादिना सदृशयोरध्याससंभवो न विरुद्धः।

प्र० पृ० ७२

पद से प्राणिमात्र ऐसा व्यवहार करता है—यह सूचित होता है। अध्यास का व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही मिथुनीकरण का भी कर्त्ता है, अतः, "अध्यस्य, मिथुनीकृत्य च" इस प्रयोग में समान कर्त्ता होने से समानकर्तृकयोः पूर्वकाले (३।४।२१) इस पाणिनि सूत्र से समानकर्तृकत्व में क्त्वा प्रत्यय घटित प्रयोग की उपपत्ति होती है। यद्यपि अध्यास और मिथुनीकरण ये दोनों एक ही हैं तथापि प्रथम सामान्य रूप से और दूसरा विशेष रूप से कहा गया है[1]।

यद्यपि प्रतिवादियों के मत में अध्यास मिथ्या है, इस प्रकार का प्रतिकूल मत आपाततः रमणीय प्रतीत होता है। ऐसा होने पर भी अनादि काल से लोगों के द्वारा जो यह व्यवहार होता है कि "मैं गोरा हूँ" "मैं दुर्बल हूँ" "मेरा शरीर है"—यह भ्रान्तिमूलक है, यह सभी लोगों को मानना होगा। द्वैतवादी भी यह मानते हैं कि "मैं गोरा हूँ" "मेरा शरीर है" इस प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। कारण, देह तो कभी भी आत्मा नहीं हो सकती है। अतः, द्वैतवादिओं को भी कहना होगा कि सभी लोगों के द्वारा स्वीकृत आत्मज्ञान यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है। इस समय यह देहात्मज्ञान यदि विपरीत ज्ञान हो तो यह मानना पड़ेगा कि देह में आत्मज्ञान कभी यथार्थज्ञान था। द्वैतवादी या अद्वैतवादी सभी को बाध्य होकर मान लेना होगा कि मूल में समान आकारका यथार्थज्ञान न रहने पर उसी प्रकार का विपरीतज्ञान अकस्मात् नहीं हो सकता है, किन्तु यह सिद्धान्त ठीक नहीं हो सकता है। भ्रान्तिज्ञान के पूर्व में ऐसा होना चाहिये, यह ज्ञान भले ही यथार्थ हो या अयथार्थ। इतना सत्य है कि भ्रान्तिज्ञान अपने पूर्व में किसी भ्रान्तिज्ञान या यथार्थज्ञान की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होता है—यही बुद्धिसंगत सिद्धान्त है यही द्वैतवादिओं को भी मानना होगा। कारण, ऐसा न मानने पर सभी द्वैतवादी देहात्मवादी

---

१ वही पृ० ७२।८०

हो जायगें। इसलिए ब्रह्मज्ञान से अतिरिक्त संसार दशा में ज्ञानों को भ्रान्ति-ज्ञान मानने में क्या आपत्ति है? यही इस भाष्य का संक्षिप्त आशय है। इस मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञानमूलक व्यवहार का कारण है सत्य और मिथ्यावस्तु का एक हो जाना। इन दोनों के एक होने का कारण है--इन विरुद्ध स्वभाव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना---इन विरुद्ध स्वभाव के वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होना---इतर में इतर के भेद का अग्रहण है। इस अविवेक के अधीन होकर ही हमलोग जड और चैतन्य के स्वभाव को एक कर सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जड का धर्म चैतन्य में और चैतन्य का धर्म जड में आरोपित कर लेते हैं। यह मिथ्याज्ञान ही देहात्म के व्यवहार का कारण है और यह भ्रमज्ञान का पूर्ववर्त्ती और मिथ्याज्ञान जनित संस्कार का कार्य है, अर्थात् इस मिथ्याज्ञान का मूल कुछ नहीं मिलता है और मिथ्याज्ञान के अनादि प्रवाह के फलस्वरूप देहात्म व्यवहार चलता रहता है। भ्रम का यह स्वभाव होने से इसका आदि कारण क्या है--उसको समझने की शक्ति किसी में नहीं है। किन्तु इसका मूल नहीं अवगत होता है इसलिए यह मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञानमूलक द्वैतव्यवहार नहीं है या यह प्रत्यक्षप्रमाण से असिद्ध है—यह कोई भी नहीं कह सकता है। यह स्थिर होने पर पूर्वपक्षियों की यह आपत्ति कि "वेदान्तशास्त्र का आरम्भ नहीं करना चाहिए"—यह आपत्ति अनुचित है।

इस प्रकरण में भामतीकार ने भाष्य के पदों की व्याख्या कर अध्यासभाष्य की भूमिका के रूप में कथित विषय में ही भाष्य का तात्पर्य है—इसी की व्याख्या गम्भीर-विवेचन के साथ की है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या में अपूर्व कौशल है।

भामतीकार ने "अन्योऽन्यस्मिन्" इस भाष्य की व्याख्या करते हुए एक धर्मी का अन्य धर्मी में अध्यास कर लोक-व्यवहार चलता है—यह कहा है।

प्रकृत में आत्मारूप धर्मी का शरीर, अहंकारादि धर्मी में एवं शरीर, अहंकार, इन्द्रिय आदि का आत्मा में तादात्म्याध्यास होता है। इस तादात्म्याध्यास होने के फलस्वरूप शरीरादि में अहं का व्यवहार होता है। भाष्यकार के "अहमिदम्" इस वाक्य का आशय दिखाते हुए भामतीकार ने कहा है कि वस्तुतः अहमिदम् (मैं यह) ऐसा प्रयोग हमलोगों के अनुभव का विषय नहीं होता है कोई भी व्यक्ति "अहमिदम्" यह प्रयोग नहीं करता है, वरन् यही कहता है "मैं गोरा हूँ" "मैं मोटा हूँ" इत्यादि। अतः, "अहमिदम्" यह प्रयोग भाष्यकार ने क्यों किया ? इन्हीं आशंकाओं की निवृत्ति के लिए भामतीकार ने कहा है कि— "वस्तुतः न प्रतीतितः" हमलोगों की प्रतीति "मैं गोरा हूँ" इत्यादि ही होती है किन्तु गौर, स्थूल आदि शब्दों के द्वारा जिसे अवगत कराया जाता है वस्तुतः उसका इदम् शब्द के अर्थ में ही पर्यवसान होता है। आशय यह है कि "मैं यह शरीर" यह प्रतीति होने पर व्यवहार होगा किन्तु ऐसी प्रतीति तो नहीं होती है, अतः, भामतीकार ने कहा है कि इदं यह वस्तुतः चाहिए, प्रतीति से नहीं चाहिए। अहं गौरः (मैं गोरा हूँ) इत्यादि प्रतीति होने पर इदं की प्रतीति न होने पर भी शरीर में अवास्तवत्व अनात्मत्व है, अतः, इदं शब्द का प्रयोग होता है[1]।

वाचस्पति मिश्र ने "लोकानां व्यवहारः" इस प्रकार षष्ठी समास स्वीकार किया है[2]। व्यपदेश शब्द को व्यवहार शब्द के पर्याय के रूप में

---

१ अहमिदं शरीरमिति प्रतीतौ सत्यां खलु तथा व्यवहारः, न तथा प्रतीयते; तथा च अहमिदमिति भाष्योक्तमयुक्तमित्यत आह—"इदमिति च वस्तुतः न प्रतीतितः" (भामती पृ० ७६।७७) अहमिति प्रतीताविदमित्यप्रतीतेऽपि शरीरेऽवास्तवत्वमनात्वमस्तीतीदं शब्दप्रयोग इति।

ऋ० प्र०, पृ० ७७

१ लोकव्यवहारः—लोकानां व्यवहारः, स चायमहमिति व्यपदेशः।

भा० पृ० ७७

स्वीकार किया है। षष्ठी तत्पुरुष समास स्वीकार करने के प्रसंग में ऋजुप्रकाशिकाकार ने कहा है कि षष्ठी समास से अतिरिक्त कर्मधारय आदि समास के भ्रमवारण करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने यह विग्रह प्रदर्शित किया है। पंचपादिकाकार ने लोकव्यवहार में मध्यमपदलोपी समास स्वीकार किया है। इसी पर कटाक्ष करने के लिए ऋजुप्रकाशिका में यह कहा गया है[1]। अभिज्ञा, अभिवदन, उपादान और अर्थक्रिया ये चार व्यवहार हैं। इसमें प्रकृत स्थल में व्यवहार शब्द के द्वारा मात्र अभिवदन अर्थ ही गृहीत होता है। इसीलिए भामती में व्यवहार शब्द के पर्याय में व्यपदेश शब्द का निर्देश किया है।

"ममेदम् इति" इस स्थल में भाष्यकार ने इति शब्द का प्रयोग किया है। अहमिदम् और ममेदम् इन दोनों में इति शब्द का अन्वय होता है। इस इति शब्द के प्रयोग से हमलोगों के शरीरादि के अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों को प्रमाण के द्वारा अवगत कर शरीरादि के अनुकूल विषयों का ग्रहण और शरीरादि के प्रतिकूल विषयों का परित्याग सूचित होता है। इति शब्द का प्रयोग कर भामतीकार ने यही सूचना दी है कि व्यवहार कहने पर केवल अध्यास या अज्ञानमूलक "मैं गोरा हूँ" इत्यादि शब्द प्रयोग मात्र ही अवगत होता हैं ऐसी बात नहीं है वरन् इष्ट और अनिष्ट वस्तुओं का ग्रहण और परिवर्जन पर्यन्त यहाँ अवगत होता है। भाष्य में व्यवहार शब्द का यही अर्थ भामती की दृष्टि से अभिप्रेत है[2]। भामती के "प्रमाय प्रमाणेन" इस प्रयोग में व्यत्यास कर अन्वय होता है— 'प्रमाणेन प्रमाय" (प्रमाण से अवगत कर) "अहमिदम्" इस भाष्य

---

१ तत्र समासान्तरभ्रमं वारयति।

ऋ० प्र० पृ० ७७

२ इति शब्दसूचितश्च शरीराद्यनुकूलं प्रतिकूलं च प्रमेयजातं प्रमाय प्रमाणेन तदुपादानपरिवर्जनादिः।

भा० पृ०७८।७९

में "इदं शब्द का प्रयोग" अहम्" के अध्यास में अन्तःकरण अंश भी प्रतीत होता है—यह सूचित करने से "इदं रजतम्" इत्यादि भ्रमज्ञान में दो अंश रहते हैं—इसकी बाधा रहित प्रतीति होती है।

भाष्य में "अध्यस्य व्यवहारः" अध्यस्य यह क्त्वा के स्थान में ल्यप् प्रत्यय करके प्रयोग किया गया है, अतः, अध्यास को व्यवहार का पूर्वकालीन माना गया है। अध्यास और व्यवहार को समानकर्तृक कहा गया है अर्थात् अध्यास का कर्ता और व्यवहार का कर्ता दोनों एक ही है। "अध्यस्य व्यवहारः" इस प्रकार पद का प्रयोग करने से यह भी अवगत हो सकता है कि व्यवहार ही अध्यास क्रिया का कर्ता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है व्यवहार क्रिया और अध्यास क्रिया का कर्ता एक ही व्यक्ति है—यही इस स्थल में अवगत हो रहा है। इस स्थल में "जनस्य" इस पद का अध्याहार कर पूर्वोक्त ग्रन्थ की संगति करनी पड़ेगी। अहमिदं ममेदमिति अध्यस्य जनस्य व्यवहारः "अर्थात् जिसको अज्ञान रहता है वही व्यवहार करता है—यही बताने के लिए इस वाक्य की अवतारणा की गई है। यद्यपि अध्यास और मिथुनीकरण दोनों एक ही है, तथापि प्रथम सामान्य रूप से और दूसरा विशेषरूप से कहा गया है, अतः, पुनरुक्ति दोष नहीं है। अध्यास का कारण है इसी विषय को सूचित करने के लिए भामतीकार से कहा है—मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः" भाष्य के अन्त में स्थित मिथ्याज्ञाननिमित्त पद यहाँ संयोजित किया जाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि मिथ्याज्ञान को अध्यास का निमित्त सिद्ध करने पर भी पूर्वोक्त भाष्य से यह तो अवगत नहीं होता है कि अध्यास का निमित्त है। इस आशंका की निवृत्ति के लिए ही भामतीकार ने कहा है—"मिथ्याज्ञानम् = अध्यासः" इसका आशय है—मिथ्याज्ञान = अध्यास निमित्त है जिसका यहाँ अन्य पदार्थ व्यवहार है[1]। अध्यास

१ अत्र चाध्यासव्यवहारक्रियाभ्यां यः कर्त्तोन्नीतः स समान इति समानकर्तृकत्वे नाध्यस्य व्यवहार इत्युपपन्नम्, पूर्वकालत्वसूचितमध्यासस्य व्यवहारकारणत्वं सूचयति --मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः। मिथ्याज्ञानम् = अध्यासः, तन्निमित्तम्।

भा० पृ० ८०।८१

के रहने पर व्यवहार और अध्यास के न रहने पर व्यवहार का अभाव यही प्रकृत में विवक्षित है।

प्रकृत में यह विचारणीय है कि अध्यास से व्यवहार का भेद सिद्ध होने पर ही अध्यास को पूर्व और व्यवहार को बाद में मानकर अध्यास को व्यवहार का कारण और व्यवहार को कार्य माना जा सकता है, किन्तु इन दोनों में भेद नहीं है—आशय यह है कि उपक्रम में "नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः" यह कहकर "एवमनादिरनन्तः" इत्यादि उपसंहार भाष्य में नैसर्गिक अध्यास को नैसर्गिक कहा है, अतः, नैसर्गिक अध्यास और व्यवहार के एक होने से इन दोनों में पूर्व और पर भाव की सिद्धि नहीं होगी, पूर्व और परभाव की सिद्धि न होने पर दोनों में कार्य-कारणभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके उत्तर में भाग-तीकार का यह तात्पर्य है कि अध्यास के कार्य व्यवहार के नैसर्गिक होने पर उसका कारण अध्यास भी नैसर्गिक है—यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। नैसर्गिक विशिष्ट कारणीभूत अध्यास के उपसंहार में उपसंहार वाक्य का तात्पर्य रहने से उपसंहार का विरोध नहीं है। मात्र नैसर्गिकत्व विशेषण दोनों में रहने पर ही उन दोनों में अभेद है—यह नहीं कहा जा सकता है। इन दोनों में नैसर्गिकता होने पर भी एक कारणीभूत है और दूसरा कार्यभूत है।

"अध्यस्य व्यवहारः" इसके द्वारा ही अध्यास और व्यवहार में कार्यकारण-भाव कह दिया गया है। मिथ्याज्ञान ही अध्यास है, अतः, मिथ्याज्ञान-निमित्तक व्यवहार है (मिथ्याज्ञान-निमित्तो व्यवहारः) इसके द्वारा मिथ्याज्ञानलक्षण अध्यास को व्यवहार का निमित्त है—यह कहना पुनरुक्ति ही होगी। इसके समाधान में सोकर उठा (सुप्तोत्थितः) इत्यादि शयन में पूर्वकालीनत्व होने पर भी उत्थान का कारण शयन नहीं होता है, वैसे ही "अध्यस्य व्यवहारः" इस कथन से व्यवहार की पूर्वकालीनता अध्यास में सिद्ध होने पर भी व्यवहार की कार-

णता अध्यास में सिद्ध नहीं होगी, अतः, इस आशंका के निराकरण करने के लिए अर्थात् अध्यास में व्यवहार की कारणता स्पष्ट करने के लिए ही "मिथ्याज्ञाननिमित्तो व्यवहारः" यह कहा गया है, अतः, पुनरुक्ति दोष नहीं है।

भाष्यकार ने अध्यास को मिथ्या कहा है, मिथ्या शब्द के द्वारा अध्यास का स्वरूप उसका फल एवं उसका निमित्त कुछ भी नहीं— यही वे कहना चाहते हैं। आगे अध्यास की सिद्धि के उद्देश्य से "लोकव्यवहारः" इस पद के द्वारा अध्यास का स्वरूप प्रत्यक्षसिद्ध है—यही प्रदर्शित किया है, एवं "ममेदमिति" इसमें इति पद के द्वारा कार्यलिङ्गक अनुमान के द्वारा अध्यास प्रमाणसिद्ध है—यह भी भाष्यकार ने प्रदर्शित किया है। अर्थात् हमलोगों की इष्ट और अनिष्ट विषय में प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप कार्य के द्वारा उस कार्य के मूल में अध्यास रहता है यही अनुमान के द्वारा प्रदर्शित होता है।

अनन्तर "मिथ्याज्ञाननिमित्त" इस शब्द के द्वारा भाष्यकार ने अध्यास के कारण के सम्बन्ध में पूर्वपक्षियों के आक्षेप का उत्तर दिया है। अर्थात् अध्यास का कारण मिथ्याज्ञान है। पूर्वपक्षियों ने जो यह कहा था कि मिथ्याज्ञान के मूल में मिथ्याज्ञान के समान आकार का यथार्थ ज्ञान आवश्यक होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होने से पूर्व में सर्प का यथार्थज्ञान आवश्यक होता है वैसे ही अध्यास के कारण के रूप में किसी यथार्थज्ञान का रहना आवश्यक है। यह पूर्वपक्षियों का कथन ठीक नहीं है। इस विषय का विचार भामतीकार ने विस्तारपूर्वक किया है।

इस विषय में भामतीकार ने कहा है कि भ्रम से पूर्व में भ्रम के समान आकार का ज्ञान होना चाहिए यह सत्य है, किन्तु वह ज्ञान प्रमात्मक ही होना चाहिए ऐसी बात नहीं है भ्रमात्मक ज्ञान होने पर भी कोई क्षति नहीं है, उनके मत के अनुसार पूर्ववर्ती ज्ञान को भ्रमात्मक मानने पर देहात्मवादी होना पड़ेगा। कारण,

देह में जो अहं की प्रतीति होती है, उक्त नियम के अनुसार यह प्रतीति भ्रम-ज्ञान के समान आकारवाले प्रमाज्ञानवाली होगी अर्थात् इस भ्रमज्ञान के पूर्व में प्रमाज्ञान है—यह माना जाय तो भ्रमज्ञान से पूर्व में देह में अहं प्रत्यय यथार्थ ज्ञान था यह अवश्य ही मानना होगा। देह में अहं प्रत्यय की प्रतीति और इस प्रतीति को सत्यज्ञान माना जाय तो यह देहात्मवाद से भिन्न और क्या हो सकता है? देह आत्मा नहीं है यह पूर्वपक्षी एवं सिद्धान्ती इन दोनों को ही अभिमत हैं। इसका विश्लेपण भामतीकार ने अध्यास की भूमिका में ही कर दिया है। अतः, भ्रम के पूर्व में प्रमाज्ञान की आवश्यकता नहीं है। भ्रम से भ्रम उत्पन्न होता है, उससे पुनः भ्रम उत्पन्न होता है, इसी प्रकार अनादि भ्रम की धारा उपसंहार के भ्रम के मूल में मानना ही होगा। संसार की अनादिता को मानने में किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। अतः, अनादि पूर्व-पूर्व भ्रम ही आगे के भ्रम का कारण है यह मानना होगा। भ्रम भ्रम का जनक होता—यह वेदान्तियों के सिद्धान्त में भामतीकार की अपनी देन है।

रत्नप्रभा के अनुसार अध्यास की भूमिका

इस प्रसंग में भामतीकार के विस्तृत विश्लेपण देने से पूर्व रत्नप्रभा के कतिपय विचारों को प्रस्तुत करना आवश्यक समझता हूँ। रत्नप्रभा में अध्यास भाष्य की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि अध्यास न होने का क्या कारण है? क्या अयुक्त है इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? अथवा प्रमाण नहीं मिलता है इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? या अध्यास के कारण का अभाव है इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है? इन तीन पक्षों में प्रथम पक्ष अर्थात् असंग स्वप्रकाश आत्मा में अध्यास नहीं हो सकता है—यह कथन हमको भी इष्ट है, अतः, मेरे अभिमत विपय का प्रकाशन होने से यह मेरे लिए अलंकार "तथापि" स्वरूप है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए "तथापि" पद का प्रयोग किया

जा रहा है। द्वितीय पक्ष–अध्यास में प्रमाण नहीं होता है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है, यह कथन ठीक नहीं है। कारण, अध्यास का प्रत्यक्ष प्रमाण होता है इसी बात को प्रकट करने के लिए" अयं लोकव्यवहारः इसमें "अयं" पद का प्रयोग किया गया है। मैं अज्ञ हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं मनुष्य हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव होने से मैं = आत्मा में अज्ञत्व, कर्तृत्व, मनुष्यत्व आदि अनात्मा का प्रमाण प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः, आत्मा में अध्यास का प्रमाण नहीं होता है, इसलिए अध्यास नहीं हो सकता है—यह कथन अनुचित है।

तृतीय पक्ष अध्यास के कारण के अभाव से अध्यास नहीं हो सकता है, यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, पूर्व-पूर्व अध्यास उत्तरोत्तर अध्यास का कारण हैं। अतः, प्रत्यगात्मा में अध्यास का प्रवाह अनादि है। इस प्रसंग में यदि यह कहा जाय कि प्रवाह कोई वस्तु नहीं है जिसका प्रवाह चलता है, ऐसी कोई अनादि अध्यास व्यक्ति नहीं है, वरन् सभी सादि हैं, ऐसी स्थिति में अध्यास का प्रवाह अनादि कैसे माना जा सकता है? इस शंका का निराकरण करते हुए रत्नप्रभाकार ने कहा है कि काल अनादि है और अध्यास व्यक्तियों में से किसी भी व्यक्ति के बिना अनादि काल नहीं रहता है, अध्यासों में कोई अध्यास अनादि काल में अवश्य रहता है—यही कार्य के अनादित्व का स्वरूप है। अतः, अध्यास का कोई कारण नहीं है, इसलिए अध्यास नहीं है—इस शंका का निराकरण हो जाता है। नैसर्गिक पद से यह सिद्ध होता है कि संस्कार अध्यास का कारण है। पूर्व में प्रमात्मक ज्ञान रहता है और उस प्रमात्मक ज्ञान से उत्पन्न संस्कार ही अध्यास का कारण है यह नियम नहीं है। प्रमात्मकज्ञान की अपेक्षा लाघव से पूर्वानुभवजन्य संस्कार को ही अध्यास का कारण मानना उचित है। अतः, पूर्वाध्यास से संस्कार उत्पन्न होता है[1]।

---

१ अध्यासत्वावच्छिन्नव्यक्तीनां मध्ये अन्यतमया व्यक्त्या विना अनादिकालस्य अवर्तनं कार्यानादित्वमित्यङ्गीकारात्। एतेन कारणाभावादिति कल्पो निरस्तः। संस्कारस्य निमित्तस्य नैसर्गिकपदेन उक्तत्वात्। न च पूर्वप्रमाजन्य एव संस्कारो हेतुरिति वाच्यम्। लाघवेन पूर्वानुभवजन्यसंस्कारस्य हेतुत्वात्।

र० प्र० पृ० २८।२९

"मिथ्याज्ञाननिमित्त" इस शब्द से अध्यास के उपादान कारण को कहा गया है, मिथ्या अज्ञान जिसका निमित्त हो, उसको मिथ्याज्ञान निमित्त कहा जाता है। यद्यपि अज्ञान उपादान कारण है तथापि इसको निमित्त कहा गया है, प्रकाशस्वरूप आत्मा का आवरण करने से मिथ्याज्ञान दोपरूप है, अहंकार का अध्यास करनेवाले ईश्वर का उपाधिरूप से एवं मिथ्याज्ञान संस्कार, काल, कर्म आदि निमित्त के रूप में परिणत होकर अध्यास का निमित्त है—इसी की अभिव्यक्ति निमित्त पद के द्वारा की गई है। आत्मा स्वप्रकाश एवं असंग है। अतः, इस आत्मा में अविद्या का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? कारण, अध्यास की सामग्री संस्कार एवं सादृश्य का अभाव है। इसी शंका की निवृत्ति के लिए "मिथ्या" पद का प्रयोग किया गया है, प्रचण्ड सूर्य प्रकाश में भी दिवान्ध होने से उल्लू अन्धकार का अनुभव करता है, इसी प्रकार अहमज्ञः (मैं अज्ञ हूँ) इस अनुभव के द्वारा सिद्ध अज्ञान का अपह्नव नहीं हो सकता है। कल्पित पदार्थ अधिष्ठान का स्पर्श नहीं कर सकता है एवं नित्य स्वरूपज्ञान का विरोधी नहीं हो सकता है—इसी की अभिव्यक्ति के लिए "मिथ्या" पद का प्रयोग किया है। अथवा यह भ्रम न हो जाय कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है—इस भ्रम को दूर करने के लिए मिथ्या शब्द का प्रयोग किया गया है। मिथ्या होकर साक्षात् ज्ञान से जिसका नाश होता है उस अज्ञान को मिथ्याज्ञान पद से कहा जाता है। ज्ञान अज्ञान का नाश करता हुआ बन्ध का भी नाशक होता है। अतः, बन्ध में अज्ञान के लक्षण की अतिव्याप्ति होगी, इसलिए उसका निवारण करने के लिए "साक्षात्" पद का प्रयोग किया गया है। इसके आगे अध्यास की दृढ़ता के लिए अहमिदम्, ममेदम् इत्यादि का व्याख्यान किया है। संसर्गाध्यास एवं ज्ञानाध्यास का विश्लेषण किया गया है जिसका निरूपण विवरण—मत में विस्तारपूर्वक किया है।

ब्रह्मज्ञान ही मुक्ति है—यह पूर्व में ही कहा गया है। इसी विषय पर लक्षण कर भगवान् वेदव्यास ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस प्रथमसूत्र की रचना

की है। किन्तु जगत् का आध्यासिकत्व या भ्रमकल्पिततत्व के बिना ब्रह्मज्ञान से मुक्ति होती है—यह किसी भी तरह सम्भव नहीं है। इसीलिए आचार्य शंकर ने प्रथम सूत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में ही संसार की मिथ्या आध्यासिकत्व की सिद्धि के लिए उद्यत हो गये हैं। अद्वैतवेदान्ती से अतिरिक्त प्रायः सभी आस्तिक इस सिद्धान्त के विरोधी हैं। उनलोगों के मत में संसार भ्रमकल्पित नहीं वरन् सत्य है। आचार्य शंकर ने इन्हीं आश्रयों का सार संगृहीत कर पूर्वपक्ष के रूप में सभी लोगों के मत से अध्यास की निरुक्ति की है। अन्य दार्शनिक ने मिथ्या शब्द का अद्वैतवेदान्तियों के द्वारा गृहीत अनिर्वचनीयत्व अर्थ स्वीकार नहीं किया है। इनलोगों ने मिथ्या शब्द का अपह्नव या अपलाप अर्थ ग्रहण कर अद्वैतवेदान्तियों के विरुद्ध आपत्तिओं का उद्भावन किया है। भाष्यकार ने "तथापि" से लेकर "लोकव्यवहार" पर्यन्त भाष्य की रचना कर अध्यास के अनिर्वचनीय होने से इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः, इस स्थल में अध्यास का स्वरूप अथवा उसका फल एवं उसके निमित्त आदि के द्वारा भी कुछ सिद्ध नहीं होता है, यही पूर्वपक्षियों की आपत्ति का रहस्य है एवं सिद्धान्तियों ने भी उत्तर में जो कहा है, उस में भी उस अध्यास के स्वरूप एवं उसके फल एवं उसके निमित्त आदि के द्वारा भी वह व्यवहार सिद्ध एवं युक्तियुक्त है यही प्रदर्शित किया है।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि ब्रह्मज्ञान का फल मुक्ति है, एवं ब्रह्मज्ञान का निवर्त्य अध्यास है—यह जो अद्वैतवेदान्ती सिद्ध करना चाहते हैं, यह स्वरूपतः, असिद्ध है। कारण, हमलोगों को जो यह प्रपंच की प्रतीति होती है, यह यथार्थज्ञान है अर्थात् हमलोगों को जो अहंज्ञान होता है, यही आत्मा का प्रत्यक्षज्ञान है, इसमें किसी प्रकार भी भ्रमरूपता नहीं है। "अहं" कहने से ही हमलोग देह इन्द्रिय इत्यादि से सम्पूर्ण रूप में भिन्न आत्मा को अवगति करते हैं। कारण, देह आदि ज्ञेय पदार्थ है और अहं ज्ञाता है। इसलिए अहं की प्रतीति भ्रमरूप

नहीं है, अतः, इसकी अध्यासरूपता असिद्ध है। अर्थात् अध्यास का स्वरूप ही सिद्ध नहीं होता है। जगत रूप कार्य को देखकर अध्यास का अनुमान कर सिद्ध लिया जायेगा यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, भ्रम से जो कार्य उत्पन्न होता है, वह सत् नहीं हो सकता है और अध्यासवादियों के मत में अध्यास ही जगत् का कारण है। अतः, प्रत्यक्ष सद्रूप जगत् का असत् अध्यास कारण कैसे हो सकता है ? इसलिए जगत् रूप कार्य के द्वारा अध्यास का अनुमान नहीं हो सकता है। अर्थात् फलतः भी अध्यास का स्वरूप असिद्ध है।

इसी प्रकार अध्यास के निमित्त की विवेचना करने से भी अध्यास के स्वरूप की असिद्धि ही है। क्योंकि, भ्रमज्ञान के मूल में उस भ्रम के समान आकारवाला एक प्रमा ज्ञान आवश्यक है— यही व्यवहार–सिद्ध नियम है। जैसे सत्य रजत के विषय में "यह रजत है" यह यथार्थ ज्ञान जिसको पूर्व में ही नहीं रहता है, उसको शुक्ति में "यह रजत है" यह भ्रमज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है। वैसे ही "अहं" यह यथार्थ अनुभव पूर्व में नहीं होने पर "अहं" यह भ्रान्ति कैसे हो सकती है ? इसलिए अध्यास के निमित्त का निर्णय करने का प्रयास करने पर अध्यास के निमित्त का निर्णय एवं अध्यास का स्वरूप सिद्ध नहीं हो पाता है। अर्थात् निमित्त से भी अध्यास असिद्ध है।

ये ही तीन आपत्तियाँ "युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः" से लेकर "युक्तम्" इस भाष्य के द्वारा कही गई है एवं "तथापि" से "लोक व्यवहारः" इस भाष्य से इसका समाधान कहा गया है। इसका विश्लेषण पूर्व व्याख्यान में ही सुस्पष्ट है।

अध्यास की स्वरूपतः सिद्धि

अहं की प्रतीति भ्रम स्वरूप है इसमें सन्देह नहीं है। कारण, आत्मा अपरिच्छिन्न, सत्य, ज्ञान और आनन्द स्वरूप है–यह उपनिषद् के द्वारा सिद्ध है।

किन्तु "अहं" कहने से इस अपरिच्छिन्न आनन्दस्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। अहं शब्द का व्यवहार करने से किसी परिच्छिन्न पदार्थ का ज्ञान हमलोगों को होता है। अपरिच्छिन्न वस्तु को परिच्छिन्न रूप में अवगत करना ही भ्रम है। अतः, अध्यास की स्वरूपतः असिद्धि कैसे होगी? इस विषय का विचार भामती के आरम्भ ग्रन्थ के विश्लेषण से स्पष्ट कर दिया है।

द्वितीय आपत्ति के विषय में मेरा यह कहना है कि अध्यास के कार्य को देखकर भी अध्यास का अनुमान किया जा सकता है। उन लोगों का यही कथन है कि सत् जगत् की असत् अध्यास से उत्पत्ति कैसे हो सकती है? किन्तु इसमें सिद्धान्ती का कथन है कि संसार सत है यह कैसे समझते हैं? जो तीनो काल में अविनाशी एक रूप में रहता है उसी को सत् कहा जाता है। किन्तु यह संसार सदा इसी रूप में रहता है यह कैसे सिद्ध हो सकता? कारण, जगत् परिवर्त्तनशील है यह तो सभी मानते हैं। परिवर्त्तनशील होने पर जगत् का आदि और अन्त भी है—यह मानना ही पड़ेगा। फलतः जगत सत् नहीं है। इसलिए असत् संसार का मूल असत् अध्यास को माना जाय तो इसमें पूर्वपक्षियों को क्या बाधा हो सकती है?

इसी प्रकार पूर्वपक्षियों ने जो तृतीय आपत्ति दी है कि निमित्त का विचार करने से भी अध्यास का स्वरूप असिद्ध होता है—यह भी ठीक नहीं है। कारण, इसका निमित्त पूर्व-पूर्व अनादि अध्यास की धारा है। भ्रमज्ञान के पूर्व में समानाकारक यथार्थज्ञान आवश्यक है यह कथन ठीक नहीं है। समानाकार ज्ञान रहने से ही उससे उत्पन्न संस्कार के द्वारा भ्रमज्ञान उत्पन्न हो सकता है। भ्रम का समानाकारक ज्ञान भ्रमज्ञान से पूर्व में होना चाहिए वह ज्ञान यथार्थ—सत्य हो या मिथ्या हो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि भ्रमज्ञान को ही भ्रमज्ञान का मूल माना जाय तो देह से भिन्न आत्मा है इस मत को स्वीकार करनेवाले दार्शनिकों के मत में देहात्मवाद सत्य ही माना पड़ेगा, अर्थात् सभी देहात्मवादी

होना पड़ेगा। कारण, "मैं गोरा हूँ" "मैं मोटा हूँ" इस प्रकार के ज्ञान को प्रमामूलक मानना होगा और इसको अप्रमामूलक मानने पर अनायास ही वे सब देहात्मवादी हो जायेंगे।

इस प्रकार अध्यास का स्वरूप, उसका कार्य एवं उसका निमित्त इनमें एक भी असिद्ध नहीं है। जैसे अध्यास स्वरूपतः सिद्ध है वैसे ही उसके फल और निमित्त को देखकर भी वह सिद्ध हो सकता है। अद्वैतवेदान्ती प्रत्यक्ष और अनुमान के बल से अध्यास को सिद्ध कर सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान से ही मुक्ति होती है यह भी सिद्ध होता है और उसी ब्रह्मज्ञान के लिए ही भगवान् बादरायण ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा की कर्तव्यता का उपदेश किया है। इसी विषय को कहने के लिए भाष्यकार ने अध्यासभाष्य की अवतारणा की है।

नैयायिकों की आपत्तियाँ और उनका समाधान

ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए कि नहीं इस विषय में सिद्धान्ती ने अनुमान किया है कि—ब्रह्म, जिज्ञास्य है, सन्दिग्ध और सप्रयोजन होने से। इसके विरुद्ध पूर्वपक्षी ने कहा कि— ब्रह्म, अजिज्ञास्य है, असन्दिग्ध और निष्प्रयोजन होने से, जैसे पूर्ण प्रकाश में अवस्थित समनस्क व्यक्ति के इन्द्रिय सन्निकृष्ट घट अथवा काक का दाँत। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित हेतु सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित हेतु के समान बल का नहीं है, अतः, पूर्वपक्षी के द्वारा उद्भावित सत्प्रतिपक्ष से कोई हानि नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षी का हेतु दुर्बल होने से सिद्धान्ती की अनुमिति का प्रतिबन्ध या उसमें संशय का उत्पादन नहीं हो पाता है। उनलोगों के द्वारा सत्प्रतिपक्ष के प्रदर्शन का उद्देश्य था कि यह शास्त्र अध्ययन या आलोचना के योग्य नहीं है। किन्तु यह उद्देश्य सफल नहीं हो सका। कारण, इसके सप्रयोजनत्व की सिद्धि के लिए वे अनुमान करते हैं कि ब्रह्मजिज्ञासाशास्त्र (पक्ष)

सप्रयोजन है (साध्य) बन्ध के निवर्तक ज्ञान का साधन होने से (हेतु) जैसे रस्सी में सर्प को भ्रान्ति से युक्त व्यक्ति के लिए प्रयुक्त "यह रस्सी है" यह वाक्य (उदाहरण)।

इस अनुमान के द्वारा शास्त्र का सप्रयोजनत्व सिद्ध होता है। अनन्तर इस शास्त्र का आरम्भ सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित अनुमान दिया गया है। वेदान्तशास्त्र। (पक्ष)। आरम्भ के योग्य है (साध्य), सप्रयोजन होने से (हेतु), जैसे भोजनादि क्रिया (उदाहरण)। इस अनुमान के द्वारा वेदान्त-शास्त्र का आरम्भणीयत्व सिद्ध होता है साथ ही पूर्वपक्षियों ने जो पूर्वोक्त सत्प्रतिपक्ष का उद्भावन किया है उसका भी निराकरण हो जाता है। उनलोगों के अनुसार वेदान्तशास्त्र के प्रतिपाद्य--ब्रह्म में यदि निष्प्रयोजनत्व और असन्दिग्धत्व--निबन्धन अजिज्ञास्यत्व रहे तब शास्त्र का अनारम्भणीयत्व स्थिर हो सकता।

इस प्रकार ब्रह्म का अजिज्ञास्यत्व प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्षी ने अस-न्दिग्धत्व रूप हेतु का प्रदर्शन किया है, उसके विरुद्ध में सिद्धान्तियों का अनुकूल अनुमान निम्नलिखित है। ब्रह्म (पक्ष), सन्दिग्ध है (साध्य), ब्रह्म के विषय में अनेकवादियों के अनेक प्रकार के विप्रतिपत्ति—वाक्य देखने से, (हेतु), जैसे इन्द्रियादि का भौतिकत्व (उदाहरण)। इससे ब्रह्म जिज्ञास्यत्व है यह सिद्ध होता है।

भामतीकार के मत में अध्यासलक्षण का विश्लेषण

भाष्य में कहा गया है कि अध्यास का अर्थ है—स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृ-ष्टावभासः। किन्तु इस लक्षण के कहने से पूर्व ही प्रतिवादी को सम्मुख मानकर उनके द्वारा यह प्रश्न उपस्थापित किया है—कोऽयमध्यासो नाम ? अध्यास का क्या लक्षण है ? अतः, भामतीकार ने भी इस वाक्य की व्याख्या के प्रसंग में प्रथम पूर्वपक्षियों के अभिप्रायों को व्यक्त किया है और बाद में अध्यास लक्षण की व्याख्या की है।

इस पूर्वोक्त भाष्य के जिज्ञासा वाक्य में किम् शब्द का प्रयोग है। किम् शब्द का प्रयोग जिज्ञासा एवं आक्षेप दोनों अर्थों में होता है, किन्तु, प्रकृत में "किम्" शब्द के द्वारा आक्षेप ही अर्थ अवगत हो रहा है। पूर्वपक्षियों ने कहा—"आह कोऽयमध्यासो नाम" अर्थात् उनलोगों ने कहा है कि कुछ भी नहीं है, यह अध्यास निरूपण के योग्य ही नहीं है, फलतः अध्यास के लक्षण आदि के कथन की आवश्यकता ही नहीं हैं। पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से अध्यास के लक्षण की जिज्ञासा नहीं कर रहे हैं, वरन् उनकी दृष्टि से इसका लक्षण सम्भव ही नहीं है।

उनलोगों के इस अक्षेप का कारण भामतीकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है। पूर्वपक्षियों का कथन है कि यह मान लेता हूँ कि भ्रमस्थल में जिस वस्तु का भ्रम होता है उस वस्तु का ज्ञान होने से ही कार्य चल सकता है, उस वस्तु की पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा नहीं है। जैसे रस्सी में जो साँप का भ्रम होता है वहाँ पर साँप की सत्ता की अपेक्षा नहीं है। किन्तु पूर्वोक्त विवरण के अनुसार सत्ता की अपेक्षा न रहने पर भी अद्वैतवादियों के मत में देहादि की यदि वास्तविक कोई सत्ता ही नहीं है तब वह गगन पुष्प के समान अलीक है ऐसी स्थिति में जिज्ञासा करने पर भी वह प्रकाशमान कैसे हो सकता है ? कारण, अद्वैतमत में प्रकाशमानत्व ही वस्तु की सत्ता है। चिदात्मा की जो सत्ता है वह प्रकाशमानत्व से अतिरिक्त तो नहीं है। नैयायिक मत में वस्तु में समवाय सम्बन्ध से सत्ता रूप जाति का सम्बन्ध ही वस्तु की सत्ता होती है, बौद्ध के मत में अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु की सत्ता है। किन्तु सत्ता रूप जाति अथवा अर्थक्रियाकारित्व जो सत्ता वह सत् है कि नहीं ? इस जिज्ञासा में भी सत्ता का समवाय सम्बन्ध या अर्थक्रियाकारिता का योग आवश्यक होगा। इसी प्रकार उस सत्ता की भी सत्ता स्वीकार करने के लिए सत्ता का सम्बन्ध अथवा अर्थक्रियाकारिता का योग मानना आवश्यक होगा, इस प्रकार सत्ता या अर्थक्रियाकारिता का योग मानने पर अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अतः, न्याय एवं बौद्धों की सत्ता

का निर्वचन सम्भव नहीं है। इस प्रकार नैयायिक एवं बौद्धों का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी ने अद्वैत मत का भी खण्डन किया है। इस पूर्वपक्षी का कथन यही है कि जो प्रकाशमान वस्तु है वह वस्तु असत् नहीं हो सकती है, कारण, प्रकाशमानत्व से अतिरिक्त किसी सत्ता का निर्वचन नहीं किया जा सकता है। जगत् यदि प्रकाशमान है तब यह जगत् अनिर्वचनीय कैसे हो सकता है?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती अद्वैतवेदान्ती का कथन है कि सद्वस्तु सदा सत् ही रहता है वह कभी भी असत् या अभावरूप नहीं हो सकता है। प्रपंच यदि सत् हो तो चिदात्मा के समान वह भी सदा सत् ही रहेगा। किन्तु प्रपंच की उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन देखा जाता है। अतः, प्रपंच सदा एकरूप में नहीं रहता है। इसलिए अद्वैत मत में यह जगत् प्रकाशमान रहने पर भी असत् है, जगत् प्रकाशमान है, अत एव सत् ही है—यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। फलतः प्रपंच असत् होने से जो प्रतीति है वह प्रमा या यथार्थ नहीं हो सकती है। जगद्विषयक प्रतीति को ही भ्रम कहा जाता है। आचार्य ने इसी अभिप्राय से भ्रम का लक्षण कहा है।

इस अध्यास लक्षण को तीन भागों में विभक्त कर अवगत किया जाता है। प्रथम भाग अवभास, द्वितीय भाग—परत्र पूर्वदृष्ट और तृतीय भाग है—स्मृतिरूप, यद्यपि पूर्वदृष्टावभास पद पूर्वदृष्ट और अवभास इनदोनों पदों का समास कर एक पद निष्पन्न होता है, तथापि इन दोनों को अलग कर ही इसका अर्थ अवगत करना होगा यही भामतीकार का आशय है। वस्तुतः इनके मध्य में अवभास पद के द्वारा ही भ्रम का प्रकृत और पूर्ण लक्षण कह दिया गया है। अतिरिक्त दो विशेषणों के द्वारा मात्र उनका परिचय प्रदान किया गया है।

अब यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि अवभास शब्द का क्या अर्थ है? अव शब्द का अर्थ अवमत या अवसन्न होता है। भास शब्द का अर्थ ज्ञान या ज्ञेय होता है। भास धातु से कर्म अर्थ में घञ्. प्रत्यय करने पर भास शब्द का

अर्थ ज्ञेय होता है। फलित यह हुआ कि भाव वाच्य घञ् प्रत्ययान्त भास शब्द का अर्थ ज्ञान होता है। प्रकृत में अवभास शब्द का अर्थ यह होता है कि जो ज्ञान या ज्ञेय अवसन्न या अवमत होते हैं वे ही अवभास[1] या अध्यास हैं। अवसन्न और अवमत अर्थ के विवरण से ही अवभास अर्थ की अवगति हो जाती है। जो अवसाद को प्राप्त करता है ऐसे ज्ञान या ज्ञेय को अवसन्न कहा जाता है। बाधित होना ही ज्ञान या ज्ञेय का अवसाद है। उत्तरज्ञान (परवर्त्ती ज्ञान) के उत्पन्न होने से ज्ञान या ज्ञेय की अनुवृत्ति न होना ही इनका अवसाद है। जैसे "शुक्तौ इदं रजतम्" रजतज्ञान के होने के बाद, "नेदं-रजतम् शुक्तिरियम्" यह रजत नहीं है यह शुक्ति ही है, इस बाधक यथार्थ ज्ञान के सम्पन्न होने पर रजत ज्ञान की या ज्ञेय रजत की अनुवृत्ति नहीं होती है यही पूर्व रजतज्ञान या ज्ञेय रजत का अवसाद है। आशय यह है कि अधिष्ठान अर्थात् अधिकरण तत्त्व के साक्षात्कार से पूर्व ज्ञान या ज्ञेय की निवृत्ति उनका अवसाद है[2]। इसी प्रकार जो ज्ञान या ज्ञेय अवमानयुक्त होता है उन्हीं को अवमत कहा जाता है। कार्य करने की शक्ति का अभाव होने से वे अवमत होते हैं। जब तक शुक्ति का यथार्थज्ञान नहीं होता है तब तक रजतभ्रम भ्रान्त व्यक्ति को रजत के ग्रहण में प्रवृत्त करता है अर्थात् रजत विषय में लाभादियुक्त रखता है, किन्तु यह शुक्ति है रजत नहीं है इस यथार्थज्ञान होने के बाद हमलोग रजत के ग्रहण के लिए प्रवृत्त नहीं होते हैं अर्थात् हमलोगों के लिए रजत भ्रम की या रजत की कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है। आशय यह है कि अवमान में ज्ञान के या ज्ञेय का युक्ति सहकृत ज्ञान के द्वारा बाध होता है। अव-

---

१ अर्थपक्षेऽवभास्यत इत्यवभासः। ... ... । ज्ञानपक्षेऽवभासन-मवभासः।

भा० भा० प्र०, पृ० १६८

२ अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण निवृत्तिरवसादः।

न्या० प्र०, पृ० १५७

सादमें अधिष्ठान–तत्त्व के साक्षात्कार से और अवमान में यौक्तिक ज्ञान से भ्रान्त ज्ञान या ज्ञेय वस्तु का बाध होना है[२]। पूर्वज्ञान का बाध अवभास का सामान्य अर्थ है। भामतीकार ने अवयवार्थ लेकर अवसाद और अवमान रूप से ही अवभास शब्द का दो व्याख्यान प्रस्तुत किया है। अवसन्नज्ञान या अवमानक ज्ञान यही अवभास है। अधिष्ठान तत्त्व के साक्षात्कार से ज्ञान का बाध होना अवसाद है और यौक्तिक ज्ञान के आधार पर ज्ञान का तिरस्कार अवमान है। दोनों ही स्थितियों में अवभास शब्द का अवयवार्थ लेकर यही लक्षण है कि अवसन्न या अवमत ज्ञान अध्यास है। किन्तु अन्य आचार्यों ने ज्ञानाध्यास और अर्थाध्यास इन दो अध्यासों को स्वीकार किया है। अतः अवभास शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ मानकर ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों ही अर्थ स्वीकार किये गये हैं। अवभास शब्द का रूढ़ अर्थ ज्ञान को लेकर स्मृतिरूप इत्यादि अध्यास लक्षण का व्याख्यान है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अवभास शब्द की व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ का यह उपव्याख्यान अर्थात् विस्तृत विवरण[१] है।

अवभास लक्षण से लक्षित अध्यास के इस विस्तृत व्याख्यान में "परत्र" एवं "पूर्वदृष्ट" का व्याख्यान प्रथम उपस्थित कर रहा हूँ। "परत्र" शब्द का अर्थ पृथक् या भिन्न होता है। यद्यपि न्यायमत में पार्थक्य को गुण और भेद को अन्योऽन्याभाव माना है तथापि वेदान्तमत में इन दोनों अर्थों में भेद नहीं है। "पूर्वदृष्ट" शब्द के दो अर्थ होते हैं–१-जो पूर्व में दृष्ट है अर्थात् पूर्वदर्शन ज्ञान विषय, २–पूर्ववर्ती दर्शन अर्थात् पूर्ववर्ती दर्शनज्ञान। पूर्वोक्त ज्ञान एवं ज्ञेय

---

२ यौक्तिकज्ञानेन तिरस्कारोऽवमान इत्यवसादावमानयोर्भेदः।

ऋ० प्र०, पृ० ५७, १६६

१—(क) प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा। भा०, पृ० १५७, १६६

(ख) तस्येदमुपव्याख्यानाम्—"पूर्वदृष्टेत्यादि"। भा०, पृ० १६९

संक्षेपोक्ताध्यासलक्षणलक्षितस्येदं विस्तृतं लक्षणमित्यर्थः।

ऋ० प्र०, पृ० १६६

इन दो अर्थों के बोधक अवभास शब्द के साथ पूर्वदृष्ट शब्द का समास होने पर इस पूर्वदृष्टावभास शब्द का अर्थ पूर्ववर्ती दर्शन के समान जो ज्ञान, एवं पूर्वदृष्ट वस्तु के समान जो ज्ञेय वह होता है। इस "पूर्वदृष्टावभास" शब्द का "परत्र" शब्द के साथ अन्वय होने पर अर्थ होता है पृथक् (भिन्न) वस्तु में पूर्वदृष्ट किसी एक भिन्न वस्तु के समान ज्ञेय वस्तु अथवा भिन्न वस्तु में पूर्ववर्ती ज्ञान के समान किसी पृथक् वस्तु का ज्ञान, इस प्रकार इसके द्वारा भ्रम ज्ञान का स्वरूप एवं उस भ्रमज्ञान के विषय का स्वरूप कहा गया है। जगत्प्रपंचविषयक जो भ्रान्ति है और उस भ्रान्ति का विषय जो जगत्प्रपंच है इन दोनों का स्वरूप कहा गया है।

अब यह विचारणीय है कि परत्र शब्द का प्रयोग इस लक्षण में नहीं किया जाय तो क्या हानि है ? परत्र शब्द का प्रयोग लक्षण में न देने पर "इदं रजतम्" (यह रजत है) इस स्थल में इदं पदार्थ की सत्ता से रजत पदार्थ की सत्ता अधिक है—यह अवगति नहीं होती है। "परत्र" शब्द के द्वारा भ्रम में आरोप विषय की सत्ता भ्रम के आरोप्य या विशेषण की सत्ता से अधिक और विलक्षण होती है, यही कहा गया है।

इस रूप में भ्रमज्ञान और भ्रमज्ञान के स्वरूप को कहा गया है, इसका क्या आशय है ? इसके द्वारा यही कहा गया है कि नैयायिक आदि द्वैतवाद को माननेवाले आचार्यों ने भ्रमस्थल में अर्थात् शुक्ति में रजत के ज्ञान स्थल भ्रम का विषयीभूत या विशेषणभूत रजत का जो प्रकाश होता है वह बाजार में पूर्वदृष्ट सत्यरजत से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—यह जो व्यक्त किया है, यह गृहीत होता है। अर्थात् इनका कहना है कि भ्रमस्थल में अर्थात् शुक्ति में रजत का ज्ञान जिस भ्रम में होता है वहाँ भ्रम का विषयीभूत या विशेषणभूत रजत व्यापार आदि में पूर्वदृष्ट सत्य रजत नहीं है, किन्तु यह उसी रजत के समान अनिर्वचनीय एक पदार्थ है। आशय यह है कि भ्रम को द्वैतवादी नैयायिक भी मानते हैं

और अद्वैतवादी भी मानते हैं, किन्तु नैयायिक भ्रम के विषय को सत्य मानते हैं और अद्वैतवेदान्ती भ्रम के विषय को अनिर्वचनीय मानते हैं। प्रभाकर–मतानुयायियों ने, भ्रम स्थल में शुक्ति में रजत के व्यवहार स्थल में जो ज्ञान होता है वह एक ज्ञान नहीं है वरन् दो ज्ञान हैं एवं उन दोनों ज्ञानों का विषय सत्य है, भ्रम कोई अतिरिक्त ज्ञान नहीं है, यह कहा है—यह भी सूचित होता है। आशय यह है कि प्रभाकर के मत में "इदं" विषयक एक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान है एवं रजत-विषयक स्मरणरूप उससे अतिरिक्त एक ज्ञान है, किन्तु रजत-विषयक स्मरणात्मक ज्ञान और इदं विषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान में परस्पर भेदज्ञान नहीं रहता है एवं रजत की स्मृति में रजतगत जो तत्ता अंश है अर्थात् वही रजत है इसमें जो "वह" अंश है, उसका स्फुरण न होने से सत्य रजत स्थल में हमलोगों की जिस प्रकार रजत के ग्रहण आदि में प्रवृत्ति होती है एवं "इदं रजतम् (यह रजत है) यह व्यवहार आदि होता है, प्रकृत में भी प्रभाकरमतानुयायियों का कहना है कि शुक्ति में रजत का व्यवहार रूप भ्रम स्थल में जो रजत का ज्ञान होता है वह नैयायिकों के सिद्धान्त के अनुसार एक अतिरिक्त विशिष्टज्ञान नहीं है, वरन् पूर्व में जो रजत का प्रत्यक्ष हुआ था उसके संस्कार से स्वयं ही मात्र स्मृति रूप में परिणत हो गया है। अतः, यह स्मृतिरूप ज्ञान पूर्व में उत्पन्न रजत के ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो संस्कार रूप में अव्यक्त था वही तत्तांशरहित होकर स्मृतिरूप में व्यक्त हो जाता है। यह स्मृतिरूपज्ञान में और पूर्व उत्पन्न रजत के अनुभव में परस्पर कोई वैलक्षण्य नहीं है। इस मत की भी स्वीकृति, पूर्वज्ञान सदृश इस स्थल के सदृश पद के द्वारा, दी गई है।

इन दोनों मतों का आगे युक्तियों के द्वारा भाष्य और भामती की व्याख्या में विस्तारपूर्वक खण्डन किया गया है। सदृशपद के प्रयोग से स्मृतिरूप में रजतज्ञान और प्रत्यक्षात्मक इदंज्ञान से भिन्न एक तृतीयज्ञान है यह वेदान्तियों ने स्वीकार किया है एवं उस स्मृतिरूपज्ञान का जो विषय उसके सदृश एक अनिर्वच

नीय विषय उक्त प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के विषय रूप में प्रतीयमान होता है। अतः, वेदान्ती के भ्रमज्ञान का जो विषय है वह नैयायिक और प्राभाकर—सम्मत सत्य विषय नहीं वरन अनिर्वचनीय या मिथ्यावस्तु विशेष है। आचार्य शंकर ने इस भ्रम के लक्षण में इन सभी विषयों का संकेत दिया है।

स्मृतिरूप पद का अर्थ

इस भ्रमलक्षण में "स्मृतिरूप" पद का स्मृति के रूप के समान है रूप जिसका, यह अर्थ होता है। स्मृति का रूप = संस्कारजन्यत्व, अर्थात् जो संस्कार से उत्पन्न होता है, उसका भाव। स्मृति जिस प्रकार संस्कार से उत्पन्न होती है वैसे ही भ्रम भी संस्कार से उत्पन्न होता है, किन्तु दोनों का स्वरूप विभिन्न है। संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति में मात्र उद्बोधक की आवश्यकता होती है, किन्तु भ्रम की उत्पत्ति में उद्बोधक और आगन्तुक दोष की आवश्यकता होती है। जैसे श्याम और राम को एक साथ टहलते हुए देखने के बाद यदि श्याम को देखा जाय तो राम का स्मरण होता है, इस स्थल में राम की स्मृति का उद्बोधक श्याम का स्मरण होता है। कारण, दोनों को एक साथ देखने से उन दोनों में किसी एक साथी को देखने पर दूसरे साथी का स्मरण ज्ञान होता है। इसी तरह प्रकृत में शुक्ति में रजत का ज्ञान होने पर शुक्ति के चाकचिक्य का ज्ञान होता है, उद्बोधक एवं इन्द्रिय की दुर्बलता तथा रोग आदि दोष रहता है। यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि भ्रमज्ञान को संस्कारान्तर कहने से यह कहा गया है कि हमलोगों को जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे ज्ञान संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं। इसमें वास्तव पक्ष से कुछ भी नूतनता नहीं रहती है। अनादिकाल से हमलोगों के हृदय में जो संस्कार रूप में संचित रहता है, काल और अदृष्ट आदि शक्ति के रहने से उसी का क्रमिक विकास होता है। इसमें न नूतनता है और न इसका आदि भी है। इसकी उत्पत्ति के विषय में स्वतन्त्र रूप में किसी का यत्न भी नहीं है। वेदान्ती के इस रहस्य की अभिव्यक्ति भी

"स्मृतिरूप" पद से ही होती है। स्मृति का विषय स्मरणकर्ता पुरुष के लिए असन्निहित रहता है। भ्रम का विषयीभूत वस्तु भी भ्रान्त पुरुष के लिए असन्निहित ही रहता है। इसके फलस्वरूप प्रत्यभिज्ञारूप संस्कार से उत्पन्न ज्ञान से भ्रम का वैलक्षण्य रहता है—यह भी व्यक्त ही है। कारण, प्रत्यभिज्ञा संस्कार से उत्पन्न होने पर भी उसका विषय असन्निहित नहीं रहता है। यही कारण है कि "स्मृतिरूप" पद का व्याख्यान करते हुए भामतीकार ने स्मृतेः रूपं = स्मृतिरूपम् इस व्युत्पत्ति को न मानकर "स्मृतेः रूपमिव रूपमस्य"[1] यह व्युत्पत्ति मानी है। इसके द्वारा स्मृति का सादृश्य विवक्षित होता है। यह सादृश्य ज्ञानत्व रूप से एवं संस्कार-जन्यत्वरूप से माना जा सकता है। किन्तु यह मानने पर प्रत्यभिज्ञा एवं जातिरूप समीचीन ज्ञान में भ्रम के लक्षण की आपत्ति नहीं होती है।

आशय यह है कि-किसी स्थान विशेष का नाम पाटलीपुत्र है और किसी का नाम माहिष्मती है। पाटलीपुत्र में किसी ने देवदत्त को देखा है। इसी देवदत्त को माहिष्मती में भी देखा तब अवभास या ज्ञान होता है कि "यह वही देवदत्त है" (स एवायं देवदत्तः) यह ज्ञान समीचीन ज्ञान है, यह ज्ञान भी परत्र पूर्वदृष्ट का अवभासन होने से भ्रमरूप हो जायगा। अतः, समीचीन ज्ञान में भी अध्यास के लक्षण की आपत्ति होगी। इसी प्रकार किसी गाय विशेष की स्वस्तिमती संज्ञा है और किसी गाय विशेष की कालाक्षी संज्ञा है। यह गाय (इयं गौः) यह स्वस्तिमती गाय विशेष में दृष्ट जो गोत्व है, उस गोत्व का अन्यत्र कालाक्षी गाय में ज्ञान (अवभासन) होता है—यह गाय है यह अवभासन समीचीन है। यह गाय का ज्ञान भी स्वस्तिमती गाय विशेष में दृष्ट का परत्र (कालाक्षी गाय में) ज्ञान होता है। अतः इस समीचीन ज्ञानस्थल में इस अध्यास लक्षण का संगमन होने से इस अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति होगी।

---

१ भा०, पृ० १७०

यदि यह कहा जाय कि अवगतो भासः अवभासः इस पूर्व प्रदर्शित अवभास की व्युत्पत्ति के अनुसार मिथ्याज्ञान ही अवभास है। अतः, अवभास पद से पूर्वोक्त दोनों समीचीन ज्ञानों की व्यावृत्ति हो जायेगी, अर्थात् उक्त स्थल में अतिव्याप्ति का निरास हो जायगा ? इस शंका का समाधान करते हुए भामतीकार ने कहा है कि अवभास पद का प्रयोग समीचीन ज्ञान में भी होता है। जैसे—नील का अवभास इत्यादि। अतः इन स्थलों में अध्यास लक्षण की अतिव्याप्ति की निवृत्ति करने के लिए ही "स्मृतिरूप" पद का भी सन्निवेश किया गया है[1]।

स्मृतिरूप पद का प्रदर्शित व्याख्यान स्वीकार करने से असन्निहित विषय ही स्मृतिरूप हो सकता है। प्रत्यभिज्ञा में विषय सन्निहित ही रहता है असन्निहित नहीं रहता है। यथार्थ स्मृति में भी विषय असन्निहित रहता है किन्तु "परत्र" पद रहने के कारण अन्यत्र अन्य वस्तु का ज्ञान नहीं है।

अब यह विचारणीय है कि उक्त अध्यास लक्षण का इस प्रकार समन्वय होने पर भी स्वप्न रूप भ्रम में इस लक्षण की अव्याप्ति होगी। कारण, स्वप्न में पिता आदि का सामने ही अनुभव होने से उसके स्वप्नज्ञान का विषय असन्निहित नहीं है। पिता आदि का अनुभव सन्निहित रूप में पूर्वदृष्ट है उसी का स्वप्न में स्मृत पिता आदि में आरोपित होता है। पिता आदि का तो स्वप्न में सामने अनुभव होता है। पूर्वदृष्ट जो अनुभूयमानता है उसी का स्वप्न में आरोप होता है।

आशय यह है कि अवभास यह अध्यास का लक्षण है, अतिरिक्त परिचायक विशेषण है। कोई पुरुष स्वर्गीय अपने पिता का स्वप्न में दर्शन करता है।

---

१ अस्ति हि स्वस्तिमत्यां गवि पूर्वदृष्टस्य गोत्वस्य परत्र कालाद्यामवभासः, अस्ति च पाटलिपुत्रे पूर्वदृष्टस्य देवदत्तस्य परत्र माहिष्मत्यामवभासः समीचीनः। अवभासपदं च समीचीनेऽपि प्रत्यये प्रसिद्धः। यथा नीलस्यावभासः पीतस्यावभास इति।

भा०, पृ० १६९-७०

यह दर्शन "स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास" होता है। "स्मृतिरूप" पद का विश्लेषण करने से यह सुस्पष्ट हो गया है कि इसका अर्थ संस्कारजन्य और असन्निहित विषय होता है। स्वप्न देखनेवालों का जो ज्ञान पिता आदि को विषय करता है, यह ज्ञान पूर्वकाल में पितृदर्शनजनित एवं संस्कारजन्य होता है साथ ही उस समय में उसके पिता आदि उस स्थान में असन्निहित है इसमें सन्देह नहीं है। केवल निद्रा दोष के कारण उस स्मर्यमाण पिता आदि का अतत्कालवृत्तित्व और अतद्देशवृत्तित्व रूप दो धर्म हमलोगों को अनुभवगोचर नहीं होता है, वरन् उसमें उन दोनों धर्मों के विरुद्ध तद्देशवृत्तित्व एवं तत्कालवृत्तित्वरूप दो धर्म भासमान होते हैं। "परत्र" शब्द से सूचित होता है, आरोप्यमाण वस्तु की अपेक्षा आरोपविषयस्वरूप वस्तु की अधिक सत्ता और उक्त दोनों वस्तुओं का परस्पर भेद। स्वप्नस्थल में यह भी उपलब्ध है। जिस पिता का स्मरण किया जाता है उसकी जो सत्ता है, वह आरोप्यमाण जो तद्देशवृत्तित्व एवं तत्कालवृत्तित्व तद्देशवृत्तित्वरूप प्रातिभासिकता है, उसकी अपेक्षा अधिक है साथ ही इन दोनों में परस्पर भेद भी है। कारण, आरोप्य-विषय विशेष्य जो पित्रादि एवं आरोप्यमाण या विशेषण जो तद्देशवृत्तित्व और तत्कालवृत्तित्व, इनका परस्पर भेद भी है। क्योंकि आरोपविषय की व्यावहारिक सत्ता होती है एवं आरोप्यमाण की सत्ता प्रातिभासिक सत्ता होती है। व्यावहारिक सत्ता प्रातिभासिक सत्ता से भिन्न है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसके बाद पूर्वदृष्ट पद से कहा गया है वह भी संयुक्त होता है। कारण पूर्वदृष्ट का अर्थ पूर्वदृष्ट के समान है—वह भी यहाँ विद्यमान है। क्योंकि पिता आदि में जो देश और काल का सम्बन्ध अनुभूत हुआ था उसके समान देश और काल का सम्बन्ध स्वप्नकाल में स्मर्यमाण पिता आदि में आरोपित होता है।

अवभास का अर्थ भी स्वप्न में संघटित होता है। अवभास अर्थात् जो ज्ञान से बाधित हो एवं जिसकी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाय। स्वप्न दृष्ट

पिता आदि में यह सर्वथा संप्रयुक्त है। कारण, इस काल में स्मर्यमाण पिता आदि में तद्देश और तत्काल ये दो कल्पित धर्म आरोपित होते हैं, वे जागने पर अतत्काल और अतद्देशवृत्तित्वरूप अधिक सत्तावाले बाधक ज्ञानों के द्वारा बाधित हो जाते हैं एवं स्वप्नकाल के ज्ञान के कार्य जो हर्ष आदि हैं वे भी निवृत्त हो जाते हैं अर्थात् उस स्वप्नज्ञान की कार्यकारिणी शक्ति भी नष्ट हो जाती है[1]।

"पीतः शंखः" (पीला शंख) इस स्थल में भी पूर्व प्रदर्शित—भ्रम लक्षण संघटित होता है। शंख को पीली रोग से ग्रस्त व्यक्ति पीला देखता है। हम-लोगों के नेत्र से जो तेज निकलता है और शंख से सम्बद्ध होता है, यह तेज नयनगोचर जो पीला द्रव्य है उससे संयुक्त होकर ही निकलता है अर्थात् किसी पीतवर्ण पिण्ड से तेज का संसर्ग गृहीत रहता है। पीत धर्मी द्रव्य में रहनेवाला जो उसका धर्म पीलापन उस धर्म का उस धर्मी के साथ जो सम्बन्ध है वह नेत्र के दोष के कारण ज्ञान का विषय नही होता है और शंख का जो शुक्लरूप धर्म है उसके साथ जो शंख का आधाराधेयभाव सम्बन्ध है (शंख आधार है और शुक्ल गुण उसका आधेय है) यह भी दोषवश से गृहीत नहीं होता है शंख के साथ पीतिमा का जो असंसर्ग है यह ज्ञान नहीं रहता है। अर्थात् पीतत्व और तपनीय पिण्ड के साथ संसर्ग गृहीत होने पर भी असंसर्ग गृहीत नहीं होता है और पीतत्व एवं शंख में वर्तमान जो असंसर्ग है वह भी ज्ञात नहीं होता है—यही इन दोनों में असम्बन्ध के अग्रहण का सारूप्य है। अनन्तर उस नयनरश्मिगत पीति द्रव्य की पीतिमा का सम्बन्ध शंख के ऊपर आरोपित होता है। यह सम्बन्ध

१ स्वप्नज्ञानस्यापि स्मृतिविभ्रमरूपस्यैवं रूपत्वात्। तत्रापि स्मर्यमाणे पित्रादौ निद्रोपप्लवादसन्निधानपरामर्शः तत्र तत्र पूर्वदृष्टस्यैव सन्निहितदेशकालत्वस्य समारोपः।

भा०, पृ० १७१

ही इस स्थल में आरोप्यमाण या विशेषण है एवं शंख आरोप विषय या विशेष्य है[1]।

इस भ्रमलक्षण में "स्मृतिरूप" यह विशेषण दिया है इसकी भी संगति प्रकृतस्थल में होती है। पूर्व में ही कहा है कि "स्मृतिरूप" पद का अर्थ संस्कारजन्य एवं असन्निहित विषय होता है। प्रकृत स्थल में संस्कार-जन्यत्व इस ज्ञान में है। कारण, सुवर्ण पिण्ड अथवा पके हुए बिल्वफल में "यह पीला है" इस प्रकार के पूर्व अनुभव से जन्य संस्कार विद्यमान रहता है और इस संस्कार से यह भ्रम उत्पन्न होता है। इसलिए "पीतः शंखः" यह भ्रम संस्कार-जन्य है। इसी तरह यह भ्रम असन्निहितविषय भी है। कारण, सुवर्ण और बिल्वफल के साथ पीतिमा का जो सम्बन्ध वह इस स्थल में नहीं है। किन्तु उसके समान एक कल्पित--सम्बन्ध इस स्थल में आरोप्यमाण होता है और वह इस स्थल में वस्तुतः वर्तमान नहीं है, इसलिए असन्निहित और संस्कारजन्य होने से "स्मृतिरूप" का अर्थ विद्यमान है।

भ्रमलक्षण में द्वितीय पद "परत्र" है। परत्र भी प्रकृत स्थल में उपयुक्त होता है, कारण, इसका अर्थ है आरोप्यमाण से अधिक सत्तायुक्त एवं उससे भिन्न वस्तु में। प्रकृत में परत्र पदार्थ शंख होता है। क्योंकि शंख आरोप्यमाण पीतिमा के सम्बन्ध से अधिक सत्ताविशिष्ट एवं उससे भिन्न भी है।

भ्रमलक्षण में तृतीय पद "पूर्वदृष्टावभासः" है। यह भी प्रकृत स्थल में सुसङ्गत होता है। कारण, इस स्थल में शंख में जो पीतिमा का सम्बन्ध है वह सुवर्णादि में पूर्वदृष्ट पीतिमा के सम्बन्ध के समान एक अनिर्वचनीय कुछ वस्तु

---

१ पीतत्वतपनीययोः संसर्गग्रहेऽप्यसंसर्गो न गृह्यते, एवं पीतत्वशङ्खयोर्वि-
द्यमानो ऽप्यसंसर्गो न गृह्यते इत्यसंबन्धाग्रहणसारूप्यम्।

भा० प्र० पृ० १७१

है, शंख में पीतिमा-सम्बन्ध घट पट के समान व्यावहारिक सत्य नहीं है। कारण, इसका बाध हो जाता है और जो सत्य रहता है उसका बाध नहीं होता है।

इसी प्रकार अवभास का अर्थ भी प्रकृत में संगत होता है। अवभास का अर्थ है जो बाधित होता है एवं बाधित होने पर जिसकी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती है। प्रकृत में शंख में पीतिमा का प्रत्यक्षज्ञान आँख का दोष नष्ट होने पर "शंखः शुक्लः" इस प्रकार के विरोधी प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा निवृत्त हो जाता है साथ ही "शंख पीला है" इस ज्ञान का अन्य कार्य भी निवृत्त हो जाता है। अतः, अध्यासलक्षण "पीतः शंखः" इस स्थल में सर्वथा सुसंगत है।

इसी प्रकार "तीता गुड" इसमें भी यह लक्षण सुसंगत है। इस ज्ञान में तिक्त रस का आधिक्य हमलोगों की जिह्वा में दोष के कारण हो जाता है। अनन्तर मधुर रसयुक्त गुड के साथ जब जिह्वा का सम्बन्ध होता है तब दोष के कारण तिक्त रस के साथ तिक्तता का सम्बन्ध एवं गुड के साथ उसके माधुर्य का जो सम्बन्ध एवं गुड के साथ तिक्तता का असम्बन्ध अज्ञात रहता है। इस अज्ञान के कारण जिह्वा सन्निकृष्ट गुड द्रव्य में उस तिक्त रसगत तिक्तता का जो सम्बन्ध वह आरोपित होता है। अतः "तिक्तो गुडः" इस स्थल में आरोप्यमाण वस्तु तिक्तता का सम्बन्ध है और आरोपविषय है गुड।

पूर्व में जिसने तिक्त द्रव्य का आस्वादन किया है उससे तिक्त द्रव्य के साथ तिक्तता के सम्बन्ध का संस्कार उत्पन्न होता है, वही संस्कार इस स्थल में इस भ्रम का जनक होता है एवं आरोप्यमाण यह सम्बन्ध वास्तव सम्बन्ध नहीं है, अतः, असन्निहित है, अर्थात सन्निहित नहीं है। इसलिए प्रकृत भ्रम में 'स्मृतिरूप" का अर्थ सुसंगत होता है।

इसी प्रकार आरोप्यमाण उस सम्बन्ध से विशेष गुड भिन्न एवं अधिक सत्ता-

विशिष्ट है। इसलिए आरोप्यमाण से भिन्न एवं अधिक सत्ता-विशिष्ट में इस अर्थ को कहनेवाला "परत्र" शब्द भी सुसंगत होता है।

प्रकृत में भ्रम के समय अनुभूयमान सम्बन्ध भी पूर्वदृष्ट तिक्त वस्तु के साथ तिक्तता के सम्बन्ध के समान एक अनिर्वचनीय है। अतः, पूर्वदृष्ट वस्तु के सदृश इस अर्थ में पूर्वदृष्ट भी सुसंगत है।

"तिक्तो गुडः" यह ज्ञान गुड तीता नहीं है, गुड मधुर ही है इस ज्ञान के द्वारा बाधित होता है एवं मानसिक खेद आदि भी नष्ट होता है। एवं बाधित होने पर कार्यकारिणी शक्ति नष्ट हो जाती इस अर्थ का प्रतिपादन करनेवाला अवभास पद भी प्रकृत भ्रम में सुसंगत होता है।

इन तीन भ्रमों का निरूपण कर जल में या ऐनक में मुख का प्रतिबिम्ब होता है— इस भ्रम में लक्षण का संगमन किया है। जल में या ऐनक में गर्दन पर स्थित जिस मुख का आरोप होता है वह अपनी आँख से पूर्व में दृष्ट नहीं है, अतः, उक्त लक्षण की संगति वहाँ नहीं हो सकती है। इसकी संगति प्रदर्शित करते हुए भामतीकार ने कहा है कि सामने स्थित ऐनक एवं स्वच्छ जल में जब हमलोगों का मुख प्रतिबिम्बित होता है तब हमलोगों की नयनरश्मि स्वच्छ या स्वच्छ जल में संलग्न होकर प्रबल सूर्य आदि के तेज के द्वारा प्रतिहत होकर प्रतिकूल दिशा अर्थात् मुख की ओर आती है। उस समय जिस स्थान में वास्तविक मुख रहता है, उसी स्थान के साथ मुख का सम्बन्ध है, यह दोष के कारण नहीं समझ पाते हैं साथ ही जिस स्थान में ऐनक या जल है उसके साथ मुख के असम्बन्ध को भी हमलोग दोष के कारण नहीं समझ पाते हैं, जिस ओर मुख घुमाकर खड़े रहते हैं, उस दिशा की ओर मुख का सम्बन्ध या अभिमुखता को भी भूल जाते हैं, इसके बाद दर्पण में मुख का आरोप करते हैं अर्थात् हम-लोग अपने ही मुख में दर्पणदेशत्व और विपरीत अभिमुखत्व का आरोप करते हैं।

अतः, इस स्थल में आरोप्यमाण वस्तु दर्पणदेशत्व एवं विपरीताभिमुखत्व है एवं आरोपविषय या विशेष्य मुख है। मुख छोड़कर कोई अन्य वस्तु प्रतिबिम्ब रूप में अवगत नहीं होती है।

सभी लोगों को देखकर दर्पणस्थित–वस्तु में दर्पणदेशस्थत्व या दर्पण और दर्पणदेशस्थ के साथ सम्बन्ध का अनुभव होता है। उसी अनुभवजन्य संस्कार से यह भ्रमज्ञान उत्पन्न होता है एवं मुख में दर्पण के स्थान का जो सम्बन्ध वह वास्तव न होने से असन्निहित भी है। अतः, संस्कारजन्य और स्मृतिविषयक यह भ्रम होने से इसमें "स्मृतिरूप" अर्थ संगत होता है। इसी प्रकार विपरीतमुखस्वरूप आरोप्यमाण का ज्ञान होता है। यह भी संस्कारजन्य एवं असन्निहितविषयक है---यह स्वीकार करना होगा।

इसी प्रकार "परत्र" पदार्थ भी विद्यमान हैं। मुखगतदर्पणगतत्वरूप आरोप्यमाण से विशेष्यरूप वास्तवमुख भिन्न एवं अधिक सत्ता विशिष्ट है। यह पूर्व में ही कहा गया है कि आरोप्यमाण से भ्रम के विशेष्य का सत्ताधिक्य एवं भेद ही "परत्र" पद का अर्थ है।

पूर्वानुभूत वस्तु सदृशरूप पूर्वदृष्ट भी प्रकृत में संगत है। दर्पणस्थित वस्तु में जो दर्पणदेश सम्बन्ध है वह इस स्थल में पूर्वानुभूत है। मुखगतरूप से प्रतीयमान जो दर्पणदेश सम्बन्ध वह उसके सदृश है अर्थात् वह इस स्थल में आरोप्यमाण होने से अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या है।

अवभासत्व भी प्रकृत भ्रम में सुसंगत होता है। भ्रम का कारण जो दर्पण उसको हटाने पर मुख दर्पणस्थान से सम्बद्ध और विपरीताभिमुख नहीं है

इस प्रकार का यथार्थज्ञान होने पर दर्पणदेशस्थित मुख है इस भ्रमज्ञान की निवृत्ति होती है[१]।

इसी प्रकार चन्द्र में द्वित्वभ्रम, अलातचक्र भ्रम एवं वंशदण्ड में सर्पभ्रम आदि में प्रदर्शित भाष्यलक्षण सुसंगत होता है। ये भ्रम दो विभागों में विभक्त हो सकते हैं। आचार्य वाचस्पति ने दृष्टान्त प्रदर्शन कर दो प्रकार के भ्रमों का परिचय दिया है। कतिपय भ्रमों में आरोप्यमाण एवं उनके सम्बन्ध ये दोनों ही अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या होते हैं, कतिपय भ्रमों में आरोप्यमाण का सम्बन्ध ही अनिर्वचनीय अर्थात् मिथ्या होता है। प्रथम भ्रम का दृष्टान्त रस्सी में सर्प का भ्रम या शुक्ति में रजत का भ्रम आदि है। दूसरे प्रकार के भ्रम का दृष्टान्त "पीतशंख" तिक्तगुड, आदर्शमुख आदि हैं। रस्सी में जब सर्प का भ्रम होता है वहाँ पर सर्प नहीं रहता है, अतः, सर्प और उसका सम्बन्ध ये दोनों ही आरोप्यमाण होते हैं एवं पीतः शंखः इत्यादि भ्रम में पीतत्व आदि इन्द्रियसन्निकृष्ट एवं सन्निहित होने से वह आरोप्यमाण नहीं होता है किन्तु उसका सम्बन्ध ही आरोप्यमाण होता है। प्रथम प्रकार के भ्रम को प्रकार एवं सम्बन्ध इन दोनों का अध्यासरूप भ्रम कहा जाता है एवं द्वितीय प्रकार के भ्रम को केवल संसर्गाध्यासरूप भ्रम कहा जाता है।

प्रकाशमानत्व ही वस्तु की सत्ता नहीं है। कारण, जो प्रकाशमान होता है वह असत् भी हो सकता है। देह, इन्द्रिय आदि ही प्रकाशमान होते हैं, अतः इनकी भी सत्ता माननी ही पड़ेगी यह कोई आवश्यक नहीं है। रस्सी सर्प के रूप

---

१ एवं विज्ञातृपुरुषाभिमुखेष्वादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु चाक्षुष तेजो लग्नमपि बलीयसा सौरेण तेजसा प्रतिस्रोतः प्रवर्तितं मुखसंयुक्तं मुखं ग्राहयद् दोषवशात्तद्देशतामनभिमुखतां च तस्याग्राहयत् पूर्वदृष्टाभिमुखादर्शोदकदेशताभिमुख्यं च मुखस्यारोपयतीति प्रतिबिम्बभ्रमोऽपि लक्षितो भवति।

भा०, पृ० १७१

में प्रकाशित होता है, स्फटिक रक्त रूप में प्रकाशित होता है, किन्तु इनकी सत्ता कौन स्वीकार करता है? ऐसी स्थिति में रस्सी सर्प नहीं हो जाती है या सर्प के धर्म रस्सी में नहीं आ जाते हैं इसी प्रकार स्फटिक लाल नहीं हो जाता है या लाल पदार्थ का धर्म ही स्फटिक में नहीं आ जाता है। इसलिए मात्र भासमान होने से वस्तु नहीं हो जाती है। भासमान होने से यदि कहीं किसी की सत्ता स्वीकृत हो जाय तब सभी स्थलों में जो वस्तु जिस रूप में भासित होती है, उन वस्तुओं की उस रूप में परमार्थ–सत्ता माननी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में मरुभूमि में सूर्य किरण समूह उन्नत उठती हुई तरंगों के भंगों से युक्त मन्दाकिनी के रूप में अवगत होती है, उस मन्दाकिनी के जल के पान से लोगों के प्यास की निवृत्ति भी होनी चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता है, इसलिए बाध्य होकर यह मानना पड़ेगा कि आरोपित पदार्थ प्रकाशमान होने पर भी वस्तु सत अर्थात् वास्तविक सत्ता से युक्त नहीं हो सकता है[१]।

इसमें पूर्वपक्षियों का यह कथन है कि मरुभूमि में जिस जल का प्रकाश होता है वह सत्य है, किन्तु मरीचिरूप में जल कभी भी सत वस्तु नहीं हो सकता है, पर वही जल अपने रूप में वस्तु सत् ही है। अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त में देह, इन्द्रिय आदि की स्वरूपतः भी जब कोई सत्ता नहीं है तब अनुभव का विषय होकर किस प्रकार आरोपित हो सकता है?

यह शंका समीचीन नहीं है, कारण असत वस्तु अनुभव का गोचर नहीं होती है यह मानने पर जल रूप में मरीचि सत नहीं है तब वह अनुभव का विषय कैसे होती है? जल की स्वरूप सत्ता मरीचि की सत्ता नहीं हो सकती है, किन्तु मरीचि जलरूप में प्रकाशमान होती है, अतः प्रकाशमान होने से ही कोई वस्तु सत् नहीं हो सकती है[१]।

---

१ वही पृ०, १७२

१ यतो यद्यसन्तः, नानुभवगोचराः। कथं मरीच्यादीनामसतां तोयतयाऽनुभवगोचरत्वम्? न च स्वरूपसत्त्वेन तोयात्मनाऽपि सन्तो भवन्ति।

भा०,पृ०, १७२

प्रभाकरमतवालों का कथन है कि—इस संसार में अभाव के रूप में कोई पदार्थ ही नहीं है, सभी वस्तु भाव स्वरूप हैं। किसी भाव पदार्थ को अन्य किसी भाव वस्तु के रूप में अवगत करते हैं तभी वह पदार्थ अभाववाच्य होता है। अभाव रूप में वाच्य होने पर भी अभाव वस्तु स्वरूपतः भाव वस्तु ही है। जो जिसका स्वरूप है, उसको उससे कभी भी हटाया नहीं जा सकता है। अतः, अभाव या असत् कोई भी पदार्थ नहीं है। प्रभाकर के मत वाले सत्ख्यातिवादी हैं[1]।

---

1 इस मत का प्रकाशन श्लोकवार्तिक में आचार्य कुमारिल ने निम्नलिखित रूप में किया है। भाववस्तु विशेष ही किसी भाववस्तु विशेष की अपेक्षा कर अभावरूप में व्यवहृत होती हैं। हमलोग सभी वस्तुओं को दो रूप में देखते हैं। कभी उसको भावरूप में देखते हैं और कभी उसी को अभावरूप में देखते हैं। जब उस वस्तु के अपने स्वरूप को देखते हैं तब उसको भाव के रूप में निर्दिष्ट करते हैं और जब उसको किसी अन्य वस्तु के रूप में देखते हैं तब उसको अभाव के रूप में निर्दिष्ट करते हैं। जब यह कहते हैं कि "पृथ्वी घटाभाववती है" तब शुद्ध भूतल के स्वरूप की अवगति हमलोगों को नहीं होती है वरन् घट आदि पदार्थों का भाव मन में उदित होता है। उस समय उसके साथ घट आदि को मिलाकर उस रूप में भूतल को समझना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में भूतल को घटाभाववान् के रूप में निर्देश करते हैं। इस समय वास्तविक घटाभाव कहकर भूतल का कोई एक धर्म या पदार्थान्तर हमलोगों के अनुभव का गोचर होता है ऐसी बात नहीं है वरन् विरोधी घटरूप में भूतल की भावना ही घटाभाव की भावना है। घट के रूप में भूतल की भावना ही भूतल में घटाभाव की भावना है। घटरूप में भूतल का ज्ञान ही उस समय भूतल में घटाभाव का ज्ञान है। ऐसे स्थल में आरोपित घटवस्तु सत् है एवं जिस भूतल में उस वस्तु का आरोप होता है वह भी सत् है। भूतल अपने रूप में सत् रूप में व्यवहृत होता है और वही घटरूप में घटाभाव रूप में अर्थात् अभावरूप में विवेचित होता है। अभाव इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस मत में सभी ज्ञानों में किसी भी स्थल में असत् वस्तु का प्रकाश नहीं होता है। दो भाव पदार्थों की

मीमांसकों के द्वारा बौद्धमत का खण्डन

बौद्धों के मत में सत्ता नहीं मानी गई है। कारण, अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु की सत्ता है इस मत में किसी भी बाह्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारिता नहीं है। इस मत में अपने पूर्ववर्ती ज्ञान के द्वारा ही ज्ञान उत्पन्न होता है एवं वही पूर्वज्ञान के प्रभाव से अपने असाधारण स्वभाव का ही लाभ करता है, वे असत् का ही प्रकाश करते हैं और यह असत् के प्रकाशन करने की शक्ति के ज्ञान में विद्यमान रहते हैं, यही अविद्या हैं।

इस विषय में प्रभाकर का कहना है कि यह बौद्धमत संगत नहीं है। कारण, ज्ञान में असत् प्रकाशन शक्ति रूप जो अविद्या स्वीकृत की गई है, उस शक्य वस्तु का क्या स्वभाव है? अर्थात् इस शक्ति के द्वारा कौन कार्य साधित होता है—यह जानना आवश्यक है। क्या इस शक्ति के द्वारा जो कार्य होता है वह असत् है? ऐसी स्थिति में यह प्रश्न होता है कि असत् शब्द का क्या अर्थ है? यह कार्य या ज्ञान से प्रकाश्य है? असत् को कार्य मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि, जो असत् है वह कार्य कैसे हो सकता है? असत् को ज्ञानप्रकाश्य भी नहीं माना जा सकता है। कारण, बौद्धमत में जब ज्ञानव्यतिरिक्त कोई विषय ही नहीं है तब ज्ञाप्य होने पर एक ज्ञान को ही इस ज्ञान का विषय मानना पड़ेगा। किन्तु, प्रकृत स्थल में ज्ञान का विषय और ज्ञान एक अनुभूत नहीं होता है। घट पट आदि के विषय में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह

ही लेकर मात्र विशेष्य विशेषणभाव होता है। एक भाव पदार्थ किसी अन्य भाव के द्वारा जब अवगत किया जाता है तब उसको असत् कहकर निर्देश किया जाता है, वस्तुतः असत् वस्तु नहीं है। कारण, ज्ञान में दो भावपदार्थ ही प्रकाशित होते हैं। कोई अपने रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं तो कोई अन्य के रूप में प्रकाश प्राप्त करते हैं। स्व और पर वस्तु ये दोनों ही सत् हैं। इसी रूप में प्रभाकरमतावलम्बी अपने मत की दृढ़ता के लिए ही बौद्धमत का खण्डन करते हैं।

दो ज्ञान नहीं होता है वरन् एक ही ज्ञान होता है यही सर्वसम्मत है। यदि ज्ञान के विषय के रूप में एक और ज्ञान को स्वीकार किया जाय तब वह विषयीभूत जो ज्ञान वह निर्विषयक नहीं हो सकता है, अतः उसका भी एक विषयीभूत ज्ञान है यह मानना पड़ेगा साथ ही वह विषयीभूत ज्ञान भी ज्ञान के स्वभाव से निर्विषयक नहीं हो सकता है और इस प्रकार ज्ञान के विषय को ज्ञान कहने पर अनवस्था दोष होगा, अतः ज्ञान का विषय ज्ञानान्तर होता है यह स्वीकार करना उचित नहीं है।

सत्ख्यातिवादियों के अनुसार अभाव की सत्ता न मानने से प्रकृत में यह कहना था कि मरुमरीचि में जल भावरूप से कहने योग्य होने से जल अनुभवगोचर हो सकता है किन्तु प्रपञ्च तो सर्वथा असत् एवं अर्थक्रियाकारित्व आदि सामर्थ्यशून्य निस्तत्त्व है, अतः, वह कैसे अनुभव का विषय हो सकता है और कैसे आत्मा में देह का एवं उसके धर्म का आरोप हो सकता है?

यदि यह कहा जाय कि असत् विषय देहादि में सभी सामर्थ्य का अभाव होने से स्वयं-ज्ञान-विषय-भाव में सामर्थ्य का अभाव होने पर भी ज्ञान ही अपने ज्ञान-सामर्थ्य से असद्-विषय-प्रकाशन-स्वरूप होगा—इस शून्य मत का सत्ख्यातिवादियों ने आशंका कर निराकरण किया है[1]। इस मत का विश्लेषण पूर्व में किया है पुनः इसमें अन्य शङ्काओं का उद्भावन कर निराकरण की प्रक्रिया का प्रदर्शन कर रहा हूँ। उनलोगों का यह कथन है कि विज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह असत् का प्रकाश करता है। इस विषय में यह जिज्ञास्य है कि सत्स्वरूप ज्ञान का असत्स्वरूप विषय के साथ क्या सम्बन्ध है? क्या असत् के अधीन निरूपण होना सत्यस्वरूप ज्ञान का असत् विषय के साथ सम्बन्ध है या

---

१ ननु देहादेरसतो विषयस्य समस्तसामर्थ्याभावेन स्वयं ज्ञानविषयभावे सामर्थ्याभावेऽपि ज्ञानं स्वप्रत्ययसामर्थ्यासद्विषयकभानरूपं भविष्यतीति शून्यमतं स एव सत्ख्यातिवाद्याशङ्क्य निराकरोति।

ऋ० प्र०, पृ० १७३

दोनों में अविनाभावरूप सम्बन्ध है ? इनमें प्रथम स्वरूप मानने पर उपहासपूर्वक आपत्ति प्रदर्शन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि यह ज्ञान अतिशय तपस्वी है जो असत् का भी निरूपण करता है। किसी वस्तु के रहने पर कोई उसका उपकार करता है किन्तु ज्ञान का निरूपण असत् में भी होता है, जिसका उपकार करना है उसके न रहने पर उसके प्रति उपकार कोई नहीं करता है, अतः, ज्ञान को अतिशय तपस्वी ही कहना पड़ेगा अर्थात् असत् के साथ सत् का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। आशय यह है कि ज्ञान अतिशय शोचनीय है क्योंकि इसका स्वरूप निरूपण करने में असत् का साहाय्य-ग्रहण किया जाता है, असत् में यह साहाय्य करने की कौन शक्ति है ? यदि कोई शक्ति उसमें रहती तो वह असत् ही नहीं रहता ? यदि यह कहा जाय कि ज्ञान ही उसमें इस शक्ति का आरोप कर देता है तो यह कथन भी ठीक नहीं है। कारण, असत् शक्ति का आकार कैसे हो सकता है ? द्वितीय पक्ष अर्थात् असत् न रहने पर ज्ञान का आत्मस्वरूप ही प्रकाशित नहीं होगा—यही ज्ञान का स्वतः सिद्ध स्वभाव है—यह कथन भी ठीक नहीं है। वास्तविक असत् वस्तु के द्वारा ज्ञान का जिस किसी प्रकार साहाय्य किया जाता है—यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का विचित्र असत्-पक्षपात स्वभाव मानना होगा। यह असत् से उत्पन्न नहीं होता है अथ वा इसका असत् स्वभाव भी नहीं है फिर भी असत् के बिना प्रकाशित नहीं हो सकता है--यह कथन सर्वथा असंगत है। अतः, बौद्धमत युक्ति-संगत नहीं हो सकता है। यही बौद्धों के असत्ख्याति का प्राभाकर के द्वारा निराकरण है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि शरीर, इन्द्रिय आदि नितान्त असत् है, उनमें किसी प्रकार का तत्त्व नहीं है और यह मानने पर वे किसी प्रकार अनुभव के विषय नहीं हो सकते हैं--इन्हीं कारणों से मीमांसकों ने स्वीकार किया है कि अभावरूप कोई पदार्थ नहीं है सभी पदार्थ भावस्वरूप हैं। अतः वेदान्त-मत में भ्रम का स्वरूप सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण, भ्रम-स्थल में

वेदान्त-मत में आरोप्यमाण असत् है। इसमें यह अनुमान भी प्रदर्शित किया जा सकता है—देहादि (पक्ष) सत् है (साध्य) भासमान होने से (हेतु) आत्मा के समान (उदाहरण)।

इसके समाधान में भामतीकार ने कहा है कि यदि असत् वस्तु अनुभवगोचर न हो तो क्या माना जायगा कि जलरूप में जो सूर्यरश्मि प्रकाशित होती है वह सत् है? क्योंकि उसी रूप में वह अनुभवगोचर होती है। आशय यह है कि सत् ही अनुभवगोचर होता है निस्तत्त्व अनुभवगोचर नहीं होता है, क्योंकि जलरूप में भासमान मरीचि जलरूप से अनुभवगोचर होती है? इसके उत्तर में उनका कहना है कि मरीचि जलरूप में सद्रूप नहीं हो सकता है। कारण, जलरूप से सूर्यमरीचि का असत्त्व हमलोगों के मत में भी अभीष्ट है। इसमें सिद्धान्ती की यह आशंका है कि मरीचि जलरूप से प्रकाशित होता है या नहीं? जलरूप से प्रकाशित नहीं होता है यह अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि, इसमें अनुभव विरोध होता है। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो जलरूप से मरीचि का आप असत्त्व स्वीकार करते हैं और असत् जो जलरूप से मरीचि है उसका प्रकाश स्वीकार करने पर असत्ख्याति की आपत्ति होगी? इसके उत्तर में मीमांसकों ने कहा है कि वस्तु का स्वरूप दो प्रकार का है। एक सत्त्व और दूसरा असत्त्व। इनमें सत्त्वरूप स्वतः होता है। वस्तु अपने स्वरूप से ही सत् है और असत्त्वरूप अन्य वस्तु की अपेक्षा कर होता है अर्थात् अन्य-वस्तु के स्वरूप से वस्तु में असत्त्व होता है। जैसे मरुमरीचि-स्थल में सूर्यरश्मि सत् है और उसमें जलरूपता असत्त्व है। यह जल के अनुभव से उत्पन्न जो जलसंस्काररूप अन्य पदार्थ है उसकी अपेक्षा करके ही होता है। इस विषय में आचार्यों का भी कथन है—वस्तु सदा ही अपने स्वरूप एवं दूसरे के स्वरूप से सत् एवं असत् कहे जाते हैं। ऐसी स्थिति में कोई रूप कभी कोई जानता है और कभी नहीं जानता है। फलतः, भाव पदार्थ ही अन्य पदार्थ के

स्वरूप से अभाव होता है और स्वरूप से भाव रहता है। अतः, ये दोनों भाव-स्वरूप हैं। अतः, भान होने पर भी पूर्वोक्त असत्ख्याति की आपत्ति नहीं है। कारण की विचित्रता से ही कोई कभी वस्तु को सत् या असत् रूप में अनुभव करने में समर्थ होता है।

प्राभाकर ने जो यह कहा कि मरुमरीचि में जो जल का ज्ञान होता है, यह यथार्थ ज्ञान है, इसका बाध नहीं होता है। किन्तु यह कैसे हो सकता है? इस ज्ञान का बाध तो सभी सिद्धान्तों में माना गया है। जो जल नहीं है उसको जल नहीं है इस रूप में ज्ञान करने पर ही उसका बाध नहीं होगा। किन्तु, जो जल नहीं है उसको जल के रूप में ग्रहण किया जाय तब यह कैसे कह सकते हैं कि यह ज्ञान भ्रान्त नहीं है? अथवा यह बाधित होने योग्य नहीं है? उनके मत में मरीचि की जलाभावरूपता स्वतः सिद्ध है। अतः, उसकी जलरूपता कभी भी सत् नहीं हो सकती है एवं उसको असत् भी नहीं कहा जा सकता है। कारण, आपके मत में अन्य वस्तु ही अन्य वस्तु की असत्ता है। क्योंकि आपने पूर्व में ही कहा है कि भावान्तर ही अभाव है। इससे अतिरिक्त अभाव कुछ भी नहीं है, अतः, वह असत् नहीं हो सकता है। मरीचि के ऊपर आरोपित जो जलरूप है, वह कोई व्यावहारिक वस्त्वन्तर नहीं हो सकता है। कारण, क्या वह मरीचि होगा? या गंगा में जल होगा? यदि इसको मरीचि माना जाय तब उसको देखकर "यह मरीचि है" यह प्रतीति हो उचित है 'यह जल है यह ज्ञान होना उचित नहीं है। यदि उसको गंगा का जल मरीचि नही है यह कहा जाय, तब उसको देखकर गंगा का जल नहीं है यह ज्ञान होना ही उचित है। इस स्थल में मरुभूमि में जल—यह ज्ञान कैसे होगा? यदि यह कहा जाय कि वस्तुतः जिस स्थान में गंगा में जल पहले देखा गया है, मानसिक दुर्बलता आदि दोषों के कारण वह देशविशेष स्मृतिगोचर नहीं होता है, केवल जल ही ज्ञानगोचर होता है, यह भी कथन समीचीन नहीं है। कारण, ऐसा होने पर शुद्ध जल यह

प्रतीति होगी 'यहाँ जल' यह ज्ञान कैसे होगा? अतः, मीमांसकों के द्वारा मरुमरीचिका में जल–भ्रान्ति-स्थल में भी जो सत्य प्रतीति स्वीकृत की गई है— यह किसी तरह भी युक्ति संगत नहीं हो सकती है[१]।

अद्वैतवेदान्तियों का कथन है कि इस प्रकार के भ्रमस्थल में जो आरोप्यमाण होता है वह सत् अर्थात् पारमार्थिक या व्यावहारिक नहीं हो सकता है, एवं वह गगनपुष्प के समान अलीक = तुच्छ भी नहीं हो सकता है, वरन् वह अनिर्वचनीय है। यदि वह पारमार्थिक या व्यावहारिक सत्य होता तो व्यवहारकाल में उसका बाध कभी भी नहीं होता। यदि वन्ध्यापुत्र या गगनपुष्प के समान तुच्छ होता तो वह कभी प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता, अतः, वह असत नहीं हो सकता है। जो सत् या असत् नहीं हो सकता है वह सत् और असत् का मिलित रूप कैसे हो सकता है? अतः, इसकी अनिर्वचनीयता ही माननी पड़ेगी। अनिर्वचनीय सत्ता ही अद्वैतवेदान्त में प्रातिभासिक सत्ता मानी गई है[२]।

प्रदर्शित युक्तियों के आधार पर यही सिद्ध हुआ कि मरुमरीचिका आदि में अध्यस्त जलादि सत्य जलादि के समान प्रतीत होता है, किन्तु वह वास्तविक जल नहीं है। इसलिए वह पूर्वदृष्ट नहीं है वरन पूर्वदृष्ट जलादि के समान प्रतीत होता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह जल भी नहीं है एवं पूर्वदृष्ट अन्य वस्तु भी नहीं है। इस प्रकार की वस्तु को अनृत या अनिर्वचनीय कहा जाता है। इसी रूप में देह इन्द्रिय आदि प्रपञ्च अनिर्वचनीय सिद्ध होता है। यह वस्तुतः पूर्वदृष्ट न होने पर भी पूर्वदृष्ट के समान प्रतीत होता है। पूर्व-पूर्व मिथ्याज्ञान से उत्पन्न जो संस्कार यह उसी का परिणाम है, इस प्रपञ्च से अत्यन्त विलक्षण परमार्थ सत् जो चैतन्यरूप ब्रह्म उसी में यह आरोपित होता। अतः, प्रदर्शित यह अध्यास का लक्षण यहाँ सुसंगत होता है।

---

१ वही, पृ० १७५

२ भा०, पृ० १७५

इस अध्यासलक्षण का अवभास अंश ही प्रकृत लक्षण है और पद परिचायक-विशेपण हैं। इस परिचायक विशेपण की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न के उत्तर में यहां कहना उचित होगा कि अन्य दार्शनिकों के अनुसार भ्रम के जो चार स्वरूप वर्णित होंगे उससे इसका पार्थक्य समझना इस विशेपण के बिना असम्भव हो जायगा। अतः, ये विशेपण दिये गये हैं। जैसे—सौत्रान्तिक, वैभापिक और विज्ञानवादी की आत्मख्याति, शून्यवादी बौद्धों की असत्ख्याति, प्राभाकर मीमांसकों की अख्याति एवं नैयायिकों की अन्यथाख्याति है। अद्वैत-वेदान्त-मत में स्वीकृत अनिर्वचनीय-ख्याति का प्रदर्शन करने के लिए उक्त विशेपण दिये गये हैं। अन्यथा जो बाधित होता है वही भ्रम है यही अवभास पद का अर्थ होगा। इस प्रकृत लक्षण से अध्यस्त विपय एवं अध्यास इन दोनों का स्वरूप वर्णन कर दिया है।

यह प्रश्न हो सकता है कि आत्मा भी अनिर्वचनीय क्यों नहीं होता है? आत्मा चैतन्यरूप परमार्थ सत् है। यह श्रुति, स्मृति, इतिहास एवं पुराणादि शास्त्रों में प्रतिपादित किया गया है। श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणादि के अनुकूल जो युक्तियाँ हैं, उनके द्वारा आत्मा का स्वभाव नित्यशुद्ध, नित्यबुद्ध, नित्यमुक्त प्रतिपादित किया गया है। अतः, चैतन्य आत्मा अनिर्वचनीय नहीं हो सकता है। अबाधित स्वयं प्रकाशरूपता ही आत्मा की सत्ता है। यह सत्ता आत्मस्वरूप है, इससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। यह सत्ता नैयायिकों की सत्ता-सामान्य-समवाय या बौद्धसम्मत अर्थक्रियाकारित्वरूप आत्मा का धर्मविशेष नहीं है।

प्रकृत में यह ध्यान देने योग्य बातें हैं कि रत्नप्रभाकार ने इस स्थल में भ्रमलक्षण के व्याख्यान—प्रसंग में प्रपञ्चमिथ्यात्व के प्रति अधिक लक्ष्य किया है। भामतीकार ने भ्रम और भ्रम के विपय प्रपञ्च इन दोनों पर ध्यान दिया है।

रत्नप्रभाकार के मत में 'परत्र अवभासः' और भामतीकार के मत में 'अवभासः' इतना ही लक्षण माना गया है। भामतीकार ने अवभास शब्द का जो व्याख्यान किया है उसके द्वारा इतना ही भ्रम का सर्वमत-साधारण पूर्णलक्षण होने से रत्नप्रभाकार के द्वारा 'परत्र' शब्द का ग्रहण करने से भाष्य के उपसंहार में 'सर्वथापि अन्यस्य अन्यधर्मावभासतां न व्यभिचरति' अर्थात् सभी मतों में अन्य का अन्य धर्म के रूप में प्रकाश होना ही भ्रम का साधारण स्वरूप है, उसका अन्यथा नहीं होता है, इस वाक्य के साथ अतिशय सामञ्जस्य होता है। भाष्यकार की इस उक्ति से अवगत होता है कि भ्रम के साधारण लक्षण में 'परत्र' पद उनको अभिप्रेत है, अन्यथा 'सर्वत्र अवभासतां न व्यभिचरति' इसी वाक्य का प्रयोग करते। किन्तु भामतीकार का अर्थ गम्भीर एवं प्रकृतोपयोगी है।

भाष्योक्त अध्यासलक्षण की व्याख्या के प्रसंग में रत्नप्रभाकार ने स्वयं एक अध्यास का लक्षण किया है—'एकावच्छेदेन स्वसंसृज्यमाने स्वात्यन्ताभाववति अवभास्यत्वम् अध्यस्तत्वम्' एक ही अंश में अपने साथ संसृष्ट होकर प्रतीत, और अपने अत्यन्ताभाव से युक्त जो वस्तु, उसमें जो अवभासित होता है—वही अध्यस्त अर्थात् अध्यास है। इस अध्यास के लक्षण के द्वारा अध्यस्त विषय का ही स्वरूप निरूपण प्रधान रूप से किया गया है, इसीलिए अध्यास पद का अर्थ अध्यस्त कहा है। अध्यास की निष्पत्ति—अधि+अस्+कर्मवाच्य घञ् प्रत्यय के द्वारा की है।

शुक्ति में रजत के अध्यास स्थल में इस लक्षण का संगमन निम्नलिखित रूप में होता है—एक ही अंश में संसृष्ट होकर प्रतीत इसके द्वारा शुक्तिगत इदन्ता अंश में संसृष्ट रजत अवगत होता है, अपने अत्यन्ताभावयुक्त वस्तु के द्वारा इदन्ताविशिष्ट शुक्ति अवगत होती है। इसमें जो अवभासित होता है इससे रजत पदार्थ अवगत होता है—यही अध्यास अर्थात् अध्यस्त वस्तु है। इसका अर्थ होता है रजत से अत्यन्त भिन्न अर्थात् रजत के अत्यन्ताभाव से युक्त जो

शुक्ति उस शुक्ति में रजत-संसर्ग रहता है एवं उसी शुक्ति में रजत आरोपित होता है। उपनिषद् में भी 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि जो वाक्य हैं उनके द्वारा अध्यस्त का यह लक्षण ही समर्थित होता है। कारण, इदं शब्द का अर्थ अखिल प्रपंच के सत् आधार रूप में प्रतीयमान जो ब्रह्म, उसमें 'किञ्चन नाना' अर्थात् विभिन्न रूप में विद्यमान कोई भी वस्तु नहीं है। ब्रह्म प्रपञ्च-संसृष्ट-रूप में प्रतीयमान होने पर भी वस्तुतः उसमें तीनों काल में कोई प्रपञ्च नहीं है, ब्रह्म इन सभी प्रपञ्चों के अत्यन्ताभाव से युक्त है, सभी प्रपञ्च ब्रह्म में ही आरोपित या संसृष्ट होकर प्रतीत होते हैं। अतः, रत्नप्रभाकार का लक्षण भी सुसंगत होता है।

विवरणानुसार अध्यास का सिद्धान्त-पक्ष

पूर्व परिच्छेद में हमलोगों ने उपादान के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना की है। अब यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जिस अध्यास के अस्तित्व के विषय में पूर्वपक्ष सिद्धान्त और उसका उपादान प्रदर्शन किया गया है, उस अध्यास का स्वरूप क्या है? भाष्यकार शंकराचार्य ने कहा है कि **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाभास**[1]। इन्हीं तीन पदों में अपरिमेय चिन्ता-राशि निगूढ़-रूप से अवस्थित है। अद्वैतवाद के भिन्न-भिन्न आचार्यों के विश्लेषण से ही इस विषय की अभिव्यक्ति हो पाती है। पूर्वोक्त अध्यास के स्वरूप उद्‌घाटन में स्वयं विवरणकार एवं विवरणानुसारी टीकाकारों ने अपनी असाधारण प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार भामतीकार एवं उनके पृष्ठसेवी आचार्यों ने भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि प्रदर्शित की है। पूर्वोक्त अध्यास लक्षण का संक्षिप्ततम आशय यह है कि अध्यास स्मृति रूप है—असन्निहित-विषयकत्व ही स्मृति भ्रम का साधारण रूप है। परत्र शब्द के द्वारा अधिष्ठान रूप धर्मी का बोध होता है। **पूर्वदृष्टावभास** शब्द के द्वारा पूर्वदृष्ट का ज्ञान (प्रत्यक्षात्मक-ज्ञान) अर्थात् साक्षात्कारात्मकज्ञान का बोध होता है। पूर्वदृष्ट शब्द के द्वारा अध्यास संस्कार-जन्य है यही व्यक्त होता है। जिसको जिस पदार्थ विशेष का संस्कार नहीं रहेगा उसको उस विषय में अध्यास नहीं होगा। अध्यास अथ वा भ्रमज्ञान का यह लक्षण अनिर्वचनीयख्याति पक्ष में ही समझना चाहिए। सत्ख्याति और सदसत्ख्याति इन ख्यातिओं के निरास से ही अनिर्वचनीयख्याति में पर्यवसान होता है। इसका रहस्य यह है कि भ्रम में भासमान वस्तु सत् नहीं है असत्

1 शां० भा०, पृ० १५७

नहीं है और सदसत् रूप भी नहीं है, वरन् इन तीनों से विलक्षण है। स्मृतिरूप पद के द्वारा भ्रम ज्ञान को असन्निहित-विषयक कहने से सत्ख्याति का निवारण हो जाता है। असन्निहित सद् वस्तु का अवभास (प्रत्यक्ष) नहीं हो सकता है। अवभास पद के द्वारा असत्ख्याति का निवारण होता है। कारण, असत् शशशृंग का प्रत्यक्ष नहीं होता है। सत्ख्याति और असत्ख्याति दोनों के न होने पर सदसत्ख्याति भी नहीं हो सकती है। सदसत्ख्याति कहने से इन दो ख्यातियों में दिए गए सभी दोष आ जायेंगे। इसलिए इन ख्यातित्रय से विलक्षण चतुर्थ ही ख्याति अनिर्वचनीयख्याति सिद्ध होती है। भाव यह है कि शुक्ति में यह रजत है, इस भ्रम में भासमान रजत अनिर्वचनीय है।

अध्यास का पूर्वोक्त लक्षण आपात दृष्टि से ज्ञानाध्यास पक्ष में ही सुसंगत प्रतीत होता है। परन्तु ज्ञान का अध्यास होने से ही विषय का भी अध्यास स्वीकार करना ही पड़ता है। अर्थात् किसी एक का अध्यास नहीं होता है। इसलिए विषयाध्यास पक्ष में भी इस लक्षण की सगति माननी पड़ेगी। इस स्थिति में स्मृति-रूप पद का अर्थ स्मर्यमाणरूप होगा। स्मृति-रूप ज्ञान कहने से ज्ञान का लाभ होता है। और स्मर्यमाण कहने से अर्थ का लाभ होता है। रूप शब्द के द्वारा सारूप्य समझा जाता है। स्मृति के साथ भ्रम ज्ञान का सारूप्य समझा गया है। स्मृति के साथ भ्रम ज्ञान का सारूप्य है। कारण, ये दोनों ही असन्निहित-विषयक होते हैं। इसी प्रकार स्मृति-विषयस्वरूप स्मर्यमाण विषय अथ वा वस्तु के साथ अध्यस्यमान वस्तु अथवा विषय का सारूप्य है। स्मृति शब्द के द्वारा स्मृतिज्ञान और स्मर्यमाण विषय इन दोनों का ग्रहण होता है। इसी अभिप्राय से पंचपादिकाकार ने स्मर्यत इति स्मृतिः स्मर्यमाणरूपमिव रूपं यस्य इति स्मृतिरूपं यह विग्रह प्रदर्शन किया है[1]।

---

१ पं० पा०, पृ० १५८—१५६

इसमें शंका होती है कि पंचपादिकाकार ने लक्षण-घटक अवभास शब्द के आशय प्रदर्शन प्रसंग में कहा है परत्रेत्युक्ते परस्य अवभासमानता सिद्धा[1]। इस कथन से सुस्पष्ट है कि पंचपादिकाकार ने जो अवभासमानता कहा है, इससे स्मृतिपद में कर्म-व्युत्पत्ति स्वीकार कर अवभासमानता शब्द के द्वारा अर्थाध्यास को समझाना चाहते हैं। परन्तु यह कथन समीचीन नहीं है। कारण, स्मृतिरूप पद के साथ अवभासपद का सामानाधिकरण्य लक्षित नहीं हो सकेगा। क्योंकि, स्मृति ज्ञान भी स्मृति शब्द की व्युत्पत्ति से ही निष्पन्न हुआ है।

इसके उत्तर में विवरणकार ने कहा है स्मृति शब्द में कर्मव्युत्पत्ति के द्वारा स्मर्यमाण विषय का बोध होता है।

पाणिनि[2] ने 'भावे' इस सूत्र के द्वारा भाव में घञ् आदि प्रत्ययों का विधान किया है। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (३–३–१९) इस सूत्र के द्वारा कर्मकारकाधिकार में घञ् आदि प्रत्यय का विधान किया गया है। इस सूत्र के द्वारा कर्तृव्यतिरिक्त कारक में संज्ञा समझाने से ही घादि प्रत्यय होगा यही अर्थ व्यक्त होता है। फलतः, स्मृति शब्द संज्ञा वाचक न होने से इसमें योग वृत्ति का अवलम्बन कर इसको-कर्म परक ग्रहण करना अनुचित होगा। कर्म और भाव में वृद्ध

---

१ परत्रेत्युक्तेऽर्थात्परस्यावभासमानता सिद्धा (पं० पा०, पृ० १५७)

२ स्मृति शब्द की कर्मव्युत्पत्ति के सम्बन्ध में पञ्चपादिकानुसारी विवरणाचार्य का व्याकरण सम्बन्धी विचार यद्यपि दार्शनिक निबन्ध में अप्रासंगिक है, तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए व्याकरण सम्बन्धी विचार का सारांश प्रदर्शन आवश्यक प्रतीत होता है। यह निबन्ध पाश्चात्य दर्शन शास्त्र का नहीं है। इसलिए पाश्चात्य दृष्टि से इसका विचार करने पर व्याकरण शास्त्र के विचार की अवतारणा अनपेक्षित मालूम हो सकती है, परन्तु भारतीय दार्शनिक-परम्परा में व्याकरण विचार इतना सुसम्बद्ध एवं सुग्रथित है कि सभी शास्त्रों के जीवातु रूप व्याकरण शास्त्र की उपेक्षा करके विचार अग्रसर नहीं हो सकता है। इसलिए पाश्चात्य दृष्टिकोण से व्याकरण विचार वर्तमान प्रसंग में अनुपयुक्त होने पर भी इसका प्रदर्शन आवश्यक है।

वैयाकरणों ने घञादि का प्रयोग किया है, जैसे—को भवता दायो दत्तः, को भवता लाभो लब्धः, इसी प्रकार पाकः त्यागः रागः आदि में भी भाव में घञ्-प्रत्यय-घटित प्रयोग का प्रदर्शन किया है। विवरणाचार्य का यह कथन है कि वृद्धों का प्रयोग भी व्याकरण का मूल है। उनलोगों ने स्मृति शब्द को भी कर्मपरत्व मानकर प्रयोग किया है[1]।

इसमें यह जिज्ञासा हो सकती है कि ऐसी स्थिति में 'अकर्तरि च' इस सूत्र का सामञ्जस्य किस प्रकार सम्भव होगा, क्योंकि, स्मृति शब्द की कर्मव्युत्पत्ति स्वीकार करने पर प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन उसमें दिखाना आवश्यक होगा। सूत्रकार केवल संज्ञा अवगत कराने में ही कर्तृव्यतिरिक्त कर्मादिकारक में घञादि प्रत्यय को स्वीकार किया है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन यह है कि भावे अकर्तरि च इन दोनों सूत्रों की स्त्रियां क्तिन् (३–३–९४) इस सूत्र में अनुवृत्ति होती है। इसका अर्थ है कि भाव और कर्तृव्यतिरिक्त कारक में संज्ञा में ही और अकर्तरि च इस सूत्र में च शब्द के प्रयोग-बल से संज्ञा के समान असंज्ञा में भी घादि का विधान होता है[2]। निष्कर्ष यह हुआ कि कर्तृकारक छोड़कर कर्मादिकारक एवं भाव में संज्ञा और असंज्ञा उभयत्र घादि का विधान होता है। स्मृति पद की निष्पत्ति स्मृ धातु से क्तिन् प्रत्यय कर होती है। क्तिन् प्रत्यय भी भावे और अकर्तरि च इसके अन्तर्गत होने से कर्त्ता से अतिरिक्त सभी कारक और भाव में

---

१ ननु घादीनां भावे विधानात् कथं कर्मपरतया स्मृतिशब्दो व्युत्पाद्यत इति कर्तृव्यतिरिक्तकारकेषु संज्ञायामिवासंज्ञायामपि प्रयोगो भवति।—अकर्तरि च कारके संज्ञायामिति सूत्रादित्यर्थः।

(वि० पृ०, १५८—१५६)

२ भावे कर्तरि च कारके संज्ञायामिति सूत्रद्वयमधिकृत्य स्त्रियां क्तिन्निति सूत्रेण भावे कर्तृव्यतिरिक्ते च कारके संज्ञायामिवाकर्तरि चेति च शब्दात् संज्ञायामिवासंज्ञायामपि घादि विधीयन्त इति न सूत्रविरोध इत्यर्थः।

(त० दी०, पृ०, १५८—१५६)

संज्ञा और असंज्ञा सर्वत्र होता है। अतः प्रकृत में संज्ञावाचक न होने पर भी घ प्रत्यय होने में कोई आपत्ति नहीं है।

अध्यास दो प्रकार का है अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास ज्ञान विशिष्ट अर्थ का अध्यास अर्थाध्यास और अर्थविशिष्ट ज्ञान का अध्यास ज्ञानाध्यास है। पूर्व कल्प में ज्ञान विशेषण है, अतः, ज्ञान अप्रधान और अर्थ प्रधान रहता है। द्वितीय कल्प में अर्थ विशेषण होने से अर्थ अप्रधान और ज्ञान प्रधान होता है। अर्थाध्यास स्वीकार पक्ष में पूर्वोक्त अध्यास लक्षण की योजना इस प्रकार होती है—स्मर्यमाण सदृश अन्य रूप में अवभासमान अन्य अर्थ का अध्यास है। स्मृति के सदृश अन्य ज्ञान का अन्य ज्ञान रूप में अवभास अध्यास है[1]।

अध्यास लक्षण में स्मृतिरूप शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें रूप शब्द का कोई प्रयोजन अवगत नहीं होता है। स्मर्यत इति स्मृतिः यह कर्म-व्युत्पत्ति स्मृति शब्द की पंचपादिका में प्रदर्शित की गई है। इस व्युत्पत्ति में स्मर्यमाण विषय यह अर्थ स्मृति पद का ही हो जाता है। अतः, रूप पद का प्रयोग सर्वथा व्यर्थ ही अवगत होता है। रूप पद के प्रयोजन प्रदर्शन-प्रसंग में विवरणाचार्य का कथन है कि अस्मर्यमाण रजतादि में स्मर्यमाण के साथ उपमा (सादृश्य) है। उस उपमा को उपमा-समास के द्वारा बोध कराने के लिए रूप शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें पुनः शंका हो सकती है कि यहाँ पर उपमा समास करने से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है? इदं रजतं इस स्थल में रजत को स्मृति विषय क्यों नहीं स्वीकार किया जाता है? रजत संस्कार से उत्पन्न रजत स्मृति रूप ज्ञान का विषय है।

यहाँ पर सिद्धान्ती की यह आशंका है कि इदं रजतं इस स्थल में रजत को स्मर्यमाण विषय मानने में कौन सा हेतु उपलब्ध होता है? क्या रजत संस्कार से उत्पन्न बोध का विषय मात्र होने से वह स्मर्यमाण है, अथ वा संस्कार

१ अर्थपक्षेऽवभास्यत इत्यवभासः। परश्चासाववभासश्चेति परावभासः। तथा ज्ञानपक्षेऽवभासनमवभासः परस्यावभासः परावभास इति समासः।
(भा० भा० प्र०, पृ० १६८)

मात्र से उत्पन्न जो बोध उसका विषय होने से स्मर्यमाण है[1] ? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण यह वही देवदत्त है इसमें प्रत्यभिज्ञा का विषय तत्ता (वह) अंश है, वह भी संस्कार से उत्पन्न बोध का विषय मात्र है, परन्तु फिर भी प्रत्यभिज्ञा को अध्यास स्वरूप स्वीकार नहीं किया जाता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए पंचपादिकाकार ने कहा है कि इदं रजतं इस स्थल में रजत केवल स्मर्यमाण विषय ही है। अर्थात् उसमें संस्कार से उत्पन्न बोध-विषयत्व मात्र नहीं है। कारण, रजत पुरः अवस्थित रूप से अवभासमान विषय रहता है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी समीचीन नहीं है[2]।

इस पक्ष के समर्थक अख्यातिवादियों का आशय है कि भले ही रजत प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं हो किन्तु इसको स्मृति का विषय मानना उचित ही होगा। कारण, इदं रजतं इस स्थल में रजत चक्षुःआदि प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय नहीं होता। फलतः, रजत यह स्मृति का विषय है स्मर्यमाण के सदृश नहीं है। यह विश्लेषण भी विवेचन करने से समीचीन नहीं प्रतीत होता। कारण, रजत पुरः अवस्थित रूप से स्पष्टतया अवभासित होता है—अवभासमान विषय होता है।

इसमें अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि रजत को पुरः अवस्थित रूप से अवभास का विषय होना सम्भव नहीं है। कारण, इदं गृह्यमाण प्रत्यक्ष का विषय

---

१ पूर्वोक्त विकल्पद्वय प्रदर्शन का सूक्ष्म रहस्य यह है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा ये दोनों ही संस्कारोत्पन्न बोध है। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय-सन्निकर्ष भी अपेक्षित रहता है। अतः, प्रत्यभिज्ञा को संस्कार मात्र से उत्पन्न बोध नहीं कहा जा सकता है, संस्कार मात्र से उत्पन्न बोध यह कहने से स्मृति का ही बोध गृहीत होता है। अत एव द्वितीय विकल्प का फलित अर्थ स्मृति-विषय यही होता है, यही अख्याति-वादियों का आशय है।

२ किं संस्कारोत्थबोधविषयत्वमात्रं हेतुः ? उत संस्कारमात्रजबोधविषयत्वम् ? आद्ये प्रत्यभिज्ञाविषयेण व्यभिचारः।

सं० टी०, पृ०, १५६

है और रजत-स्मृति स्मर्यमाण का विषय है। अतः, रजत पुरः अवस्थित रूप से अवभासित नहीं होता है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि जिस प्रकार समीचीन स्थल में इदं रजतम् अयं घटः इत्यादि परस्पर संसृष्ट सामान्य विशेष अपरोक्ष रूप में अवभासमान होता है उसी प्रकार प्रकृत भ्रम स्थल में भी रजत प्रतिभास का विषय होता है। यहाँ भी इदं सामान्य अंश है और रजत विशेष अंश है।

इसमें शंका होती है कि सामान्य इदम् अंश और विशेष रजत अंश परस्पर अव्यवहित रूप में भासमान होता है, इसीलिए, सामान्य और विशेषांश का परस्पर संसृष्ट व्यवहार नहीं होता है। आशय यह है कि संसृष्ट व्यवहार दो कारणों से होता है। एक संसर्ग-संवित् प्रयुक्त दूसरा अव्यवधान प्रयुक्त। प्रकृत में संसर्ग-संवित् नहीं है और अव्यवधान प्रयुक्त है यह भी अख्यातिवादी नहीं कह सकते हैं। कारण, समीचीन स्थल में जिस प्रकार अन्योन्य-संसृष्ट सामान्य और विशेष अंश भासमान होता है उसी प्रकार भ्रमस्थल में भी सर्वथा न्यूनता-रहित अवभासित नहीं होता है। आशय यह है कि संसर्ग-संवित निबन्धन जो संसृष्ट प्रतीति इसकी अपेक्षा अव्यवधान-निबन्धन संसृष्ट प्रतीति किञ्चित न्यून रूप में होती है। इदं रजतं इस भ्रम स्थल में सामान्य विशेष की संसृष्ट प्रतीति यदि अव्यवधान-निबन्धन होती तब समीचीन स्थल में संसर्ग-संवित निबन्धन सामान्य विशेष अंश की प्रतीति से इस स्थल की प्रतीति में किंचित न्यूनता अवश्य ज्ञात होनी चाहिए। किन्तु समीचीन स्थल की सामान्य विशेष अंश की संसृष्ट-प्रतीति से भ्रम स्थल की सामान्य विशेष की संसृष्ट प्रतीति में किसी प्रकार की न्यूनता अवगत नहीं होती है। विवरणाचार्य के इस आशय का आक्षेप और समाधान का प्रदर्शन करते हुए तत्त्वदीपनकार ने सर्वथा ही सुस्पष्ट शब्दों में व्याख्यान किया है—अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि--सिद्धान्ती ने जो यह कहा है कि इदं रजतं इस स्थल में रजत की प्रतीति पुरः अवस्थितरूपसे होती

है, इसलिए वह स्मृतिरूप नहीं है। किन्तु यह कथन सुसम्बद्ध नहीं है, क्योंकि, प्रकृत में न तो इदम् अंश प्रत्यक्ष का विषय है और न रजत स्मृति का विषय है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि इदं रजतं इस समीचीन स्थल में सामान्य और विशेष अंश का जिस प्रकार संसृष्ट रूप में अपरोक्ष स्फुरण होता है, उसी प्रकार भ्रान्ति में भी सामान्य और विशेष इन दोनों का संसृष्ट रूप से अपरोक्ष रूप से स्फुरण होता है। अतः समारोपित रजत स्मृति का विषय है— यह कथन अनुचित है।

इसमें अख्यातिवादियों की शंका है कि इदं रजतं इस स्थल में सामान्य अंश इदं अपरोक्ष है और उसी के साथ रजत का अविवेक अर्थात् असंसर्ग का अग्रह होने से रजत में भी अपरोक्ष-व्यवहार होता है। वस्तुतः सामान्य अंश इदं के साथ विशेष अंश रजत की संसर्ग-संवित् (संसर्गज्ञान) नहीं है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती, अख्यातिवादियों से जिज्ञासा करते हैं कि क्या प्रतिभानकृत विलक्षणता का आश्रयण करके संसर्ग-संवित् को अस्वीकार करना चाहते हैं? आशय यह है कि समीचीन रजत में इदं रजतं इस प्रतीति में संसर्ग-संवित् रहने पर भी आरोपित इदं रजतं इस स्थल में संसर्ग-संवित् नहीं है। यहाँ अपरोक्ष सामान्य अंश के साथ विशेष अंश का विवेकाग्रह-प्रयुक्त (असंसर्ग का अग्रहप्रयुक्त) रजत में अपरोक्षत्व व्यवहार होता है। समीचीन और भ्रम स्थल की प्रतीति में वैलक्षण्य स्पष्ट होने से संसर्ग-संवित् को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अथ वा अर्थाभाव प्रयुक्त संसर्ग-संवित् को स्वीकार नहीं किया जा सकता है—यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। कारण, समीचीन और भ्रमस्थल में इदं रजत इस प्रतिभास में वैलक्षण्य नहीं है यह पूर्व में ही कहा था। इसलिए प्रतिभासकृत वैलक्षण्य-प्रयुक्त भ्रमस्थल में विकल्प भी ठीक नहीं है। विशेष का अभाव होने से उसको अपरोक्ष संवित् नहीं हो सकती है। तात्पर्य यह है कि संसर्ग नहीं रहने पर संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष-संवित् नहीं हो सकती है।

संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष-संवित् किस प्रकार होगी ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती अख्यातिवादी से यह जानना चाहते हैं कि यह व्युत्थित (संदिग्ध) चित्तवालों का प्रश्न है या शिष्य का प्रश्न है ? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। संवित् का अवभास जिस प्रकार होता है उसी के अधीन अर्थ की सत्ता नहीं हो सकती। अर्थ की सत्ता किससे होती है ? इसका उत्तर यही होगा कि अर्थ की सत्ता अनुभव से होती है। अर्थ-विषयक-संवित् (अनुभव) रहने पर अर्थ नहीं है यह कथन अतिशय साहस-मात्र ही है। भ्रमस्थल में संसर्ग-विषय के अनुभव होने पर भी संसर्ग नहीं है यह कहना केवल साहस है।

इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का कहना है कि निरालम्बन (निर्विशेष) ज्ञान ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिए तो अर्थाधीन संवित् का निश्चय यह स्वीकार करना पड़ता है। सिद्धान्ती का यही तो आशय है कि संसर्ग-विषयक-संवित् है तब इस संवित् का विषय संसर्ग भी अवश्य ही है। अर्थाधीन संवित् का निश्चय होने के कारण अर्थ-संसर्ग नहीं मानने पर संसर्ग-विषय में संवित् को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। अब प्रश्न यह होगा कि संवित्-निश्चय के पूर्व अर्थ-सत्ता का निश्चय रहना चाहिए अथ वा अर्थ की सत्ता रहनी चाहिए ? सत्ता के निश्चय का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः पूर्वपक्ष ठीक नहीं है। कारण, अर्थ-सत्ता का निश्चय होने से यदि संवित् की सत्ता निश्चित होती है तो इस प्रथम पक्ष में अर्थ-सत्ता का निश्चय हो नहीं होगा। कारण, क्या अर्थ की सत्ता का निश्चय स्वतः होता है या अर्थ-सत्ता निश्चय-विषयक-संवित् के बल से ? इसमें प्रथम पक्ष को समीचीन नहीं कहा जा सकता है, कारण, अर्थ-सत्ता-निश्चय स्वतः किस प्रकार हो सकता है, कारण, वह जड़ है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण, इसमें भी यह जिज्ञासा होगी कि अर्थ-सत्ता-निश्चय-विषयक-संवित्-निश्चय स्वतः होता है अथ वा अर्थ-निश्चय के अधीन होता है ? यदि प्रथम पक्ष मान लिया जाय तब वेदान्त मत में ही प्रवेश होगा, कारण, इस पक्ष

में संवित् को स्वप्रकाश मानना पड़ेगा। इसी तरह द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, कारण इस पक्ष में अर्थ-निश्चय स्वतः अनुपपन्न होने के कारण तद्विषयक-संवित् के द्वारा अर्थ सत्ता का निश्चय होगा। इसका फल यह होगा कि पूर्व-पूर्व अर्थ-निश्चय के अधीन उत्तर-उत्तर संवित्-निश्चय होता है यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं होगा, इसका फल यही होगा कि अर्थ-निश्चयाधीन-संवित्-निश्चय यह जो पक्ष कहा गया है वह समीचीन नहीं होगा। पूर्वोक्त कथन का निष्कर्ष यह है कि विवरणाचार्य यह कहना चाहते हैं कि इदं रजतं इस समीचीन स्थल में जिस प्रकार सामान्य-विशेष अंश की संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष संवित् होती है उसी तरह इदं रजतं इस भ्रम स्थल में भी सामान्य-विशेष अंश की संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष-संवित् होती है।

इस पर अख्यातिवादियों का कथन है कि जब विशेष संसर्ग नहीं है तब उसकी संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष-संवित् किस प्रकार हो सकेगी। इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि संवित् स्वतः प्रकाश है, अतः, उसका निश्चय स्वतः होता है और इस संवित् निश्चय के अधीन ही अर्थ सत्ता का निश्चय है। इदं रजतं इस भ्रम स्थल में संवित् जब संसर्ग-विषयक है, तब संसर्ग विषयरूप नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार अर्थ सत्ता के अधीन संवित्-निश्चयरूप जो विकल्प दिया गया है वह भी ठीक नहीं है। नेदं रजतं उत्तरवर्ती ज्ञान में अर्थ-सत्ता के अभावप्रयुक्त संवित् निश्चय का अभाव रहता है। इससे यही सिद्ध होता है कि अर्थसत्ताधीन ही संवित् का निश्चय है। पुरोवर्त्तिवस्तु में रजत निषिद्ध-विषय होने से रजत का अभाव सिद्ध होता है और रजत का अभाव-निबन्धन संवित् की भी असिद्धि होगी। अब यह कहा जा सकता है कि इसमें विपरीत ही क्यों नहीं होता—संवित् के अभाव से ही रजत की असिद्धि क्यों नहीं मानी जाती है, किन्तु, यह कथन ठीक नहीं है—इदं रजतं इस पूर्व-ज्ञान के विरुद्ध नेदं रजतं यह उत्तर-ज्ञान पूर्वज्ञान का बाधक नहीं हो सकता है, कारण, पूर्व-ज्ञान प्रथम उत्पन्न है। अतः, असंजात विरोधी होने से वह प्रबल है।

अब यह एक विचारणीय विषय होता है कि उत्तर ज्ञान के साथ पूर्व ज्ञान का क्या सम्बन्ध है ? इसके उत्तर में अद्वैतवादी प्रतिद्वन्द्वी के अर्थ का ही अवलम्बन कर कहते हैं कि इदं रजतम् इस पूर्व स्थल में अख्यातिवादी जिस प्रकार समाधान करना चाहते हैं नेदं रजतं इस उत्तर ज्ञान में भी वैसा ही समाधान होगा। अख्यातिवादी जिस प्रकार इदं रजत इस स्थल में इदमाकार सामान्य अंश और रजताकार विशेष अंश इन दोनों का अविवेक अर्थात् असंसर्ग का अग्रह स्वीकार करते हैं उसी प्रकार नेद रजतम् इस स्थल में भी निषेध, सामान्य और विशेष ये तीन अंश हैं। इन तीनों के असंसर्गाग्रह की कल्पना करके संगति हो जायगी, नेद रजतं इस उत्तर वाक्य में निषेध का संसर्ग ज्ञान होता है। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि अर्थनिश्चयाधीन संवितनिश्चय भले ही न हो फिर भी अर्थ-सत्ता के अधीन संवित् का निश्चय तो कहा ही जा सकता है। नेद रजत इस उत्तरवर्ती संवेदन के द्वारा इदं रजतं इस पूर्व ज्ञान में रजत का अभाव होने से संवित् भी असिद्ध है, कारण, अर्थसत्ता के अधीन संवित्-निश्चय कहा गया है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य ने कहा है कि इदं रजतं यह पूर्व संवेदन पहले उत्पन्न हुआ है, अतः यह असंजात विरोधी होने से उत्तर ज्ञान नेदं रजतं से प्रबल है यह पूर्व में ही कहा गया है प्रबल पूर्व-संवेदन अर्थ के साथ सद्भाव-विषयक है। इसके उत्तर में अख्यातिवादियों का कहना है कि नेदं रजतं इस उत्तर संवेदन का इदं रजतं इस पूर्व ज्ञान के साथ संवेदन किस प्रकार होगा अख्यातिवादी यह कहना चाहते हैं कि नेदं रजतं इसके द्वारा निषेध—अभाव के संसर्ग का ही संवेदन होता है, और इदं रजतं इस स्थल में संसर्ग का संवेदन नहीं हो सकता है। यही इन दोनों का वैलक्षण्य है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि अख्यातिवादी इदं रजतं इस पूर्व ज्ञान में संसर्ग-संवित् का अभाव ही कहते हैं। उनका यही कथन है कि यहाँ संसर्ग नहीं रहने के कारण अर्थाभाव

प्रयुक्त संसर्ग संवित् का अभाव स्वीकार करना होगा। किन्तु असंसर्ग का अग्रह-निबन्धन संसर्ग नहीं रहने पर भी वहाँ संसर्ग विषयक-संवित् है यही व्यवहार होता है। इसी प्रकार नेदं रजतं इस स्थल में संसर्ग-संवित् का अभाव अख्यातिवादी अपने मत के अनुसार क्यों नहीं स्वीकार करेंगे। आशय यह है कि नेदं रजतं इस स्थल में वस्तुतः निषेध अर्थात् न का अभाव के साथ संसर्ग नहीं है, किन्तु अभाव के साथ रजत के असंसर्ग का अग्रह-निबन्धन अभाव का संसर्ग-संवित् होता है। वस्तुतः अभाव के साथ संसर्ग संवेद्य नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि व्यवहार का विसंवाद होने से इदं रजतं इस स्थल में इदं और रजत के संसर्ग-संवित् का अभाव निश्चित होता है। किन्तु, नेदं रजतं इस उत्तर ज्ञान में उसका वैपरीत्य ही है। कारण, इस स्थल मे रजताभाव के ज्ञान के द्वारा प्रवृत्ति के अभाव का व्यवहार अनुभव-सिद्ध है। इससे नेदं रजतं इस स्थल में व्यवहार-संवाद-ज्ञान से अभाव के संसर्ग संवित् का सद्भाव निश्चित होना है। परन्तु यह भी कथन समीचीन नहीं है। संसर्ग-संवित्-व्यवहार (अर्थक्रिया) संवादज्ञानाधीन है यह कहने पर अख्यातिवादियों को अपने सिद्धान्त का भी परित्याग करना पड़ेगा, कारण, अख्यातिवादी प्राभाकर संवित् को स्वप्रकाश स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में अर्थक्रिया-संवाद ज्ञान रूप हेतु के द्वारा निषेध (अभाव) संसर्ग-संवित्-सत्ता का अनुमान करने से संवित् के स्वप्रकाशत्व पक्ष का परित्याग हो जायगा[1]।

निषेध-संवित् अनुमेय है यह भी नहीं कहा जा सकता। संसर्ग संवित-सत्ता अर्थक्रिया-संवित् के अधीन है यह कहने से प्रश्न होगा कि अर्थ क्रिया के संवित् की सत्ता किसके द्वारा हुई? इसके उत्तर में अगत्या यही कहना होगा कि अन्य-संवित् के द्वारा ही सत्ता हुई है और इस द्वितीय संवित् की सत्ता भी

१ व्यवहारसंवादज्ञानादुत्तरज्ञाने संसर्गसंवित्सद्भावश्चेन, न, अर्थक्रिया-संवादज्ञानादर्थसंवित्सद्भावनिश्चय इति वदतः संवित्प्रत्यक्षत्ववाद-हानात्। वि०, पृ०, १६०

अन्य-संवित् के द्वारा सिद्ध होगी, अतः, इस प्रकार अनवस्था की धारा के प्रवृत्त होने से पूर्व संवित् की सत्ता ही सिद्ध न हो सकेगी, इसकी असिद्धि होने पर उत्तरवर्ती संवित्-सत्ता भी सिद्ध नहीं होगी। इसका फल होगा कि व्यवहार की सिद्धि नहीं होगी, अतः, बाध्य होकर यह स्वीकार ही करना पड़ेगा कि संवित्-निश्चय स्वतः ही होता है। यही वेदान्तियों का वक्तव्य है और इसी संवित् के बल से अर्थ का सत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा। जब संसर्ग-विषयक-अपरोक्ष संवित् है तब संसर्ग का अभाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार व्युत्थित (संदिग्ध) व्यक्ति के प्रश्न का समाधान कर शिष्य द्वारा उद्भावित विकल्प के परिहार का प्रदर्शन कर रहे हैं।

इसमें विनेय की यह शंका है कि पुरोवर्ती रजताभाव सर्व सम्प्रतिपन्न है। किन्तु यह कथन भी सर्वथा समीचीन नहीं है। क्योंकि, इसमें प्रश्न होगा कि रजताभाव सर्व-सम्प्रतिपन्न है तो उसके द्वारा क्या व्यक्त करना चाहते हैं? क्या प्रतिभास काल में रजताभाव की सम्प्रतिपत्ति है? अथ वा कालान्तर में रजताभाव की सम्प्रतिपत्ति है? इन पक्षों में प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। प्रतिभास के अनुसार ही मिथ्या रजत का सद्भाव हमलोग स्वीकार करते हैं। उस रजतका सद्भाव शुक्तिज्ञान के द्वारा निरसनीय है, अतः, पुरोवर्ती रजताभाव सर्व-सम्प्रतिपन्न है—यह कथन समुचित नहीं है। यह रजत मिथ्या है, इसीलिए तो वह निरसनीय माना जाता है। परमार्थ सद्वैलक्षण्य ही मिथ्या शब्द का अर्थ है, द्वितीय पक्ष तो हमलोग भी अंगीकार करते हैं। अख्यातिवादी पुनः शंका करते हैं—सिद्धान्ती ने रजत का प्रतिभास-समकालिक सद्भाव स्वीकार किया है। उसमें कालत्रय-सम्बन्धि-रजत की सत्ता का नेदं रजतं इसके द्वारा निषेध किस प्रकार कर सकते हैं? परन्तु इस प्रकार की शंका ठीक नहीं है। रजत में जो नेदं रजतं के द्वारा त्रैकालिक अभाव का ज्ञान कहा गया है उसमें लोक-सिद्धव्यावहारिक-रजत ही अभाव का प्रतियोगी है। अर्थात् एतादृश रजत का ही निषेध किया जाता है। इसमें शंका होती है कि परमार्थ अर्थात् व्यावहारिक-रजत की तो इदं रजतं इस स्थल में प्रसक्ति नहीं है और निषेध तो

प्रसक्त का ही किया जाता है, अप्रसक्त का निषेध तो सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि इदं रजतं इस स्थल में रजताभास की प्रसक्ति के द्वारा परमार्थ अर्थात् व्यावहारिक रजत बुद्धिस्थ होता है। आशय यह है कि इदमंश में मात्र प्रातिभासिक रजत ही प्रतीत होता है, तब तो व्यावहारिक रजतार्थी की उसमें प्रवृति नहीं होगी। किन्तु इदं रजतं इस स्थल में रजतार्थी की प्रवृति तो अनुभव-सिद्ध है। इससे रजत प्रतिभास को प्रसक्ति के द्वारा व्यावहारिक रजत बुद्धिस्थ हो सकता है। ऐसी स्थिति में उसका निषेध भी उपपन्न हो जायगा। नेदं रजतं इस वाक्य के आशय पर ध्यान देना भी उचित होगा। इस वाक्य के द्वारा जो रजत का निषेध किया गया है वह कौन रजत है? प्रतिभास काल में प्रतीत रजत का निषेध किया जाता है। अथ वा भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों काल में अवस्थित रजत का निषेध किया गया है। इसके उत्तर में यही कथन है कि केवल तीनों काल में अवस्थित रजत का निषेध किया गया है। अर्थात् रजत-मात्र का निषेध यहाँ अभीष्ट है। इससे पुनः इस स्थल में प्रसक्त नहीं है। इसका उत्तर पूर्वोक्त विश्लेषण से ही दे दिया गया है। प्रतिभास-समकालिक रजत द्वारा परमार्थ रजत भी बुद्धिस्थ होता है, उसी की प्रसक्ति है। इसके द्वारा प्रतिभास-समकालिक-रजत के अभाव से परमार्थ-रजत भी बुद्धिस्थ होता है और उसीका निषेध भी होता है। इसी प्रकार कालत्रय सम्बन्धी रजत-सत्ता का नेदं रजतं इसके द्वारा निषेध होता है। अर्थात् नेदं रजतं-इसके द्वारा रजत का कालत्रयासत्त्व प्रतीत होता है। नास्ति, नासीत्, न भविष्यति— यही नेदं रजतं के द्वारा प्रतीत होता है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जायगा तब जहाँ भूतल में घट का निषेध किया जाता है—वहाँ भी अनुपपत्ति होगी। कारण भूतल में घट नहीं है इसका क्या तात्पर्य है? इसके द्वारा क्या विद्यमान घट का निषेध किया जाता है या अविद्यमान घट का? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि, घट की विद्यमानता-दशा

में विद्यमान घट का निषेध करने से व्याघात होगा और यदि अविद्यमान घट का निषेध किया जाय तो अप्रसक्त का ही अभाव बोधन होगा। कारण, घट के अविद्यमान रहने से वहाँ पर घट की प्रसक्ति नहीं है। इसलिए यही कहना होगा कि देश-सामान्य और काल-सामान्य में स्थित जो घट उसी की भूतल में प्रसक्ति है और उसी का निषेध किया है। भूतल देश-विशेष है और नास्ति भी काल विशेष है। यह निषेध देश और काल में देश-सामान्य में और काल-सामान्य में घट की प्रसक्ति होने से उसी का निषेध किया जाता है। देश सामान्य और काल-सामान्य ये दोनों ही घट की उपाधि हैं। इन उपाधियों के द्वारा ही घट की भूतल में प्रसक्ति मानी जाती है। साक्षात् तद्देश और तत्काल में ही घट की प्रसक्ति सीमित नहीं है। इसी प्रकार इदं रजतं इस स्थल में भी व्यावहारिक रजत ही देश-सामान्य और काल-सामान्य रूप उपाधियों से प्रसक्त है—यह समझना चाहिए[1]।

प्रदर्शित व्यवस्था सर्वथा समीचीन है, कारण, इसको स्वीकार करने से ही उत्तरकाल में इस स्थान में रजत नहीं है (नास्ति अत्र रजतं) यह ज्ञान व्यावहारिक रजत को ही विषय करता है यह उपपन्न हो जायगा। व्यावहारिक एवं मिथ्या ही रजत भासमान हुआ था इस ज्ञान का विषय मिथ्या रजत ही होता है—यह भी उपपन्न हो जाता है। आशय यह है कि रजत प्रत्यक्ष के बाद उत्तरकाल में दो प्रकार का ज्ञान होता है। (१) इस स्थान में रजत नहीं है (२) इतने समय तक मिथ्या रजत ही भासमान हुआ था। ये दो प्रतीतियाँ जब अनुभव-सिद्ध हैं तब इनका अपलाप नहीं किया जा सकता है, और इसी अनुभव के बल से पूर्व-व्यवस्था प्रदर्शित की गई है। व्यवस्था अनंगीकार करने पर एक ज्ञान को अस्वीकार करना पड़ेगा। कारण, ये दोनों ज्ञान परस्पर-विरुद्ध हैं।

१ ननु सम्प्रतिन्नोऽर्थाभावः न, यथाप्रतिभासमेव मिथ्यारजतस्योत्तरज्ञानेन निरसनयोग्यस्योपगमात्, लौकिकपरमार्थदृष्टरजतप्रतियोगिकाभावविषयत्वाद्रजते त्रैकाल्याभावज्ञानस्येति संविद्द्वयानुरोधेन व्यवस्थासिद्धेरन्यतरसंविद्पह्नवायोगात्। वि०, पृ० १६०—६१

अतः, परस्पर विरोध रहने के कारण इन दोनों में एक का स्वीकार और अन्य का अपलाप मानना ही पड़ेगा, इसलिए प्रदर्शित व्यवस्था ही समीचीन है[1]।

तत्त्वदीपनकार ने इस प्रसंग का निष्कर्ष प्रदर्शन करते हुए यह कहा है कि भ्रमोत्तरकाल में नात्र रजतं इसके द्वारा कालत्रय में रजत का असत्त्व प्रतीत होता है। एवं मिथ्यैव रजतम् अभात् इसके द्वारा भ्रान्ति में रजत का सत्त्व प्रतीत होता है। इसलिए भ्रम के उत्तर काल में ये दोनों प्रकार के संवित् के अनुरोध से रजत का जो कालत्रय में निषेध किया गया है—वह लौकिक-रजत ही है। कालत्रय-निषेध का विषय लौकिक-रजत है—यही इसका निष्कर्ष है। सत् इदं रजतं, यह रजत सत्य है। यह जो अनुभव है यह माया का विवर्त जो रजत है उसी को यह अनुभव का विषय करता है। प्रभाकर का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो रजत की अपरोक्ष प्रतीति अन्यथा उपपन्न नहीं होने के कारण यह रजत (इदं रजतं) इसमें संसृष्ट ज्ञानकी कल्पना की है, अर्थात् इदं के साथ रजत-संसर्ग-विषयक ज्ञान अवभासित होता है और इस संसृष्टावभास को उपपन्न करने के लिए मिथ्या रजत की प्रतीति करते हैं। परन्तु रजत का अपरोक्ष ज्ञान उपपन्न करने के लिए परस्पर संसृष्टाभास की कल्पना का कोई प्रयोजन नहीं है। अपरोक्ष शुक्तिका के ज्ञान के साथ रजत-स्मरण का अविवेक प्रयुक्त रजत अपरोक्ष रूप में भासमान होता है—यही कहा जायगा। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि रजत का अपरोक्ष स्पष्टता-निबन्धन है। रजत का स्पष्टता-अवभास-निबन्धन ही अपरोक्ष है। अविवेक-प्रयुक्त अपरोक्ष नहीं है। इस सूक्ष्म आशय को समझाने के लिए पंचपादिकाकार ने कहा है--स्पष्टं पुरोवर्तित्वावभासनात् (पं० पा०, पृ० १६१)

इसके उत्तर में प्रभाकर कहते हैं कि पुरोऽवस्थितत्व रूप से अवभासन के अतिरिक्त स्पष्टता कौन सी चीज है? यह अवगत नहीं होता है। पंचपादिकाकार की उक्ति तो पुनरुक्तता दोष-दुष्ट है।

---

१ तथा चोभयसंविद्विषयानुभवो नास्त्यत्र रजतम मिथ्यैव रजतमभादिति। वि०, पृ०, १६१

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है—विवेक-ज्ञान के साथ में और इसके बाद इतने समय तक यह रजत है इस प्रकार ज्ञान हुआ था—इस प्रकार इदं के साथ संसृष्टावभास रूप में जो प्रत्यभिज्ञा करने की योग्यता उसमें रहती है इस का नाम स्पष्टता है। आशय यह है कि बाधक ज्ञान के उत्तरकाल में इदं के साथ संसृष्ट रूप में रजत का जो अनुसन्धान होता है वही स्पष्टरूप का अर्थ समझना चाहिए एवं भ्रान्ति समय में पुरोदेश में संसृष्ट रूप रजत का जो स्फुरण है वही पुरोवस्थितत्वावभासन है[1]। इसमें शंका होती है कि बाधक ज्ञान के उत्तर काल में संसृष्ट रूप में प्रत्यभिज्ञान-भानत्व मात्र से बाधक ज्ञान के पूर्वकाल में संसृष्ट रूप में प्रतिभास किस ज्ञान से सिद्ध होता है ? इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं--प्रत्यभिज्ञान अर्थात् अनुभूत-विषयक ज्ञान से होता है। जिस विषय का अनुभव नहीं हुआ उसका परामर्श भी सम्भव नहीं है, अत एव संसर्ग का यदि पूर्व में अनुभव स्वीकार नहीं किया जाय तब तो संसर्ग का परामर्श भी सम्भव नहीं होगा और बाध ज्ञान का परामर्श भी सम्भव नहीं होगा। बाध ज्ञान के उत्तरकाल में जब संसृष्ट रूप में प्रत्यभिज्ञायमान होता है तब इससे सिद्ध होता है कि बाध ज्ञान के पूर्वकाल में भी संसृष्ट रूप में प्रतिभास हुआ था। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राभाकर मीमांसक के आशयानुसार पूर्वोक्त अविवेक—निबन्धन रजत को अपरोक्ष प्रतीति नहीं हो सकती है। यदि होती तो विवेक-ज्ञान समय में भी इस काल तक वही रजत इसके साथ अविविक्त था—इस प्रकार अविवेक का ही परामर्श (अनुसन्धान) हो जाता, परन्तु इस प्रकार परामर्श नहीं होता है। प्रत्युत इतने काल तक यह रजत है ऐसा ही ज्ञान हुआ था इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के द्वारा

---

१ विवेकज्ञानसमयेऽपि—एतावन्तं कालमिदं रजतमित्यभादिति संसृष्टावभासत्वेन प्रत्यभिज्ञायोग्यता, अन्यथा तद्रजतमेतावन्तं कालमितो विविक्तमिति प्रतीयात्, अथ वा—तज्ज्ञानात्तत्र प्रवृत्तिरिति पदार्थांशज्ञानवत्प्रवृत्त्योर्नियमात् इहापि संसर्गप्रवृत्तिनिमित्तता संसर्गज्ञानस्य स्पष्टतेति।

वि०, पृ० १६२

संसृष्टावभास का ही परामर्श होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि सिद्धान्ती के यहाँ संसृष्ट रूप प्रत्यभिज्ञायमानता स्पष्ट-शब्दार्थ रूप से अवगत होती है। प्राभाकर मीमांसक-सम्मत-अविवेक-निबन्धन मानने पर पूर्वोक्त संसृष्ट रूप से प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है। वरन् अविविक्त प्रतीति है ओर सिद्धान्ति-सम्मत-संसृष्ट-प्रतोति है इनमें प्राभाकर के यहां अविविक्त प्रतीति है। परन्तु अविविक्त प्रतीति यहाँ नहीं होती है, परामर्श के सामर्थ्य से केवल विषय की ही स्पष्टता सिद्ध नहीं होती है वरन् ज्ञान की भी स्पष्टता अनुभव सिद्ध है। इसमें शंका होती है कि परामर्श संसृष्ट अनुभव का साधक नहीं हो सकता है। कारण, अनुभव संसृष्ट-विषयक हो है, यह उभयवादि-सम्मत न होने के कारण सन्दिग्ध है। परामर्श को संसृष्टानुभव-साधक कहा गया है—यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कारण, असंसर्ग के अग्रह से अर्थात् असम्बन्ध के अज्ञान से भी प्रदर्शित परामर्श उपपन्न हो सकता है। इसलिए परामर्श के बल से यह सिद्ध नहीं हो सकता है। इसलिए विवरणाचार्य ने विषयान्तर का प्रदर्शन किया है। विवरणाचार्य कहना चाहते हैं कि जो व्यक्ति जिस विषय में प्रवृत्त होता है उस व्यक्ति को उस विषय का ज्ञान है--यह सर्व-जनस्वीकृत है। जिस अंश में ज्ञान रहता है उस अंश में ही प्रवृत्ति होती है। अन्य आकार के ज्ञान से अंशान्तर में प्रवृत्ति हुई यह कभी नहीं हो सकता है। रजतार्थी इदमंश में प्रवृत्त होता है। इसलिए स्वीकार करना पड़ेगा कि वह पुरोवर्ती द्रव्य को रजतरूप से ज्ञात करके ही प्रवृत्त होता है—संसर्ग ज्ञान की संसर्ग-विषयक-प्रवृत्ति-निमित्तता ही संसर्ग-ज्ञान की स्पष्टता है। आशय यह है कि इदं के साथ रजत को संसृष्ट जानकर ही इदं में रजतार्थी की प्रवृत्ति हुई है। इसलिए प्रभाकर कहना चाहते हैं—गृहीतपदार्थद्वय का असंसर्गग्रह में संसर्ग-विषयक-प्रवृत्ति होगी—यह कहना सर्वथा असमीचीन है। ज्ञान में असंसर्गाग्रह रहेगा तो प्रवृत्ति भी असंसर्गाग्रह-विषयक ही होगी[१]।

१ अथ वा तज्ज्ञानात् तत्र प्रवृत्तिरिति पदार्थांशज्ञानतत्प्रवृत्त्योर्नियमात्। इहापि संसर्गप्रवृत्तिनिमित्तता संसर्गज्ञानस्य स्पष्टतेति। वि०, पृ० १६२

इस विवरण के आशय प्रदर्शन-प्रसंग में भावप्रकाशिकाकार ने कहा है—सर्वत्र प्रवृत्ति ज्ञान से साध्य है किन्तु भेदाग्रह से जन्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। कारण, भेदाग्रह मात्र को प्रवर्तक स्वीकार करने से सर्वत्र अतिप्रसंग हो जायगा। इस संसार में भिन्न-भिन्न पदार्थ के साथ भिन्न-भिन्न पदार्थों का भेदाग्रह तो रहता ही है। इसलिए प्रभाकर जहाँ भेदाग्रह को प्रवर्तक स्वीकार करना चाहते हैं, वहाँ पदार्थ की उपस्थिति भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी। पदार्थ-द्वय उपस्थित नहीं है केवल भेदाग्रह मात्र है तब तो मशक के साथ हस्ति का भेदाग्रह होने से मशक में हस्त्यर्थी की प्रवृत्ति होने लगेगी। इसलिए पदार्थ की उपस्थिति में पदार्थ का पुरः अवस्थान अपेक्षित है। जब उपस्थिति प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तब आवश्यकता एवं लाघव-प्रयुक्त उपस्थित ज्ञान को ही प्रवर्तक स्वीकार करना उचित है। केवल प्रमास्थल में ही यह नियम नहीं है। भ्रान्ति-स्थल की प्रवृत्ति भी पूर्वोक्त उपस्थिति के ज्ञान से साध्य है। ज्ञान का जो विषय है उसी विषय में वह प्रवर्तक होता है। जहाँ इदं विषयक-ज्ञान होता है वहाँ इदमंश ज्ञान से इदम् अंश में ही प्रवृत्ति देखी गई है। इसलिए रजत ज्ञान के सम्बन्ध में भी यही समझना चाहिए। रजत ज्ञान यदि पुरोवर्तिविषयक नहीं हो जाय तब तो रजत ज्ञान से पुरोवर्ती विषय में रजतार्थी की प्रवृत्ति किस प्रकार होगी? इससे इदं रजतं में इदं और रजत उभय संसृष्ट एक विशिष्टज्ञान सिद्ध होता है। अतः प्रभाकरमतानुसार अविविक्त-विषयक-ज्ञान—द्वय स्वीकार करना उचित नहीं है। इदं रजतं इस स्थल में एक विशिष्ट-ज्ञान है, अविवेक-निबन्धन-अविविक्त-विषयक-ज्ञान-द्वय नहीं है[1]।

[1] सर्वत्र हि प्रवृत्तिर्ज्ञानसाध्या न भेदाग्रहसाध्या। भेदाग्रहमात्रस्य प्रवर्तकत्वे अतिप्रसंगात्। उपस्थितयोः भेदाग्रहस्य प्रवर्तकत्वे आवश्यकत्वात् लाघवाच्चोपस्थितिरेव प्रवर्त्तिकेति भ्रान्तिप्रवृत्तिरपि ज्ञानसाध्या। ज्ञानं च स्वविषये प्रवर्तकमिति इदमंशज्ञाने दृष्टम्। ततो रजतज्ञानमपि। तच्च रजतज्ञानस्य पुरोवर्तिविषयत्वं विना अनुपपन्नमिति विशिष्टज्ञानसिद्धिः। ततश्च नाविविक्तविषयज्ञानद्वयमिति भावः। वि० भा० प्र०, पृ०, १२६

लक्ष्य वाक्य में जो पूर्वदृष्टावभास कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि रजत यदि पुरोवर्तिरूप से भासमान हो जायगा, तब वह रजत किस प्रकार स्मर्यमाण विषय का स्वरूप होगा? स्मर्यमाण विषय तो पुरोवर्ती रूप से वैसा भासमान नहीं हो सकता है। इस आशंका का निराकरण करने के लिए भाष्यकार ने अध्यास लक्षण वाक्य में पूर्वदृष्ट पद का प्रयोग किया है। पूर्वज्ञात रजत का ही अध्यास होता है। सर्वथा अज्ञात पदार्थ का आरोप अनुभव सिद्ध नहीं है। इस विषय पर विशेष विचार पुनः प्रदर्शित करूँगा। इसमें प्रश्न होता है शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य की आवरक अविद्या के द्वारा शुक्ति प्रदेश में रजत का अविलम्ब से प्रादुर्भाव होता है—यही अद्वैत वेदान्तियों का सिद्धान्त है। ऐसी स्थिति में रजत का पूर्व ज्ञान अध्यास में कैसे उपपन्न हो सकता है? कारण, भ्रम में भासमान रजत के पूर्व रजत ज्ञान का प्रसंग ही नहीं है। यह रजत तो भ्रमकाल में उत्पन्न होता है। इस शंका के निवारण के लिए पंचपादिकाकार ने कहा है कि—पूर्वदृष्ट-सदृश रजत ही भ्रम में भासित होता है। भ्रम में भासमान रजत अगर पूर्वदृष्ट रजत के सदृश नहीं हो तब तो शुक्ति के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग के बाद रजत का ज्ञान नहीं हो सकता है। फलतः निष्कर्ष यही हुआ कि लक्षण वाक्य में पूर्वदृष्टावभास पद का अर्थ है, पूर्वदृष्ट सदृश का अवभास। परन्तु अध्यास-लक्षण-घटक पूर्वदृष्टावभवास पद का प्रदर्शित प्रकार से आशय प्रदर्शन करने पर भी अध्यास लक्षण में ही दुर्निवार शंका होती है। कर्मव्युत्पत्ति स्वीकार कर अध्यास-लक्षण-वाक्य में अर्थ ग्रहण किया जाय तब तो वर्तमान विषय सदृश अन्य का अन्यरूप में अवभासमान अध्यास है---यही लक्षण का अर्थ स्वीकार करना पड़ेगा और इससे ज्ञानाध्यास सर्वथा उपेक्षित हो जायगा---या ज्ञानाध्यास के लिए लक्षणान्तर-प्रदर्शन करने की आवश्यकता पड़ेगी। अथ वा ज्ञान की अनध्यस्तता ही स्वीकार करनी पड़ेगी, इन शंकाओं का परिहार करने के लिए पंचपादिकाकार ने कहा है—अध्यास-लक्षण वाक्य-सामर्थ्य-निबन्धन इसको ज्ञानाध्यास का भी लक्षण समझना चाहिए। किन्तु दोनों अर्थों में इस लक्षण की संगति प्रदर्शन के बिना यह कथन असमीचीन ही मानना पड़ेगा। कारण, ज्ञान और अर्थ इन दोनों में एक का अध्यास सिद्ध

होने से इतर का भी अध्यास सिद्ध हो जायगा, इसलिए विषयाध्यास और ज्ञानाध्यास के लिए लक्षण वाक्य की कर्मव्युत्पति एवं भावव्युत्पत्ति स्वीकार कर लक्षण वाक्य को पृथक्-पृथक् रूप में उपन्यस्त करने का कोई प्रयोजन नहीं है। पंचपादिकाकार का यह प्रस्ताव सर्वथा निष्फल है। विवरणाचार्य ने कहा है कि अध्यास तो दो प्रकार का है। ज्ञान-विशिष्ट अर्थ का अध्यास एवं अर्थ-विशिष्ट ज्ञान का अध्यास। जहाँ अर्थ का ही अध्यास होता है वहाँ ज्ञान उपसर्जन (विशेषण) होकर अप्रधान रूपमें प्रतीत होता है। जहाँ ज्ञान का ही अध्यास होता है। वहाँ अर्थ विशेषण (उपसर्जन) होकर अमुख्य रूप में प्रतीत होता है। यद्यपि अर्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास इन दोनों में से अन्यतर के निर्देश से ही अन्यतर की प्रतीति उपपन्न हो सकती है। तथापि अर्थाध्यास का लक्षण ज्ञानाध्यास में सम्भव नहीं हो सकेगा एवं ज्ञानाध्यास का लक्षण अर्थाध्यास में असम्भव हो जायगा। इसीलिए पंचपादिका के आशयानुसार विवरणाचार्य ने एक ही अध्यास-लक्षण-वाक्य की दो प्रकार की योजनाएं प्रदर्शित की है। ज्ञान-विशिष्ट-अर्थ का जब अध्यास होगा तब स्मर्यमाण सदृश अन्य रूप में अवभासमान अन्य अर्थ का ही अध्यास होगा। एवं जहाँ अर्थ-विशिष्ट-ज्ञान का ही अध्यास है वहाँ स्मृति के समान अन्य ज्ञान का अन्य रूप में अवभास हो जाना ही ज्ञानाध्यास है[1]। इसमें प्रश्न यह होता है कि भाष्यकार ने अध्यास के लिए एक ही लक्षण वाक्य कहा—और इस एक ही लक्षण-वाक्य को विषयाध्यास और ज्ञानाध्यास इन उभय पक्षों में संयोजन करने से तो अध्यास-लक्षण-वाक्य का वाक्य-भेद अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। मीमांसादर्शन के सिद्धान्तानुसार वाक्य भेद वाक्य-दोष स्वीकार किया

१ यदा ज्ञानविशिष्टोऽर्थ एवाध्यासः, तदा स्मर्यमाणसदृशोऽन्यात्मनाऽवभासमानोऽन्योऽर्थोऽध्यास इत्येवं लक्षणपरतया वाक्यं योजितम्। यदा पुनरर्थविशिष्टं ज्ञानमेवाध्यासः, तदा स्मृतिसमानोऽन्यस्यान्यात्मनाऽवभासोऽध्यास लक्षणपरतयाऽइत्येवं-पि तदेव वाक्यं योजयितुं शक्यते।

वि०, पृ० १६२-६३

गया है। अतः दो अध्यासों के लिए लक्षणद्वय का प्रदर्शन ही उचित था जिससे प्रदर्शित अनुपपत्ति की आशंका न हो।

इस शंका के समाधान-प्रदर्शन में विवरणाचार्य ने कहा है कि एक ही अध्यास-लक्षण-वाक्य की उभयाध्यास में योजना करने में लाघव होता है। लक्षणान्तर करने से लक्षणद्वय करना पड़ेगा इससे गौरव-दोष होगा। निष्कर्ष यह है कि अध्यास-लक्षण-वाक्य-सामर्थ्य से यह लक्षण ज्ञानाध्यास पक्ष में भी संगत हो ही सकता है। भाष्यकार ने ज्ञानाध्यास पक्ष की उपेक्षा की--यह कहना ठीक नहीं है। कारण, एक ही लक्षण दोनों अर्थों में संगत हो जाता है।

इसमें पुनः सन्देह होता है कि अर्थाध्यास के लक्षण की किस प्रकार ज्ञानाध्यास पक्ष में योजना की जायगी? अर्थात् अर्थाध्यास का लक्षण ज्ञानाध्यास का लक्षण किस प्रकार हो सकता है? एक का लक्षण दूसरे का लक्षण नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में पंचपादिकाकार के कथन का आशय यह है कि हमलोग एक दूसरे का लक्षण होता है, यही नहीं कहना चाहते हैं। वरन् अन्य के लिए किए गये लक्षण वाक्य की भी अन्य के लक्षण के रूप में व्युत्पत्ति-भेद से योजना की जा सकती है। लक्षण वाक्य की योजना के प्रकार में पंचपादिकाकार ने यही कहा है कि स्मृति शब्द का अर्थ है स्मरण--और स्मृति के रूप के समान रूप है जिसका वह स्मृतिरूप है। ज्ञानाध्यास को स्मृतिरूप किस प्रकार कहा जा सकता है? क्योंकि ज्ञानाध्यास संस्कार-जन्य है। स्मृति भी संस्कार-जन्य है। ज्ञानाध्यास में संस्कार-जन्यत्व रहने के कारण इस अध्यास को स्मृति ही क्यों नहीं कहा गया? इस शंका के उत्तर में पंचपादिकाकार कहते हैं कि स्मृति और ज्ञानाध्यास इन दोनों में वैलक्षण्य है, संस्कारमात्र-जन्यत्व होने के कारण अंश-विशेष में सादृश्य रहने पर भी वैलक्षण्य सुस्पष्ट है। स्मृति का जनक संस्कार है और संस्कार का मूल है पूर्वानुभव एवं उसी पूर्वानुभव का जो विषय-विशेष है वह स्मृति में पूर्वानुभव-संभिन्नरूप में भासमान होता है।

स्मृति विषय-विशेष को विषय विशेष रूप में ही अवभासिका नहीं होती है। स्मृति के द्वारा विषय-विशेष जब अवभासित होता है उसमें पूर्वानुभूत रूप भी तुल्य रूप में स्मृति के द्वारा प्रकाशमान होता है, इसलिए रजत स्मृति ज्ञान का विशेष आकार होगा 'तद्रजतम्' परन्तु अध्यास में विषय रजत का अवभास होने पर भी पूर्वानुभव सम्भिन्न रूप में अवभास नहीं होता है। कारण, अध्यास का आकार है—इदं रजतम्, तद्रजतम् अध्यास का आकार नहीं है। अत एव दोनों में किंचिद् अंश सादृश रहने पर भी वैलक्षण्य सुस्पष्ट है[1]। इसमें पुनः शंका होती—ज्ञानाध्यास जब विषय का पूर्वानुभव सम्भिन्नतया अवभासक नहीं होता है तब उसका स्मृतिरूपत्व भी नहीं हो सकता है। जैसे—प्रत्यक्ष ज्ञान में विषय का पूर्वानुभूतत्व भासमान नहीं होता है। वैसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान के समान ज्ञानाध्यास का भी स्मृतिरूपत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। स्मृति के आकार-प्रदर्शन-प्रसंग में जो तत् शब्द का उल्लेख किया जाता है—तद्रजतम्, इसका उद्देश्य है पूर्वानुभव-सम्भेद का ज्ञान। ज्ञानाध्यास में पूर्वानुभव नहीं है। यह पूर्व में ही कहा गया है। ऐसी स्थिति में अध्यास में स्मृतिरूप सर्वथा असमीचीन प्रतीत होता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि पूर्वपक्षी की सूक्ष्मेक्षिका नहीं है। ज्ञानाध्यास और स्मृति में जो वैलक्षण्य है इस पर वे सब ध्यान देना क्यों नही चाहते हैं? पूर्वानुभव जिसका मूल है—ऐसा जो संस्कार उस संस्कार मात्र से ही ज्ञानाध्यास उत्पन्न होता है और स्मृति में संस्कार और पूर्वानुभव ये दोनों भासमान होते हैं। स्मृति में तद्देश और तत्काल में जो विषय का अनुभव हुआ था उसका भी सम्बन्ध भासमान होता है। परन्तु ज्ञानाध्यास में मात्र

1[क] स्मृतेःरूपमिव रूपमस्य, न पुनः स्मृतिरेव, पूर्वप्रमाणविषयविशेषस्य तथानवभासकत्वात्। पं० पा०, पृ० १६२-१६३

[ख] स्मरणं स्मृतिः, तदा रूपमिव रूपमस्येति। स्मृतिरूपत्वं कस्मात्? संस्कारजन्यत्वेन स्मृतित्वमेव किं न स्यात्?।

त० दी०. पृ० १६३

संस्कार ही अपेक्षित है पूर्वानुभव सम्भेद की कोई अपेक्षा नहीं है। इसलिए ज्ञानाध्यास को स्मृति नहीं कहकर स्मृतिरूप कहा गया है। यह स्पष्ट हो गया कि स्मृति और ज्ञानाध्यास इन दोनों में संस्कारजन्यत्व रूप सादृश्य होने पर भी पूर्वोक्त महान् भेद है। इसमें प्रश्न होता है कि भ्रमज्ञान (ज्ञानाध्यास) में पूर्वानुभव का सम्भेद नहीं है! भ्रमज्ञान अपने विषय का पूर्वानुभव-सम्पन्नरूप से अवभासक नहीं होता है। इसलिए उसका स्मृतिरूपत्व भी उपपन्न नहीं हो सकता है, दृष्टान्त-स्वरूप प्रत्यक्ष-ज्ञान को लिया जा सकता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान अपने विषय का पूर्वानुभव-सम्भिन्नतया अवभासक नहीं होता है। इसलिए प्रत्यक्ष-ज्ञान स्मृति से विलक्षण ही स्वीकार किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में स्मृतित्व या स्मृतिरूपत्व कुछ भी नहीं है। इसके उत्तर में पंचपादिका में कहा है—पूर्वानुभव जिसका मूल है इस प्रकार का जो संस्कार है, इसी से स्मृति और भ्रमज्ञान ये दोनों ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए भ्रमज्ञान में स्मृतिरूपत्व कथन सर्वथा समीचीन है। प्रभाकर इस विषय में पुनः कहना चाहते हैं—भ्रमज्ञान यदि स्मृति नहीं है, तब भ्रमज्ञान संस्कार-जन्य भी नहीं होगा। इस विषय को विवरणाचार्य ने कहा है उसका विवरण के टीकाकारों ने अनुमान के आकार में प्रदर्शित किया है—उनलोगों का कथन है कि विमत भ्रान्तिज्ञान (पक्ष) संस्कार जन्य नहीं है, (साध्य) स्मृति व्यतिरिक्त-ज्ञान होने से (हेतु) प्रत्यक्ष के समान (दृष्टान्त) विमत शब्द का अर्थ है विप्रतिपत्ति, और विमत शब्द का अर्थ है विप्रतिपत्ति का विषय या विशेष्य। अद्वैत-वेदान्ती भ्रम-ज्ञान को संस्कार-जन्य स्वीकार करते हैं एवं वह ज्ञान स्मृति से विलक्षण विशिष्ट-ज्ञान है। परन्तु अख्यातिवादी प्राभाकार भ्रमज्ञान को स्वीकार न कर भ्रम-ज्ञान को अनुभव और स्मरण इन दो ज्ञानों के रूप में मानते हैं। इसलिए भ्रम-ज्ञान में एकतर पक्ष की सिद्धि न होने से पूर्वोक्त रूप से विवादास्पदीभूत हो गया। अत एव भ्रमज्ञान शब्द से पक्ष का निर्देश न कर विमत शब्द से कहा गया है। पूर्वोक्त अनुमान में प्रत्यक्ष दृष्टान्त है, प्रत्यक्ष-ज्ञान स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञान है।

इसलिए स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञान हेतु उसमें है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान संस्कार-जन्य न होने के कारण उसमें संस्कार-जन्यत्वाभावरूप साध्य भी है। प्रदर्शित हेतु एवं साध्य की व्याप्ति का दृष्टान्त प्रत्यक्ष ज्ञान में अवधृत होने के कारण यह सदनुमान है। इसलिए अद्वैतवेदान्तिओं के अभिप्रायानुसार भ्रम-ज्ञान यदि स्मृति न हो जाय तब भ्रम-ज्ञान संस्कार-जन्य नहीं होगा। इस अनुमान के द्वारा यही सिद्ध होता है कि भ्रम स्मृतिरूप नहीं हो सकता है। परन्तु इसके उत्तर में विवरणानुसारी आचार्यों का कथन है कि प्रदर्शित अनुमान सद् अनुमान नहीं है, कारण, इस अनुमान में स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञानत्वरूप हेतु उपाधि-दोष-दुष्ट है। उपाधि कौन है इसके उत्तर में संप्रयोगमात्र-जन्यत्व (इन्द्रियसंयोगमात्रजन्यत्व) ही उपाधि है—यही कहा गया है। विषय की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति के लिए इसका विस्तृत विवेचन दे रहा हूँ।

साध्य का व्यापक और हेतु के अव्यापक धर्म को उपाधि कहते हैं। उपाधि-प्रदर्शन करने का नियम यह है कि दृष्टान्त में उपाधि का अस्तित्व दिखाकर उपाधि साध्य की व्यापक है, यह प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार पक्ष में उपाधि की अविद्यमानता दिखाकर उपाधि हेतु का अव्यापक हुआ यही प्रदर्शन किया जाता है। दृष्टान्त व्याप्ति ग्रहण का स्थान है। वहाँ साध्य निश्चित ही रहेगा। पक्ष में साध्य सन्दिग्ध है। अत एव पक्ष में उपाधि की साधनाव्यापकता का प्रदर्शन सम्भव नहीं है, परन्तु हेतु की सत्ता पक्ष में निश्चित है। इसलिए पक्ष में उपाधि के हेतु को अव्यापक रूप में प्रदर्शित किया जाता है प्रकृतानुमान में दृष्टान्त प्रत्यक्ष ज्ञान है। उसमें संस्कार-जन्यत्व का अभाव रूप साध्य है एवं संप्रयोग-मात्र-जन्यत्व रूप उपाधि भी है। कारण, प्रत्यक्ष ज्ञान संप्रयोग-मात्र जन्य ही होता है। इसलिए जहाँ-जहाँ संस्कारजन्यत्वाभाव है वहाँ सम्प्रयोगमात्र-जन्यत्व है—जैसे प्रत्यक्ष। इस प्रकार उपाधि की साध्य-व्यापकता दृष्टान्त रूप प्रत्यक्ष ज्ञान में गृहीत हुई। पुनरपि प्रकृतानुमान में भ्रमज्ञान पक्ष है।

उसमें-स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञानत्व रूप हेतु है। परन्तु संप्रयोग-मात्र-जन्यत्व-रूप उपाधि नहीं है। कारण, भ्रमज्ञान की उत्पत्ति में दोषादि भी अतिरिक्त कारण होता है। अतः, प्रदर्शित उपाधि हेतु की अव्यापक हो गई। फलित यही हुआ—स्मृति व्यतिरिक्त-ज्ञानत्व-रूप हेतु संस्कार-जन्यत्व-रूप साध्य का व्यभिचारी है। कारण, वह हेतु अपने व्यापक साध्य की व्यापक जो उपाधि है उसका व्यभिचारी हो गया। जो व्यापक साध्य व्यापक (उपाधि) का व्यभिचारी है वह व्यापक (साध्य) का भी व्यभिचारी हो जायगा। हेतु व्यभिचारी है। यह प्रदर्शन ही उपाधि प्रदर्शन का प्रयोजन है। अख्यातिवादियों से प्रदर्शित पूर्वोक्त अनुमान उपाधि-दोष-दुष्ट है। अतः, इस अनुमान के बल से भ्रान्तिज्ञान को

नोट :—प्रत्यक्ष को दृष्टान्त रूप में ग्रहण करके पूर्वपक्षी प्रभाकर दिखाना चाहते हैं कि—प्रत्यक्ष स्मृति-व्यतिरिक्त ज्ञान है। इसलिए वह संस्कार-जन्य नहीं है अर्थात् प्रत्यक्ष संस्कार-जन्य नहीं है इसका कारण, है प्रत्यक्ष में स्मृति व्यतिरिक्तत्व धर्म है। इसमें सिद्धान्ती का यही कथन है कि प्रत्यक्ष में जो संस्कारजन्यता नहीं है। इसका कारण यह नहीं है कि प्रत्यक्ष स्मृति-व्यतिरिक्त-ज्ञान है। परन्तु, संप्रयोगमात्र-जन्यत्व-निबन्धन प्रत्यक्ष में संस्कार-जन्यत्व का अभाव है। वस्तुतः प्रत्यक्ष में प्रदर्शित हेतु-साध्य की व्याप्ति गृहीत नहीं हुई है। किन्तु एक आगन्तुक सम्प्रयोग-मात्र-जन्यत्वरूप धर्म निबन्धन यह व्याप्ति प्रतिभासित होती है। इसलिए प्रदर्शित हेतु दुष्ट है। इसमें अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि अनुमानागमादि ज्ञान में संस्कारजन्यत्वाभाव रूप साध्य है, परन्तु, प्रदर्शित-संप्रयोगमात्र जन्यत्वरूप उपाधि नहीं है। इसलिए उपाधि साध्य का व्यापक नहीं हुआ। इस प्रकार की शंका ठीक नहीं है। कारण, अनुमानादि ज्ञान में व्याप्तिज्ञान की अपेक्षा है। इसलिए अनुमानादि व्याप्ति-संस्कार से जन्य होने के कारण प्रदर्शित आपत्ति ठीक नहीं है।

[अ० वि०, पृ० १८३]

स्मृति स्वीकार नहीं करने से भ्रान्ति ज्ञान संस्कार-जन्य भी नहीं होगा यह अख्यातिवादी कह सकते हैं। फलतः, संप्रयोग-मात्र-जन्य ज्ञान को छोड़कर और सभी ज्ञान में संस्कार-जन्यत्व है। व्याप्त्यादि का संस्कार रहने से अनुमानादि ज्ञान होता है एवं व्याप्त्यादि का संस्कार नहीं रहने से अनुमानादि ज्ञान नहीं होता है। यह अन्वय व्यतिरेक ही पूर्वोक्त सिद्धान्त को सुदृढ़ कर रहा है। इससे यही सिद्ध हुआ कि भ्रमज्ञान संप्रयोगमात्र-जन्य ज्ञान नहीं है। इसलिए उसमें भी संस्कारजन्यत्व रह ही जायेगा और इसका फल यही हुआ कि अख्यातिवादियों ने जो कहा है कि भ्रमज्ञान स्मृति न होने से संस्कार-जन्य भी नहीं होगा। यह कथन अनुचित है। इसमें अख्यातिवादिओं का पुनः, कथन है कि सिद्धान्ती तो भ्रम ज्ञान में संस्कार-जन्यत्व स्वीकार करते ही हैं। संस्कारोत्थ-ज्ञान दो ही प्रकार का हो सकता है। एक अनुमानादि-प्रकार रूप और द्वितीय स्मृति रूप। प्रकृत रजत ज्ञान स्थल में चक्षु के साथ शुक्ति का संयोग होने के बाद शुक्ति से भिन्न रजत विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः, इस ज्ञान को स्मृति रूप स्वीकार करना ही उचित है। क्योंकि अनुमानादि में ऐसा नहीं देखा जाता है। गौ के साथ चक्षु का संयोग होने पर अव्यवहित उत्तर काल में ही गवयादि स्मृति उत्पन्न होती है।

पूर्वपक्षी प्राभाकर कहना चाहते हैं—भ्रमज्ञान को यदि सिद्धान्ती स्मृति स्वीकार नहीं करे तब भ्रमज्ञान का संस्कारजन्यत्व ही सम्भावित नहीं होगा और इसी अभिप्राय का अनुसरण करते हुए प्राभाकर मतानुसारी आचार्यों ने निम्नलिखित अनुमान का प्रदर्शन किया है—विमत (भ्रान्तिज्ञान) संस्कार-जन्य नहीं है, कारण वह स्मृति नहीं है। जैसे प्रत्यक्ष। सिद्धान्ती अद्वैतवादी ने इस अनुमान का अनुमिति में व्यभिचार-प्रदर्शन किया है। कारण—अनुमिति में अस्मृतित्व रूप हेतु है। परन्तु संस्कारजन्यत्वाभाव रूप साध्य नहीं है। हेतु है साध्य नहीं है। ऐसी स्थिति में हेतु व्यभिचारी ही कहा जाता है। अत

एव प्राभाकर अस्मृतित्व हेतु के द्वारा जो भ्रान्ति ज्ञान में संस्कार-जन्यत्व का आपादन करने के लिए अनुमान प्रदर्शन किया है वह व्यभिचारी है। अतः वह साध्य का साधक नहीं हो सकता है। अनुमिति में संस्कार-जन्यत्वाभाव रूप साध्य नहीं रहता है अर्थात अनुमिति संस्कार जन्य होती है इसमें अन्वय-व्यतिरेक ही प्रमाण है कारण, व्याप्त्यादि–संस्कार रहने से अनुमिति उत्पन्न होती है व्याप्त्यादि–संस्कार न रहने से अनुमिति उत्पन्न नहीं होती है। इसलिए प्राभाकर प्रदर्शित अस्मृतित्व रूप हेतु अनुमिति में स्पष्टतः व्यभिचारी हो गया है। अर्थात् अस्मृतित्व रूप हेतु के बल से प्राभाकर भ्रमज्ञान में संस्कार-जन्यत्वाभाव का साधन नहीं कर सकते हैं। इसलिए भ्रमज्ञान संस्कार-जन्य होता है— यह प्राभाकर को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा[1]।

इसके उत्तर में प्राभाकर का कहना है कि— अच्छी बात है सिद्धान्ती भ्रमज्ञान संस्कार-जन्य होता है —यह स्वीकार करते हैं। संस्कार की विद्यमानता दशा में शुक्ति के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सम्प्रयोग होने के अव्यवहित बाद में ही जो रजत-विषयक-ज्ञान उत्पन्न होता है—यह स्मृति ही होगा। उसको भ्रमज्ञान के रूपमें पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है और इससे सिद्धान्ती ने जो अनुमिति में व्यभिचार का प्रदर्शन किया था उस व्यभिचार की भी सम्भावना नहीं होगी। कारण, हमलोग प्रदर्शित युक्ति के द्वारा भ्रमज्ञान को स्मृति ही कह रहे हैं। और अनुमिति में धूम के साथ इन्द्रिय संप्रयोग होने के बाद वह्नि-विषयक-स्मृति होती है—यह नहीं कहा जा सकता है। कारण, धूम के साथ इन्द्रिय संयुक्त होने के बाद व्याप्ति की स्मृति होकर बाद में वह्नि की अनुमिति होती है। इसलिए व्याप्ति स्मृति के बाद जो ज्ञान उत्पन्न हो रहा है उसको किसी

---

१ वि०, पृ० १६३

प्रकार से भी स्मृति नहीं कहा जा सकता है, और हमलोग भ्रमज्ञान को जो स्मृति कह रहे हैं, इसका कारण, भ्रमज्ञान इन्द्रिय-सम्प्रयोग के अव्यवहित उत्तर काल में ही उत्पन्न होता है। अपर पक्ष में अनुमिति इन्द्रिय-सम्प्रयोग के बाद उत्पन्न होने पर भी उसमें व्याप्ति का व्यवधान रहता है। इसलिए भ्रान्तिज्ञान को स्मृति कहने से अनुमिति में व्यभिचार की सम्भावना नहीं है। व्याप्ति स्मृति व्यवधान से उत्पन्न अनुमानादि प्रमाण है, यही स्मृति से इसका वैलक्षण्य है[1]। संस्कार से उत्पन्न ज्ञान दो ही प्रकार का हो सकता है। एक प्रमाण और दूसरा स्मृति। इसलिए प्रमाण एवं स्मृति इन दो प्रकार के ज्ञान को छोड़कर संस्कार से उत्पन्न तृतीय प्रकार मिथ्याज्ञान स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है—यही अख्यातिवादी का आशय है[2]।

इसमें सिद्धान्ती कहते हैं कि संस्कार से उत्पन्न ज्ञान दो ही प्रकार का हो सकता है—एसा नियम किस प्रकार किया जा सकता है। कारण, अयथार्थ प्रत्यक्षज्ञान भी (भ्रमज्ञान) तो सम्भव होता है। इसके उत्तर में प्राभाकर एक अनुमान का प्रदर्शन करते हैं—ज्ञानत्व, (पक्ष) यथार्थ ही होता है [साध्य] कारण, वह ज्ञानमात्रवृत्ति है [हेतु] जैसे प्रमात्व धर्म (दृष्टान्त) अख्यातिवादी का और भी कथन है कि-भ्रमज्ञान के सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है। भ्रमज्ञान के रूप में जो लोक में प्रसिद्ध है केवल इस लौकिक प्रसिद्धि के बल से ही भ्रमज्ञान का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। कारण, इस लोक प्रसिद्धि की अन्यथा भी उपपत्ति हो सकती है। अतः, फल हुआ कि विवाद का विषय रजत ज्ञान अध्यास

---

१ संस्कारजन्यत्वमुपगत चेत् अन्यसम्प्रयुक्तेऽक्षुपि यदन्तरमन्यविषयं ज्ञानमुत्पद्यते, तदनुमानादि प्रमाणमिति। [वि०, पृ० १६४]

२ प्रमाण-स्मृतिद्वैराश्यमेव विज्ञानस्य, न तृतीयं मिथ्याज्ञानं नामास्तीत्यख्यातिवादी प्रत्यवतिष्ठते। [वि०, पृ० १६४]

नहीं है। परन्तु स्मृति है (साध्य), कारण, यह संस्कार मात्र जन्य है। जैसे अन्यत्र संस्कार-मात्र-जन्य स्मृति होती है, इसमें सिद्धान्ती पुनः कहना चाहते हैं—इदं रजतं इस स्थल में रजत ज्ञान स्मृति स्वरूप नहीं हो सकता है। कारण, प्रसिद्ध गवादि स्मृति में अनुभव होता है कि गृह्यमाण गवय व्यक्ति है, और स्मर्यमाण गो व्यक्ति है। अर्थात् गवय व्यक्ति के साथ चक्षुःसंयोग होकर गो व्यक्ति का स्मरण होता है। इस स्थल में गो व्यक्ति का स्मरण गृह्यमाण गवय से पृथक् कराकर अपना विषय गो का स्मरण कर रहा है—इस रूप में ज्ञान करा देता है। इस प्रकार इदं रजतं इस स्थल में रजत स्मरण का गृह्यमाण इदम् (शुक्ति) से रजताकार रूप में पृथक् करके ज्ञान कराना उचित है। भ्रमज्ञान स्थल में सर्वथा शुक्ति से पृथक् रजतं स्मरामि रजत का स्मरण करता हूँ इस प्रकार ज्ञान होना चाहिए, परन्तु ऐसा ज्ञान नहीं होता है।

इसमें अख्यातिवादी कहना चाहते हैं— इदं रजतं इस स्थल में रजत विविक्त रूप में ही प्रतीत होता है। कारण, इस स्थल में रजत का जो स्मरण हो रहा है इसमें रजत और शुक्ति दोनों का उल्लेख नहीं होता है। प्रकृत स्थल में रजत इसी प्रकार स्मृति का हेतु हुआ है। इस स्मृति में शुक्ति एवं रजत इन दोनों का उल्लेख नहीं है इसलिए रजत की विविक्त रूप में प्रतीति है यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि—इदं रजतम् इस स्थल में अगर दो शब्दों की पुनरुक्ति होती तब तो अवश्य ही सिद्धान्ती कह सकते है कि स्मृति का जनक रजत विवक्तरूप में प्रतीत नहीं हुआ है, किन्तु ऐसी बात नहीं है। इदं रजतं इस स्थल में दो बार रजत का उल्लेख नहीं है। अत एव रजत विविक्त रूप में प्रतीत हुआ है —यह अनायास में ही कहा जा सकता है। इसमें सिद्धान्ती का पुनः कथन है कि—मान लिया जाय कि रजत विविक्त रूप में प्रतीत हो रहा है परन्तु रजतं स्मरामि इस रूप में प्रतीति तो नहीं हो रही है। इसके उत्तर में प्राभाकर कहना चाहते हैं--जहां स्मरणाभिमान का प्रमोष नहीं होता है उसी स्थल में स्मरण विविक्तरूप में अर्थ का ग्राहक

होता है। अर्थात् स्मरामि इस प्रकार की प्रतीति का जनक होता है। प्रकृत स्थल में स्मरणाभिमान का प्रमोष हो गया इसलिए रजतं स्मरामि इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है[1]।

इसमें सिद्धान्ती का कथन है--रजत का संस्कार तो सदा विद्यमान है। रजतानुभव होने के बाद से ही उसका संस्कार निरन्तर वर्तमान है इसलिए सदैव ही रजत का स्मरण होना चाहिए। अतः शुक्ति के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग होने के बाद ही रजत का स्मरण क्यों होता है? सम्प्रयोग के पूर्वकाल और उत्तरकाल में भी रजत का स्मरण क्यों नहीं होता है?[2] इसके उत्तर में प्राभाकर कहते हैं--अनुद्बुद्ध संस्कार स्मृति का जनक नहीं होता है। संस्कार से जहां स्मृति होती है वहाँ संस्कार को उद्बुद्ध समझना चाहिए। सादृश्यादि संस्कार का उद्बोधक है। इदं पदार्थ में रजतके सादृश्य का सन्दर्शन होने के कारण रजत का संस्कार उद्बुद्ध होता है। इदं पदार्थ के साथ इन्द्रिय-सम्प्रयोग होने से इदं पदार्थ के साथ रजत का जो सादृश्य है यह सादृश्य उद्बुद्ध होता है और इसके फलस्वरूप इदं रजतं इस स्थल में रजत की स्मृति भी होती है। इन्द्रिय के साथ इदं के सम्प्रयोग के पूर्व एवं उत्तरक्षण में सादृश्य-संदर्शन-समुद्बुद्ध संस्कार नहीं है[3]। अतः पूर्वोक्त स्थल में रजत स्मरण की आपत्ति भी नहीं हो सकती है।

इसमें पुनः शंका होती है--इदं के साथ इन्द्रिय का सम्प्रयोग होने से रजत का ही स्मरण क्यों होता है? रजत से भिन्न अन्य पदार्थ का स्मरण क्यों नहीं होता? इसके समाधान में प्राभाकर कहते हैं कि इदं वस्तु के साथ अतिशय-सादृश्यनिबन्धन रजत का ही स्मरण होता है, इसमें पुनः प्रश्न होता है--अतिशय

---

१ वि०, पृ० १६४ २ वि० पृ० १६४

३[क] इन्द्रियादीनां ज्ञानकारणानां केनचिदेव दोषविशेषेण कस्यचिदेवार्थ-विशेषस्य स्मृतिसमुद्बोधः क्रियते। [पं० पा०, पृ० १६४]

[ख] वि० पृ० १६४

सादृश्य-निबन्धन शुक्तिकान्तर का ही स्मरण क्यों नहीं होता है ?[१] प्राभाकार इसके समाधान में कहते हैं--केवल सादृश्य ज्ञान ही संस्कार का उद्बोधक नहीं है। यदि ऐसा होता नो प्रकृत स्थल में शुक्तिकान्तर के स्मरण का अतिप्रसंग भी आपादन किया जा सकता था। किन्तु रागादि भी संस्कार के उद्बोधक कोटि के अन्तर्भूत होते हैं। अतः रजत राग से रजत का ही स्मरण होता है।

प्रकृत स्थल से रजतार्थी का शुक्त्यन्तर में राग नहीं रहने के कारण शुक्तिकान्तर की स्मृति का प्रसंग नहीं है। कर्तृगत रागादि-दोष प्रयुक्त ही स्मरणाभिमान का प्रमोष हो जाने से रजत स्मरण में तत्तांश का उल्लेख नहीं होता है—यह भी पूर्व में कहा गया है[२]। इसमें पुनः प्रश्न होता है—स्मृति का प्रमोष होने के कारण स्मृति का विषय जो रजत उसका विविक्त रूप ग्रहण भले नहीं हो, परन्तु प्राभाकर इदं रजतं इस स्थल में इदमंश का ग्रहण और रजतांश का स्मरण स्वीकार करते हैं। इसलिए ग्रहण तो अपने विषय इदं (शुक्ति) को स्मर्यमाण रजत से विविक्त रूप में ग्रहण करा देगा, स्मृति का प्रमोष हो जाने से स्मृति भले ही अपने को विविक्त रूप में ग्रहण नहीं करे।

इसके उत्तर में प्राभाकर कहना चाहते हैं सम्प्रयुक्त इन्द्रिय विशेष ज्ञान कारण होता है परन्तु दोष के द्वारा उसका विशेष प्रतिभास - हेतुत्व प्रतिबद्ध हो जाता है। इसलिये प्रकृत स्थल में इन्द्रिय के द्वारा शुक्ति का ग्रहण होने पर भी शुक्ति का नील-पीतत्वादि जो विशेष रूप है उसका प्रतिभास नहीं होता है। पुरोवर्ती द्रव्य के साथ इन्द्रिय का संयोग होने पर भी दोष-निबन्धन जब विशेषांश का स्फुरण नहीं होता है तब यही सिद्ध हुआ कि अनुभव और स्मरण ये दोनों अविविक्त हो जाते हैं अर्थात् पृथक् रूप में ये दोनों भासमान नहीं होते हैं

१ ननु शुक्तिकासम्प्रयोगे रजतं किमिति स्मर्यते ? सादृश्यादिति चेत्, अतिसादृश्याच्छुक्तिकान्तरमेव स्मर्यतामिति। [वि०, पृ० १६४]

२ तत्त्वदीपन, पृ० १६४-१६५।

ओर इसीसे रजतार्थी व्यक्ति पुरोवर्त्ती द्रव्य में प्रवृत्त होता है[1]।

अद्वैतवेदान्ती भ्रान्तिज्ञान की सिद्धि कराने के लिए एक अनुमान का प्रदर्शन करते हैं–विवादाध्यासितप्रवृत्ति, (पक्ष), पुरोवर्तिरजतज्ञानपूर्वक होती है, (साध्य) कारण यहाँ रजतेच्छाधीन-पुरोवर्ती प्रवृति है, (हेतु) सम्यक् रजत प्रवृति के समान। इस अनुमान में सम्यक् रजत-प्रवृति दृष्टान्त है, सम्यक् रजत-प्रवृत्ति जहाँ होती है वहाँ रजत-विषयिणी इच्छा रहने से ही पुरोवर्त्ती रजत में प्रवृति होती है। इसलिए दृष्टान्त में हेतु है। इच्छा ज्ञान-जन्या होती है, अत एव जहाँ ज्ञानेच्छाधीन रजत-विषयिणी प्रवृत्ति है वहाँ पुरोवर्त्ती रजतविषयक ज्ञान भी वर्त्तमान है–यह स्वीकार करना होगा। ज्ञान से इच्छा और इच्छा से प्रवृति यही दार्शनिकों का सिद्धान्त है। पुरोवर्त्ती सम्यक् रजतस्थल में जब पुरुष की प्रवृत्ति होती है तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसको पुरोवर्त्ती रजतविषयिणी इच्छा है और जब पुरोवर्त्ती रजत विषयिणी इच्छा है, तब पुरोवर्त्ती रजत-विषयक-ज्ञान भी है—यह अनुमान करना पड़ेगा। इस स्थिति में पुरोवर्त्ती द्रव्य में रजतार्थी को (रजत में जिसकी इच्छा है) प्रवृत्ति हुई है यह रजत ज्ञान पूर्वक ही हुई है—यह स्वीकार करना पड़ेगा। अब शुक्ति में जब रजत ज्ञान हुआ तब यह ज्ञान अयथार्थ है यही स्वीकार करना उचित है। इसमें प्राभाकर आपत्ति करना चाहते हैं—रजतेच्छा-विशिष्ट पुरुष की पुरोवर्त्ती द्रव्य में जो प्रवृत्ति यह रजत-ज्ञान-पूर्वक है–इसमें क्या प्रमाण है? वैसे पुरुषो की प्रवृत्ति भी हो रही है जिनको पुरोवर्ति-रजत विषयक-ज्ञान नहीं है यह स्वीकार करने में हानि क्या है? तात्पर्य

१[क] इन्द्रियादीनां ज्ञानकारणानां केनचिदेव दोषविशेषेण कस्यचिदेवार्थ-विशेषस्य स्मृतिसमुद्बोधः क्रियते। सम्प्रयुक्तस्य च दोषेण विशेषप्रतिभास-हेतुत्वं कारणस्य विहन्यते। [पं० पा०, पृ० १६४-१६५]

[ख] वि०, पृ० १६४-१६५

यह है कि रजत ज्ञान के विना पुरोवर्त्ति-द्रव्य में रजतार्थी की प्रवृत्ति स्वीकार करने में विपक्षवृत्तित्व का बाधक अनुकूल तर्क क्या है ? इसलिए प्रदर्शित अनुमान के बल से अयथार्थ प्रत्यय की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती प्राभाकर से पूछते हैं—आप क्या ग्रहण और स्मरण इन दोनों ज्ञानों को प्रवर्तक मानना चाहते हैं ? अथ वा प्रत्येक को ? प्रथम पक्ष में भी क्या एक साथ उत्पन्न होकर दोनों ज्ञान प्रवर्तक होते हैं अथ वा ज्ञान-द्वय क्रमिक उत्पन्न होकर प्रवर्तक होते हैं। इनमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। स्मृति और ग्रहण में—दोनों का यौगपद्य सम्भव नहीं है। इसलिए ये दोनों एक काल में उत्पन्न होकर प्रवर्तक होते हैं—यह पूर्वोक्त कथन असमीचीन है। मन क्रमिक ज्ञान को उत्पन्न करता है, यह नियम सर्ववादि-सम्मत है और भी उत्पन्न स्मृति और ग्रहण क्षणिक है। इसलिए इन दोनों का यौगपद्य सम्भव नहीं है। इस प्रकार द्वितीय क्रम पक्ष भी असंगत है। क्रम-विशिष्ट-ग्रहण एवं स्मरण इन दोनों का प्रवर्तकत्व भी स्वीकार करना अनुचित है। कारण, इदं रजतम् इस स्थल में इदमाकार जो ज्ञान है वह रजत ज्ञान के द्वारा व्यवहित होने के कारण प्रवृति के प्रति हेतु नहीं हो सकता है। अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती जो होता है वही कारण हो सकता है। इसलिए इदमाकारज्ञान प्रवृति का कारण नहीं हो सकता है। द्वितीय क्रमिक पक्ष में और भी प्रश्न होता है, क्या इदं ज्ञान प्रवर्तक है ? अथ वा रजत ज्ञान प्रवर्तक होता है ? इन दोनों में एक पक्ष भी समीचीन नहीं है। इदमाकार सामान्यमात्रज्ञान से रजतार्थी की शुक्ति में प्रवृति नहीं होती है। कारण, इदमाकार सामान्यमात्रज्ञान लोह प्रस्तर-खण्ड आदि में भी है—वहाँ भी रजतार्थी की प्रवृत्ति की प्रसक्ति हो जायेगी। इसी प्रकार रजतमात्र विशेष ज्ञान से भी पुरोवर्त्ती पदार्थ में प्रवृति नहीं हो सकती है। कारण, देशान्तर में भी रजतमात्र विशेषज्ञान वर्त्तमान है, अतः, देशान्तर में प्रवृति की प्रसक्ति प्राप्त है। अतः, यही सिद्ध हुआ कि संसर्गज्ञान आवश्यक है। संसर्गज्ञानाभावनिबन्धन प्रवृति असम्भव होती

है, जब यह सिद्ध हुआ और प्राभाकर प्रकृत स्थल में संसर्ग विषयक ज्ञान स्वीकार नहीं करते हैं। इसलिए प्रवृति के प्रति कारण—प्रवर्तक का अख्यातिवादी के द्वारा किसी को निर्दिष्ट करना पड़ेगा। किन्तु अख्यातिवादी प्रवर्तक का निर्देश नहीं करते हैं। अतः, इनके मत में असंगति सुस्पष्ट है[1]।

इसके उत्तर में प्राभाकर कहना चाहते हैं—इदं ज्ञान के अव्यवधान से उत्पन्न रजत ज्ञान प्रवर्तक है यही हमलोगों का कथन है। ग्रहण और स्मरण की निरन्तर (अव्यवहित) उत्पत्ति ही इदं रजतं इस स्थल में रजतार्थी की प्रवृत्ति के प्रति कारण है। इससे सिद्ध होता है कि ग्रहण अथवा स्मरण प्रवृति के प्रति कारण नहीं है, क्योंकि रजतार्थी की जो प्रवृति होती है वह रजतत्व-विशिष्ट-पुरोवर्ति-वस्तु में होती है। प्रवृति के प्रति ज्ञान कारण है। प्रवृति जब विशिष्ट-विषयिणी हो रही है, तब प्रवृति का जनक ज्ञान भी संसृष्ट ज्ञान है यही स्वीकार करना होगा, संसृष्ट शब्द का अर्थ है सम्बद्ध। रजतत्व का रजत में सम्बद्ध ज्ञान होना ही विशिष्ट ज्ञान है। जहाँ विशिष्ट ज्ञान होता है, वहाँ विशेष्य-विशेषण का सम्बन्ध भासमान होता है। प्रकृत स्थल में रजतत्व विशेषण और रजत विशेष्य और इन दोनों का सम्बन्ध सम्भव है। प्रवृत्ति जब एतादृश-विशिष्ट-विषयिणी है तब प्रवृत्ति का जनक ज्ञान भी संसर्ग-युक्त विशिष्ट ज्ञान ही स्वीकार करना होगा[2]।

---

१ इदमाकारज्ञानस्य रजतज्ञानव्यवहितत्वान्न प्रवृत्तिहेतुत्वम् ? अव्यवहितपूर्वक्षण-वर्तिनो हेतुत्वनियमादित्यर्थः।

द्वितीयेऽपि किम् इदं ज्ञानं प्रवर्तकम् ? उत रजतज्ञानम् ?

इदमाकारज्ञानाद् रजतार्थिनो न शुक्तौ प्रवृत्तिः लोष्टादावपि तत्प्रसक्तेः नापि रजतमात्रज्ञानात् देशान्तरेऽपि प्रवृत्तिप्रसंगात्। तस्मात् संसर्गज्ञानाभावे प्रवृत्त्यसम्भवस्य बाधकत्वादत्राश्रयणीयमिति चोद्यार्थः। संसर्गज्ञानाभावेन प्रवृत्त्यसम्भवे चोदिते प्रवर्तकं किंचिद् वक्तव्यम्, न च तदुच्यते।

(त० दी, पृ० १६५)

२ प० पा०, पृ० १६५

इसके उत्तर में अख्यातिवादी का कथन है कि हमलोगों ने इसका उत्तर पूर्व में ही कह दिया है—ग्रहण और स्मरण की अव्यवधान रूप से उत्पत्ति ही प्रवृत्ति की हेतु है। रजतार्थी को रजत में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए उस प्रवृत्ति के जनक विशिष्ट-ज्ञान को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है।

इसमें सिद्धान्ती का शंका है—इदं रजतमित्यभात यह रजत है, इस प्रकार ज्ञान हुआ—इस प्रकार की प्रतीति से संसर्ग-युक्त विशिष्ट-ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए संसर्ग-ज्ञान प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के द्वारा सिद्ध होने से अख्यातिवादी ने जो ज्ञान-द्वय की निरन्तर उत्पत्ति को हेतु कहा है यह विरुद्ध हेतु हो गया। सपक्ष में हेतु के न रहने से विरुद्ध नामक हेत्वाभास दोष से हेतु दुष्ट होता है। सम्यक् प्रवृत्ति सपक्ष में (दृष्टान्त में) निरन्तर उत्पत्ति रूप हेतु नहीं है। इसलिए हेतु विरुद्ध हो गया[1]।

भ्रमज्ञान के बाद इदं रजतमिति अभात् इस प्रकार इदमांश में रजत के संसर्ग-ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए भ्रमज्ञान को संसर्ग-युक्त-विशिष्ट ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें अख्यातिवादी कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रत्यभिज्ञा की प्रकारान्तर से भी उपपत्ति हो सकती है, अख्यातिवादी के अनुकूल दृष्टान्त प्रदर्शन-प्रसंग में पंचपादिकाकार ने कहा है—दूरस्थ दो वृक्षों में दूरस्थत्व दोष-प्रयुक्त विवेक अवधारण न होने से जहाँ एकत्व का ज्ञान होता है वहाँ एकत्व का अभाव रहने पर भी एकत्व-विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है—अविवेक से इस प्रकार का व्यवहार देखा जाता है। दूरस्थत्वदोष ही अविवेक का कारण है। वैसे

---

१ (क) निरन्तरोत्पत्तिरेव प्रवृत्तिहेतुरित्यर्थः। ननु इदं रजतमित्यभादिति संसर्ग-प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञायत इति। (वि०, पृ० १६५)

(ख) तेन दर्शनस्मरणयोर्निरन्तरोत्पन्नयोः करणदोषादेव विवेकानवधारणाद् ...... एकैकत्वावभास उत्पन्नभ्रमः।

[पं० पा०, पृ० १६५-१६६]

ही शुक्ति रजत स्थल में भी संसर्ग-युक्त विशिष्ट-ज्ञान उत्पन्न होने पर भी कारण-दोष-निबन्धन भेद-अवधारण न होने के कारण संसर्ग-युक्त विशिष्ट ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे अद्वैतवेदान्ती प्रत्यभिज्ञा के ऊपर निर्भर करके इदं रजतम् इत्यादि स्थल में संसर्ग ज्ञान की आपत्ति नहीं कर सकते हैं।

अख्यातिवादी ने भ्रम ज्ञान को स्मृति स्वरूप सिद्ध करने के लिए संस्कार-मात्रजत्व को हेतु बनाकर अनुमान प्रदर्शन किया था।[1] इसमें अद्वैतवेदान्ती संस्कारमात्र-जन्यत्व हेतु की बालक के तिक्त रस-स्मृति में असिद्धि प्रदर्शन करते हैं। कारण, बालक ने इस जन्म में तिक्त रस का आस्वादन नहीं किया है। इसलिए तिक्त रस का संस्कार नहीं है। ऐसी स्थिति में जातमात्र-बालक को मधुर में तिक्त भ्रम की स्मृति में संस्कारमात्रजत्व कैसे रह सकता है? जात-मात्र बालक के तिक्त-भ्रम-ज्ञान-रूप पक्ष में संस्कारमात्रजत्व रूप हेतु न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध रूप दोष हो गया। इसलिए जातमात्र बालक के मधुर में तिक्तत्वादि ज्ञान को भ्रान्ति रूप संसर्ग ज्ञान ही स्वीकार करना चाहिए। मधुर में तिक्त संसर्गज्ञान भ्रम रूप है।[2]

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि इस जन्म में जातमात्र बालक को तिक्तरसानुभव और तिक्त-रसानुभवजनित-संस्कार नहीं रहने पर भी जन्मान्तर में तिक्त रस का अनुभव किया था उसी का संस्कार है। अत एव जातमात्र बालक को मधुर रस में तिक्त स्मृतिसंस्कारजन्य होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिए पूर्वप्रदर्शित स्वरूपासिद्धि दोष असंभव है। कारण, पूर्व प्रदर्शित युक्ति के द्वारा हेतु के पक्ष में रहने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके

---

१ विमतं, स्मृतिः संस्कारमात्रजत्वात्। [पं० पा०, १६६]

२ ननु अनास्वादिततिक्तरसस्यापि बालकस्य पित्तदोषान्मधुरे तिक्तावभासः कथं स्मरणं स्यात्? (पं० पा पृ० १६६)

उत्तर में अद्वैत-वेदान्ती कहना चाहते हैं कि भाष्यकार शबरस्वामी ने कहा है—

जन्मान्तर में अनुभूत का स्मरण नहीं होता है। जन्मान्तर में अनुभव तो सम्भावित है परन्तु मृत्यु एवं जन्म के द्वारा व्यवधान होने के कारण जन्मान्तरानुभव संस्कार को उत्पादन कर स्मृति का जनक नहीं हो सकता है। केवल आप्त-वचन के बल से ही जन्मान्तरानुभूत का स्मरण नहीं होता है— ऐसी बात नहीं है, किन्तु अनुभव भी इसमें प्रमाण है, कारण, मधुर में तिक्त रस का स्मरण कर रहा हूँ, ऐसी प्रतीति बालक को नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यही सिद्ध हुआ कि अख्यातिवादी ने जातमात्र बालक को इस जन्म में तिक्त रस का अनुभव नहीं रहने पर भी जन्मान्तर में तिक्त रस का अनुभव होने के कारण तिक्त रस का स्मरण हो जायगा, यह जो कहा है वह समीचीन नहीं है। कारण, इसमें आप्तवचन का विरोध होता है और जन्मान्तरनुभूत तिक्त-स्मृति का कल्पक भी नहीं है[1]।

इस आशय को विवरण प्रमेय-संग्रह में और भी स्पष्ट शब्दों में कहा है। जातमात्र बालक मधुर रस का आस्वाद करके जो थूक के द्वारा त्याग करते हैं इसी के द्वारा जातमात्र बालक को मधुर में तिक्तत्व का ज्ञान हुआ है। इस अनुमान से अवगत किया जाता है अर्थात् यही थूत्कार रूप त्याग तिक्त स्मृति का कल्पक है, अर्थात् जन्मान्तर में जो तिक्त रस का अनुभव हुआ था उसी का स्मरण है। निष्कर्ष यह हुआ कि जातमात्र बालक को मधुर में तिक्तत्वावभास बालक की जन्मान्तरानुभूत तिक्तत्व स्मृति ही है, किन्तु मधुर में तिक्त-संसर्ग-ज्ञान रूप नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि जातमात्र बालक को मधुर में तिक्तत्वावभास का अगर ग्रहण है तब तत शब्द के द्वारा तिक्तांश का स्मरण इसका उल्लेख रहना चाहिए अर्थात् इदं तत् तिक्तम् इस प्रकार प्रतीति का आकार होना चाहिए। फलतः, बालक को मधुर में तिक्तताबभासस्थल में अख्यातिवादी के अनुसार ग्रहण एवं स्मरण—ये दोनों अविविक्त रूप में हैं। यदि यही है तब ग्रहण में माधुर्य-विशेष का उल्लेख और स्मरण में तत्तांश का उल्लेख रहना चाहिए।

१ प० पा० वि०, पृ० १६६

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं—पित्त दोष के कारण ग्रहण और स्मरण का माधुर्य विशेष एवं तत्तांश का उल्लेख नहीं होता है। अतः इदं मधुरं तत् तिक्तम्, ऐसा न होकर इदं तिक्तं यही अवभास होता है। साथ ही अद्वैतवेदान्तियों ने कहा है—जन्मान्तरानुभूत का स्मरण नहीं होता है यह भाष्यकार शबरस्वामी का वचन प्रायिक अभिप्राय में है। इसलिए आप्त-वचन के साथ उसका किसी प्रकार विरोध नहीं है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं किया जाय तो जातमात्र बालक की स्तन्यपानादि में इष्टसाधन स्मृति का अभाव रहने से प्रवृत्ति नहीं होगी। आशय यह है कि प्रवृत्ति के प्रति इष्ट-साधनता (यह मेरा इष्ट साधन है, इस प्रकार का ज्ञान कारण है। पूर्वोक्त ज्ञान नहीं रहने से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इस स्थिति में यदि भाष्यकार शबरस्वामी ने जो कहा है कि जन्मान्तरनुभूत का स्मरण नहीं होता है, यह मान लिया जाय तो जातमात्र बालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। कारण, इस जन्म में स्तन्यपान अनुभव नहीं है और जन्मान्तरानुभूत स्तन्यपानादि में भाष्य के अनुसार इस जन्म में इष्टसाधनता का स्मरण नहीं है अर्थात् स्तन्यपान मेरे इष्ट का साधन है, इस प्रकार स्मृति नहीं हो सकती है। फलतः जातबालक की स्तन्यपान में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए भाष्य वचन प्रायिक अभिप्राय से ही कहा गया है। बालक का मधुर में तिक्तत्वावभास को अगर भ्रमज्ञान भी स्वीकार किया जाय तथापि जन्मान्तरानुभव को ही इसका कारण स्वीकार करना पड़ेगा। यह स्वीकार नहीं किया जाय तब तो अननुभवत्व के अविशेष-निबन्धन से अत्यन्त असद् सप्तमरस का अवभास ही बालक को क्यों नहीं होता है? आशय यह है—अद्वैतवेदान्ती तिक्तावभास को जनमान्तरानुभूत तिक्त स्मृति के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते है। फल यह हुआ कि तिक्तत्वावभास है और वह अननुभूत है। यह अननुभूतत्व रूप तो सप्तम रस में भी है। इसलिए अननुभूतत्व उभय साधारण होने से वहां सप्तम रस का ही अवभास क्यों नहीं होगा ?[1] इस पूर्वोक्त

1 तत्त्वदीपन पृ०, १६६

कथन का अभिप्राय—तत्त्वदीपनकार ने अख्यातिवादी का आशय इस प्रकार व्यक्त किया है—

अद्वैतवेदान्ती के कथन का आशय यह है कि जन्मान्तर में भी जिस पदार्थ का अनुभव हुआ है वह जन्मादि के द्वारा व्यवहित होने के कारण स्मृति में सर्वथा अनुपकारक है जन्मान्तरीय अनुभव जन्मादि के द्वारा व्यवहित होने के कारण इस जन्म की स्मृति में अनुपकारक है—यही अद्वैतवादियों के कथन का गूढ़ आशय है, और सप्तम रस का अनुभव जन्मान्तर में कभी हुआ ही नहीं है। इसलिए सप्तम रस को स्मृति में वह अनुपकारक है। फलतः, अद्वैतवेदान्ती के कथनानुसार एकत्र जन्मान्तरानुभूत का जन्मादि व्यवहित होने के कारण जैसे स्मृति में अनुपकारकता है वैसे ही सप्तमरस के स्मृति प्रसंग में भी सप्तम रस अननुभूत होने के कारण स्मृति का अनुपकारक है—इस प्रकार जन्मादि-व्यहित जन्मान्तरानुभव का और सर्वथा अननुभूत का अनुपकारक तिक्तांश में अविशेष है। ऐसी स्थिति में तिक्तावभास के स्थल में किसी सप्तम रस का अवभास क्यों नहीं होता है? यही अद्वैतवादी के ऊपर अख्यातिवादी का अधिक्षेप है। तब यह सुस्पष्ट हो गया कि जन्मान्तरानुभूत का ही स्मरण होता है। अननुभूत का स्मरण स्वीकार करने से छ रससे अतितिक्त में रसत्व ज्ञान दुर्निवार हो जायगा[२]।

इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती कहना चाहते हैं कि अख्यातिवादी ने जैसे अननुभूत स्मरण पक्ष में अतिप्रसंग का प्रदर्शन किया है वैसे ही अनुभूत का स्मरण स्वीकार करने पर भी अतिप्रसंग दुर्निवार रह जायगा। कारण जन्मान्तरानुभूत किसी का स्मरण होता है—किन्तु सभी का स्मरण नहीं होता है—इसका कारण अख्यातिवादी के यहाँ क्या हो सकता है? जन्मान्तरानुभव यदि स्मृति का कारण हो जाय तब तो जन्मान्तरानुभूत सभी पदार्थों का स्मरण होना चाहिए। जन्मान्तरानुभूत किसी पदार्थ का स्मरण होगा सब का नहीं होगा—इसमें कोई नियामक नहीं है।

२ तस्मादननुभूतत्वाद् अनुपकारकत्वेन विशेषाभावश्चाम्र इत्यर्थः। तत्र षड्रसातिरिक्ते रसत्वानुभवः स्यादित्यतिप्रसंगः। अननुभूतस्मरणपक्षेऽतिप्रसंगवदनुभूतस्मरणेऽप्यतिप्रसंगः समः। [त० दी०,पृ०, १६६]

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि पूर्वपक्षियों ने जो नियामकाभाव का प्रदर्शन किया है यह असिद्ध है—कारण, दोष ही नियामक है। अतः, दोष-प्रयुक्त ही प्रकृत स्थल में तिक्त का स्मरण हो जायगा। इसमें पुनः अद्वैतवादी कहना चाहते हैं कि दोष का स्मरण स्वीकार करने पर तो पुनः दोष का अतिप्रसंग होगा। कारण, दोष जन्मान्तरानुभूत सभी का स्मरण क्यों नही करा देता है? इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि प्रकृतस्थल में तिक्त-स्मरण रूप जो कार्य है उसको देखकर दोष की तिक्त-स्मारकत्व-कल्पना की जायेगी। इसी तिक्त स्मरण रूप कार्य लिंग से प्रकृत स्थल में दोष तिक्त का ही स्मारक होता है, यह अनुमान हो जायेगा। इसमें अद्वैतवादी पुनः आपत्ति करते हैं— सांख्य-शास्त्रकार जो वस्तु अतत्त्व है उसमें जो तत्त्वज्ञान है यही इसमें है यह कहते हैं और इसके द्वारा भ्रम संसर्ग—विषयक होता है, इसको प्रदर्शित किया है। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि वेदान्तियों का यह कथन अनुचित है—यथार्थज्ञान के अभाव में भी अयथार्थ व्यवहार हो सकता है—यह प्रदर्शन करना ही पूर्वोक्त सांख्य-शास्त्र का आशय है। इसमें अद्वैतवेदान्ती पुनः कहना चाहते हैं कि सम्यक् रजत स्थल में संसर्ग ज्ञान ही प्रवर्तक देखा जाता है। इसलिए प्रभाकर शुक्ति-रजत स्थल में इसका परित्याग क्यों करना चाहते हैं? इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि गौरव दोष ही इसका कारण है। संसर्गावभास रूप (विशिष्टज्ञान रूप) भ्रम स्वीकार करना चाहते हैं उनके लिये भ्रम के कारण रूप में ग्रहण और स्मरण के अविवेक को स्वीकार करना ही पड़ेगा। इस स्थिति में जब यह स्वीकार करना ही है तब उभयवादि-सिद्ध पूर्वोक्त ग्रहण और स्मरण के अविवेक के द्वारा रजत-विषयिणी प्रवृत्ति सिद्ध होने के अतिरिक्त संसर्गावभास को भ्रान्ति स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है? यह गौरव दोष होने के कारण अख्यातिवाद ही युक्ति-युक्त है।

इदं रजतं इत्यादि स्थल में ज्ञान का याथार्थ्य स्वीकार करने में सर्वानुभव-सिद्ध भ्रान्ति ज्ञान की अनुपपत्ति हो जायेगी। भ्रान्ति ज्ञान की सम्भावित अनुपपत्ति पूर्वोक्त स्थल में प्रत्यय के याथार्थ्य स्वीकार करने में बाधिका है। इस आशय को हृदय में रखकर विवरणाचार्य प्राभाकर से पूछते हैं कि आपकी अख्याति क्या है ? अख्याति शब्द से ख्याति में जो न है उसका अभाव रूप अर्थ ग्रहण कर क्या ख्याति का अभाव अख्याति, आप कहना चाहते हैं ? अथवा न का अन्य अर्थ ग्रहण कर ख्याति से भिन्न जो है वही अख्याति है, यह स्वीकार करना चाहते हैं। अथवा न का विरोध अर्थ ग्रहण कर ख्याति विरुद्ध जो है वही अख्याति है—इस प्रकार अर्थ ग्रहण करना चाहते हैं। इसमें ख्याति शब्द का अर्थ ज्ञान है। इन विकल्पों में प्रथम विकल्प समीचीन नहीं है। कारण, ख्यात्यभाव को अख्याति कहा जाय तो ख्याति का अभाव इसमें सकल ख्यातियों का अभाव अख्याति है अथवा कतिपय ख्यातियों का अभाव अख्याति है ? कतिपय ख्यातियों के अभाव को भ्रम कहने में अतिप्रसंग होगा। क्योंकि कतिपय ख्यातियों का अभाव सभी में है। इसी प्रकार सकल ख्यातियों के अभाव को भ्रम कहने से सुषुप्ति आदि अवस्था में ही भ्रम की प्रसक्ति हो जायेगी, जाग्रत् आदि अवस्था में नहीं। कारण, जाग्रत् अथवा स्वप्नावस्था में ज्ञान का सामान्याभाव नहीं हो सकता है। इसलिए यह पक्ष असमीचीन है ! विवरणाचार्य ने कहा है कि ज्ञान का सामान्याभाव किसी अवस्था में भी हमलोग नहीं मानते हैं। पूर्वोक्त सुषुप्ति दशा में जो अतिप्रसंग दोष प्रदर्शन किया है—यह अभ्युपगमकर ही दिया है। कारण, सुषुप्ति दशा में हमलोग साक्षिस्वरूपाकारा सुखस्वरूपाकारा और अज्ञानस्वरूपाकारा निर्विकल्पक तीन प्रकार की अविद्या वृत्ति स्वीकार करते हैं[1]। न्यायरत्नावली पृ० ३४ में एवं मधुसूदन

---

१ (क) केयमख्यातिरिति ? न तावत् ख्यात्यभावमात्रम्, अनभ्युपगमात्, अनतिप्रसंगाच्च। (वि०, पृ०, १६६)

(ख) किं ख्यात्यभावोऽख्यातिः ? किं वा तदन्यः ? उत तद्विरुद्धः ? इति किं शब्दार्थः—कतिपयख्यात्यभावस्य भ्रमत्वेऽतिप्रसक्तिः, सकलख्यात्यभावपक्षे सुषुप्त्यादावपि भ्रमत्वप्रसंग इत्यर्थः। (त० दी०, पृ० १६७)

सरस्वती ने भी कहा है--सुषुप्ति में निर्विकल्पक साक्षिचैतन्य का अनुभव होता है[1]। यदि प्रभाकर-मतानुसारी आचार्यगण मानें कि सुषुप्ति में हमलोग ज्ञान-सामान्य का अभाव स्वीकार करते हैं तब तो सुषुप्ति में भी भ्रम का प्रसंग हो जायेगा, इससे उनलोगों के यहाँ अतिप्रसक्ति हो जायगी।

न का भिन्न अर्थ ग्रहण कर जो विकल्प प्रदर्शन किया गया है उसका भी दो प्रकार अर्थ हो सकता है---अयथार्थ प्रवृत्ति का हेतु जो ज्ञान है वही अख्याति है अथ वा अविविक्त अनेक पदार्थ का ज्ञान अख्याति है। अयथार्थ प्रवृत्ति के कारण ज्ञान को यदि अख्याति कहा जाय तब तो इसका निष्कर्ष यही होगा कि रजतार्थी की शुक्ति में प्रवृत्ति का हेतु जो ज्ञान है, वही अख्याति है। कारण, वही ज्ञान अयथार्थ प्रवृत्ति का कारण है। परन्तु यह प्रत्यक्ष अव्याप्ति दोष-ग्रस्त है। कारण, वीतराग व्यक्ति को प्रवृत्ति ही नहीं होती है। इसलिए वीतराग के प्रसंग में प्रवृत्ति हेतु का ज्ञान नहीं रहने के कारण वहाँ अख्याति की कभी भी सम्भावना नहीं होगी। रागी व्यक्ति को भी झटिति बाधज्ञान-प्रयुक्त अथवा आलस्य-प्रयुक्त जहाँ प्रवृत्ति नहीं होती है उस स्थल में अख्याति नहीं होगी। कारण, प्रवृत्ति-हेतु-ज्ञान ही अविद्यमान है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है[2]। ज्ञानमात्र का भ्रमत्व निराकरण करने के लिए इसमें अविविक्त विशेषण पूर्वपक्षी ने दिया है। सभी ज्ञान अविविक्त नहीं हैं। इसलिए अविविक्त विशेषण के द्वारा उसकी व्यावृत्ति हो जायेगी। इस प्रकार अविविक्त ज्ञान मात्र को अख्याति कहने से जहाँ वस्तु मात्र का ज्ञान होता है, विशेष रूप में अवधारण नहीं होता है, उस स्थल में रजत की प्रसक्ति हो जायेगी। क्योंकि, विशेष अवधारण न होने से यह भी अविविक्त ज्ञान कहा जायगा। इसलिए पूर्वपक्षी ने

---

१ सुषुप्तौ निर्विकल्पकसाक्षिचैतन्यानुभवांगीकाराच्च।
[सि० वि०, पृ० ३४-३६। 'न्या० र०' पृ० ३४-३५]

२ [क] अन्यार्थिनोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुर्ज्ञानमिति चेत्, यत्र नर्हि न प्रवृत्तिर्झटिति; बाधश्च, तत्र कथं भ्रान्तिः ? [वि० पृ०, १६७]

अनेक पदार्थ का निवेश किया है। अनेक शब्द का अर्थ है एक से अधिक। इस अभिप्राय के अनुसार पूर्वपक्षी का अभिप्रेत द्वितीय विकल्प का उत्थान हुआ है। परन्तु यहाँ अविविक्त पक्ष भी समीचीन ही है। कारण, अविविक्तत्व का तात्पर्य क्या है ? अविविक्तत्व का अर्थ क्या भेद रूप में अस्फुरण अथवा ऐक्य है। इन दोनों कल्पों में आदि विकल्प स्वीकार करने से अव्याप्ति दोप हो जायगा। कारण, इदं रजतं इस स्थल में इदं एवं रजत अपुनरुक्त शब्दद्वय स्मृतिका हेतु हुआ है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि इदं और रजतं ये दोनों विविक्त रूप में ही भासमान हो रहे हैं, अविवक्त रूप में नहीं। इदं और रजतं ये अविविक्त रूप में भासमान होते तो इदं या रजतं किसी एक का ही स्मरण होता, किन्तु अपुनरुक्त इदं एवं रजतं इन शब्दद्वय की स्मृति का कारण नहीं होता।

अविविक्त रूप में अवभासमान होने से किसी एक की ही स्मृति का कारण होता। पूर्वोक्त कारण से इदं एवं रजतं विविक्त रूप से अवभासमान होता है, तब यह सिद्ध हुआ कि सामान्य अंश इदं एवं विशेप अंश रजत का अविवेक भ्रम सम्भव नहीं हो सकता है। इससे अविविक्त अनेक पदार्थ ज्ञान रूप अख्याति जो कहा गया है उसके न होने से अव्याप्ति दोप हो जायगा। इसी प्रकार द्वितीय कल्प (ऐक्यपक्ष) भी समीचीन नहीं है, कारण, इदं और रजत का पूर्वप्रदर्शित युक्ति के बल से जब भिन्न रूप में ज्ञान हो रहा है तब तो यहाँ एकत्व ज्ञान प्राभाकर स्वीकार नहीं कर सकते हैं। इसलिए इस पक्ष में भी सामान्य अंश एवं विशेप अंश रजत का विवेकरूप भ्रम सिद्ध नहीं हो सकता है। इसमें और विचारणीय विपय है कि विवेक अर्थात् भेद, क्या पदार्थ का स्वभाव है ? या पदार्थ का धर्म है ? प्रथम पक्ष असमीचीन है। प्रकृत स्थल में इदं एवं रजत इन दोनों पदार्थों का ज्ञान होने के कारण भेद का ज्ञान भी हो ही गया[1]। अतः, इदं और रजत का अविवेक किस प्रकार सम्भव है ?

---

१ अथाविविक्तानेकपदार्थज्ञानम्, तर्हि इदमिति रजतमिति चापुनरुक्तशब्दद्वय-स्मृतिहेतुतया विविक्तावभासनान्न तस्य सामान्य-विशेपयोरविवेकभ्रमः सम्भवति। न च भेदावमर्शनैकत्वज्ञानमनभ्युपगच्छतः सामान्यविशेपयोरविवेकः सम्भवति, विविक्ताकारद्वयावभासनात्।

(वि० पृ०, १६७)

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि इतरेतराभाव का विशिष्ट ज्ञान, भेद के विशिष्ट ज्ञान, द्वित्वादि संख्या के विशिष्ट ज्ञान को हमलोग विवेक कहते हैं और इनका न रहना ही अविविक्तता या अविवेक है। प्रकृत स्थल में पूर्वोक्त विवेकज्ञान नही है। अतः पूर्वोक्त शुक्ति-रजत स्थल में अविवेक रूप अख्याति सम्भावित है। इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि अख्याति का इस प्रकार का लक्ष्य अतिव्याप्ति दोष दुष्ट है। कारण, (गामानय दण्डेन) गौ को दण्ड के द्वारा ले आओ। इस स्थल में गौ एवं दण्ड का गोगत और दण्डगत कारक का अविवेक रूप भ्रम हो जायेगा। क्योंकि, पूर्वोक्त विवेक अर्थात् भेद ज्ञान यहाँ नहीं है। पूर्वोक्त त्रितय का विशिष्ट ज्ञान रूप विवेक यहाँ नहीं है। इसमें शंका होती है कि गौ में कर्मत्व का और दण्ड में करणत्व का भेद ज्ञात तो हो रहा है, अतः, इस स्थल में किस प्रकार अविवेक रूप भ्रम सम्भव हो सकता है। इस आशंका के उत्तर में कहते हैं कि गौ भी दण्डगत कर्म एवं करण कारक है। यह कारकत्व रूप से तो दोनों का अविवेक ही हैं। गौ और दण्डगत जो कारक है, उन दोनों का कारकत्व रूप से अविवेक है। इसमें पुनः अख्यातिवादी शंका करते हैं---इस स्थल में प्रदर्शित लक्षण की प्रवृत्ति ही नही हो सकती है। अतः, अतिव्याप्ति की सम्भावना कहाँ है? कारण, कर्म और करण का प्रतिपादक विभक्तिद्वय भिन्न रूप में ही प्रतीत हो रहा है। अतः, इस स्थल में यदि भेद ज्ञान ही है, तो अविवेक नहीं है[1]। इनके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं—इदं रजतं इस स्थल में भी तो इदं और रजत ये दोनों अपुनरुक्त शब्दद्वय है। इन अपुनरुक्त शब्दद्वय से परम्परा रूप से आकार-द्वय का भान हो रहा है। आकारद्वय का भान होने से द्वित्वादि का भी ज्ञान है ही। इसलिए यहाँ भी अविवेक नही होगा। यदि यह स्वीकार नही किया जाय तब तो इदं—इस सामान्याकार के साथ रजतं इस विशेषाकार का

१ इतरेतराभाव-भेदद्वित्वसंख्याविशिष्टज्ञानं विवेक इति चेत्, गामानय दण्डेनेति गोदण्डयोस्तत्प्रकारकत्वयोश्चाविवेकभ्रमः स्यात्। तत्राप्यानुषंगिकभेदज्ञान-मस्तीति चेत्। वि०, पृ०, १६७

विवेक भेद अवभासमान नहीं हुआ, यही स्वीकार करना होगा। और इसके फलस्वरूप चाहे इदं यह आकार होगा चाहे रजतं यही आकार होगा। इदं रजतं इस प्रकार आकार नहीं होगा। किन्तु इदं रजतं यह आकार सर्वानुभव-सिद्ध है[1]।

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि विवेक की अप्रतिपत्ति होने पर भी विवेक विद्यमान है। इसीलिए विवेक की अनवभास दशा में इदं रजतं इस प्रकार प्रतिभान सम्भव है। इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती कहना चाहते हैं— इदमाकार से रजत की अगर व्यावृत्तता (भेद) की अप्रतिपत्ति होने से इदं और रजतं इस प्रकार विलक्षण शब्द के द्वारा अनुविद्ध होकर इदं और रजत का भिन्न रूप में स्फुरण नहीं होगा।

इसमें अख्यातिवादी, अद्वैतवेदान्तियों के युक्ति-जाल से निस्तार लाभ करने के लिए अपने मत को नवीन रूप से उपस्थित करना चाहते हैं—उनका यही कथन है कि अद्वैतवेदान्ती, अख्याति अर्थात् अविवेक का स्वरूप निरूपण नहीं किया जा सकता है, यही कहना चाहते हैं। इसमें अद्वैतवेदान्ती, अविवेक का प्रतियोगी जो विवेक है उसी का स्वरूप जब प्रकृत स्थल में निरूपण नहीं किया जा सकता है, तब अविवेक का भी स्वरूप निरूपण नहीं किया जा सकता है; यही कहना चाहते हैं। इसमें अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि प्रतियोगी को उपजीवन कर अविवेक का निरूपण सम्भव नहीं होने पर भी कार्य के द्वारा अविवेक का स्वरूप निरूपण किया जा सकता है। अख्यातिवादी का यह कथन भी अनुचित ही है। कारण, इदं ओर रजतं ये दोनों धर्मी प्रकृत स्थल में प्रतीयमान हो हो रहे हैं। इसलिए इन दोनों का अविवेक किस प्रकार सम्भव होगा? यहाँ इदं और रजत अपुनरुक्त शब्दद्वय हैं। इसलिए अपुनरुक्त होने के कारण

---

१ इदमिति रजतमिति चेदाऽपुनरुक्तशब्दानुरक्ताकारद्वयावभासे द्वित्वावभासो विद्यत एव, अन्यथा सामान्याकाराद् विशेषाकारस्य विवेकानवभासाद् इदमित्येव स्यात् रजतमित्येव वा स्यात्, न—इदं रजतमिति। वि०, पृ०, १६८

इदं रजत में भेद सुस्पष्ट है। अतः, इन दोनों में अविवेक किस प्रकार हो सकता है। यदि अख्यातिवादी इस प्रकार कहना चाहें कि हमलोग प्रतीयमान धर्मिद्वय का ही अविवेक प्रकृत स्थल में स्वीकार करते हैं। यह भी कहना अनुचित है। कारण, सुषुप्ति में अविवेकरूप अख्याति लक्षण की अतिप्रसक्ति होगी। क्योंकि, सुषुप्ति में धर्मिद्वय प्रतीयमान नहो है। इसमें अख्यातिवादी पुनः कहना चाहते हैं कि सामान्यतः प्रतिपन्न, धर्मिद्वय जब विशेषतः अप्रतिपन्न होता है तो इस परिस्थिति में धर्मिद्वय का जो विवेकाग्रह है इसीको अविवेक या अख्याति कहते हैं। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि--प्राभाकर अभाव को स्वीकार हो नहो करते हैं तब विवेक का अग्रहण यह भी वे कैसे कह सकते हैं? यदि प्राभाकर मतमें ख्याति विरुद्ध अख्याति है, यह स्वीकार करें तब तो उत्तर-ज्ञान पूर्व-ज्ञान का विरोधी होने के कारण उत्तर-ज्ञान में अविवेक रूप भ्रम की प्रसक्ति हो जायगी। इस प्रकार ज्ञान-प्रागभाव ज्ञान-विरोधी है। कारण, ज्ञान-प्रागभाव जबतक रहेगा तबतक ज्ञान नहीं रहेगा। इसलिए ज्ञान-प्रागभाव में भी अख्याति लक्षण भ्रम की प्रसक्ति हो जायेगी[1]।

विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने विवरणाचार्य के आशय प्रदर्शन-प्रसंग में अख्यातिवादी और सिद्धान्ती के पूर्वोत्तर पक्ष को इस प्रकार सुसज्जित किया है—अख्यातिवादी प्राभाकर कहते हैं कि—अख्याति अर्थात् अविवेक का लक्षण है असंसर्गाग्रह यही संसर्ग का अग्रह, जहाँ इदमंश और रजतांश में प्रतीयमान होता है वहीं सम्भव होता है। ज्ञान में इदं और रजत यदि भासमान रहे तब उसकी असंसृष्ट (असंसर्गाग्रह) प्रतीति हो सकती है। इदं एवं रजत ये दोनों असंसृष्ट इस प्रकार प्रत्यय इस स्थल में होता है। इसलिए मानना पड़ेगा कि यहाँ

---

१ सामान्यतः प्रतिपन्नयोर्विशेषतश्चाप्रतिपन्नयोर्विवेकाग्रहणं भ्रम इत्याशंक्याभावानंगीकारादग्रहणमेव न सम्भवति .... ख्यातिविरुद्धाऽख्यातिरिति पक्ष उत्तरज्ञानस्य पूर्वज्ञानविरोधित्वाद् भ्रमत्वप्रसक्तिः, तथा ज्ञानप्रागभावस्यापीत्यर्थः। त० दी०, पृ०, १६८

प्रतीयमान इदं और रजतं का असंसर्गाग्रह है। प्राभाकर-सिद्धान्त में अविवेक का स्वरूप है असंसर्ग का अग्रह। इसलिए विवेक का स्वरूप हुआ असंसर्ग का ग्रह। इदं रजतं इस स्थल में असंसर्ग का ग्रह नहीं है, यह पूर्व विश्लेषण से सुस्पष्ट है, अतः, असंसर्ग का अग्रह ही है। विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने अख्यातिवादियों का इस प्रकार का आशय ऋजुविवरण से लिया है[1]। प्रमेय-संग्रह के इस अंश के अध्ययनाध्यापन में ज्ञात न होने से बहुधा यहाँ भ्रम देखा जाता है।

इसमें अद्वैतवेतान्तियों की आपत्ति है कि पूर्वोक्त असंसर्गाग्रह से क्या ग्रहण और स्मरण के संसर्ग का अग्रह विवक्षित है। अथ वा जिस-किसी ज्ञानद्वय का असंसर्गाग्रह विवक्षित है। अथ वा संसर्ग-ज्ञान-रहित-ज्ञान-द्वय या असंसर्गाग्रह को अविवेक कहते हैं।

इसमें प्रथम पक्ष ठीक नहीं है—कारण, अहं मनुष्यः इस ज्ञान को सभी ने भ्रम के रूप में स्वीकार किया है, परन्तु पूर्वोक्त निर्वचन मानने पर यहाँ भ्रम नहीं होगा। क्योंकि, इस प्रतीति में अहं और मनुष्य ये दोनों ज्ञान अनुभवात्मक है। इसलिए इससे अहं मनुष्यः इस प्रकार के भ्रम में ग्रहण और स्मरण का असंसर्गाग्रह नहीं रहने के कारण पूर्वोक्त लक्षण की अव्याप्ति हो जायगी। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, खण्डो गौः, शुक्लः पटः इत्यादि में अतिव्याप्ति हो जायेगी। यहां भी अविवेकरूप भ्रम का प्रसंग हो जायगा। क्योंकि, प्रदर्शित स्थल में खण्डत्व और गोत्व दोनों ज्ञानों में असंसर्ग का अग्रह विद्यमान है। इसी प्रकार शुक्लः पटः इस ज्ञान में असंसर्ग का अग्रह है। इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी असमीचीन है—कारण, खण्डो गौः इत्यादि स्थल में संसर्गज्ञान नहीं है। इसलिये, इस स्थल में संसर्गज्ञान-रहित होकर असंसर्ग का अग्रह विद्यमान है। अतः, इस विकल्प में भी अतिव्याप्ति दोष ही है। खण्डो गौः इत्यादि स्थल में जो संसर्गज्ञान नहीं है, इसका कारण यही

---

१ ननु असंसर्गाग्रहोऽविवेकः, असंसर्गग्रहणस्य विवेकरूपत्वात्।
(ऋ० वि०, १६७-१६८)

है कि संसर्गज्ञान का विषय होता है अभेद अथ वा ऐक्य। प्रकृत स्थल में ऐक्य नहीं है। संसर्ग ज्ञान का विषय जो ऐक्य अभेद होता है। यह सोऽयं देवदत्तः इत्यादि स्थल में अवधृत हुआ है। यह प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का आधार है। इस प्रत्यभिज्ञा में तत्ता-विशिष्ट का इदन्ता-विशिष्ट के साथ ऐक्य भासमान होता है। यदि इन दोनों का ऐक्य भासमान नहीं होता, तब इन दोनों में संसर्ग प्रतीति भी नहीं होती। ऐक्य-ज्ञान संसर्गज्ञान का प्रयोजक है।

इसमें अख्यातिवादी मीमांसक कहना चाहते हैं—गुण गुणि-सम्बन्धक-सामान्य-विशेष-सम्बन्ध ही संसर्ग प्रतीति का विषय है ऐक्य प्रतीति नहीं। अर्थात् जहाँ संसर्गज्ञान होगा वहाँ गुणगुणिभाव, अथवा सामान्य-विशेषादि भाव रहेगा। ऐक्य को संसर्ग-ज्ञान का विषय स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है। मीमांसक का यह कथन अनुचित है, कारण, तब तो इदं रजतं इस स्थल में भी सादृश्य सम्बन्ध संसर्गज्ञान का विषय हुआ यह स्वीकार किया जा सकता है और इससे इदं रजतं इस स्थल में भी संसर्गज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा।

इससे तृतीय लक्षण का शुक्तिः रजतं इस स्थल में अव्याप्ति दोष हो जायगा। कारण, इस स्थल में संसर्ग-ज्ञान-रहित होकर असंसर्ग का अग्रह नहीं वरन् संसर्गज्ञान ही विद्यमान है। इस प्रसंग में सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि गुण-गुणी आदि पाँच प्रकार के मिलित सम्बन्ध संसर्ग के प्रयोजक हैं यह आप

१ [क] किं च खण्डो गौरित्यादिप्रत्ययश्चाविविक्तानेकपदार्थविषया विभ्रमाः प्रसज्येरन्। न च ग्रहण-स्मरणाविवेक एव भ्रमः, अहं मनुष्यः इति गृह्यमाणविवेकस्य भ्रमत्वात्। सामान्यविशेषादौ संसर्गज्ञानमेवास्तीति चेत्, तथाप्यविविक्तानेकपदार्थज्ञानाद् भ्रमत्वमपि स्यात्। न च तत्र संसर्गप्रत्ययोऽपि, ऐक्यस्य तदालम्बनस्याभावाद्। वि०पृ०, १६८-१७०.

[ख] नन्वविवेको नामासंसर्गाग्रहः। स च प्रतीयमानयोरिदं रजतयोः सम्भवति। इदं रजते असंसृष्टे इति प्रत्ययदर्शनादिति चेत्, तदाऽपि किं ग्रहणस्मरणयोरेवाऽसंसर्गाग्रहो विवक्षितः, उत ययोः कयोश्चिद्? .. .. ऐक्यस्य च तद्विषयत्वं प्रत्यभिज्ञायामवगतम्।

वि० प्र० सं०, पृ० १०४-१०५

स्वीकार नहीं कर सकते हैं। कारण, इन पाँचो का समवधान एक स्थल में असम्भव हो जायगा। इसलिए आपको कहना पड़ेगा गुण-गुण्यादि प्रत्येक सम्बन्ध संसर्ग का प्रयोजक है। इस स्थिति में सादृश्य सम्बन्ध को भी संसर्गज्ञान का प्रयोजक स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसमें तो कोई प्रामाणिक उक्ति नहीं है कि पूर्वोक्त गुणगुण्यादि पाँच सम्बन्ध ही संसर्ग का प्रयोजक होता है, सादृश्यादि सम्बन्ध प्रयोजक नहीं होता है। इसलिए इदं रजतं इस स्थल में अव्याप्ति दोष दुर्निवार हो जायेगा[१]?

इसमें अख्यातिवादी आपत्ति करते हैं कि नेदं रजतं इस प्रतीति के द्वारा इदं और रजत में संसर्गज्ञान बाधित होता है। इसलिए इदं रजतं इस स्थल में संसर्ग एवं संसर्गज्ञान नहीं है यह स्पष्ट होता है। इदं रजतं इस ज्ञान के उत्पन्न होने के अव्यवहितोत्तर काल में नेदं रजतं इस प्रकार असंसर्गज्ञान के द्वारा पूर्वोक्त प्रतीति बाधित हो जाती है। इस लिए इदं रजतं इसमें संसर्ग और संसर्ग-प्रत्यय किस प्रकार सम्भव हो सकता है।

इसके उत्तर में अद्वैतवादी कहना चाहते हैं—शुक्लः पटः इत्यादि स्थल में गुणगुणि-सम्बन्ध है (शुक्ल गुण और पट गुणी) यहां भी अन्योऽन्याभाव ज्ञान है। यह अन्योन्याभावरूप असंसर्ग प्रत्यय स्थित है। कारण, यह अनुभव सिद्ध है—जहाँ दो पदार्थों में अन्योऽन्याभाव है जैसे शुक्ल पटो न इस स्थल में संसर्ग ज्ञान नहीं रहेगा, अपि तु असंसर्गज्ञान ही रहेगा। अर्थात् शुक्ल पट नहीं है इन दोनों में इतरेतराभाव होने से संसर्ग नहीं है यह अनुभव सिद्ध है। इसलिए शुक्लः पटः में संसर्ग और संसर्ग का ज्ञान वस्तुतः सम्भव नहीं है। अतः, प्राभाकर के अनुसार संसर्गज्ञानरहित होकर असंसर्गाग्रह अविवेक का स्वरूप है, यह स्वीकार करते हैं तो शुक्लः पटः इस स्थल में अतिव्याप्ति हो जायेगी। कारण, इस स्थल में

---

१ गुणगुण्यादिसम्बन्ध एवालम्बनमिति चेत्, न, प्रत्यभिज्ञाया ऐक्यालम्बनत्वात्। इहापि सादृश्यसम्बन्ध एवेदं रजतमिति संसर्गप्रत्ययालम्बनं स्यात्। बि०, पृ०, १७७

प्राभाकारोक्त संसर्गज्ञानरहित असंसर्गाग्रह विद्यमान है। इसलिए प्राभाकर मतमें असंसर्गाग्रह रूप स्वीकार नहीं हो सकता है[1]।

अख्यातिवाद प्रदर्शन-प्रसंग में विवरणाचार्य ने अख्यातिवाद-सम्मत अविवेक का स्वरूप क्या है इसका गम्भीर विश्लेपण किया है। हमलोगों ने विवरण-प्रमेय-संग्रहकार ने प्रकृत स्थल में विवरणाचार्य का आशय जिस रूप में प्रदर्शन किया है, उसका विवरण दिया है। किन्तु यह स्थान अतिशय जटिल होने के कारण तत्त्वदीपनकार ने विवरण का आशय जिस रूप में व्यक्त किया है उसका सारांश प्रदर्शन कर रहे हैं।

तत्वदीपनकार ने कहा है—प्राभाकर मत में अविविक्त अनेक पदार्थ ज्ञान-मात्र भ्रम है, अथ वा अविविक्त ग्रहण स्मरण रूप भ्रम है ? अथ वा संसर्ग-ज्ञान-रहित होकर अविविक्त अनेक पदार्थ का ज्ञान भ्रम है ? अथ वा बाधक ज्ञान का विषय होकर अत्यन्ताभाव का अनधिकरण होकर—जो अविविक्त अनेक पदार्थ ज्ञान, यही भ्रम है ? इन विकल्पों में प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, खण्डो गौः इत्यादि ज्ञान अविविक्त अनेक पदार्थ-विषयक होता। प्रकृत स्थल में समान विभक्ति रहने के कारण खण्डत्व और गोत्व अविविक्त रूप में भासमान हो रहा है एवं खण्डत्व और गोत्व दोनों के रहने के कारण अनेक पदार्थ भी यहाँ वर्त-मान है। इसलिए अविविक्त अनेक पदार्थ ज्ञान मात्र को भ्रम स्वीकार करने से इस स्थल में अतिव्यक्ति हो जायेगी। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प ग्रहण और स्मरण के अविवेक रूप को भ्रम स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण इससे अहं मनुष्यः इस स्थल में अव्याप्ति हो जायेगी यहाँ अहं और मनुष्य दोनों ही साक्षात् अनुभूयमान है अनुभूयमान होने से दोनों ग्रहण स्वभाव है ग्रहण और

1 यदि गुणगुण्यादिसम्बन्ध एव तद्विपयो नैक्यमित्युच्यते तर्हीदं रजतमित्य- त्रापि सादृश्यसम्बन्धस्तद्विपय इति वक्तुं शक्यत्वेन संसर्गप्रत्ययो दुर्वारः। अथ तत्र नेदं रजतमिति असंसर्गप्रत्ययेन बाधान्न संसर्गतत्प्रत्ययो सम्भवतः। तर्हि स्वन्मते गुणगुण्यादावपि इतरेतराभावज्ञानाख्यासंसर्गप्रत्ययोऽस्त्येवेति संसर्गतत्प्रत्ययोरसम्भावाद् भ्रमत्वापत्तिस्तदवस्था। तस्माद् नासंसर्गाग्रहो विवेकः।

वि० प्र० सं, पृ० १०५-१०६

स्मरणात्मक नहीं है। इन दोनों का ही अविवेक प्रतीत हो रहा है। यहाँ एक ग्रहण और एक स्मरण नहीं है। अथ च अहं मनुष्यः यह प्रतीति भ्रम है यह सर्वास्तिक मत-सिद्ध है। इसी प्रकार तृतीय मत भी असमीचीन है— इस मत में भी अतिव्याप्ति हो जायेगी। कारण, खण्डो गौः इत्यादि स्थल में संसर्ग-ज्ञान-रहित और अविविक्त अनेक पदार्थ ज्ञान विद्यमान है। अविविक्त पद का अर्थ है—असंसर्गाग्रह।

इसमें अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि प्रकृत स्थल में संसर्गज्ञान ही तो विद्यमान है। हमलोगों ने कहा है संसर्गज्ञानरहित होकर असंसर्ग का अग्रह अविवेक है। प्रदर्शित सम्यक् स्थल में संसर्ग-ज्ञान ही तो सम्भव है। इसलिए संसर्ग-ज्ञान-रहित होकर असंसर्गाग्रह रूप का लक्षण यहाँ समन्वित नहीं है। अतः, यहाँ अतिव्याप्ति किस प्रकार हो सकती है[1] ?

प्रदर्शित स्थल में संसर्गाग्रहलक्षण विवेक और असंसर्गाग्रहलक्षण अविवेक ये दोनों विद्यमान हैं। इसलिए प्रदर्शित लक्ष्य लक्षण का यथार्थ लक्ष्य नही है। यहाँ लक्षण और लक्ष्य में वैरूप्य है। लक्षण में जिस रूप को कहा गया है लक्ष्य में उसी रूप को रहना चाहिए।

इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती कहना चाहते हैं कि अख्याति का सामान्य-विशेषादि में संसर्ग-ज्ञान-रहित होकर असंसर्ग का अग्रह यह इस लक्षण का वैधर्म्य-स्थल मात्र प्रदर्शन किया है। अख्यातिवादी ने इस प्रकार के स्थल में संसर्गज्ञान ही विद्यमान है यह कहा है इसके द्वारा इतना सिद्ध हुआ कि अख्यातिवादसम्मत संसर्ग-ज्ञान-रहित होकर असंसर्गाग्रहरूप अविवेक लक्षण का वैधर्म्य-स्थल मात्र है, किन्तु वेदान्तियों के द्वारा प्रदर्शित अतिव्याप्ति का परिहार नहीं हुआ

१ किं चाविविक्तानेकपदार्थज्ञानमात्रं भ्रमः? आहो ग्रहणस्मरणात्मकम्? किं वा संसर्गाज्ञानासहकृतत्वविशेषितम्? अथ वा बाधकज्ञानविषयीकृतत्वात्यान्तभावानधिकरणत्वविशेषितम्? . . . सम्यक्स्थले संसर्गज्ञानसम्भवात्तद्रहितताविशेषितं लक्षणं न वर्तते, ततः कथमतिव्याप्तिरित्यर्थः।

त० दी, पृ० १६८

है। कारण, सामान्यविशेषादि-स्थल में अख्यातिवादी के अनुसार संसर्गज्ञान स्वीकार करने पर भी अविविक्त रूप से (असंसर्गाग्रह रूप से) अनेक पदार्थों का ज्ञान भी वर्त्तमान है। इसलिए वहाँ भ्रम भी रह सकता है और इसका फल यह होगा कि अख्यातिवादी के असंसर्ग ज्ञान रहित होकर लक्षण का अतिव्याप्ति दोष तदवस्थ ही रहेगा।

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि हमलोगों ने केवल वैधर्म्य मात्र प्रदर्शन नहीं किया है। कारण, अद्वैतवादी को यह स्मरण रखना चाहिए कि संसर्गज्ञानरहितत्वरूप विशेषण के द्वारा विशेषित अविविक्त-ज्ञान को ही भ्रम हमलोग मानते हैं। अर्थात्—आपलोग जिसको भ्रम कहते हैं हमलोग उसका स्वरूप यही मानते हैं। इसलिए इस प्रकार सामान्य-विशेष-स्थल में नहीं रहने के कारण आपके द्वारा प्रदर्शित अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना नहीं है।

इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती कहना चाहते हैं—इससे भी अख्यातिवादियों का अतिव्याप्ति दोष से निस्तार नहीं होगा। कारण, प्रदर्शित विशिष्ट-लक्षण सामान्य-विशेष स्थल में विद्यमान है। क्योंकि, उक्त स्थल में संसर्ग ज्ञान भी सम्भव नहीं है। कारण, जो संसर्ग-ज्ञान का विषय है वही संसर्ग-ज्ञान-विषय है ऐक्य अर्थात् अभेद। जहां ऐक्य है वहीं संसर्गज्ञान हो सकता है। जहाँ दोनों पदार्थों में ऐक्य नहीं है जिन दोनों पदार्थों में ऐक्य नहीं है उन दोनों का संसृष्ट रूप से बोध हो रहा है—यह अनुभव विरुद्ध है। प्रकृत स्थल में—सामान्य-विशेषादि स्थल में ऐक्य नहीं रहने के कारण ये दोनों संसृष्ट है यह कैसे हो सकता है? इसलिए अख्यातिवादी के द्वारा प्रदर्शित यह भी लक्ष्य होगा ही, अतः लक्षण में अतिव्याप्ति हो जायेगी। इसी विषय को स्पष्ट करने के लिए तत्त्वदीपनकार विकल्प-उत्थापन द्वारा और भी सुस्पष्ट कर रहे हैं। अख्यातिवादी सामान्य-विशेष-स्थल में संसर्ग-ज्ञान है यह जो कहना चाहते हैं इसमें संसर्गज्ञान का आलम्बन क्या है?

१ क्या अभेद इसका आलम्बन है ?

२ गुण-गुण्यादि-सम्बन्ध इसका आलम्बन है ?

३ अथवा उभय इसका आलम्बन है ?

इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, सामान्य-विशेष में आपलोग अत्यन्त भेद स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है। कारण, गुणगुणिसम्बन्ध, जाति-व्यक्ति-सम्बन्ध में नियमतः संसर्गज्ञान का आलम्बन नहीं होता है। कारण, इसमें व्यभिचार है। व्यभिचार यह है कि प्रत्यभिज्ञा के द्वारा अभेद ही संसर्ग का आलम्बन है यह सिद्ध होता है। इसलिए पूर्वोक्त कथन अनुचित है। सोऽयं देवदत्तः इत्यादि प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षरूप होती है। इसमें तत् शब्द और—इदं शब्द के द्वारा तत्ता-विशिष्ट का इदन्ताविशिष्ट के साथ ऐक्य भासमान होता है। पूर्व-दृष्ट देवदत्त के साथ वर्त्तमान देवदत्त का संसर्ग प्रदर्शित ऐक्य-संसर्ग-ज्ञान-प्रयुक्त ही सम्भव होता है। प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष ही ऐक्य संसर्ग ज्ञान विषयक होता है इस विषय में प्रमाण है।

इस प्रकार तृतीय पक्ष भी असमीचीन है। कारण, तृतीय विकल्प के सम्बन्ध में जिज्ञासा यह है कि गुणगुणी, जाति-व्यक्ति में सभी सम्बन्ध क्या मिलित होकर संसर्ग-ज्ञान का विषय होता है ? अथ वा पृथक्-पृथक् रूप में प्रत्येक संसर्ग-ज्ञान का विषय होता है ? इसमें प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है। गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति आदि सभी का मिलना कहीं भी देखा नहीं गया है और प्रत्येकको पृथक् रूप से संसर्ग-ज्ञान का आलम्बन स्वीकार किया जाय तब तो सादृश्य सम्बन्ध भी संसर्गज्ञान का विषय हो जायेगा। इदं रजतं इस स्थल में सादृश्य सभी लोगों को स्वीकार करना पड़ेगा, इसीलिए पुरोवर्त्ति-द्रव्य में रजत का ही भ्रम होता है। अत एव इदं रजतं इस स्थल में भी सादृश्य-सम्बन्ध ही संसर्ग—ज्ञान का आलम्बन हो जायेगा और इसका फल यह हुआ कि अख्यातिवादी के द्वारा प्रदर्शित जो संसर्ग-ज्ञान-रहितत्व-विशेषित-अविविक्त-ज्ञान भ्रम है इस लक्षण का शुक्ति-रजत स्थल में

असम्भव हो जायेगा। कारण, यहाँ संसर्ग प्रत्यय विद्यमान ही है। क्योंकि सादृश्य-सम्बन्ध का ज्ञान रहने के कारण संसर्ग-ज्ञान भी वहाँ रह ही जायेगा। अतः, भ्रम-लक्षण में इस शुक्ति रजत स्थल में असम्भव दोष हो जायेगा[१]।

इस प्रसक्तानुप्रसक्त विचार से सिद्ध हुआ कि भ्रम का जो तीन प्रकार का लक्षण प्रदर्शन दिया गया है ये तीनों समीचीन नहीं है। इसी प्रकार चतुर्थ प्रकार का भ्रम का लक्षण भी समीचीन नहीं है। कारण, अख्यातिवादियों के मत में विवेक-ज्ञान बाधक है। इदं रजतं के समान सामान्य-विशेषादि का भी बाधक विवेक ज्ञान होता ही है। जैसे शुक्लः घटः इस स्थल में घट का शुक्लत्व गुण है इसी प्रकार विवेक ज्ञान को भी बाधक स्वीकार किया जाता है। इस स्थिति में तो बाधक-ज्ञान-विषयीकृतत्व का जो अत्यन्ताभाव है उसका अनधिकरणत्व ही सामान्य-विशेषादि में रह गया है। अर्थात् सामान्यविशेषादि-स्थल में बाधक-ज्ञान-विषयीकृतत्व प्रदर्शित युक्त से सिद्ध होता ही है। बाधकज्ञानविषयीकृतत्व का जो अत्यन्ताभाव है उसका अनधिकरण होकर अविविक्त-अनेक-पदार्थ-ज्ञान को जो भ्रम कहा गया है यह सामान्यविशेष स्थल में रहने के कारण प्रदर्शित चतुर्थ भ्रम लक्षण की अतिव्याप्ति इस स्थल में दुर्निवार हो जायेगी। फल यह हुआ कि प्राभाकर इदं रजतं इस स्थल में भ्रम को को छोड़कर अख्याति या अविवेक मानते हैं उसका निर्वचन नहीं कर पाते हैं[२]।

१ संसर्गप्रत्ययस्य किमैक्यमालम्बनम्? उत गुणगुण्यादिसम्बन्धः? किं वोभयम्? ... गुणगुण्यादिसम्बन्धस्य नालम्बनत्वनियमः। — ... तृतीये गुणगुण्यादिसम्बन्धाः किं मिलिता आलम्बनम्? उत प्रत्येकम्? नाद्यः, मेलनस्य क्वचिदप्यभावात्, द्वितीये गुणगुण्यादिवत् सादृश्यसम्बन्धोऽप्यालम्बनं स्यात्। ... ... ततश्च लक्षणासम्भवः इत्यभिप्रायः त० दी०, पृ० १७७

२ (क) अस्ति च सामान्य-विशेषादीनामिदं-रजतयोरिव विवेकप्रत्ययः। घटस्य शौक्ल्यमिति विवेकाभ्युपगमात्। (वि०, पृ० १७७-१७८)

(ख) अख्यातिमते विवेकज्ञानं बाधकम्, ततश्च बाधकज्ञानविषयीकृतत्वात्यन्ताभावानधिकरणत्वमपि तत्रास्तीत्यव्याप्तिरित्यर्थः।

त० दी०, पृ० १७७

विवरणाचार्य ने ग्रहण और स्मरण का अविवेक भ्रम है—अख्यातिवादी के इस सिद्धान्त पर दोपान्तर का उद्‌भावन किया है। विवरणाचार्य का कहना है कि—ग्रहण इदमंश का अनुभव स्वयं ही स्मर्यमाण रज़त से अपने विपय जो इदं इसको भिन्न रूप से ग्रहण करेगा और इससे स्मरण का अविनेक रूप भ्रम की सम्भावना ही नही है, इसमें इस प्रकार अनुमान भी दिखाया जा सकता है—विमत ग्रहण (पक्ष) स्मर्यमाण रजत से अपने विपय इदं को भिन्न कर देगा (साध्य)। कारण, यह ग्रहण है (हेतु) जैसे सम्यक् स्थल में देखने में आता है ग्रहण अपने विपय को स्मरण से भिन्न रूप में ग्रहण करता है (दृष्टान्त)[१]। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं—सम्यक् स्थल में विपयगत विशेप ज्ञान रहने के कारण ग्रहण अपने विपय को भिन्न रूप से ग्रहण कराने में समर्थ होता है, अर्थात् विवेचक होता है। परन्तु इदं रजतं इस स्थल में विशेप दर्शन नहीं है इसलिए ग्रहण अपने विपय को विविक्तरूप से ज्ञान कराने में समर्थ नहीं होता है।

इस उत्तर से अद्वैतवेदान्तियो को सन्तोप नहीं होता है और वे अख्यातिवादियों से प्रश्न करते हैं कि आपने जो विशेप दर्शन का अभाव कहा इसमें विशेप क्या है? क्या यह विशेप भेद है अथ वा शुक्ति इत्यादि धर्म को ही विशेष कहते हैं? प्रथम विकल्प को लेकर और भी प्रश्न यह है कि एतादृश विशेप रूप भेद इदं और रजत में विद्यमान है या नहीं? यदि प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय एवं तदनुसार यही कहा जाय कि गृहीत मात्र इदमंश का रज़त से भेद विद्यमान है, तब यह भी कहना समीचोन नहीं है। कारण, इसमें भी पुनः प्रश्न हो जायगा कि एतादृश भेद ज्ञान क्या धर्मिप्रतियोगिज्ञानरूप है? धर्मिप्रतियोगिज्ञान को ही आप भेदज्ञान कहना चाहते हैं? अथ वा धर्मिज्ञान एवं प्रतियोगिज्ञान से भिन्न तृतीय प्रकार के ज्ञान को ही आप भेद ज्ञान स्वीकार करते हैं। इसमें प्रथम पक्ष अनुपपन्न है, कारण, प्रथम पक्ष स्वीकार करने से यह होगा कि

१ विमतम्, स्मर्यमाणात, स्वार्थं विविच्यात, ग्रहणत्वात संमतवत् इत्यत्र विशेपविपयत्वात्तत्र विवेचकत्वम्। स० दी०, पृ० १७८

धर्मिप्रतियोगिज्ञान ही यदि भेद ज्ञान है तब धर्मी एवं प्रतियोगी इन दोनों का ज्ञान होने के कारण भेद भी ज्ञात हो गया। और इससे दोनों की (ग्रहण और स्मरण) भी विविक्त रूप में ही प्रतीति होगी। इस प्रकार द्वितीय कल्प भी असमीचीन है, कारण, धर्मी और प्रतियोगी का स्वरूप ज्ञात होने पर भी भेद ज्ञान कराने के लिए यदि किसी तृतीय प्रकार के ज्ञान का प्रयोजन हो जाय। अर्थात् उसके द्वारा भेद-ग्रह अपेक्षित रहे तब तो इसके उदय के पूर्व में सभी ज्ञान को भ्रम रूप स्वीकार करना पड़ेगा। कारण, सभी पदार्थ का ज्ञान भेद-ग्रहण के पूर्व में अविविक्त रहेगा। तृतीय ज्ञान उत्पन्न होने के बाद ही तो भेदग्रह सम्भावित होगा इसलिए ज्ञानमात्र ही भ्रम रूप हो जायगा। यदि प्रथम विकल्प के द्वितीय कल्प के अनुसार इदं और रजत का विशेष रूप भेद विद्यमान ही नहीं है यही कहा जाय, तब तो गृहीतमात्र इदमंश से रजत का भेद नहीं है यही सिद्ध हुआ और इसके फलस्वरूप भ्रम ही सिद्ध नहीं होगा। तब तो ऐक्य ही संसर्ग ज्ञान के विषय रूप में भासमान हो जायगा। कारण, भेद और ऐक्य परस्पर विरुद्ध है। परस्पर प्रतिस्पर्धी दो पदार्थों में एक का निषेध होने से अन्यतर का विधान होता है। इसलिए भेद-निषेध करने से ऐक्य ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प अर्थात् विशेष शब्द का अर्थ है शुक्तित्वादि धर्म यह भी समीचीन नहीं है। कारण, इसका अर्थ हो जायगा कि धर्म-विशिष्ट-धर्मिज्ञान भेदक है। इदं रजतं इस स्थल से धर्मविशिष्ट-धर्मिज्ञान न होने के कारण ग्रहण अपने ज्ञान विषय इदं को स्मर्यमाण रजत से पृथक् रूप से ग्रहण नहीं कराता है यही अख्यातिवादी को कहना पड़ेगा, परन्तु, यह स्वीकार करने से धर्मज्ञान विवेचक होता है, इस सिद्धान्त को अस्वीकार करना पड़ेगा। परन्तु धर्म-विशिष्ट-ज्ञान-विवेचक है, अतः धर्मज्ञान विवेचक नहीं होता है यह सिद्धान्त अनुभव विरुद्ध है और पदार्थ का स्वरूप ही भेद है, और उस स्वरूप-भेद के द्वारा ही पदार्थ विवेचक होता है यह स्वीकार करने से सर्वत्र विविक्त प्रतीति ही होगी अविविक्त प्रतीति कही नही होगी[1]।

१ (क) किञ्च ग्रहणमेव स्मर्यमाणात्स्वार्थं किं न विविञ्च्यात् ? विशेषदर्शना-
भावादिति चेत्, यदि गृहीतमात्रस्य रजताद् भेदोऽस्ति, तदा भेदापेक्षितो
विशेषो धर्म्याकारः प्रतियोग्याकारो वा नान्य इति, गृहीत एव भेदकारो
विविक्तः प्रतीयेत। अथ न गृहीतमात्रस्य रजताद् भेदः,
तद् ऐक्यमेवेति संसर्गज्ञानस्य सालम्बनतासिद्धिः। (वि०, पृ० १७८)
(ख) त० दी०, पृ० १७८

इस अंश को विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने और भी स्पष्ट किया है। अख्यातिवादी सिद्धान्ती से पूछते हैं कि आप तो ग्रहण और स्मरण का अविवेक नहीं मानते हैं। इन दोनों का विवेकाग्रह नही होता है। परन्तु शुक्ति रजत-स्थल में भेद-ग्रह ही होता है यही आप कहना चाहते हैं। यदि यही अभीष्ट है तब आपके यहाँ विवेचक अर्थात् भेदक कौन है? यह निरूपण करना आपके लिए उचित है। यह तो आप नही कह सकते हैं कि ग्रहण (अनुभव) स्मर्यमाण रजत से अपने विषय इदं का विभक्त रूप से ग्रहण करता है। कारण, इस स्थल में (भेदक) जो विशेष रूप है उसका अवभासक होता है शुक्तित्वादिधर्म। किन्तु यह तो दोष के द्वारा प्रतिबद्ध है। इसी प्रकार रजत स्मरण भी गृह्यमाण इदं से अपने विषय रजत को भिन्न रूप से ग्रहण करने में समर्थ नहीं है, कारण, स्मरणाभिमान दोष के द्वारा प्रमुषित हो गया है। इसलिए जब कोई विवेचक या भेदक नहीं है, तब तो शुक्ति रजत स्थल में ग्रहण स्मरण का अविवेक रूप भ्रम स्वीकार करना ही अद्वैतवेदान्तियों के लिए उचित है। अख्यातिवादियों का इस प्रकार कथन अनुचित है। कारण, ग्रहण और स्मरण ये दोनों ही विवेचक हो सकते हैं। इस प्रसंग में अख्यातिवादियों से पूछना है कि तत् तत्-जाति-व्यक्ति विशिष्ट होकर ही जो इदमाकार और रजतकार है उसका भेद स्वीकार करते हैं? अथ वा केवल इदमाकार और रजतकार का भी भेद स्वीकार करते हैं? अर्थात् जाति-विशिष्ट-व्यक्ति में ही भेद मानते हैं? अथ वा केवल व्यक्ति में ही भेद का अस्तित्व मानते हैं? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण प्रकृत स्थल में इदमाकार और रजताकार ये दोनों तत्-तत्-जाति-विशिष्ट-व्यक्ति रूप में प्रतीत नहीं हो रहे हैं। अर्थात् इदन्ताविशिष्ट इदं और रजतत्वविशिष्ट-रजत का ज्ञान नहीं हो रहा है और इससे आप के कथनानुसार भेद भी नहीं रह सकता है। जब भेद नहीं है तब ऐक्य अर्थात् अभेद ही स्वीकार करना पड़ेगा और केवल ऐक्य ही नहीं ऐक्य-विषय का संसर्ग-ज्ञान भी आपको मानना पड़ेगा। यह पूर्व में ही तत्त्वदीपनकार के मत-विश्लेषण के प्रसंग में कहा गया है परस्पर विरुद्ध दो पदार्थों का निषेध करने से एक का विधान नान्तरीयक रूप से प्राप्त होता है। भेद और ऐक्य परस्पर विरुद्ध हैं जब भेद-निषेध इदं रजतं इस स्थल में नहीं है तब तो ऐक्य ही मानना पड़ेगा और ऐक्य-विषयक-संसर्ग-ज्ञान भी स्वीकार करना पड़ेगा। इसका फलित यह हुआ कि

संसर्गग्रह-रहित होकर असंसर्गाग्रह रूप अविवेक की इदं रजतं इस स्थल में अव्याप्ति होगी। इस प्रकार द्वितीय पक्ष भी असमीचीन है। कारण, इस पक्ष में भेद-ग्रह किस प्रकार से होगा इसका विश्लेषण आपको प्रस्तुत करना पड़ेगा? इस प्रसंग में आप क्या कहना चाहते हैं—इदं रजतं इस स्थल में प्रथमतः ज्ञान से इदं वस्तु और रजत वस्तु का ज्ञान हुआ द्वितीय ज्ञान के द्वारा एक वस्तु में भेद का धर्मिज्ञान और द्वितीय वस्तु में भेद का प्रतियोगिज्ञान उत्पन्न होगा? इसके बाद तृतीय ज्ञान के द्वारा भेदज्ञान अभावज्ञान के समान धर्मी और प्रतियोगी के ज्ञान से सापेक्ष है। भेद का अधिकरण अर्थात् जिसमें भेद रहता है वह भेद का अनुयोगी और जिसका भेद रहता है वह भेद का प्रतियोगी होता है।

इदं और रजत में भेद ज्ञान होगा, यही आपके कथन का आशय है? अथवा प्रथमज्ञान, जिससे वस्तु का ज्ञान हो रहा है उसी के साथ-साथ ही भेद का भी ज्ञान हो जायेगा? ये दोनों विकल्प अनुचित है प्रथम पक्ष स्वीकार करने से सभी पदार्थों का ज्ञान भेद के पूर्व में अविविक्त विषय रूप से ही होगा। कारण, भेद ज्ञान उत्पन्न होने के लिए दो कक्षाओं में दो ज्ञानों की और अतिरिक्त उत्पत्ति अपेक्षित होगी। इसका फल यह होगा कि सर्वथा भ्रम ज्ञान की प्रसक्ति हो जायगी और यह सर्वानुभव विरुद्ध है। द्वितीय पक्ष में इदन्ता के ग्रहण के साथ ही भेद का ग्रहण भी हो ही गया और भेद ज्ञान हो जाने से भेदापेक्षित विषय का भी अवभास हो ही गया और इससे यही सिद्ध हुआ कि ग्रहण ही विवेचक होता है। इस प्रकार प्राभाकरों का अभिप्रेत अविवेक उक्त स्थल में किस प्रकार सिद्ध होगा[1]?

---

१ नन्वविवेकं दूषयताऽत्र विवेचकं किंचिन्निरूपणीयम्। न तावत् ग्रहणं स्मर्यमाणात् स्वार्थं विविनक्ति, विशेषावभासकत्वस्य दोषैः प्रतिबद्धत्वात्। नाऽपि स्मरणं गृह्यमाणात् स्वार्थं विवेक्तुमलम्, स्मरणाभिमानस्य प्रमुषितत्वादिति चेद्? मैवम्, उभयोरपि विवेचकत्वस्य सुसंपादत्वात्। तथा हि—किमिदमाकाररजताकारयोस्तत्तज्जातिव्यक्तिविशिष्टयोरेव त्वया भेदोऽभ्युपेयते किं वा केवलयोरपि? नाद्यः, ...कृतयोरिदमाकाररजताका-यो ...त्याद्यविशिष्टयोर्भेदाभावेनैक्ये सति तद्गोचरसंसर्गज्ञानप्रसंगात्। द्वितीयेऽपि किं प्रथमज्ञानेन वस्तु गृहीत्वा द्वितीयज्ञानेन धर्मिप्रतियोगिभाव-मवगत्य पश्चात् तृतीयज्ञानेन भेदो गृह्यते? उत वस्तुना सहैव भेदग्रहणम्? प्राग् अविविक्तविषयतया भ्रमत्वप्रसंगः। द्वितीये च इदन्ताग्रहणादेव भेदस्यापि गृहीतत्वेन भेदापेक्षितो विशेषोऽप्यवभासित एवेति ग्रहणस्य विवेचकत्वमंगीकार्यम्। (वि० प्र० सं०, पृ० १७७--१७८

ग्रहण स्वरूप का पर्यालोचन करके प्राभाकरमताभिप्रेत अविवेक नहीं हो सकता है यह प्रदर्शन किया गया। इस प्रकार स्मृति-स्वरूप का पर्यालोचन करने से स्पष्ट हो जायगा कि पूर्वोक्त अविवेक सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिए अद्वैतवेदान्ती कहना चाहते हैं कि रजत-स्मृति गृह्यमाण इदमंश से अपने विषय रजत को क्यों पृथक् रूप से ग्रहण नहीं करेगी? जैसे गवय की स्मृति गृह्यमाण गौ से पृथक् रूप में अपने विषय को ग्रहण करती है। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि इस प्रकार कथन अनुचित है। कारण, इदं रजतं इस स्थल में स्मरणाभिज्ञान का प्रमोष हो गया है। अप्रमुषित स्मरणाभिज्ञान ही विवेचक होता है। प्रकृत स्थल में उसका वैपरीत्य है इसलिए यहाँ स्मृति विवेचक किस प्रकार हो सकती है? इसका आशय विवरणप्रमेयसंग्रहमें विकल्पोत्पादन-पूर्वक इस प्रकार किया है।

सिद्धान्ती पूछना चाहते हैं कि आप जो स्मरणाभिमान के ऊपर इतना आग्रह कर रहे हैं—इस स्मरणाभिमान का स्वरूप क्या है? स्मृति ही स्मरणाभिमान है? अथ वा (२) स्मृति से स्मरणाभिमान भिन्न है (३) अथ वा स्मरणाभिमान स्मृति में अवस्थित रहने वाला कोई धर्म है (४) अथ वा इसका पूर्व में अनुभव हुआ था इस प्रकार पूर्वानुभवानुविद्ध अर्थज्ञान ही स्मरणाभिमान है? अथ वा स्मृतिज्ञान का ही कोई प्रकार-विशेष विलक्षण-स्मृति है? (६) अथ वा पूर्वानुभव का जो विषय है उससे विलक्षण जो विषय है उसी का निमित्त जो विशेष क्या वही स्मरणाभिमान है? (७) फल विशेष का जनक अर्थात् पूर्वानुभव का जो फल है उससे विलक्षण फल का जनक जो है वही स्मरणाभिमान है? (८) अथ वा स्मरामि इस प्रकार का अनुभव स्मरणाभिमान है[1]?

पूर्वोक्त विकल्प को तत्त्वदीपनकार ने भिन्न रूप से सुसज्जित किया है। अद्वैतवेदान्ती पूछना चाहते हैं कि स्मरणाभिमान क्या स्मृति से अनन्य—अभिन्न

---

१ नहि स्मरणाभिमानो निरूपयितुं शक्यः यत्प्रमोषात् स्मृतेरविवेचकत्वम्। तथा हि किं स्मृतिरेव स्मरणाभिमानः स्मृतेरन्यो वा स्मृतिगतधर्मो वा पूर्वानुभवविशिष्टत्वेनार्थग्रहणं वा स्वगत एव कश्चित्स्मृतिविशेषो वा पूर्वानुभवगोचराद्विशिष्टज्ञेयनिमित्तो विशेषो वा फलभेदजनकत्वं वा स्मरामीत्यनुभवो वा। (वि० प्र० सं०, पृ० १०८)

है ! (२) अथ वा अन्य—भिन्न है। अथ वा (३) अन्य एवं अनन्य उभय है। प्रथम विकल्प में पुनः जिज्ञासा है कि क्या स्मरणाभिमान का स्मृति में अन्तर्भाव होगा अथ वा स्मृति का स्मरणाभिमान में अन्तर्भाव होगा ?[1]

इनमें दोनों आचार्यों के द्वारा प्रदर्शित प्रथम विकल्प समीचीन नहीं है। कारण, अख्यातिवादी के मत में रजत की स्मृति जब होती है तब स्मृति के साथ कहने से स्मृति का ही प्रमोष होगा। इसका फल यह होगा कि स्मृति के प्रमोष से रजत ज्ञान का ही अभाव हो जायेगा।

इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी समीचीन नहीं है, कारण, पूर्वपक्षी इस पक्ष में स्मरणाभिमान को स्मृति से भिन्न मानते हैं। एवं इस स्मरणाभिमान का प्रमोष वे अंगीकार करते हैं। इसका फल यह हुआ कि प्रमोष हुआ स्मरणाभिमान का और अविवेक हो गया स्मृति का। इसमें वैयधिकरण्य सुस्पष्ट है। स्मरणाभिमान के प्रमोष से जो अविवेचकत्व फल होगा उसको स्मरणाभिमान निष्ठ-ही होना चाहिए। आप ऐसा न कहकर स्मरणाभिमान का प्रमोष और स्मृति का अविवेचकत्व रूप फल मानते हैं। इसलिए हेतु और फलभाव का वैयधिकरण्य सुस्पष्ट है। इसका गूढ़ आशय विवरणाचार्य ने सुस्पष्ट शब्दों में कहा है—इस द्वितीय पक्ष में स्मरणाभिमान का प्रमोष होने से परिपूर्ण एवं उत्पन्न स्मृति-ज्ञान अपने कार्य जो अपने विषय को विविक्त करना है वह क्यों नहीं करेगा ? स्मरणाभिमान का प्रमोष होने दीजिए किन्तु इसमें स्मरणाभिमान से भिन्न स्मृति का क्या हुआ ? वह क्यों नहीं ग्रहण से अपने विषय रजत को भिन्न रूप से ग्रहण करेगा। तब इससे सिद्ध यही हुआ कि स्मृति से अलग स्मरणाभिमान कोई वस्तु नहीं है[2] !

१ स्मरणाभिमानः किं स्मृतेरनन्यः ? उतान्यः ? आद्येऽपि आहो अन्यानन्यः ? आद्ये किं स्मरणाभिमानस्य स्मृतावन्तर्भावः ? आहो स्मृतेः स्मरणाभिमाने ?
(त० दी०, पृ० १७८)

२ किञ्च स्मृतिर्वा गवयादिस्मृतिवद्गृह्यमाणात्स्वार्थं किमिति न विविच्यात् स्मरणाभिमानप्रमोषादिति चेत्— तत्राह—कोऽयं स्मरणाभिमान इति न तावत्स्मृतिरेव, तस्याः प्रमोषे ज्ञानस्यैवाभावप्रसंगात्, स्मृतेरन्यश्चेत्, कथमन्यस्य प्रमोषे परिपूर्णमुत्पन्नं ज्ञानं स्वकार्यमर्थविवेकं न कुर्यात् ? नचान्यो स्मरणाभिमानो दृश्यत इति भावः। ननु पूर्वानुभवतद्देशकालानामन्यतमेन सः इत्याकारेण वा स्मर्यमाणस्य सम्भेदः स्मरणाभिमान इति .... .. —गृह्यमाणेनाविवेकदर्शनादिति भावः। (वि०, पृ० १७९)

इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि स्मृति में स्मरणाभिमान रूप कोई धर्म अनुभूत नहीं होता है, इस प्रकार तत्त्वदीपनकार-प्रदर्शित तृतीय विकल्प भी उपपन्न नहीं होता है। कारण, वह अप्रसिद्ध है। उन पक्ष-द्वय से विलक्षण स्मरणाभिमान सम्भव नहीं है—यह विवरणाचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है। इसी प्रकार प्रदर्शित चतुर्थ विकल्प भी समीचीन नहीं है। चतुर्थ विकल्प को और भी किंचित स्पष्ट करना उचित प्रतीत होता है। स्मरणाभिमान शब्द का स्मरणेन अभिमन्यते इस प्रकार व्युत्पत्ति ग्रहण कर स्मरणाभिमान शब्द के द्वारा स्मर्यगत धर्म विशेष को समझना चाहते हैं अथ वा स्मरण-निष्ठ धर्म ही स्मरणाभिमान है अथ वा स्मरामि यह ज्ञान ही स्मरणाभिमान है ? इसमें प्रथम विकल्प के आशय प्रदर्शन प्रसंग में विवरणाचार्य ने कहा है कि—पूर्वानुभव तद्देश अथ वा तत्काल इन तीनों के अन्यतम का स्मर्य्यमाण अर्थ में सम्भेद रहना अर्थात् अनुवेध रहना क्या स्मरणाभिमान है ? क्या स्मार्यगत एतादृश धर्म-विशेष ही स्मरणाभिमान शब्द का प्रतिपाद्य है ? अथवा सः इत्याकारक पूर्वोक्त तीन पूर्वानुभव तद्देश, तत्काल का स्मर्यमाण अर्थ के साथ सम्भेद स्मरणाभिमान है ? अर्थात् स्मरणाभिमान शब्द के द्वारा क्या एतादृश स्मार्य्यगत धर्म-विशेष ही विवक्षित है ? इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, सोऽयं देवदत्तः इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा-भ्रम में इन तीनों का सः इस आकार के द्वारा सम्भेद अर्थात् अनुवेध अवगत होने पर भी अर्थात् इन तीनों का प्रमोष न होने पर गृह्यमाण का देवदत्त के साथ अविवेक देखने में आता है। इससे सिद्ध होता है कि प्रमोष अविवेक का कारण नहीं[१] है। सोऽयं इस स्थल में सः शब्द के द्वारा पूर्वानुभव, देश, काल इन तीन का अनुवेध प्रदर्शन किया अर्थात् सः इसके द्वारा तीनों उपगृहीत है। पूर्वपक्षी के कथनानुसार यही स्मरणाभिमान हुआ। इन तीनों के रहते हुए भी गृह्यमाण देवदत्त के साथ अविवेक हो रहा है। अतएव स्मरणाभिमान का प्रमोष अविवेक

१ सोऽयं देवदत्तः यह प्रत्यभिज्ञा यहाँ भ्रम रूप ग्रहण की गई है, कारण, पूर्वदृष्ट देवदत्त ही इस समय इस प्रत्यभिज्ञा का विषय नहीं है, वरन्, कोई अन्य ही सादृश्यवश से गृह्यमाण है और उसी में सोऽयं देवदत्तः यह प्रत्यभिज्ञा हो रही है। प्रमा प्रत्यभिज्ञा को दृष्टान्त के रूप में उपस्थित करने में कोई फल नहीं है, क्योंकि, भ्रम-स्वरूप निरूपण में यह दृष्टान्त दिया गया है। अतः प्रमा प्रत्यभिज्ञा को ग्रहण करने पर असामञ्जस्य हो जाता।

के लिए अपेक्षित नहीं है यह सुस्पष्ट हो गया। इसी प्रकार पूर्वानुभव, देश, काल इन तीनों में अन्यतम का स्मर्यमाण के साथ अनुवेध स्मरणाभिमान स्वीकार करने पर भी पूर्वोक्त दोष रह ही जायेगा। कारण, तब सोऽयं देवदत्तः इस स्थल में सः इसके द्वारा इन तीनों में अन्यतम का ग्रहण होगा और इन तीनों के अन्यतम का अनुवेध रहने पर भी गृह्यमाण देवदत्त के साथ अविवेक अनुभव सिद्ध है। यहाँ यह सिद्ध हुआ कि स्मरणाभिमान का प्रमोप अविवेक के लिए प्रयोजनीय नहीं होता है। इस विषय में उपर्युक्त भ्रम ही जागरूक है[1]।

इसमें अख्यातिवादी पुनः शंका करते हैं कि हमलोगों ने स्मरणाभिमान का प्रमोप जो कहा है यह तो केवल जहाँ स्मृति प्रसक्त हुई थी उसी स्थान को लक्ष्य करके कह रहे हैं। आप प्रत्यभिज्ञा-भ्रम को दृष्टान्त रूप में पूर्वानुभव, देश एवं काल तीनों का अथ वा तीनों में अन्यतम का अनुवेध रहने पर भी अर्थात् प्रमोप नहीं रहने पर भी गृह्यमाण (अनुभूयमान) के साथ आपलोगों ने अविवेक प्रदर्शन किया है परन्तु पूर्वानुभव-सम्भेद रूप स्मरणाभिमान का स्मर्यमाण रजत में प्रमोप प्रदर्शन करना ही मेरा अभिप्रेत है तब अद्वैतवेदान्तियों के कथनानुसार दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव में एकरूपता न होने से यह किस प्रकार सुसमंजस होगा।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि चतुर्थ विकल्प के अनुसार पूर्वानुभव सम्भेद स्मर्यमाण में सम्भव ही नहीं है। कारण, संस्कार स्मृति का जनक है। संस्कार भी पूर्वानुभवजन्य है। यह प्रश्न होता है कि अर्थ-स्मृति-कारण जो संस्कार है उसी संस्कार का जनक पूर्वज्ञान होता है—इस स्थिति में प्रश्न यह है कि अर्थ विषय पूर्व ज्ञान वह क्या स्वयं अर्थ विशेषण में अपने को विषय करता है। अर्थात् स्व, स्व का ग्रहण नहीं करता है। अथवा ज्ञानान्तर का यह विषय होता है। इस विषय को अवगति के लिए चतुर्थ विकल्प पर दृष्टिपात किया जाए। उसमें कहा है कि क्या पूर्वानुभव विशिष्टस्वरूप का अर्थ ग्रहण स्मरणाभिमान है? सिद्धान्ती इस प्रसंग में

१ (क) न तावत् ज्ञानानुविद्धतया ग्रहणम्। (पं०पा०,पृ० १७६)

(ख) त० दी०, पृ० १७६

कहना चाहते हैं पूर्वानुभव स्मर्यमाण विषय विशेषण रूप में ग्रहीत नहीं हो सकता है। कारण, पूर्व में कहा जा चुका है—अनुभव से संस्कार और संस्कार से स्मृति होती है। जिस पदार्थ का पूर्वानुभव जन्य संस्कार नहीं है उसकी स्मृति भी नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में पूर्वानुभव का स्मर्यमाण-विषय के विशेषण रूप में स्मरण होने के लिए पूर्वानुभव-विषयक-पूर्वानुभव और इससे पूर्वानुभव विषयक-संस्कार होकर तभी पूर्वोक्त स्मर्यमाण विषय के विशेषण रूप में उसका स्मरण सम्भावित है। इस स्थिति में विवरणाचार्य पूर्वोक्त ही विकल्प उठाया है। क्या पूर्वानुभव स्वयं अपने को विषय करेगा ? अथ वा ज्ञानान्तर का वह विषय हो जायेगा ? इसमें पूर्व पक्ष समीचीन नहीं है। स्व, स्व को विषय नहीं कर सकता है। इसमें ज्ञान-क्रिया का कर्तृत्व और कर्मत्व एक में नहीं रह सकता है। व्यापार का आश्रय कर्त्ता और फल का आश्रय कर्म होता है। एक में दोनों सम्भावित नहीं है। इसलिए पूर्वानुभव अपने को विषय कर संस्कार उत्पादन द्वारा स्मरण सम्भावित करा देगा यह सम्भव नहीं है। इस विरोध के कारण पूर्वज्ञान के बल से अपने विषय को विषय करता है, परन्तु अपने को अपना विषय नहीं करता है, अतः, उसका पूर्वानुभव-विषयक-संस्कार नहीं है। जब पूर्वानुभव-विषयक-संस्कार नहीं है तब स्मर्य्यमाण विषय का विशेषण रूप में स्मरण का विषय कैसे होगा[1] ?

इस प्रकार द्वितीय विकल्प पूर्वज्ञान ज्ञानान्तर का विषय होगा यह भी कहना ठीक नहीं है। कारण, अख्यातिवादी संवित् (ज्ञान) को स्वप्रकाश ही मानते हैं। ज्ञान अपनी सत्ता में जब स्वप्रकाश है तब वह ज्ञानान्तर का विषय किस प्रकार होगा ? इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि भले ही पूर्वज्ञान अपना अथ वा ज्ञानान्तर का विषय नहीं होता है इसमें हानि ही क्या है ? अर्थात् पूर्वज्ञान विषय नहीं होता है इसमें हानि ही क्या है ? इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं कि पूर्व ज्ञान के द्वारा अविषयीकृत जो विषय है उस विषय-विषयक-संस्कार-जन्य-स्मृति उत्पन्न नहीं हो सकती है। पूर्वज्ञान का जो विषय होता है उसी

१ [क] किमर्थज्ञानं स्वेन विषयीक्रियते ? उत ज्ञानान्तरेण ? कर्मकर्तृविरोधान्न स्वविषयकत्वमित्यर्थः। त०दी०,पृ० १८०

[ख] अर्थस्मृतिसंस्कारस्य जनकं यत् पूर्वविज्ञानम्, तत् स्वयंग्राह्यविशेषणतया स्वेनैव न विषयीक्रियते। अर्थमात्रविषयत्वात्पूर्वज्ञानस्य।

वि०, पृ० १८०

विषय का संस्कार उत्पन्न होता है और उसीसे स्मृति होती है। प्रकृत स्थल में पूर्वज्ञान जब ज्ञान का विषय नहीं हुआ तब पूर्वज्ञान-विषयक-संस्कार और पूर्वज्ञान-विषयिणी स्मृति भी किस प्रकार सम्भव होगी? अनुभव और स्मरण समान-विषयक होता है यही नियम है। अर्थात् जिस विषय का अनुभव उसी विषय की स्मृति यही नियम है। इसलिए यही सिद्ध हुआ कि अर्थ-मात्र-विषयक जो ज्ञान उससे संस्कार उत्पन्न होकर जो स्मृति होगी वह स्मृति अर्थमात्र को ही विषय करेगी। अर्थानुभव-मात्र-जनित-संस्कार अनुभव विशिष्ट-अर्थ—स्मृति का उत्पादक नहीं हो सकता है। इसलिए अर्थानुभव-मात्र-जनित-संस्कार अर्थमात्र-विषयक-स्मृति का ही उत्पादन करेगा। इसमें पुनः अख्यातिवादी शंका करना चाहते हैं—पूर्व ज्ञान विषय नहीं होने पर भी वह तो स्वप्रकाश है, इसलिए उसका निरन्तर स्फुरण हो रहा है, अतः वह ज्ञानान्तर का विषय न होकर भी स्मरण का विषय क्यों नहीं होगा?

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं पूर्व ज्ञान द्वारा अविषयीकृत ज्ञान स्मरण का विषय नहीं हो सकता है। अगर पूर्वानुभव का अविषय होकर भी अनुभव संस्कारजस्मरण का विषय हो सकता है यह स्वीकार किया जाय अर्थात् अननुभूत का स्मरण स्वीकार किया जाय तब तो नील ज्ञान से पूर्वानुभव-विषयत्व सारूप्य-प्रयुक्त पीत का भी स्मरण हो जायेगा[1]।

इसमें अख्यातिवादी पुनः शंका करते हैं कि ज्ञातो घटः इस प्रकार अनुभव से विशिष्ट अर्थ का स्मरण सर्वानुभव-सिद्ध है। इसलिए किस प्रकार उसका अस्वीकार वेदान्ती कर सकते हैं? स्मर्यमाण विषय में पूर्वानुभव का सम्भेद प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव-सिद्ध हो तब उसके अनंगीकार करने में वेदान्तियों को बहुत सोचना चाहिए। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि आपने जो कहा है उसका अर्ध मैं अंगीकार कर रहा हूँ और अर्ध अनंगीकार कर रहा हूँ। प्रकाश

---

१ न च पूर्वज्ञानेनाविषयीकृते विषये तत्संस्कारजन्या स्मृतिः समुत्पद्यते। तस्मादर्थमात्रविषयज्ञानजन्या स्मृतिरर्थमात्रमेव विषयीकरोति, न पूर्वज्ञाने नाविषयीकृतं ज्ञानमपि। अन्यथा नीलज्ञानात् पीतेऽपि स्मृतिः स्यात्। वि०, पृ० १८०

अनुभव का कार्य है। कार्य, नियत-कारण-सापेक्ष होने के कारण आत्माश्रित ज्ञान इसी प्राकट्य के कारण रूप में अनुमित होता है। तब फलित हुआ कि पूर्वानुभव समय में अर्थ-गत प्राकट्य रूप लिंग के द्वारा उस अर्थ-विषयक ज्ञान का सद्भाव-विषयक-अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी अनुमान ज्ञान के संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है वही स्मृति अनुभव-सम्भिन्न विषय का बोध कराती है, कारण, इस स्थल में मूल ज्ञान जो अनुमान है वह अर्थ ज्ञान को अर्थानुभव को विषय करता है केवल अर्थ को विषय नहीं करता है। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि स्मृति दो प्रकार की होती है। इसमें प्रथम प्रकार जो है वह व्यवसाय-जन्या है अर्थात् वह अयं घटः, अयं पटः इत्यादि व्यवसाय ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। इस व्यवसाय ज्ञान से संस्कार ज्ञान उत्पन्न होकर जो स्मृति होती है इसमें केवल घटपटादि ही विषय हो सकता है। स्मृति होने के लिए पूर्वानुभव-संस्कार अपेक्षित है जिसका अनुभव नहीं रहता है, उस विषय का संस्कार न रहने से उस विषय की स्मृति भी नहीं हो सकती है। व्यवसाय ज्ञान से जहाँ स्मृति होती है उससे व्यवसाय ज्ञान का विषय केवल घट पटादि हुआ परन्तु व्यवसाय रूप अनुभव स्वयं अनुभव का विषय होने के कारण उसका संस्कार सम्भव नहीं है और संस्कार नहीं होने से स्मृति सम्भव नहीं है यही एक प्रकार की स्मृति है।

द्वितीय प्रकार की स्मृति अनुव्यवसाय अथवा ज्ञान विषय के अनुमान से होती है न्यायमत में अयं घटः इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान प्रथम उत्पन्न होता है। इसके बाद घटमहं जानामि इत्याकारक अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है। अनुव्यवसाय में व्यवसाय ज्ञान, व्यवसाय ज्ञान का विषय, और आत्मा तीनों का भान होता है। अनुव्यवसाय को ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष रूप कहा जाता है। मीमांसक-मत में

१ ननु स्मर्यमाणे पूर्वानुभवसम्भेदः स्वानुभवसिद्धः, सत्यम, यत् पूर्वानुभवसमयेऽर्थावभासलिंगजन्यमर्थज्ञानसद्भावविषयमनुमानज्ञानमुत्पन्नम्, मूलज्ञानेनाप्यर्थज्ञानविषयेण विशिष्टार्थविषयीकरणात् यस्मादर्थस्मृतिसमनन्तरमनुभवविशिष्टार्थस्मृत्यन्तरजननादर्थस्मृतिरेवानुभवसम्भिन्नेति विभ्रमः, तस्माच्छुद्धमेवार्थम् पूर्वज्ञानेन यावन्मात्रं वस्तुमात्रं वा ज्ञानसम्भिन्नं वा वस्तु विषयीकृतं तावन्मात्रमेवावभासयति, न स्वमूलज्ञानसम्भिन्नमित्यर्थः। वि०, पृ० १८०

प्रक्रिया भिन्न है। मीमांसक लोग कहते हैं कि अनुभवकाल में अनुभवजन्य अर्थ निष्ठ प्राकट्य उत्पन्न होता है। विषय निष्ठ यह प्रकाश अनुभव का कार्य है, कार्य नियत कारणापेक्ष होने के कारण आत्माश्रित ज्ञान इसी प्राकट्य के कारण रूप में अनुमित होता है। पूर्वानुभवकाल में अर्थगत प्राकाट्य रूप लिंग के द्वारा उस अर्थ-विषयक-ज्ञान का सद्भाव-विषयक-अनुमान-ज्ञान उत्पन्न होता है। इसी अनुमान ज्ञ ान के संस्कार से स्मृति उत्पन्न होती है, वही स्मृति अनुभव सम्भिन्न विषय का बोध कराती है। मूलज्ञान अनुमान अर्थज्ञान को विषय करता है।

निष्कर्ष यही हुआ कि अनुव्यवसाय के द्वारा अथवा ज्ञान-विषयक-अनुमान के द्वारा जन्य जो स्मृति है वह व्यवसाय-ज्ञान-जन्या घट-मात्र विषयिणी स्मृति से भिन्न है। वहाँ ज्ञातो घटः इस प्रकार ज्ञान विशिष्ट अर्थ का स्मरण होता है। उस स्थल में यह स्मृति अनुव्यवसाय अथ वा ज्ञान-गोचर अनुमान-जन्य-संस्कार से उत्पन्न हुई है। इसलिए यह पूर्वोक्त स्मृति से विलक्षण है। यहां जो द्वितीय प्रकार की स्मृति है यह भी अपने जनक अनुव्यवसाय अथ वा पूर्वोक्त ज्ञान गोचर अनुमान को विषय नहीं कर सकती है। परन्तु इस द्वितीय प्रकार की स्मृति में पूर्वानुभव का सम्भेद होता है। कारण, इस द्वितीय प्रकार की स्मृति का जनक जो अनुव्यवसाय अथ वा ज्ञान गोचर-स्मृति है इन दोनों के पूवानुभव का स्मृति में भान होता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि शुद्ध घटपटादि के व्यवसाय ज्ञान से उत्पन्न जो संस्कार उससे उत्पन्न हुई स्मृति शुद्ध विषय को ही अवगत कराती है एवं ज्ञान गोचर अनुमान अथ वा अनुव्यवसाय-जन्य संस्कार उसका होकर जो स्मृति होती है, उसमें पूर्वानुभव भी विषय होता है। ये दोनों प्रकार की स्मृति परस्पर विलक्षण हैं। विवरणाचार्य ने इस प्रकार प्रदर्शन किया है—जहाँ अयं घटः अयं पटः इस अनुभव से घटपटादि अर्थ का अनुभव होकर संस्कार के द्वारा स्मृति होती है। उसके अथ वा अव्यवहित उत्तर काल में घटत्वेन घटमहं जानामि इस अनुव्यवसाय से अथ वा पूर्वानुभव-विषयक-अनुमिति से संस्कार द्वारा अनुभव अर्थस्मृति होती है। उस स्थल में अर्थ स्मृति ही अनुभव सम्भिन्न है इस प्रकार भ्रम हो जाता है। भ्रम का कारण अव्यवहित उत्तर काल में प्रदर्शित स्मृत्यन्तर की उत्पत्ति ही है। वस्तुतः रजत-स्मृति शुद्ध विषय को ही ग्रहण

करती है ज्ञान विशिष्ट विषय को सभी समय बोध कराती है। पूर्व ज्ञान के द्वारा यावन्मात्रवस्तु अथ वा ज्ञानसम्भिन्न वस्तु गृहीत होती है। स्मृति में भी तावन्मात्र ही अवभासित होती है। सभी स्थान में स्मृति का मूल-भूत जो ज्ञान है उस ज्ञान के द्वारा सम्भिन्न अर्थात् विशिष्ट अर्थ को स्मृति अवभासन नहीं कराती है। इसीका निष्कर्ष प्रदर्शन करते हुए तत्त्वदीपनकार ने कहा है कि अर्थमात्र ज्ञान से जहाँ संस्कार उत्पन्न होकर स्मृति होती है वहाँ स्मृति शुद्ध विषय का ही अवभासमान कराती है और तद्व्यतिरिक्त स्थल में जहाँ अनुव्यवसाय अथवा ज्ञान गोचर अनुमान से संस्कार होकर स्मृति होती है उस स्थल में स्मृति पूर्वानुभव विशिष्ट अर्थ को ग्रहण करती है[१]। इसका आशय विवरणप्रमेयसंग्रहकार ने निम्नलिखित रूप में एक अनुमान के द्वारा प्रदर्शन किया है।

विमत रजत स्मृति (पक्ष) अपने मूल ज्ञान--विशिष्ट-अर्थ को ग्रहण नहीं करती है (साध्य) कारण, वह स्मृति है (हेतु) पदार्थ-स्मृति के समान (दृष्टान्त) पद समूह अपने साथ सम्बद्ध अर्थ विषयिणी स्मृति को उत्पन्न करता है। जहाँ शुद्ध अर्थ की स्मृति होती है वहाँ अर्थमात्र ही स्मृति का विषय होता है[२]।

इस प्रसंग में विवरणाचार्य ने दो शब्दों का व्यवहार किया है—अर्थ-स्मृति और स्मृत्यन्तर। अर्थ मात्र ज्ञान के संस्कार से जहाँ प्रत्यय उत्पन्न होता है उसका नाम अर्थस्मृति है। उस प्रकार के अनुमान अथवा अनुव्यवसाय के संस्कार से जहाँ प्रत्यय उत्पन्न होता है उसका नाम स्मृत्यन्तर है। अब प्रश्न होता है कि यह अर्थ-स्मृति है अथ वा ज्ञानसम्भिन्न-विषय स्मृत्यन्तर है इसमें विवेक किस प्रकार होगा? स्मृतिमात्र को ज्ञान-सम्भिन्न-विषयक स्वीकार किया जाय तो जहाँ पद से पदार्थ-स्मृति होती है वहाँ व्यभिचार हो जायेगा। कारण, पूर्व में कहा जा चुका है कि पद अपने साथ सम्बद्ध अर्थ-मात्र-विषयक स्मृति का जनक होता है, इसलिए स्मरण मात्र का यह स्वभाव नहीं हो सकता है कि वह ज्ञान सम्भिन्न

---

१ अर्थमात्रज्ञानसंस्कारोत्थस्मरणस्य केवलविषयत्वम्, इतरस्य विशिष्ट-विषयत्वम्। त० दी०, पृ० १८०

२ विमता स्मृतिर्न स्वमूलज्ञानविशिष्टमर्थं गृह्णाति, स्मृतित्वात् पदार्थ-स्मृतिवत् इति। पदानि हि स्वसंबद्धेष्वर्थेषु स्मृतिं जनयन्ति। वि०प्र०सं०,पृ० ११०

अर्थ को ही विषय करता है। प्रश्न होता है—वाक्यार्थ का ज्ञान कराने के लिए प्रयुक्त पद समूह से पदार्थ का बोध किससे होता है ? पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होकर उससे स्मृति क्यों होती है ?

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का यही कथन है कि वाक्यार्थ का ज्ञान कराने के लिए पद-समूह का प्रयोग किया जाता है। उसी पद के समूह का सकृत् प्रयत्न द्वारा उच्चारण नहीं हो सकता है। अतः, क्रमिक उच्चारण करना पड़ता है। जब अन्त पद का उच्चारण भी समाप्त हो जाता है उस समय में क्रमशः उच्चर्यमाण ज्ञान-संगतिक-पद से एकैक पद से एकैकार्थ-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। यही पदार्थ बोध वाक्यार्थ बोध का उपाय है, जैसे काष्ठ से ज्वाला निष्पन्न किया जाता है। इस प्रकार पद से जहाँ वाक्यार्थबोध कराने के लिए पद का उच्चारण किया गया है। उसमें ज्वाला-स्थानीय-पदार्थ की निष्पत्ति भी अपेक्षित है। पदार्थ का संगतिज्ञान मानान्तर सिद्ध है। इसलिए परवर्त्तिकाल में पदार्थ-समूह-ज्ञान-रूप है। शब्द के साथ अर्थ का जब सम्बन्ध ज्ञान होता है तब शब्द और अर्थ, दोनों सम्बन्धी हो जाते हैं। एक सम्बन्धी शब्द और अपर सम्बन्धी अर्थ और इसी के बल से एक सम्बन्धी शब्द के ज्ञान से अपर जो अर्थ तद्विषयक जो ज्ञान वह स्मरणात्मक होता है। फलित यही हुआ कि पूर्वोक्त एकैकशः पदज्ञानजन्य जहाँ पदार्थ का ज्ञान होता है वह ज्ञान स्मृति रूप है। यह अभिहितान्वयवादी एवं अन्विताभिधान-वादी दोनों को सम्मत है। पद-समुदाय के द्वारा अभिहित जो पदार्थ समूह वही अन्वय का बोधक है यह जो स्वीकार करते हैं उसी को अभिहितान्वयवादी कहा जाता है। एवं अन्वययोग्य इतर संसृष्ट अर्थ को पद अभिधान करता है यह जो स्वीकार करते हैं वे अन्विताभिधानवादी हैं। अभिहितान्वयवादी के मत में पद शुद्ध अर्थ का ही अभिधान करता है और अन्विताभिधानवादी के मत में पद योग्य इतरान्वित अपने अर्थ का बोधक होता है। निष्कर्ष यह हुआ कि इदं रजतं इस स्थल में जो रजत-स्मृति वह अपने मूल-ज्ञान विशिष्ट-अर्थ को विषय नहीं कर सकती है। कारण, रजत स्मृति रजत रूप अर्थ की स्मृति है और यह पद ज्ञान जन्य पदार्थ स्मृति में अवधृत हुआ है। जहाँ अर्थ स्मृति

होती है वहाँ ज्ञान सम्भिन्न अर्थ का विषय रूप में भान नहीं होता है। प्रकृत स्थल में चतुर्थ विकल्प--पूर्वानुभव विशिष्ट अर्थ का ज्ञान स्मरणाभिमान है और उसी का शुक्ति रजत स्थल में प्रमोष है यह उपपन्न नही हो सकता है। कारण, रजत-स्मृति पूर्वानुभव सम्भिन्न ही नही है। इसलिए चतुर्थ विकल्प के द्वारा अख्यातिवादी जिस प्रकार स्मरणाभिमान का विवेचन कर प्रमोष चाहते हैं वह शुक्ति-रजत-स्थल में सम्भव नही है[1]।

बौद्धों की शंका

सम्बन्धी शब्द के ज्ञान से अन्य सम्बन्धी अर्थ का स्मरण होता है यही कहा गया, परन्तु यह उपपन्न नहीं है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निरूपण नहीं कर सकते है। बौद्ध दार्शनिक पूछना चाहते हैं—शब्द के साथ अर्थ का क्या स्वभाव (तादात्म्य) सम्बन्ध है ? अथ वा कार्य-कारण लक्षण सम्बन्ध है ? अथ वा अनुपलब्धि सम्बन्ध है ? अथ वा देश-नियम सम्बन्ध है ? अथ वा काल-नियम रूप सम्बन्ध है ? अथ वा संयोगादि सम्बन्ध है ? इनमें प्रथम पक्ष असमीचीन है, जैसे वृक्षत्व शिंशपात्व[2] इन दोनों में स्वभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में स्वभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कारण, वृक्षत्व और शिंशपात्व एक वृक्ष में अवस्थान कर सकता है। किन्तु इसी प्रकार शब्द और अर्थ का एक व्यक्ति में अवस्थान सम्भव नहीं हो सकता है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी समीचीन नही है— शब्द का अर्थ कार्य है इसमें प्रमाण नहीं है। इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी समीचीन नहीं है। कारण, अनुपलब्धि रूप लिंग के द्वारा अभाव का अनुमान होता है। परन्तु अर्थ भाव रूप है। इसलिए अर्थ का अनुपलब्धि सम्बन्ध उपपन्न नहीं हो सकता है। शब्द की अनुपलब्धि के द्वारा अर्थाभाव का यदि अनुमान किया जाय तब भी प्रकृत में कोई लाभ नहीं होगा।

---

१ वाक्यार्थप्रत्ययोद्देशेन पदानि तावत्प्रयुज्यन्ते, तेषां च पदानां सकृदुच्चारणा-सम्भवात् क्रमेणोच्चारणम्, तेभ्यश्च क्रमेणोच्चार्यमाणेभ्यो गृहीतसंगतिकेभ्यः पदार्थबोधा आधीयन्ते वाक्यार्थप्रत्ययोपयिकत्वेन, यथा काष्ठैः पाके साध्ये तदर्थं ज्वाला निर्वर्त्यन्ते तथेत्यर्थः। ... पदाभिहितानां पदार्थानामेवान्वयबोधकत्वमिति ये ब्रुवते ते अभिहितान्वयवादिनः, योग्येतरसंसृष्टस्वार्थमभिदधति पदान्येवेति य आचक्षते ते त्वन्विताभिधानवादिनः।

त० दी०, पृ० १८१

२ [वृक्षविशेष]

कारण, अर्थाभाव की अनुमिति होने पर भी अर्थ की अनुमिति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार चतुर्थ विकल्प भी समीचीन नहीं है। जिस स्थल में स्निग्ध छाया है उसी स्थान में शैत्य है इसके समान शब्द और अर्थ का एकदेशत्व नियम नहीं है। इसी प्रकार अम विकल्प भी अनुपपन्न है अतः, जिस काल में कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है उसी काल में रोहिणी नक्षत्र की आसत्ति [सन्निधान] होती है। इस प्रकार शब्द और अर्थ में एक-कालत्व नियम भी नहीं है। कारण, शब्द और अर्थ भिन्न काल में स्थित होता है। शब्द और अर्थ में संयोग भी सम्भावित नहीं है, कारण, शब्द गुण है। अतः, इसके साथ संयोग नहीं हो सकता है। शब्द को यदि द्रव्य स्वीकार किया जाय तब भी अर्थ के साथ इसका संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है, कारण, गुणादि रूप अर्थ के साथ द्रव्य रूप शब्द का संयोग किस प्रकार होगा। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध न रहने के कारण शब्द रूप एक सम्बन्धी के ज्ञान में अर्थ रूप अन्य सम्बन्धी के ज्ञान का स्मरण नहीं कहा जा सकता है। कारण, दोनों में सम्बन्ध रहने से ही एक अपर का सम्बन्धी रह सकता है। शब्द और अर्थ में जब सम्बन्ध ही नहीं है तब ये दोनों सम्बन्धी किस प्रकार हो सकते हैं ! सम्बन्ध न होने से एक दूसरे का स्मारक भी नहीं हो सकता है[1]।

निष्कर्ष यही हुआ कि पद के साथ अर्थ का संयोगादि सम्बन्ध असम्भव है। इसलिए पद के सम्बद्ध अर्थ का स्मारक होता है—यह पूर्वोक्त अनुमान में दृष्टान्त रूप में उत्थापन किया गया है, यह सर्वथा अनुचित है। इसमें यदि अख्याति-वादी कहें कि हमलोग सम्बन्ध का निर्वचन कर सकते हैं पद का अर्थ-बोध-जनन-शक्ति ही सम्बन्ध है—यही हमलोग सम्बन्ध का निर्वचन करेंगे, किन्तु अख्याति-वादियों का इस प्रकार कथन अनुचित है। इस बोध-जनन-शक्ति के द्वारा अनुभव-जनन-शक्ति है या स्मरण जननशक्ति कहना चाहते हैं। बोध दो प्रकार होता है स्मरणरूप और अनुभवरूप। इसमें प्रथम विकल्प समीचीन नहीं है। पद वाक्य

१ शब्दार्थयोः किं स्वभावः सम्बन्धः ? उत कार्यकारणतालक्षणः ? किं वाऽनुपलब्धिः ? आहो देशनियमः ! किं वा कालनियमः ? उत संयोगादिः ! न तावत् वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिव स्वभावसम्बन्धः !, एकव्यक्तिसमयाभावात्, न द्वितीयः शब्दस्यार्थकार्यत्वे मानाभावात्। .. तस्माच्छब्दार्थयोः संबन्धाभावान्न संबन्ध्यन्तरज्ञानस्य स्मरणत्वमुक्तिमित्यर्थः।

रूप में वाक्यार्थानुभव का जनक होने पर भी पदार्थ-विषयक अनुभवजनकत्व उसमें नहीं है। कहने का आशय यह है कि पद समुदाय ही वाक्य है। इसलिए पद का दो रूप है एक वाक्यरूप और एक शुद्ध स्वरूप। पद को यदि वाक्य स्वरूप में देखा जाय तब तो वाक्यार्थ-विषयक अनुभव का जनक हो सकता है। परन्तु शुद्ध अपने अर्थ-विषयक-अनुभव का जनक नहीं हो सकता है।

इसमें अख्यातिवादी मीमांसक कहना चाहते हैं कि पद से पदार्थ की व्युत्पत्ति दशा में पद से पद का अर्थानुभावकत्व गृहीत होता है। व्युत्पत्ति-काल को यदि मन में रखा जाय तब यह स्पष्ट हो जायेगा कि वह अपने अर्थ-विषयक-अनुभव का जनक होता है। इसलिए बौद्धों का पद स्वार्थ का अनुभावक नहीं होता है, यह कहना अनुचित है। इसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि आप व्युत्पत्ति-ग्रहण में अनुमानादि प्रमाण से अव्युत्पन्न बालक को पद से पदार्थ का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए बाद में जब पद श्रवण में पदार्थ का ज्ञान होता है यह ज्ञान अनुभव रूप नहीं हो सकता है। कारण, अनुमानादि प्रमाणन्तर के द्वारा पदार्थ का ज्ञान पहले हो गया है। इसलिए अगृहीतग्राहित्व न रहने के कारण बाद में पद से जो पदार्थ का ज्ञान हो रहा है यह अनुभव रूप नहीं हो सकता है। अनुभव का विषय प्रमाणान्तर के द्वारा अनधिगत होना चाहिए। केवल पद के द्वारा जो प्रतिपाद्य है वही पदार्थ है। प्रकृत स्थल में अनुमानादि के द्वार पदार्थ का ज्ञान पूर्व में ही हो गया है। इसलिए पद ने किसी अभिनव अर्थ का प्रतिपादन नहीं किया है तब पद-जन्य पदार्थ का ज्ञान अनुभव रूप कैसे होगा? इसलिए प्रामाणिक लोग कहते हैं कि यह अपूर्व अर्थ का बोधक न होने के कारण अर्थात् अधिगत अर्थ का ही बोधक होने के कारण स्मारक ही हो सकता है, अनुमापक नहीं हो सकता है। विवरण के इस विषय को स्पष्ट करने के प्रसंग में तत्त्वदीपनकार ने कहा है कि पदार्थ प्रमाणान्तर के द्वारा ज्ञात होने के कारण पद का स्मारकत्व ही स्वीकार करना उचित है एवं पद मात्र का स्मारकत्व अख्यातिवादियों को अभिप्रेत भी है। प्रश्न हो सकता है कि अख्यातिवादियों के मत में पद तो संसृष्ट पदार्थ का बोधक होता है यह पूर्व में ही कहा गया है कि अन्विताभिधानवादियों के मत में पद इतरान्वितस्वार्थ का बोधक होता है और अख्यातिवादी प्राभाकर ही अन्विताभिधानवादी है, पद से जो संसृष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है यह प्रमाणान्तर का विषय नहीं है। इसलिए पद को पदार्थ का स्मारक कहना तो अनुचित है।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य कहते हैं—पद-संसृष्ट पदार्थ का अनुभावक होने पर भी शुद्ध पदार्थ का स्मारक ही होता है। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, द्वितीय पक्ष में पद की पदार्थ-विषयिणी स्मृतिजनन-शक्ति स्वीकार की गई है। अर्थात् पद में पदार्थ-स्मृति-जनन-शक्ति है यही इसकी शक्ति है। इसमें ज्ञातव्य है कि पूर्वोक्त स्मृति-जनन-शक्ति [सम्बन्ध] अज्ञात होकर स्मृति का उत्पादन नहीं कर सकती है। कारण, शक्ति [सम्बन्ध] ज्ञात होकर ही स्मृति का कारण हो सकती है। केवल स्मृति के लिए ही नहीं सर्वत्र ही शक्ति में किसी कार्य के प्रति कारणत्व रहने पर उसका ज्ञान अपेक्षित रहता है। इसके स्वीकार न करने पर अव्युत्पन्न को भी अर्थात् जिसका शक्तिज्ञान नहीं है उस शब्द के श्रवण से अर्थ-प्रतिपत्ति की प्रसक्ति हो जायेगी[1]। इस प्रकार ज्ञात-शक्ति स्मरण की जनक है यह भी स्वीकार करना समीचीन नहीं है। कारण, कार्य को देखकर कार्य-लिंग के द्वारा शक्ति का अनुमान किया जाता है।

अभिप्राय यह है कि जब स्मृति की उत्पत्ति होगी, तब स्मृतिरूप कार्य को देखकर स्मृति की जनक-शक्ति का अनुमान हो जायेगा। इसका फल यह होगा कि स्मृति उत्पन्न होने के बाद स्मृति के द्वारा शक्ति [सम्बन्ध] का ज्ञान होगा एवं इसी स्मृति से शक्ति का ज्ञान होने के बाद स्मृति का जन्म होगा—इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी[2]।

---

१ [क] अर्थबुद्धिजननसामर्थ्यलक्षण इति चेत्, किं स्मृतिजननसमर्थ्यलक्षणः, अन्यो वा ? न चान्यः, पदानां पदार्थांशेषु स्मृतिव्यतिरिक्तकार्यान्तराभावात्। वि०,पृ० १८२

[ख] पदार्थानां प्रमाणान्तरासिद्धत्वात् पदानां स्मारकत्वमेवेत्यर्थः। पदमात्रस्य स्मारकत्वं भवत्संमतं चेति च शब्दार्थः। संसृष्टपदार्थविशेषस्य मानान्तरागोचरत्वात्कथं पदानां तत्स्मारकत्वम् संसृष्टपदार्थेष्वनुभवजनकत्वेऽपि केवलेषु स्मारकत्वमित्यर्थः। ... ...। त०दी०,पृ० १८२

२ कार्यलिंगगम्यं हि सामर्थ्यम्, ततः स्मृतौ जातायां तथा सामर्थ्यं ज्ञायते, न तस्मिन् ज्ञाते स्मृतिजन्येतीतरेतराश्रयाद्। स्मृत्यन्तरप्रतिपन्नात् सामर्थ्यात् स्मृतिजन्यांगीकारेऽनवस्थापत्तेः। त०दी०, पृ० १८२

यदि यह कहा जाय कि स्मृत्यन्तर के द्वारा शक्ति का ज्ञान होगा और इसीसे स्मृति की उत्पत्ति होगी। किन्तु यह कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, ऐसा स्वीकार करने पर अनवस्था दोष की प्रसक्ति हो जायेगी। कारण, स्मृत्यन्तर जो कहा गया है वह भी शक्त्यन्तर सापेक्ष है, इस तरह इस कार्य-कारणभाव की शृंखला की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होगी। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि पद में स्मरणात्मक बोध जनन-शक्ति [सम्बन्ध] नहीं है। इस प्रसंग में ऋजुविवरणकार ने चक्रकदोष का प्रदर्शन किया है। —स्मृतिरूप काय के देखने से जनकत्व ज्ञान होगा, जनकत्व के ज्ञान से सामर्थ्य का ज्ञान होगा और सामर्थ्य के ज्ञान से स्मृतिरूप कार्य होगा। अतः इस रीति से चक्रकदोष की प्रसक्ति है[1]।

अख्यातिवाद में पद पदार्थ का स्मारक हो जायेगा--इसमें अन्य दोष भी है—चैत्र एवं मैत्र में एक को देखने से एक का स्मरण होता है, किन्तु यह स्मरण सादृश्य आदि सम्बन्ध के रहने पर ही होता है। सभी पदों और पदार्थों में सादृश्य विरोध एवं कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध न होने से अन्य का स्मरण उत्पन्न नहीं हो सकता है[2]। इस दोष का वारण करने के लिए अख्यातिवादी कहना चाहते हैं कि अव्युत्पन्न बालक को किस प्रकार शक्ति का निश्चय होता है, इस विषय पर पूर्वपक्षियों का ध्यान देना उचित है। उत्तम वृद्ध जब मध्यम वृद्ध को लक्ष्य कर कहता है—**गामानय** तब इस उच्चारण के बाद बालक देखता है कि मध्यम वृद्ध गौ को लाने के लिए प्रवृत्त हुआ है। इस स्थल में तीन व्यक्ति हैं— उत्तम वृद्ध, मध्यम वृद्ध और शक्ति ज्ञानरहित बालक। मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति देखकर अव्युत्पन्न बालक वृद्ध को पूर्वोक्त वाक्य का वाक्यार्थ बोध हुआ यह अनुमान कर लेता है। कारण, ज्ञान के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती है यह बालक के स्तन्य-पान के समय स्वयं अवधारण किया है, अर्थात् बालक के इष्ट का साधक है यह बालक को उस समय ही ज्ञात हुआ और इसी ज्ञान के कारण उसको स्तन्यपान में प्रवृत्ति होती है। जब प्रवृत्ति के प्रति

---

१ तर्हि स्मृतिरूपकार्यदर्शनाज्जनकत्वज्ञानम्, जनकत्वज्ञानेन सामर्थ्यज्ञानम्, सामर्थ्यज्ञानाच्च स्मृतिरूपकार्यमिति चक्रकम्। ऋ०वि०पृ०, १८२

२ चैत्रमैत्रयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्मरणं सादृश्यादिसंबन्धे सति दृष्टम्, इह च सादृश्यादेरभावान्न स्मरणमुत्पद्यत इत्यर्थः। त०दी०,पृ० १८२

ज्ञान कारण है यह बालक को पूर्व में ही अवधारण हो गया तब प्रकृत-स्थल में भी उत्तम वृद्ध का वाक्य-श्रवण कर मध्यम वृद्ध प्रवृत्त हुआ है यह देखकर अव्युत्पन्न बालक अनुमान कर लेता है मध्यम वृद्ध को वाक्यार्थ-विषयक-ज्ञान उत्पन्न हुआ और शब्द-श्रवण के अव्यवहितोत्तर ही जब मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति हुई तब एतादृश-शब्द-श्रवण एतादृश-अर्थ-विषयक-ज्ञान का जनक है यह अवधारण करता है। अर्थात् एतादृश-अर्थ-विषयक-ज्ञान-जनन-सामर्थ्य एतादृश शब्द में है यह समीपस्थ बालक को अवबोध होता है। इसके बाद **गां बधान अश्वमानय** इस प्रकार वाक्य का श्रवण कर आनय के स्थान पर बधान का प्रयोग देखकर एवं गां के स्थान पर अश्व का प्रयोग देखकर अन्वय-व्यतिरेक से प्रत्येक पद का अर्थ बोध उसको हो जाता है। यह प्रक्रिया अतिशय विस्तृत है, ने नितान्त संक्षेप में कथन ग्रन्थ कलेवर की वृद्धि के भय से किया है[1]।

इससे यही सिद्ध हुआ कि प्रदर्शित प्रक्रिया से व्युत्पत्ति काल में ही बालक को इस शब्द से शक्ति-निश्चय होता है। इसलिए स्मृत्युत्पत्ति और शक्ति ज्ञान में परस्पराश्रयत्व का प्रसंग नहीं है।

इसमें पुनः बौद्ध शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रक्रिया के द्वारा क्या शब्द मात्र में शक्ति का ज्ञान होता है? या अर्थ विशेष के द्वारा सम्बद्ध शब्द में शक्ति का ग्रह होता है? इसमें पूर्व पक्ष समीचीन नहीं है। कारण, तब तो इस शब्द का यही अर्थ है इस प्रकार के नियम की बुद्धि नहीं होगी। कारण, अख्यातिवादी तो शब्द मात्र में ही शक्ति का निश्चय स्वीकार करते हैं। अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध शब्द मात्र में ही यदि शक्ति का निश्चय है तब इस विशेष शब्द का यह विशेष अर्थ है इस प्रकार के नियम की सिद्धि किस प्रकार होगी? इस तरह द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध शब्द में शक्ति ग्रह होता है यह कहने से अर्थ-विशेष के साथ शब्द को सम्बद्ध होने के लिए व्यवस्थापक किसी सम्बन्धान्तर को कहना पड़ेगा। कारण, अर्थ-विशेष के साथ ही शब्द सम्बद्ध है अर्थान्तर के साथ नहीं। यदि

---

१ अथ मध्यमवृद्धप्रवृत्त्या प्रवृत्तिहेतुज्ञानमनुमाय शब्दानन्तर्यात्तज्जनकत्वं शब्दस्य निश्चित्य पश्चात्सामर्थ्यनिश्चयः, तथा सति तादृशशब्ददर्शनात्तस्यार्थस्मृत्युत्पत्तेर्न चक्रकम्, ऋ० वि०, पृ० १८२

इसका व्यवस्थापक कोई सम्बन्ध नहीं रहे तब तो अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध-शब्द में शक्ति ग्रह होता है यह नियम सिद्ध नहीं हो सकता है।

इसमें पुनः शंका होगी कि यह जो सम्बन्ध की कल्पना की जायेगी इसको भी अर्थान्तर के साथ शक्तिरूप सम्बन्ध क्यों नहीं समझा जा रहा है? इसके लिए किसी अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी, फिर इसमें भी प्रश्न होगा कि कल्पित वह द्वितीय सम्बन्ध भी क्यों अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध शब्द में ही शक्तिग्रह कराता है अर्थान्तर के साथ क्यों नहीं शक्ति-ग्रह कराता है? इसके लिए पुनः सम्बन्धान्तर की कल्पना करनी होगी इससे अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध-शब्द में शक्तिग्रह स्वीकार करने से सम्बन्ध स्वीकार की कहीं भी परिश्रान्ति नहीं होगी इसको उपपन्न करने के लिए सम्बन्ध की धारा स्वीकार करनी पड़ेगी[1]।

इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि शक्ति स्वयं ही अपनी और अपने अपेक्षित सम्बन्ध की भी निर्वाहिका हो जायेगी इसलिए सम्बन्धान्तर कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है। अर्थात् अर्थ-विशेष के साथ सम्बद्ध शब्द में शक्ति-ग्रह क्यों हुआ—अर्थ विशेष के साथ सम्बद्ध होना और उसी अर्थ विशेष सम्बद्ध शब्द में शक्ति-ग्रह होना इन दोनों का निर्वाह शक्ति के द्वारा ही हो जायेगा इसलिए सम्बन्ध-धारा-कल्पना की आवश्यकता नहीं होगी[2]।

प्राभाकर का इस प्रकार का उत्तर भी पर्याप्त नहीं है। कारण, इसमें प्रश्न होगा—शब्द से जब शब्दार्थ की स्मृति होती है उस समय क्या शब्द मात्र के श्रावण-प्रत्यक्ष रूप ज्ञान से अर्थ का स्मरण होता है? अथ वा अर्थ-विषयक जो शक्ति है एतादृश शक्तिमान् शब्द के ज्ञान से अर्थ की स्मृति होती है? अथ वा शक्ति-ज्ञान से उत्पन्न जो संस्कार एवं शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष—इन दोनों से अर्थ का स्मरण होता है? इसमें प्रथम पक्ष असमीचीन है। कारण, इससे किसी नियम की व्यवस्था नहीं हो सकती है। कारण, शब्द-सामान्य के प्रत्यक्ष

१ तदापि किं शब्दमात्रे शक्तिनिश्चयः अर्थविशेषसम्बद्धे वा? नाद्यः, अस्य शब्दस्यायमर्थ इति नियमासिद्धिप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽपि शक्तिसम्बन्धस्य व्यवस्थापकं सम्बन्धान्तरमेष्टव्यमिति महत्यनवस्था स्यात्।

वि० प्र० सं०, पृ० ११२-११३

२ शक्तिः स्वपरनिर्वाहिका इति चेत्? वि० प्र० सं०, पृ० ११३

ज्ञान से यदि अर्थ का स्मरण स्वीकार किया जाय तो किसी शब्द से किसी अर्थ का स्मरण हो सकता है, फलतः, शब्द-विशेष से अर्थ-विशेष की स्मृति होती है यह नियम व्यवस्थित नहीं रहेगा। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। कारण, आद्य व्युत्पत्ति ग्रहण काल में ही शब्द-ज्ञान के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान काल में अर्थ का भी ज्ञान हो जायेगा। इसलिए पुनः शब्द-प्रत्यक्ष-ज्ञानजन्य अर्थ की स्मृति स्वीकार करना सर्वथा व्यर्थ ही रहेगा। कारण, अर्थ-विषयक शक्तिमान् शब्द का व्युत्पत्ति काल में ही ज्ञान हो गया तब अर्थ-ज्ञान के लिए शब्द-ज्ञान-जन्य अर्थ-स्मृति-स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। यह स्वीकार करने पर भी शब्द से अर्थ की स्मृति सम्भव नहीं होगी। कारण, यह देखने में आता है कि अन्यत्र जहाँ दोनों में स्मार्य-स्मारक सम्बन्ध रहता है उन दोनों में सादृश्य, विरोध, कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध देखने में आता है--शुक्ति के साथ रजत का सादृश्य-सम्बन्ध, दुर्योधन-युधिष्ठिर में विरोध सम्बन्ध है, धूम और वह्नि में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। इससे एक सम्बन्धी को देखकर दूसरे सम्बन्धी का स्मरण होता है। परन्तु शब्द और अर्थ में पूर्वोक्त सम्बन्ध सम्भव नहीं है इसलिए इन दोनों में स्मार्य-स्मारक भाव सम्बन्ध किस प्रकार होगा? अत एव अख्यातिवादी जो कहते हैं कि पद आदि पदार्थ का स्मारक होता है और स्मारक होने के कारण पद यद्यपि प्रमाण नहीं है तथापि पदसमुदायात्मक वाक्य प्रमाण होता है यह कथन अनुचित है। कारण का विश्लेषण पूर्व में ही किया गया है[2]।

---

१ तथापि स्मृतिकाले किं शब्दमात्रदर्शनादर्थः स्मर्यते किं वाऽर्थगोचरशक्तिमच्छब्ददर्शनाद् उत शक्तिज्ञानजन्यसंस्काराच्छब्ददर्शनाच्च। नाद्यः, अनियमापत्तेः। न द्वितीयः, शब्ददर्शनसमय एवार्थस्यापि दृष्टत्वेन शब्दजन्यस्मृतिवैयर्थ्यात्। वि० प्र० सं०, पृ ११२

२ न तृतीयः, तावता स्मृत्यसम्भवात्। अन्यत्र स्मारकस्मार्ययोः सादृश्यविरोधिकार्यकारणभावादिसम्बन्धान्तरनियमात् शब्दार्थयोस्तदभावात्। तस्मात् पदानि स्मारकाणि, वाक्यं पुनः प्रमाणमित्येतद् दृश्यादिनां प्रक्रियामात्रमिति।
वि० प्र० सं०, पृ० ११३—११४

पूर्वपक्षी ने वेद के अपौरुषेयत्ववादी मीमांसकों के मत से विरोध में यही आपत्ति दी है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि प्रदर्शित तृतीय विकल्प समीचीन है। शब्द का ज्ञान एवं शक्ति-संस्कार इन दोनों से अर्थ-स्मृति स्वीकार करने में दोष नहीं है। पूर्व में बौद्धों ने कहा है कि अन्यत्र स्मार्य-स्मारक में सादृश्यादि सम्बन्ध देखने आता है, किन्तु शब्दार्थ में यह सम्बन्ध नहीं है, इसलिए शब्द अर्थ का स्मारक नहीं हो सकता है—यह उनका कथन सर्वथा असंगत है। कारण, इसमें विकल्प होता है कि क्या बौद्धों के मत में अन्यत्र स्मार्यस्मारकभाव सम्बन्ध रहने के लिए जिस प्रकार सादृश्यादि सम्बन्ध की अपेक्षा होती है उस दृष्टान्त के अनुसार ही शब्दार्थ में भी सादृश्यादि सम्बन्ध का अभ्युपगम करना चाहते हैं? अथ वा शब्द दृष्टान्त के अनुसार अन्यत्र स्मार्य-स्मारकभाव उत्पन्न कराने के लिए शक्ति को ही स्वीकार करना चाहते हैं और सादृश्यादि को स्वीकार नहीं करना चाहते हैं? अथ वा शब्द में सादृश्यादि-मूलक सम्बन्ध नहीं रहने पर भी शब्द अर्थ की स्मृति का जनक नहीं होता है? इसमें पूर्व-विकल्प असमीचीन है। शब्द में सादृश्य का ज्ञान देखने में नहीं आता है। इसलिए वहाँ अदृष्ट सादृश्य की कल्पना करने पर गौरव दोष होगा। शब्द को छोड़कर अन्यत्र सादृश्यादि सम्बन्ध दृष्टिगोचर है, इसलिए वहाँ उसकी कल्पना नहीं करनी होगी और गौरव दोष की भी प्रसक्ति नहीं होगी[1]। द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, अनुभूयमान पदार्थ का अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। शब्द से भिन्न स्थल में सादृश्यादि सम्बन्ध अनुभव सिद्ध है इसलिए शब्द के अनुसार वहाँ सादृश्यादि सम्बन्ध का अनंगीकार उचित नहीं होगा। इसी प्रकार तृतीय विकल्प भी ठीक नहीं है कारण, शब्द-स्मृति स्मृति-कार्यजनन में शक्त अर्थात् समर्थ होकर अर्थ स्मृति का जनक नहीं है—इस प्रकार कहने से अपने कथन का ही व्याघात होगा। कार्यजनन में समर्थ है और कार्य का जनक नहीं है यह उन्मत्तप्रलाप छोड़कर और क्या कहा जा सकता है?

---

१ शब्ददर्शनात् शक्तिसंस्काराच्चार्थस्मृतौ न कश्चिद्दोषः। यदुक्तमन्यत्र-त्यादिना तदसत्। ... नाद्यः, शब्दे सादृश्यादर्शनाद्, अदृष्टस्य च कल्पने गौरवात्। अन्यत्र तु दृष्टत्वेनाकल्पनीयत्वात्।

विoप्रoसं, पृo ११४

कार्यजनन में यदि समर्थ है तब उससे कार्य होता है यही स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए यही सिद्ध हुआ कि शक्तिमान् पद अर्थ का स्मारक होता है। निष्कर्ष यही हुआ कि शब्द के साथ अर्थ का जो सम्बन्ध है यह सम्बन्ध अर्थबोधजनन-शक्तिरूप है। अव्युत्पन्न बालक को वृद्ध-व्यवहार से शक्तिरूप सम्बन्ध का ग्रह होता है और इसके फलस्वरूप कालान्तर में शब्द का श्रावण-प्रत्यक्ष होने के बाद शक्ति-विषयक-संस्कार का उद्बोध हो जाता है और इससे शब्द के द्वारा अर्थ का स्मरण भी उपपन्न हो जाता है। शब्द से पदार्थ मात्र की ही स्मृति होती है अर्थ-स्मृति के काल में पूर्वानुभव का स्मरण नहीं होता है। यदि घट-शब्द-श्रवण के बाद घटरूप अर्थ का जिस प्रकार स्मरण होता है उसी प्रकार पूर्व अनुभव का भी स्मरण हो जाय तब तो पूर्वानुभव भी घट शब्द के अर्थ घटादि के समान अर्थ हो जायेगा। अर्थात तत-तत् शब्द विषयक अनुभव भी तत्-तत्-शब्द के अर्थ रूप में गृहीत होगा जो सर्वथा अनुभव विरुद्ध है[1]।

अब इस प्रासंगिक पर्यालोचन को छोड़कर पूर्व प्रसक्त विषय का आलोचन आवश्यक है। सिद्धान्ती स्मरण विवेचक होता है यही स्वीकार करते हैं। परन्तु अख्यातिवादी स्मरणाभिमान का प्रमोष होने के कारण स्मृति विवेचक नहीं होती है यही कहते हैं। इसमें जिस स्मरणाभिमान का प्रमोष-प्रयुक्त स्मरण विवेचक नहीं होता है यह प्राभाकर मानते हैं उस स्मरणाभिमान का स्वरूप क्या है इसके निर्वचन करने के लिए पूछा गया था—क्या पूर्वानुभव-विशिष्टत्वेन अर्थ का ग्रहण स्मरणाभिमान है? पूर्वोक्त विचार से यह सिद्ध हो गया कि पूर्वानुभव स्मृति का विषय नहीं हो सकता है। कारण, पूर्वानुभव को स्मृति का विषय मानने पर वह भी घटादि अर्थ के समान घटादि शब्द का अर्थ हो जायेगा इसलिए पूर्वोक्त चतुर्थ विकल्प भी असमीचीन है। पूर्वानुभव शब्द के श्रावण-प्रत्यक्षजन्य अर्थ-स्मृति भी विषय नहीं हो सकती है। इसी विषय के प्रदर्शन के लिए यह पूर्वोक्त विश्लेषण किया गया और इसी में चतुर्थ विकल्प भी तिरस्कृत हो गया।

---

१ न द्वितीयः, अनुभूयमानस्यापलापायोगात्। न तृतीयः, शक्तस्य कार्याजनकत्वे व्याघातापत्तेः। तस्माच्छक्तिमन्ति पदानि अर्थेषु स्मृतिं जनयन्त्येव। नहि तत्रार्थैः सह पूर्वानुभवाः स्मर्यन्ते। अन्यथा घटादिवदनुभवानामपि तत्तच्छब्दार्थत्वं प्रसज्येत। वि०प्र०सं०, पृ० ११४–११५

पूर्वोक्त पंचम प्रकार का जो विकल्प प्रदर्शित किया गया है वह भी समीचीन नहीं है। (स्वगत एवं किंचित स्मृतिविशेपः) अर्थात् स्मृति-विशेप स्मरणाभिमान है। कारण, ज्ञान का अपने स्वरूप में स्वतः कोई विशेप नहीं होता है। दार्शनिक लोगों का कथन है कि—अर्थेनैव विशेपो हि निराकारणतया धियाम्, ज्ञान स्वरूपतः आकर रहित होने के कारण सामग्री अथ वा विपयादि उपाधि छोड़कर उसमें किसी प्रकार विशेप उपलब्ध नहीं हो सकता है। ज्ञान की सामग्री के द्वारा ही ज्ञान में विशेप अनुभव होता है, अथ वा विपयरूप उपाधिप्रयुक्त ही ज्ञान में विशेप होता है[1]।

इसी प्रकार पष्ठ और सप्तम विकल्प भी समीचीन नही है। कारण, स्मृतिकारणीभूत अनुभव का जो विपय है एवं प्राकट्यादि फल है इसके अतिरिक्त विपय एवं प्राकट्यादि फल स्मरण में नही है। इसीलिए पूर्वानुभव का जो विपय है उससे विलक्षण विपय का जो निमित्त रूप विशेप स्मरण में सम्भावित नहीं है। अर्थात् पूर्वानुभव का जो विपय है उसके विलक्षण विपय का स्मरण में भान होगा और उसकी निमित्तता स्मरणाभिमान में रहेगी यह भी सम्भावित नहीं है। इसका विश्लेपण पूर्व में ही किया है। इस प्रकार पूर्वानुभव में जो प्राकट्यादि फल है उससे विलक्षण प्राकट्यादि विशेप का जनक स्मरण नहीं होता है। कारण, स्मरण पूर्वानुभव की मर्यादा का अतिक्रम करने में असमर्थ है[2]।

इस प्रकार अप्टम विकल्प स्मरामि इस प्रकार अनुभव भी स्मरणाभिमान नहीं हो सकता है। कारण, स्मरामि यह अनुभवरूप जो स्मरणाभिमान है यह भ्रम से अतिरिक्त स्थल में भेदक रूप में सिद्ध हो तभी शुक्तिरजतादि भ्रम-स्थल में भी किसी प्रकार प्रमोपादि-प्रयुक्त विवेचक है यह स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु स्मरामि यह अनुभव कहीं भी विवेचक नहीं होता। स्मरामि इस अनुभव का स्वरूप यही है कि अनुभव वाचक शब्द का परित्याग कर स्मरण वाचक शब्द के द्वारा अनुविद्ध होकर

१ नापि पंचमः, कारणविपयाद्युपाधिमन्तरेण ज्ञानानां स्वरूपेपु क्वापि विशेपानुपलम्भात्। वि० प्र० सं०, पृ० ११५

२ नापि पष्ठसप्तमौ, अनुभवगताभ्यां ज्ञेयफलाभ्यामतिरिक्तज्ञेयफलयोः स्मृतावभावात्। वि०, प्र० सं०, पृ० ११५

प्रतीत होता है। इस स्थिति में स्मरामि इस प्रकार अनुभव के उत्पन्न होने से पूर्व ही ग्रहण और स्मरण में भेद-ग्रह नहीं हुआ तब किस॰ प्रकार स्मरामि इस प्रकार का अनुभव सम्भव हो जाता है ! स्मरामि यह जो विवेक-ग्रह हो गया है। अर्थात् स्मरामि इस अनुभव के पूर्व में ही ग्रहण के साथ स्मरण का भेद गृहीत हुआ है। यदि स्मरामि इस अनुभव के बाद ग्रहण के साथ स्मरण का विवेक स्वीकार किया जाय तब अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायगा। कारण, तब तो ग्रहण के साथ स्मरण का विवेक-ज्ञान होने से स्मरामि इस प्रकार अनुभव होगा और स्मरामि इस प्रकार अनुभव होने के बाद ग्रहण के साथ स्मरण का विवेक ज्ञात होगा अतः अन्योऽन्याश्रय दोष का प्रसंग हो जायगा। इसलिए स्मरामि इस अनुभव को स्मरणाभिमान कहकर इसका प्रमोष-प्रयुक्त-अविवेक कहना उचित नहीं है। कारण, स्मरामि यह अनुभव होने से पूर्व ही ग्रहण के साथ स्मरामि इस अनुभव को स्मरणाभिमान स्वीकार करके उसका प्रमोष-प्रयुक्त-अविवेक स्वीकार करने का तात्पर्य यही होगा कि स्मरामि इस अनुभव स्वरूप स्मरणाभिमान के बाद विवेक-ग्रह होता है यही स्वीकार करना पड़ेगा और इसका प्रमोष-प्रयुक्त-विवेक-ग्रह नहीं हो रहा है यही उनके मत में कहना पड़ेगा। परन्तु इस प्रकार कहने से अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायेगा जैसा कि पूर्व-प्रसंग में कहा गया है। फलित यही हुआ कि अख्यातिवादि-सम्मत प्रमोषणीय स्मरणाभिमान सर्वथा दुर्निरूप्य है। इसलिए स्मरण ही भेदक होता है इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है[1]।

अख्यातिवादी पुनः शंका करते हैं कि ग्रहण और स्मरण इन दोनों में यदि अर्थ मात्र ही विषय होता है, तब इन दोनों में परस्पर भेद का अभाव प्रसक्त हो

---

१ नाऽप्यष्टमः, स्मरामीत्यास्यानुभवस्याऽन्यत्र विवेचकत्वे सिद्धे सति अत्र कथंचित् प्रमोषादविवेचक इति वक्तुं शक्येतापि।.... ... ... तदित्थं प्रमोषणीयस्य स्मरणाभिमानस्य दुर्भणत्वात् स्मरणस्य विवेचकत्वं प्राप्यनोत्येव ! वि० प्र० सं०, पृ० ११५—११६

जायेगा ? कारण, दोनों ज्ञान हैं। दोनों का विषय भी समान है तब इन दोनों का भेदक कौन हो सकता है। पूर्व में ही कहा जा चुका है कि ज्ञान स्वतः निराकार है विषय के द्वारा ही उसका भेद होता है। इसलिए ग्रहण से स्मृति का भेद कराने के लिए पूर्वानुभवविशिष्ट अर्थ ही स्मृति का विषय होता है यह अद्वैतवेदान्ती को भी स्वीकार करना पड़ेगा और इस पूर्वानुभवविशिष्टअर्थ को विषय करनेवाली स्मृति ही मेरे मत में स्मरणाभिमान है। दोष-प्रयुक्त उसीका प्रमोष हो जाने से स्मरणाभिमान विवेचक नहीं होता है।

इसके उत्तर में अद्वैतवेदान्ती कहते हैं कि ग्रहण और स्मरण इन दोनों का कारण-भेद-प्रयुक्त ही भेद हो जायगा। ग्रहण का कारण है इन्द्रिय-संयोग और स्मृति का कारण है पूर्वानुभवजनित-संस्कार। यदि अख्यातिवादी कारण-भेद-प्रयुक्त ग्रहण और स्मरण का भेद स्वीकार नहीं करते हैं तब एक विशेष आपत्ति हो प्रसक्त होगी। कारण इसमे पूर्वानुभव को विषय कर जो अनुमान ज्ञान है और जो स्मृति है इन दोनों में भेद किस प्रकार होगा ? कारण, अख्यातिवादी के मत में पूर्वानुभव स्मृति का विषय हो गया और पूर्वानुभव-विषयक-अनुमान में भी पूर्वानुभव विषय हो गया है। इसके उत्तर में अख्यातिवादी कहते हैं कि स्मृति का आकार है सः और एतादृश-आकार-युक्त ही पूर्वानुभव विषयक-ज्ञानात्मक जो अनुमान है उसका स्मृति से भेद हो जायेगा। परन्तु यह कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, इसमें शंका होगी कि सः इस प्रकार जो स्मृति का आकार हो गया इसका स्वरूप क्या है ? क्या परोक्ष-देशकालादि-सम्बन्धरूपविशिष्टता है ? अथ वा संस्कार अन्यरूप है इस प्रकार प्रतीति का जनक है ? इसमें प्रथम पक्ष असमीचीन है। कारण, तब अनुमानादि में भी स्मृति का प्रसंग है, क्योंकि अनुमान ज्ञान में भी परोक्षदेशकालादिसम्बन्धरूपविशिष्टता का अनुभव सिद्ध है। द्वितीय विकल्प भी असमीचीन है। कारण, ज्ञानानुमान में भी पूर्वानुभव-सम्भिन्नता है ही, इसलिए ज्ञानानुमान में भी स्मृतित्व की प्रसक्ति हो जायेगी। तृतीय पक्ष स्वीकार कर लें तब तब तो कारण-विशेष ही स्मृति के भेदक रूप में हो गया।

यही स्वीकार करना पड़ेगा। इस पक्ष में हमलोगों को अनुपपत्ति नहीं है, किन्तु, अख्यातिवादियों को अपने मत का परित्याग करना पड़ेगा[1]।

इसमें मीमांसक पुनः शंका करते हैं कि कारण-विशेष-संस्कार-प्रयुक्त ही यदि स्मृति अनुभव से भिन्न होती है तब तो शुक्ति रजतादि भ्रमस्थल में रजत संस्कार ही रजत स्मृति का जनक होगा यही स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु अख्यातिवादियों का यह कथन अनुचित है। कारण, शुक्तिरजतादि भ्रम-स्थल में रजत पुरोऽवस्थित रूप में भासमान होता है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है। पूर्व में कहा गया है कि स्मर्यमाण विषय का पूर्व पुरोऽवस्थित रूप में प्रतिभास नहीं हो सकता है। किन्तु यह कहना भी अनुचित है। कारण, अविवेक भ्रम-प्रतीति का प्रयोजक है इसमें कोई नियम नहीं है। अर्थात् अविवेक को ही भ्रम के प्रति प्रयोजकता नहीं है। कारण, इसमें प्रश्न यही होता है कि क्या गृह्यमाण दो पदार्थों का अविवेक भ्रम का प्रयोजक है? अथवा गृह्यमाण और स्मर्यमाण का अविवेक भ्रम का प्रयोजक है? अथवा दोनों स्मर्यमाण विषय का अविवेक भ्रम का प्रयोजक है। इसमें प्रथम पक्ष समीचीन नहीं है। स्वप्न-दशा में आत्मा के अतिरिक्त किसी का भी ज्ञान नहीं रहता है। इसलिए स्वप्न काल में गृह्यमाण दोनों का अविवेक भ्रम का प्रयोजक नहीं हो सकता है। इसका फल यही होगा कि स्वप्न दशा में भ्रम का अभाव प्रसक्त हो जायेगा। इसी प्रकार द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, स्वप्न दशा में आत्मा भासमान है। इसलिए स्वप्न दशा में अनुभव विषय आत्मा के साथ स्मर्यमाण नीलादि का अविवेक होने से अहं नीलः इस प्रकार अवभास हो जायेगा। स्वप्न काल में केवल आत्मा ही भासमान रहता है, अतः, उसका पदार्थान्तर अभेद में अध्यास रहता है।

---

१ ननु गृह्यमाणस्मर्यमाणयोर्भेदाग्रहे भेदाग्रहप्रयोजकं तावत् स्मृतेः पूर्वानुभवविशिष्टार्थविषयत्वं स्वीकार्यं तदेव स्मरणाभिमानोऽस्त्विति चेद्, न; कारणविशेषादेव भेदसिद्धेः। — — न द्वितीय, ज्ञानानुमानेऽपि प्रसंगात्। तृतीये तु कारणविशेष एव भेदहेतुः स्यात्।
चि० प्र० सं०, पृ० ११७

इसलिए आत्मा के अतिरिक्त किसी विषय का अनुभव स्वप्न दशा में सम्भव नहीं है। इस प्रकार तृतीय पक्ष भी समीचीन नहीं है। कारण, स्मृति परोक्ष ज्ञान है। स्मर्यमाण दोनों पदार्थों का अविवेक ही भ्रम है, ऐसा स्वीकार करने से भ्रम में केवल परोक्ष विषय ही भासमान होता है, यही स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु, इदं रजतं इस स्थल में पुरोऽवस्थितत्व रूप में रजत का अपरोक्षावभास अनुभव सिद्ध है। इसी विषय की अवगति करने के लिए रजत-भ्रम-स्थल में इदं शब्द का प्रयोग किया जाता है। दोनों स्मर्यमाण का अविवेक भ्रम का प्रयोजक स्वीकार करने से भ्रम-ज्ञान-मात्र में ही विषय परोक्षरूप से भासित होगा। कारण, भ्रम का ही विषय अख्यातिवादी स्मर्यमाण स्वीकार करते हैं। इसलिए, यही सिद्ध हुआ कि इदं रजतं इस स्थल में पुरोऽवस्थित रजत ज्ञान का जो अख्यातिवादियों ने स्मृति रूप से यह अनुमान किया है, उसमें परोक्षावभासित्व रूप उपाधि है[1]।

अख्यातिवादी ने सभी ज्ञान को अर्थात् ज्ञान मात्र को, ही यथार्थ स्वीकार किया है और इसको सिद्ध करने के लिए अनुमान का भी प्रदर्शन किया है। इसीका प्रतिरोधानुमान इस प्रकार दिया जा सकता है विवादग्रस्त ज्ञान (भ्रान्ति-ज्ञान) यथार्थ नहीं है। कारण, वह बाध्य है। जैसे भ्रान्ति-व्यवहार[2]।

इस प्रकार उपसंहार यही होता है कि अख्यातिवादी को ज्ञान की दो राशि है, इस दुराग्रह का परित्याग कर तृतीय राशि भ्रान्ति ज्ञान का स्वीकार करना उचित है[3]।

१ अस्तु तर्हि प्रकृतेऽपि संस्कारजन्यैव रजतस्मृतिरिति चेद्, न, रजतस्य पुरोऽवस्थितत्वेन प्रतिभासादित्युक्तोत्तरत्वात्। न च पुरोऽवस्थितत्वमविवेककृतमिति वक्तुं शक्यम्, अविवेकस्य भ्रमं प्रति अप्रयोजकत्वात्।
एवं च सति प्रकृतस्य पुरोऽवस्थितरजतज्ञानस्य स्मृतित्वानुमाने परोक्षावभासित्वोपाधिर्द्रष्टव्यः। (वि० प्र० सं०, ११७—११६]

२ यथार्थानुमानस्य बाधप्रतिरोधः। विवादाध्यासिताः प्रत्ययाः, न यथार्थाः, बाध्यमानत्वाद्, भ्रान्तिव्यवहारवत् इति। वि० प्र० सं०, पृ० ११६

३ तस्माद् ज्ञानद्वैराश्यदुराग्रहं परित्यज्य तृतीयं भ्रान्तिज्ञानमङ्गीकर्तव्यम्।
वि० प्र० सं०, पृ० ११६

भामती-मत में कर्म का उपयोग

इस अध्याय में भामती और विवरणकार के मत में यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान की उपयोगिता के सम्बन्ध में पर्यालोचन करेंगे। इस प्रसंग में यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि भट्ट भास्कर आदि दार्शनिक आचार्य ज्ञान के समुच्चवादी हैं। इनलोगों के मत में कोई तृतीय आश्रम नहीं है। इन प्राचीन आचार्यों का यही सिद्धान्त है कि अग्निहोत्रादि के अनुष्ठान के अन्तराल में ही ब्रह्मभावना के द्वारा मोक्ष होता है। यह ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद अतिशय प्राचीन है। योगवासिष्ठरामायण में जैसे कहा गया है दो पक्षों से पक्षियों की गति होती है, वैसे ज्ञानकर्म इन दोनों से मनुष्य की गति होती है। (उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथाखे पक्षिणां गतिः)

वस्तुतः इस ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का मूल छान्दोग्योपनिषद् के द्वितीय अध्याय का तेइसवां खण्ड है—तीन धर्मस्कन्ध हैं। यज्ञ अध्ययन और दान यह प्रथम है, तप द्वितीय है, ब्रह्मचर्य के साथ आचार्य कुलवासी तृतीय है। अपने को सर्वथा आचार्य कुल में रखकर इन सभी पुण्यलोकों को प्राप्त करता है। ब्रह्मसंस्थ अमृतत्व—मोक्ष को प्राप्त करता है[1]। ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी आचार्यों ने प्रदर्शित स्थल में—ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति इस श्रुतिवाक्य के अर्थ प्रदर्शन के प्रसंग में कहा है कि अग्निहोत्रादि के अन्तराल में ब्रह्मसंस्थ होने से अमृतत्व (मोक्ष) लाभ होता है। इस प्रसंग में शंकराचार्य ने कहा है कि पूर्वोक्त तीन प्रकार के धर्मस्कन्धों के द्वारा लोक वा स्वर्ग साध्य होता है। ब्रह्मसंस्थ को अन्य किसी लोक की प्राप्ति नहीं रह रह जाती है। अतः, इस ब्रह्मसंज्ञ-दशा से कर्म नहीं है। फलतः, इस दशा में भाष्यकार के मत में ब्रह्मसंस्थ आदि वाक्य चतुर्थ अवस्था का निर्देश करता[2] है। इस विषय में न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने विस्तृत आलोचना के साथ शंकराचार्यके मत का ही समर्थन किया है।

---

१ त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासीऽतृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले वासादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥१॥ छा० उ०. पृ० ४०४

२ ... तुरीयां ब्रह्मसंस्थः ब्रह्मणि सम्यक् स्थितः सोऽमृतत्वं पुण्यलोक-विलक्षणममरणभावमात्यन्तिकमेति नापेक्षिकं देवाद्यमृतत्ववत्। छा० शां०भा०, पृ० ४०५

अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त में विद्या अथवा तत्त्वज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा गया है। किसी-किसी आचार्य ने कहा है कि विद्या अथवा तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का स्वरूप है। पूर्वोक्त मत में मोक्ष के साथ तत्त्वज्ञान का ही जन्य-जनकभाव किया जाता है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी का कहना है कि केवल विद्या के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होगी ! ब्रह्मप्राप्ति के साधनों में कर्म का भी, श्रुति एवं स्मृति में प्रतिपादन किया गया है। जैसे—मोक्षप्राप्ति का साधन ज्ञान और कर्म कहा गया है। विद्या और अविद्या इन दोनों को जो जानता है, वह अविद्या (कर्म) से मृत्यु का सन्तरण कर विद्या से अमरत्व को प्राप्त करता है। उचित ढंग से धन अर्जन करनेवाला, तत्त्वज्ञानी अतिथि-प्रिय, श्राद्धकरनेवाला और सत्यवादी गृहस्थ भी मुक्त होता है।[1]

किन्तु ज्ञानकर्मसमुच्चयवादियों की यह शंका सर्वथा निर्मूल नहीं है। ज्ञानातिरिक्त अन्य साधना मोक्ष के लिए नहीं है[2] आदि श्रुतियाँ ब्रह्मावाप्ति में साधन का अभाव सूचित करती हैं। साधनान्तर के निषेध का कारण यही है कि ब्रह्म नित्यप्राप्त है, क्योंकि, ब्रह्म और जीव भिन्न वस्तु नहीं है—जीव ही ब्रह्म है। अविद्या के द्वारा प्राप्त ब्रह्म ही अप्राप्तरूप रहता है अव्यवहित भी व्यवहित प्रतीत होता है : देश और काल के द्वारा ब्रह्म व्यवहित नहीं हो सकता है। नित्य-प्राप्त ब्रह्म है। अविद्या के कारण अप्राप्तरूप में प्रतीत हो रहा है। अतः अविद्या की निवृत्ति कराने के लिए ही विद्यारूप साधन का उपयोग अपेक्षित है। यदि ब्रह्मावाप्ति साध्य हो तब तो साधनान्तर की अपेक्षा भी हो सकती थी। नित्य-प्राप्त-वस्तु अप्राप्त कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में वेदान्तियों ने एक दृष्टान्त का प्रदर्शन किया है-- जैसे कण्ठस्थ कनकमाला प्राप्त रहने पर भी कदाचित् विस्मृति के कारण अप्राप्त मालूम होती है। ग्रीवास्थित प्राप्त माला स्मरण के

---

१ यद्प्राप्तिहेतुर्विज्ञानं कर्म चोक्तं महामुने विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः। श्राद्धकृत सत्यवादी च गृहस्थोऽपीह मुच्यते ॥

याο स्मृ०, पृ० ३६७

२ नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय श्वे० ३। १५

वाद प्राप्त के समान प्रतीत होती है। पूर्वोक्त श्रुति का तात्पर्य यही है कि कर्म का ब्रह्मावाप्ति में परम्परया अपेक्षा होने पर भी साक्षात् उपयोग नहीं है।

अब यह विचारणीय प्रश्न है कि परम्परा रूप से भी ब्रह्मावाप्ति में कर्म का उपयोग कैसे होता है? इसके उत्तर में भामतीकार एवं उनके अनुयायी आचार्यों का कथन है कि ब्रह्मावाप्ति के उपायभूत विविदिषा में कर्म का उपयोग है। विविदिषा के द्वारा में ब्रह्मज्ञान की साधनता है। कर्म के द्वारा कर्म को लेकर मोक्ष-पर्यन्त निम्नलिखित रूप में सोपान-परम्परा प्रदर्शित की जा सकती है। यज्ञादि कर्मानुष्ठान के द्वारा चित्त की प्रत्यक् प्रवणता (चित्तशुद्धि) द्वितीय विविदिषा तृतीय वेदन चतुर्थ मोक्ष है। इस अभिप्राय की प्रतिपादिका श्रुति भी मिलती है। इस आत्मा को वेदाध्ययन, दान एवं शरीर के अनाशक तप के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं[1]। यह श्रुति स्पष्टरूप से प्रतिपादन करती है कि कर्मानुष्ठान के द्वारा विविदिषा उत्पन्न होती है और उसके द्वारा विद्या सम्पन्न होकर ब्रह्मावाप्ति होती है। गूढ़ आशय यह है कि कर्मानुष्ठान के द्वारा ब्रह्मवेदन की इच्छा होने से (ब्रह्मविषयिणी ज्ञानेच्छा होने से) अनन्तर ज्ञानोदय-पूर्वक ब्रह्मवाप्ति होती है। कारण यज्ञादिकर्म केवल वेदनेच्छारूप क्रिया का साधन है, इससे ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए मोक्ष में कर्म का परम्परा रूप में और ज्ञान का साक्षात् उपयोग होता है। अर्थात् मोक्ष होता है। यह श्रुतिशतपथब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् की है। शतपथ ब्राह्मण के पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) में जिन कर्मों का विषय कहा गया है उन्हीं कर्मों का इस श्रुति के द्वारा संकलन किया गया है। यज्ञ दान और तप को छोड़कर अन्य कोई कर्म नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि विविदिषा पद विद्धातु से इच्छा अर्थ में सन् प्रत्यय कर सिद्ध हुआ है। विद् धातु का अर्थ वेदन है प्रकृत स्थल में इष्यमाण ही वेदन ही अर्थतः प्रधान है। जहाँ इच्छा प्रत्यय का अर्थ होता है वहाँ प्रकृति का इष्यमाणविषयिणी इच्छा है, अतः, शब्दतः प्राधान्य प्रत्यय के अर्थ का ही है। प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ का ही प्राधान्य रहता है (प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्) जैसे अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इस सूत्र घटक जिज्ञासा

---

१ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन। बृ० उ०, ४।४।२२

पद में सन् प्रत्यय का अर्थ इच्छा है, किन्तु, यहाँ इष्यमाण ज्ञान है।अतः, अर्थतः ज्ञान का ही प्राधान्य रहता है। व्याकरण के अनुसार शब्दतः ज्ञान का ही प्राधान्य रहता है। व्याकरण के अनुसार शब्दतः प्रत्यय के अर्थ का ही प्राधान्य है।

इस प्रसंग में पूर्वपक्षी का कथन है कि यागादि कर्म इच्छा का साधन न होकर प्रधान वेदन का साधन क्यों नहीं होता है ?

इसके समाधानमें मण्डनमिश्र एवं भामतीकार कहते हैं कि पदार्थ के अन्वय में अर्थतः प्राधान्य अकिंचित्कर है जैसे **राजपुरुषमानय**[1] इस वाक्य में अर्थतः प्राधान्य राजा में रहने पर पुरुष का ही प्राधान्य ग्रहण किया जाता है, इसी तरह प्रकृत स्थल में भी इष्यमाण का ही जो शब्दतः प्रधान है उस प्रधान में अन्वय समझना चाहिए—प्राधान्य प्रत्ययार्थ होने से इच्छा प्रत्ययार्थ होने से इच्छा का प्राधान्य रहता है। यज्ञ का इच्छा के साधन के रूप में विधान होता है। इसमें और भी एक विषय विचारणीय है कि भाष्यकार शंकराचार्य ने सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् । ३ । ४ । २६ सूत्र के भाष्य में कहा है कि शमदमादि विद्या (वेदन) का साधन है। अर्थात् शमदम आदि ज्ञान के साधन है, इसीलिए वे ज्ञान के समीप (अन्तरंग) एवं विविदिषा (अन्तरंग) एवं विविदिषा (जिज्ञासा) के साधन कर्म है शमदमादि को अपेक्षा कर ज्ञान के बहिरंग (विप्रकृष्ट) है[2]।

पूर्वोक्त सूत्र में भाष्य का व्याख्यान प्रदर्शन करते हुए भामतीकार ने कहा है कि चार प्रकार का ज्ञान ब्रह्म में होता है—इसको मनन कहा जाता है।

---

१ वस्तुतः प्रधानस्यापि वेदनस्य प्रकृत्यर्थत्वात् शब्दतो गुणत्वात् इच्छायाश्च प्राधान्यात् प्रधानेन च कार्यसम्प्रत्ययात्। नहि राजपुरुषमानयेत्युक्ते वस्तुतः प्रधानोऽपि राजा पुरुषविशेषणतया शब्दत उपसर्जन आनीयतेऽपि पुरुष एव शब्दतस्तस्य प्राधान्यात्। भा०,पृ० ६१

१ तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन (बृ० ४।४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधनभावं दर्शयति। विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते। ब्र० सू० शा०, पृ० ८१८

तृतीय—अनवरत चिन्ता के द्वारा होता है, जिसको निदिध्यासन कहा जाता है। चतुर्थ ज्ञान साक्षात्कारात्मक वृत्तिरूप है। इसके अतिरिक्त कैवल्य में व्यवधान नहीं है। पूर्व दो ज्ञान श्रवण एवं मनन, पद एवं पदार्थ के ज्ञान-कर्ता को, एवं वाक्यगति का ज्ञान जिसको है—उसको होता है, अतः, इसमें कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। ये ही दोनों ज्ञान चिन्तामय तृतीय ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, अतः, वहाँ भी कर्म की अपेक्षा नहीं होती है। यही ज्ञान आदरपूर्वक निरन्तर दीर्घकाल तक सेवन से साक्षात्कारात्मक ज्ञान उत्पन्न करता है, अतः, इस चतुर्थ ज्ञान में भी कर्म की अपेक्षा नहीं है। इस तरह विद्या की उत्पत्ति में एवं कार्य में कर्म की अपेक्षा नहीं है। यह पूर्वपक्ष कर समाधान में यह कहा गया है ज्ञान की उत्पत्ति में विविदिषा के उत्पादन के द्वारा कर्म की अपेक्षा है, कारण, विविदिषन्ति यज्ञेन इस श्रुति के अनुसार यज्ञ की (कर्म की) विविदिषा में उपयोगिता कही गई है[1]।

उपसंहार भाष्य में कहा है कि विद्यासंयोग से ज्ञान के साधन शमदम आदि प्रत्यासन्न साधन हैं और विविदिषा के संयोग से यज्ञादि बाह्यतर साधन हैं[2]। इस भाष्य के व्याख्यान में भामतीकार ने कहा है आश्रमकर्मों का विविदिषा के उत्पादन के द्वारा ही विद्या की उत्पत्ति में उपयोग है विद्या कार्य में नहीं है[3]।

यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि विविदिषा के लिए जो यागादिकर्मों का अनुष्ठान करेगा उस पुरुष को पूर्वोक्त वेदनविषयिणी इच्छा अनुष्ठान से पूर्व में ही है, यह अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। वेदन-विषयिणी इच्छा को यदि यज्ञादि-कर्मों की अपेक्षा पूर्वसिद्ध स्वीकार नहीं किया जाय तो उसका अभाव ही स्वीकार करना पड़ेगा और इसका फल यह होगा कि वेदन के उपायभूत विविदिषा में कामना सम्भव नहीं होगी। इस अवस्था में विविदिषा के लिए यागादि कर्मों का

---

१ अपि च चतस्रः प्रतिपत्तयो ब्रह्मणि प्रथमा तावदुपनिषद्वाक्यश्रवणमात्राद् भवति, यं किलाचक्षते श्रवणमिति। द्वितीया मीमांसासहिता तस्मादेवोपनिषद्वा क्याद्यामाचक्षते मननमिति ... ...उत्पत्तौ ज्ञानस्य कर्मापेक्षा विद्यते विविदिषोत्पादद्वारा, विविदिषन्ति यज्ञेन इति श्रुतेः।
भाम०, पृ० ८६८

२ शां० भा०, पृ० ६००

३ तस्माद्विविदिषोत्पादद्वारा आश्रमकर्मणां विद्योत्पत्तावुपयोगो न विद्याकार्य इति सिद्धम्।
भा०, पृ० ६००

अनुष्ठान सम्भव नहीं होगा। अतः यागादि के अनुष्ठान से पूर्व ही वेदनविषयिणी इच्छा सिद्ध है, अन्यथा, यज्ञादिकर्मों का विविदिषा में किसी प्रकार भी विनियोग सम्भव नहीं है। फलित यही हुआ कि यागादि अनुष्ठान के पूर्व ही यह वेदन-विषयिणी-इच्छा सिद्ध है।

विविदिषा को यागादि से पूर्व ही सिद्ध मानने पर यागादि के द्वारा क्या सिद्ध करना अपेक्षित रहेगा? कारण विविदिषा का साधन याग है। विविदिषा याग से साध्य है और वह साध्य विविदिषा साधनरूप याग से पूर्व ही सिद्ध है, अतः, यह साध्य नहीं होगी। यदि विविदिषा (वेदनविषयिणी इच्छा) को याग से पूर्वसिद्ध स्वीकार नहीं करें तो वेदन याग से सिद्ध हो—यह कामना न होने से याग में प्रवृत्ति नहीं होगी कारण ब्रह्मज्ञानेच्छा की याग से पूर्व सिद्धि न होने पर ब्रह्मज्ञानेच्छा उत्पन्न हो (ब्रह्मज्ञानेच्छा जायताम्) यह इच्छा भी नहीं होगी, अतः, विविदिषा को याग से पूर्व सिद्ध माने या इसको याग से पूर्व सिद्ध न माने उभयथा याग का विविदिषा में विनियोग नहीं प्राप्त होगा[1]। आशय यह है कि वेदनेच्छा को यज्ञादि का फल मानने पर वेदनेच्छा विषयिणी इच्छा से ही यज्ञादि का अनुष्ठान स्वीकार करना पड़ेगा। वेदनेच्छा को स्वतः सिद्ध मानने पर फल नहीं होगा, अतः, वेदनद्वारा मुक्ति को ही यागादि का फल मानना होगा। इसका क्रम निम्नलिखित रूप में स्वीकार करना होगा—मुक्ति में स्वतः पुरुषार्थत्वज्ञान होने से मुक्ति की इच्छा होगी, अनन्तर वेदन में मुक्ति की साधनता का ज्ञान होने से वेदन की इच्छा होगी, अनन्तर वेदनेच्छा में वेदन की साधनता ज्ञान होने से वेदनेच्छा की इच्छा होगी और इस वेदनेच्छा से यज्ञादि का अनुष्ठान नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि विविदिषा फल वेदन में कामना के न रहने पर विविदिषा के उद्देश्य से यज्ञादि का अनुष्ठान सम्भव नहीं है[2]।

---

१ ननु विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठातुर्वेदनगोचरेच्छावत्त्वे विविदिषायाः सिद्धत्वेन तदभावे वेदनोपायविविदिषायां कामनासम्भवेन च विविदिषार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानायोगाद् न यज्ञादीनां विविदिषायां विनियोगः युक्त इति।

सि० लें० सं०, पृ० ४०३ ४०४

२ वेदनेच्छाया यज्ञादिफलत्वे वेदनेच्छागोचरेच्छायां यज्ञानुष्ठानं वाच्यम्। वेदनेच्छायाश्च स्वतः फलत्वाभावाद्वेदनद्वारा मुक्तिफलत्वं वाच्यम्। तथा चायं क्रमः—प्रथमं मुक्तौ स्वतः पुरुषार्थज्ञानादिच्छा, ततो .... तथा च यज्ञाद्यनुष्ठानमिति। कृष्णा०, पृ० ४०३

पूर्वपक्षी का यह कथन समीचीन नहीं है। इसका समर्थन इस दृष्टान्त से भी होता है—लोक में देखा जाता है कि जिसके मन में अरुचि हो जाती है उनका शरीर कृश हो जाता है। इस कृशता को हटाने के लिए अन्यविषयिणी उत्कण्ठा रूप इच्छा रहती है। परन्तु उत्कट अजीर्णता के कारण वात, पित्त एवं कफ में विषमता हो जाने से अन्न में प्रवृत्ति कराने के लिए रुचि की उत्पत्ति नहीं होती है। अन्न में रुचि उत्पन्न कराने के लिए औषधि का विधान किया जाता है। प्रकृत स्थल में पूर्व-जन्म में जिस पुरुष ने फल-निरपेक्ष होकर निर्निमित्तिक--कर्मों का अनुष्ठान किया है इसके फलस्वरूप उस पुरुष के मन अर्थात् चित्त में निर्मलता उत्पन्न होती है और इसीकी महिमा से ब्रह्मनिरतिशय आनन्दरूप है एवं उसकी प्राप्ति में विद्या साधन है, इसमें विश्वास की दृढ़ता होती है। अतः, ऐसे पुरुष को ब्रह्मावाप्ति के लिए उत्कण्ठा और इच्छा रहती है, परन्तु आदिकाल से प्राप्त अन्य परम्परा से संचित बहुप्रकार के पापरूपदोष ही विषय-भोग-कौशल उत्पन्न करा देते हैं। पूर्वोक्त पापदोष की प्रतिबन्धकता होने से विद्या (तत्त्वज्ञान) के साधन श्रवणादि में प्रवृत करानेवाली रुचि रूप इच्छा उत्पन्न नहीं होती है। इस प्रतिबन्धक को हटाकर श्रवणादि में प्रवृत्ति होने की रुचिरूप को सम्पादन कराने के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान होता है। श्रवणादि में प्रवर्त्तक रुचिरूप इच्छा का सम्पादक ही यज्ञादि का अनुष्ठान है। अत एव पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य में विविदिषा के लिए यज्ञादि का विधान किया गया है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य विषय है कि इच्छा दो प्रकार की होती है—(१) औत्कण्ठ्यरूप (२) रुचिरूप। औत्कण्ठ्यरूप इच्छा प्रवृत्ति की जनक नहीं है, रुचिरूप इच्छा प्रवृत्ति की जनक होती है। अत एव अनेक लक्षण इच्छा के रहने पर भी रुचि लक्षण इच्छा के न रहने से श्रवणादि में प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए इस रुचि लक्षण इच्छा के उत्पादन करने के लिए यज्ञादि का उपयोग है[1]।

---

१ अन्नदोषेण कार्श्यं प्राप्तस्य तत्परिहारायान्य ... ...
विद्यासाधने श्रवणादौ प्रवृत्तिपर्यन्ता रुचिर्न जायत इति प्रतिबन्धनिरासपूर्वं तत्सम्पादनयज्ञादिविधानोक्तेरिति। सि० ले० सं०,पृ० ४०४

वाचस्पति मत का निष्कर्ष

इस मत में यज्ञादि कर्म, ब्रह्मज्ञान का साधन जो श्रवण है, उसमें रुचि उत्पन्न कर देता है। पूर्व प्रदर्शित वाचस्पति-मत सिद्धान्तलेश के अनुसार है। किन्तु सिद्धान्तलेश में जो शंका-समाधान दिखाया गया है, उसमें पूर्ण सन्तोष नहीं होता है। पूर्व में जो वाचस्पति का मुख्य सिद्धान्त कहा गया—यज्ञादि कर्म विविदिषा में अर्थात् वेदन इच्छा में ब्रह्मज्ञान के साधन श्रवणादि में इच्छा उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं दीक्षित जी की भाषा का अनुसरण करने पर तो एक सीढ़ी और पीछे हटना पड़ेगा। भाषा के अनुसार यज्ञादि कर्म, ब्रह्मविद्या का साधन जो श्रवण, उस श्रवण में जो प्रवृत्ति है, उस प्रवृत्ति में रुचिरूप इच्छा, उसको उत्पन्न करना है।

हमलोगों का विचार है कि वाचस्पति का मत सर्वथा विचारसह है। कारण, वाचस्पति के मत में स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यह विधि अर्थज्ञान पर्यवसायी है। इसलिए-वेदाध्ययन के समय में ही ब्रह्म सातिशय आनन्दरूप है एवं उसकी प्राप्ति का साधन विद्या है—यह ज्ञान हो गया था। इसके बाद विधिविहित यज्ञादि धर्मानुष्ठान के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञान विषयिणी इच्छा उत्पन्न हुई है। इस ज्ञान का साधन श्रवण है। अत एव ज्ञान के साधन श्रवण में प्रवृत्ति-साध्य ब्रह्मज्ञान के निष्पादन के लिए ही हो जायेगी, इसके लिए कर्म के उपयोग की आवश्यकता नहीं है। श्रवण में प्रवृत्ति कराने के लिए विविदिषन्ति इस उपनिषद् वाक्य का उपयोग नहीं है, अन्यथा श्रवणरूपसाधन में ही यज्ञानुष्ठान का उपयोग है और शमदमादि-साधन-चतुष्टय में विविदिषन्ति का उपयोग नहीं है। इसमें कोई कारण अवगत नहीं होता है।

वाचस्पति के मत में कर्म को ज्ञान का साक्षात् साधन न कहकर इच्छा का ही साधन कहा है। इसमें वाचस्पति का गूढ़ अभिप्राय यह है कि कर्म को ज्ञान का साक्षात् साधन कहा जाय तो ज्ञानोदयपर्यन्त कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा। इसका परिणाम यह होगा कि सर्व-कर्मत्यागरूप सन्न्यास का लोप हो जायेगा। कारण सन्न्यास के बाद ही तत्त्वज्ञान होगा।

इसमें यह ध्यान देने योग्य विषय है कि इच्छा दो प्रकार की है, औत्कण्ठ्य-रूप इच्छा प्रवृत्ति की जनक नहीं है, वरन्, रुचि रूप इच्छा प्रवृत्ति की जनक होती है। अत एव औत्कण्ठ्य लक्षण इच्छा रहने पर भी रुचि लक्षण इच्छा नहीं

है, इसलिए पुरुष की रुचि लक्षण इच्छा उत्पादन करने के लिए यज्ञादि का उपयोग हो जायेगा। यही वाचस्पति के मत का संक्षिप्त निष्कर्ष है।

फलित यह हुआ कि—यज्ञादि कर्म का वाचस्पति के मत में ब्रह्म ज्ञान का साधन जो श्रवण उसका उत्पन्न करना है।

भामती-मत की समीक्षात्मक विवेचना

यह प्रदर्शित शंका-समाधान हमलोगों ने सिद्धान्तलेश में निर्धारित भामती-कार के मत के अनुसार दिखाया है, परन्तु, सिद्धान्तलेश में जो शंका-समाधान दिखाया गया है, उसमें हमलोगों को सन्तोष नहीं है। पहले वाचस्पति का मुख्य सिद्धान्त कहा गया यज्ञादि कर्म विविदिषा में अर्थात् वेदन इच्छा में साधन है। अभी अप्पयदीक्षित कहना चाहते हैं कि यज्ञादि कर्म वेदन अर्थात् ब्रह्मज्ञान का साधन श्रवणादि में इच्छा उत्पन्न करता है। इतना ही नहीं दीक्षितजी की भाषा का अनुसरण करने पर एक सीढ़ी और भी अलग हटना पड़ेगा। इनके अनुसार ब्रह्मविद्या की रुचि का साधन कर्म का अनुष्ठान नहीं होगा, वरन् ब्रह्म विद्या साधन जो श्रवण उस श्रवण में जो प्रवृत्ति, उस प्रवृत्ति में रुचि रूप इच्छा का साधन धर्मानुष्ठान होगा।

हमलोगों का यही विचार है कि वाचस्पति का सिद्धान्त सर्वथा विचार-सह है, कारण वाचस्पति के मत में **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** यह विधि अर्थ-ज्ञान-पर्य्यवसायी है। इसलिए वेदाध्ययन के समय ही पुरुष को निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्म है और उसकी प्राप्ति का साधन विद्या है यह ज्ञान हो गया था। इसके बाद विधिविहित यज्ञादि कर्मानुष्ठान के फलस्वरूप ब्रह्मज्ञानविषयिणी इच्छा उत्पन्न हुई है। इस ज्ञान का साधन श्रवण है। अत एव ज्ञान के साधन श्रवण में प्रवृत्ति साध्यज्ञान के निष्पादन कराने के लिए हो जायेगी। इसके लिए कर्म के उपयोग की आवश्यकता नहीं है। श्रवण में प्रवृत्ति कराने के लिए **विविदिषन्ति** इस उपनिषद् वाक्य का उपयोग नहीं है। अन्यथा श्रवणरूप साधन में ही अनुष्ठान और शमदमादिसाधन-चतुष्टय में ही **विविदिषन्ति** का उपयोग नहीं है, इसमें कोई कारण ज्ञात नहीं होता है।

वाचस्पति के मत में कर्म को ज्ञान का साक्षात् कारण नहीं कहकर इच्छा का ही साधन कहा है। इसमें वाचस्पति का गूढ़ अभिप्राय यह है कि कर्म को ज्ञान का

साक्षात् साधन कहा जाय तो ज्ञानोदय-पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा और इसका फल यह होगा कि सर्वकर्मत्याग रूप सन्न्यास का लोप हो जायेगा कारण सन्न्यास के बाद ही तत्त्वज्ञान होगा।

कर्म का उपयोग और विवरणमत

विवरणाचार्य का कथन है कि **तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति** इस श्रुतिवाक्य का आक्षरिक अर्थ ग्रहण करने पर वेदाध्ययन, यज्ञ, दान तप आदि कर्म विविदिषा के साधन है—यही अर्थ अवगत होता है। किन्तु श्रुतिवाक्य का इस आक्षरिक अर्थ में तात्पर्य नहीं है। इच्छा का विषय यह विविदिषा शब्द का अर्थ प्रकृत में ज्ञानविषयिणी इच्छा है। अतः, ज्ञान इच्छा का विषय है। इस विश्लेषण से श्रुतिवाक्य के द्वारा यह अवगत होता है कि वेदोक्तकर्म इच्छा का साधन नहीं वरन् इच्छा का विषय जो ज्ञान उसी का साधन है। इस प्रसंग में एक लौकिक वाक्य का दृष्टान्त भी उपलब्ध है।—लोक में **अश्वेन जिगमिषति** यह वाक्य उपलब्ध होता है। इस वाक्य का आक्षरिक अर्थ स्वीकार करने पर अश्वगमनविषयिणी इच्छा का साधन है—यही अर्थ आपाततः प्रतीत होगा। इसी प्रकार **शस्त्रेण जिघांसति** इस वाक्य के द्वारा शस्त्र हननविषयिणी इच्छा का साधन है—यही आक्षरिक अर्थ प्रतीत होगा। किन्तु विचार करने से यह अवगत हो जाता है कि इन वाक्यों के प्रयोगकर्ता का इन अर्थों में तात्पर्य विवक्षित नहीं है। इच्छा का विषय जो गमन उनका साधन अश्व है एवं इच्छा का विषय जो हनन उसका साधन अस्त्र है—ये ही अर्थ विवक्षित अर्थ हैं। इस दृष्टिभंगी से देखा जाय तो यह सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त लौकिक वाक्यों के ये ही विवक्षित अर्थ हो सकते हैं। इन लोक-वाक्य के समान ही कर्म, इच्छा का विषय जो ज्ञान उसका साधन है---यही इस श्रुति-वाक्य का विविक्षित अर्थ प्रतीत होता है।

वाचस्पतिमिश्र ने अपने मत के समर्थन-प्रसंग में कहा कि---यदि कर्म को ज्ञान का साधन स्वीकार किया जाय तब तो ज्ञान के उदयकाल तक कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा और इसके फलस्वरूप कर्मन्यासरूप सन्न्यास का सर्वथा लोप ही प्रसक्त होगा।

इस आपत्ति के समाधान में विवरण के अनुयायी आचार्यों के कथन के अभिप्राय को, अप्पयदीक्षित ने अपने सिद्धान्तलेशसंग्रह नामक ग्रन्थ में इन शब्दों से व्यक्त किया है।—क्षेत्र में बीज के निक्षेप करने से पूर्व क्षेत्र का कर्षण किया जाता है और बीज वपन के बाद क्षेत्र का अकर्षण किया जाता है। इस क्षेत्र के कर्षण और अकर्षण से व्रीहि आदि की उत्पत्ति होती है। प्रकृत में प्रदर्शित दृष्टान्त के समान ही कर्म और कर्मन्यास के द्वारा ज्ञान की निष्पत्ति होती है। कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि जबतक नहीं होती है तबतक ब्रह्मविषयिणी जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती है, अतः जिज्ञासा की उत्पत्ति होने तक कर्मों का अनुष्ठान अपेक्षित रहता है। जिज्ञासा की उत्पत्ति हो जाने के बाद यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान का त्यागरूप सन्न्यास ही विधेय है[1]। यही कारण है कि भाष्यकार आचार्य शंकर ने अपने भाष्य के तृतीयाध्याय में कर्मादि को छोड़कर शम दम आदि को ही ज्ञान की उत्पत्ति में अन्तरंग साधन कहा है। वाचस्पति के मत में कर्म को विविदिषा (ज्ञानविषयिणी इच्छा) का साधन और विवरणाचार्य के मत में कर्म को ज्ञान का साधन स्वीकार किया गया है। इन मतों में विचारणीय विषय यह है कि दोनों आचार्य इस अंश में एक मत हैं विविदिषा की उत्पत्ति के पूर्वकाल तक ही कर्मों का अनुष्ठान प्रवृत्त होता है। विविदिषा की उत्पत्ति हो जाने के परवर्तिकाल में शमदमादिपूर्वक कर्मसन्न्यास कर श्रवणादि का अनुष्ठान ही विधेय है। विविदिषा के परवर्तिकाल में किसी कर्म का अनुष्ठान नहीं होता है---यहाँ तक दोनों ही आचार्य एकमत हैं।

इस प्रसंग में सिद्धान्तलेशकार ने स्वयं ही एक आपत्ति का उत्थापन किया है---विवरणकार और भामतीकार के मत में यदि विविदिषा की उत्पत्ति के पूर्वकाल में कर्म की अवश्य अनुष्ठेयता रहे और इसके अनन्तर उसकी अनुष्ठेयता नहीं रहे, तब तो दोनों आचार्यों का ऐकमत्य हो रहेगा। ऐसी स्थिति में टीकाकार दोनों में मतभेद प्रदर्शन क्यों करते हैं? इसका आशय यह है कि वाचस्पति मिश्र ने कर्म का फल विविदिषा कहा है और विवरणकार ने कर्म का फल ज्ञान

१ अश्वेन जिगमिषति-असिना जिघांसति, इत्यादिलौकिकप्रयोगे अश्वादिरूपसाधनस्य, तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यं मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इत्यादिवैदिकप्रयोगे तव्यार्थभूतविधेश्च सन्प्रत्ययाभिहितेच्छाविषये एव गमनादावन्वयस्य व्युत्पन्नत्वाच्च प्रकृत्यर्थाभिहितायां क्रियायां यज्ञादीनां विनियोगः। सि० ले० सं,० पृ० ४०३ कु०, पृ० ४०६

कहा है। यह लोक-व्यवहार से सर्वथा सुस्पष्ट है कि फल की निष्पत्ति हो जाने के बाद मनुष्य उस फल के साधन का परित्याग कर देता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वाचस्पति के सिद्धान्तानुसार जब तक विविदिषा की निष्पत्ति नहीं होती है तबतक कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा। विवरणानुसारी आचार्यों के सिद्धान्तानुसार विविदिषा के परवर्तिकाल में भी जबतक ज्ञान का उदय नहीं होता है तबतक कर्म का अनुष्ठान करना पड़ेगा। इस प्रदर्शित-रीति से देखने पर दोनों मतों का भेद सर्वथा अनपह्नवनीय है[१]।

वाचस्पति मिश्र के सिद्धान्तानुसार जब पुरुष ब्रह्मवेदनेच्छु हो गया (विविदिषा हो गई) तब यह कर्मों का त्याग कर देगा और विवरण के अनुसार जबतक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है तबतक ब्रह्म-वेदनेच्छु-पुरुष आलस्यादि-शून्य होकर कर्मों का अनुष्ठान करता रहेगा। पूर्वदृष्टिकोण से यदि यही स्वीकार किया जाय कि वाचस्पति और विवरणकार के मत में विविदिषा की निष्पत्ति के बाद कर्म का त्याग होता है तब दोनों मतों में किसी प्रकार का भेद लक्षित नहीं होता है और प्रदर्शित दृष्टिभंगी से देखने पर तो उभयमत में भेद अवश्य ही व्यक्त होता है[२]। इस प्रसंग में यह भी विषय ध्यान देने योग्य है—यद्यपि विवरणकार और वाचस्पति मिश्र इस विषय में एकमत हैं कि विविदिषा उत्पन्न होने से पूर्वकाल-पर्यन्त ही कर्म का अनुष्ठान होता। तथापि के भेदइन दोनों आचार्यों के मत में कर्म का फल सर्वथा विभिन्न है। भामतीकार के सिद्धान्तानुसार कर्म का फल विविदिषा है, अतः, विविदिषा की निष्पत्ति हो जाने के बाद अनुष्ठित-कर्मजन्य-अपूर्व (अदृष्ट) का नाश हो जाता है। कारण, विविदिषा को उत्पन्न करके ही वह फल प्राप्ति हो जाने के कारण चरितार्थ हो जाता है। किन्तु, मात्र विविदिषा की निष्पत्ति से क्या होगा? कारण, जबतक ज्ञान सामग्री का समवधान नहीं होता है तबतक ज्ञान का उदय हो ही नहीं सकता है। कर्मजन्य-अपूर्व तो विविदिषा उत्पादन कर ही निवृत्त-व्यापार हो गया। वाचस्पति के मत में कर्म का फल तत्त्वज्ञान नहीं है, अतः कर्म अपूर्व-जनन द्वारा ज्ञानोदय-पर्यन्त व्यापृत रहेगा—

१ कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षेऽपि विविदिषापर्यन्तमेव कर्मानुष्ठाने विविदिषार्थत्व-पक्षात् को विशेष इति चेत्। सि० ले० सं०, पृ० ४०७-४०८

१ कर्मणां विद्यार्थत्वपक्षे द्वारभूतविविदिषासिद्ध्यनन्तरमुपरतावपि फलपर्यन्तानि . . . . . . विद्योत्पादकत्वनियमोऽस्ति। विविदिषार्थत्वपक्षे श्रवणादि-प्रवृत्तिजननसमर्थायेच्छासम्पादनमात्रेण कृतार्थतेति नावश्यं विद्योत्पादकत्वनियमः। सि० ले० सं०, पृ० ४०८

यह कहना सर्वथा असम्भव है। इसलिए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाचस्पति-सिद्धान्तानुसार विविदिषाजनक कर्म का अनुष्ठान करने पर भी, ज्ञान की निष्पत्ति नियोगतः होगी ही—यह अवश्यम्भावी नहीं है। अगर अनुष्ठाता व्यक्ति के किसी पुण्यकर्म के विपाक से ज्ञान के सम्पादक साधन-समुदाय का समवधान हो जाय तभी विज्ञानोदय हो सकता है। इसलिए वाचस्पति के मत में ज्ञान की निष्पति अनिश्चित रहेगी। परन्तु विवरणाचार्य के सिद्धान्तानुसार विविदिषादि के पूर्वकाल में भी जिस कर्म का अनुष्ठान किया गया है उसका फल तो ज्ञान है, इसीलिए ज्ञानरूप फल की निष्पत्ति जबतक नहीं होगी तबतक कर्म-जन्य-अपूर्व का विनाश भी नहीं हो सकता है। ज्ञानोदय नहीं होने तक उस अपूर्व को अवस्थान करना ही पड़ेगा। जो साधनकलाप कर्म के फल ज्ञान की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित हैं, उन सभी के समवधान न होने तक कर्म व्यापृत ही रहेगा। इससे यही सिद्ध हुआ कि विवरणाचार्य के मत में ज्ञान के सम्पादक कर्म का अनुष्ठान करने से विद्यमान शरीर में अथवा दूरदृष्टवशतः वर्तमान शरीर में नहीं हो तब भी आगामी शरीर में ज्ञान का उदय अवश्य ही हो जायगा। ज्ञान की प्राप्ति इस सिद्धान्त में सर्वथा निश्चित है। ऐसी स्थिति में निष्पीडितार्थ यही हुआ कि वाचस्पति के मतानुसार यज्ञादिक अनुष्ठान करने से विविदिषा अवश्य उत्पन्न होगी, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति अनियत रहेगी। किन्तु विवरणाचार्य के मत में ज्ञानोदय में किसी प्रकार अनियतता नहीं है। अत एव दोनों मतों में वैलक्षण्य तो सुस्पष्ट है।

कर्म और ज्ञान इन दोनों का सम्बन्ध-निरूपण भारतीय-दर्शन-शास्त्र का एक असाधारण प्रतिपाद्य विषय है। दर्शन-शास्त्र क्या, गीता में भी कर्म और ज्ञान के स्वरूप एवं उपयोग का विस्तृत रूप से निर्णय किया गया है। गीता के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में कर्म और ज्ञान का स्वरूप एवं पंचम और षष्ठ अध्याय में संन्यास के अधिकारी का निरूपण किया गया है। गीता के तृतीय अध्याय में 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इत्यादि सन्दर्भ में अर्जुन ने भगवान् से प्रश्न किया था—भगवान् ने भी 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ' अर्थात् हे निष्पाप अर्जुन! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा है। उनको मैंने पूर्व में ही कह दिया है। इत्यादि सन्दर्भ में इस प्रकार निरूपण किया है कि ज्ञान और कर्म

का विकल्प अथवा समुच्चय सम्भव नहीं होता है। इसीलिए अधिकारी से ही उसकी व्यवस्था कर उन सबों का अनुष्ठान किया जाता है। कर्म का अधिकारी अज्ञ व्यक्ति है (अर्थात जिसको तत्त्वज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है।) वह कर्म कभी ज्ञान के साथ समुचित अथवा मिलित नहीं हो सकता है। क्योंकि अन्धकार और आलोक, दोनों विरुद्धस्वभाव हैं (तेजस्तिमिरयोरिव युगपदसम्भवात्)। इसलिए इन दोनों का मिलन सर्वथा असम्भव है। और भी बात है कि कर्मअधिकार में हेतु है।

ज्ञान इस भेदबुद्धि को हटा देता है, अत एव वह कर्म का विरोधी ही है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और कर्म का मिलित रूप में अनुष्ठान नहीं हो सकता है। इसी प्रकार कर्म और ज्ञान का विकल्प भी सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि कर्म के द्वारा अथवा ज्ञान के द्वारा मोक्षरूप एक ही प्रयोजन निष्पन्न हो जायगा, ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कर्म और ज्ञान एक ही प्रयोजन का निर्वाह नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान का कर्म होता है अज्ञान की निवृत्ति करना, कर्म के द्वारा इस कार्य की निष्पत्ति कभी भी सम्भव नहीं है। श्रुति सुस्पष्ट रूप से कहती है केवल आत्मतत्त्व का ज्ञान करके ही मोक्षलाभ कर सकते हैं, मुक्ति के लिए अन्य कोई भी उपाय सम्भव नहीं है। नान्यः, इस श्रुतिवाक्य में विदित्वा पद के द्वारा वेदन अर्थात ज्ञान को ही मुक्ति का कारण कहा गया है। जिसको ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उस पुरुष को और कोई करणीय कर्म नहीं रहता है यह बात "यावानर्थ उदपाने" इस गीतावाक्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है। ज्ञानी व्यक्ति का कर्म में अधिकार नहीं है यह सिद्ध होने पर वह प्रारब्ध कर्म के प्रभाव से वृथा चेष्टा रूप में कर्मानुष्ठान करें अथवा कर्म-संन्यास करें, ये दोनों ही उनके लिए सुसमञ्जस हो जायेंगे।

ये सभी विषय गीता के चतुर्थ अध्याय में मधुसूदन ने विस्तृत रूप से प्रतिपादित किया है। परन्तु अज्ञ व्यक्ति के लिए अन्तःकरणशुद्धिपूर्वक ज्ञानोदय के लिए कर्म अवश्य अनुष्ठेय है। क्योंकि श्रुति कहती है कि ब्राह्मण लोग इस आत्मतत्त्व को वेदाध्ययन के द्वारा, यज्ञ के द्वारा, दान के द्वारा एवं अनशन-पूर्वक तपस्या के द्वारा (आत्मार्थको) जानने के लिए इच्छा करते हैं एवं भगवान ने भी कहा है पार्थ! सभी कर्म विशेष रूप में ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि तत्त्वज्ञान के लिए कर्म का निष्काम रूप से अनुष्ठान किया जाता है। फिर यह भी ध्यान देने का विषय है कि सभी कर्म का परित्याग भी ज्ञान के लिए ही है। श्रुति स्पष्ट रूप से कहती, है कि संन्यासी लोग उस आत्मलोक की इच्छा करके ही परिव्रज्या अर्थात् संन्यास का अवलम्बन करते हैं। शम, दम, उपरति और तितिक्षायुक्त होकर एवं समाधि अवलम्बन करके अपने में ही आत्मदर्शन करना चाहिए। कर्म का त्याग करके ही त्यागकर्ता प्रत्यग्र वस्तु का ज्ञान लाभ कर सकता है, एवं सत्य-मिथ्या सुख-दुःख वेदोक्त कर्म एवं इहलोक और परलोक का परित्याग कर आत्म-धर्म का अन्वेषण करना उचित है। इस प्रसंग में श्री मधुसूदनसरस्वती ने मीमांसा-दर्शन के सिद्धान्त का अवलम्बन कर प्रतिपाद्य विषय का अच्छी तरह से प्रतिपादन किया है। प्रमाण और अवदात की तरह आराद् उपकारक और सन्निपत्योपकारक जो कर्म और कर्मत्याग है इन दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता है। कारण ये दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण इनका यौगपद्य सम्भावित नहीं है।

पंचपादिकाकार और विवरणकार का कथन है कि धर्मज्ञान से ब्रह्म-विचार की प्रवृत्ति की उत्पत्ति नहीं करा सकते हैं। सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया जा सकता है कि कर्म-समुदाय का उपयोग ब्रह्मज्ञान में हो सकता है कि नहीं यही विचार अवशिष्ट रह गया है। कर्म का ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति में उपयोग है—उसमें जो भिन्न-भिन्न मत हैं उनमें भी कर्म को प्रसिद्धि के द्वारा ब्रह्मज्ञान का जनक है इससे अतिरिक्त सभी पक्ष भ्रान्तिमूलक हैं। इन दोनों आचार्यों का यही सिद्धान्त है। इसमें जो **अधिकार-परम्परा** पक्ष एवं **उपयोग-प्रविलय** पक्ष इत्यादि रूप से जो मतवाद चल रहा है इन मतों का निरसन पंचपादिका और विवरणकार ने इस प्रकार किया है :—अधिकार शब्द की शास्त्र में अनेक प्रकार की व्युत्पत्ति कही गयी है, किन्तु इस स्थान में अधिकार परम्परा शब्द का अर्थ **अनुष्ठान-परम्परा** है। अधिकार-परम्परावादी आचार्य का कथन है कि जैसे प्रासाद आरोहण की इच्छा रखने वाले व्यक्तियों के लिए क्रमशः प्राप्यमाण जो सोपान-परम्परा वही प्रासादारोहण के लिए कारण होती है, वैसे ही सन्ध्योपासन से लेकर पूर्व-पूर्वगामी स्वल्प कर्म-प्रवाह से उत्तर-उत्तर महत्तर कर्म के अनुष्ठान के द्वारा सहस्र-संवत्सर निर्वर्त्य कर्मानुष्ठान समाप्त हो जाने के बाद पारिशेष्य प्रयुक्त पुरुष ब्रह्मज्ञान में अवतरण करता है इसके लिये अनुष्ठान-परम्परा

को ही ब्रह्म-विषयक-ज्ञान का जनक कहा गया है। यदि पूर्वपक्षी इस प्रकार कहें कि ब्रह्मज्ञान के उत्पन्न करने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति कर्म का अनुष्ठान करे, किन्तु इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है[1] ? इसके उत्तर में आचार्यों का यह कथन है कि तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति इत्यादि श्रुति वाक्य से ही कर्मानुष्ठान की ब्रह्मज्ञानेच्छा में कारणता सिद्ध है। इसका आशय यह है कि कर्म क्रमशः अपने फल का जनक होता हुआ अन्त में जब कुछ भी फल अवशिष्ट नहीं रह जाता तब परिशेष में कर्मानुष्ठान अधिकारी कर्म को साक्षात् ही ब्रह्मज्ञानेच्छा का जनक मानते हैं, चित्त-शुद्धि को द्वार के रूप में कल्पन करना आवश्यक नहीं समझते हैं। कारण, फलान्तर कामना के परिशेष में कर्म का साक्षात् फल ही ब्रह्मज्ञानेच्छा हो जायेगा। इस मत का आशय यह है कि जैसे जैसे उत्तर कर्म का अनुष्ठान होगा वैसे पूर्व कर्म का परित्याग होता जाएगा इस प्रकार उत्तर कर्म में पूर्व कर्म का परित्याग होने से अन्त में सभी कर्मों का परित्याग हो जायेगा और परिशेष में कर्माधिकारी को ब्रह्मज्ञान में अवतरण करा देगा।

इस मत की प्रधान न्यूनता यह है कि इस मत में कोई प्रमाण नहीं है। पूर्व कर्म का परित्याग-पूर्वक उत्तर कर्म ब्रह्मज्ञान का जनक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है। पूर्वोक्त भेद वचन से उत्तर-उत्तर कर्म पूर्व कर्मों का परित्याग कर ब्रह्मज्ञान का जनक है इसमें प्रमाण नहीं है[2]।

द्वितीय उपयोग-प्रविलयवादी आचार्य का सिद्धान्त यह है कि कामना का उपशम होने के बाद पुरुष ब्रह्मज्ञान में अवतरित होता है। इसका तात्पर्य-यह है कि कामोपहतमना पुरुष जब तक कामाभिमुख रहता है तब तक वह ब्रह्म-जिज्ञासा में अवतरण नहीं करता है। यह प्रश्न होता है कि ब्रह्मज्ञान जब होगा तब यह मोक्ष की अवस्था कही जायेगी, उस समय समस्त काम्यवस्तु का अभाव रहेगा, काम्य वस्तु का अभाव होने से कामना नहीं हो सकती है। इस आशंका के उत्तर में अप्राप्त स्मर्यमाण स्रक् चन्दनादि कामना का उद्बोधक होता है और प्राप्त होने पर कामना का निवर्तक होता है। उपभोग के द्वारा विषय-

१ यथा तावत् प्रासादमारुरुक्षोः सोपानपरम्परा क्रमशः प्राप्यमाणा प्रासादारोहणहेतुः, न तथेह ब्रह्मजिज्ञासां चिकीर्षोः कर्माणि सहस्रसंवत्सरपर्यन्तानि तत्क्रियास्थितानि प्रमाणाभावात्। पं० पा०, पृ० ६८०

२ त० दी०, पृ०, ६८०

कामना-निवृत होने के बाद एषोऽस्य परमानन्दः इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म का परमानन्द के रूप में श्रवण होने के कारण उसमें ही कामना की उत्पत्ति होती है। कर्मराशि सार्वभौमत्वादि से लेकर उत्तरोत्तर शत गुणोत्कर्ष रूप से अवस्थित ब्रह्मलोकावाप्तिपर्यन्त कामना-समूह को प्राप्त करा देती है। फल-परम्परा से ही उत्तरोत्तर-कामनावाप्ति कर्म के द्वारा सम्भव होती है, ब्रह्म-लाभ के बाद अन्य काम्य नहीं रहने के कारण निर्विषयक कामना सम्भव न होने से इन्धन को भस्मीभूत कृत अग्नि के समान पुरुष का कामोपशमन के बाद इस प्रकार परम्परा-क्रम से कृत्स्न कर्म फलावाप्ति के बाद कामना के अभाव से, कामनाभावप्रयुक्त निवृत्तकाम पुरुष परमानन्द की कामना करके उसमें ही अवतरण करता है[1]। परन्तु यह मत सर्वथा अनादरणीय है। अल्प आयु वाले पुरुष के लिए सभी कर्मों का अनुष्ठान और उसका फल भोग असम्भव होने से उपभोग पक्ष के द्वारा (कामोपशम पक्ष के द्वारा) अर्थात् काम-प्रविलय के द्वारा ब्रह्मज्ञान-लाभ में अधिकार नहीं हो सकता है[2]। कारण इसी के लिए ब्रह्म विचार को कर्मानुष्ठान फलान्तर भावी के रूप में निर्देश किया जाय, तब तो मनुष्य का अधिकार ही वेदान्त में नहीं रहेगा। इसमें प्रविलयवादियों का कथन है कि कर्म का ब्रह्मज्ञान-हेतुत्व श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध है। परन्तु कर्म साक्षात् ब्रह्मज्ञान का हेतु नहीं हो सकता है, कारण इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिए कर्म प्रविलय द्वारा कर्म को ज्ञान-हेतु स्वीकार करना चाहिए और इसलिए मुमुक्षु पुरुष मन्त्र औषधि के प्रयोग के द्वारा दीर्घायुष्ट्व सम्पादन करके कर्म समुदाय के अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जायेगा इसलिए सिद्धान्ती का यह कथन है कि वेदान्त में मनुष्य का अधिकार ही नहीं रहेगा यह ठीक नहीं है। कारण दीर्घायु की कामना से अनुष्ठान के द्वारा ही दीर्घायुष्ट्व की प्राप्ति होगी, अतः शास्त्र का मनुष्य ही अधिकारी रहेगा[3]।

---

१ सार्वभौमत्वाद्युत्तरोत्तरशतगुणोत्कर्षावस्थितान् ब्रह्मलोकावाप्तिपर्यन्तान् कामानवाप्तिपर्यन्ताधिकारपरम्परया कर्माणि. ब्रह्मलोकात् परं कामयितव्याभावात् निर्विषयस्य च कामस्यानुपपत्तेर्दग्धेन्धनाग्निवत् कामोपशमे ब्रह्मजिज्ञासां करोति, पं० पा०, पृ०—६८० त० दी०, पृ० ६८०

२ अल्पायुषः पुंसः सकलकर्मानुष्ठानतत्फलभोगासंभवान्न तद्द्वारेण
त० दी० पृ०—६८०

३ कर्मणां ज्ञानहेतुत्वं तावत् श्रुति-स्मृतिप्रसिद्धम् शास्त्रं मनुष्याधिकारम्।
त० दी०, पृ०—६८१

इसमें सिद्धान्ती प्रश्न करते हैं कि कामाचारित किस प्रकार कामोपशम का हेतु होता है ? इसके उत्तर में कामप्रविलवादियों का कथन है कि दृष्टान्त के सामर्थ्य से हमलोग इस प्रकार की कल्पना करते हैं जैसे घृतादि के द्वारा अग्नि वृद्धि लाभ कर भी सभी घी के प्रक्षेप के बाद घी को जला कर स्वयं भी शान्त हो जाती है इसी प्रकार कामना का विषयरूप जो इन्धन है वह यावद्विषय विवृद्धि लाभ करके भी विषय के क्षय हो जाने के बाद क्षीणेन्धन अग्नि के समान स्वयं शान्त हो जाता है[1]।

यदि प्रतिपक्षी ऐसा कहें कि हविः-प्रक्षेप के द्वारा तो अग्नि की वृद्धि ही होती है, अत एव कामोपभोग के द्वारा काम की निवृत्ति नहीं होगी और उससे भोग के द्वारा कामना-प्रविलय पक्ष सर्वथा अनुचित है। इसके उत्तर में कामना-प्रविलयवादियों का कथन है कि इन्धन के विनाश से जैसे अग्नि का विनाश होता है वैसे ही विषय के विनाश से कामना का भी विनाश हो जायेगा। परन्तु इस प्रकार का कथन भी उचित नहीं है। कारण जीव की हिरण्यगर्भावस्था में जो भोग होता है उस भोग राशि का प्रतिक्षण क्षय होता है, इसलिए अनागत जो भोग समुदाय है तद्विषयक कामनान्तर की उत्पत्ति होगी, अतः काम-प्रविलय के द्वारा ब्रह्मज्ञान का अवतरण पक्ष समीचीन नहीं है, इससे यह भी समझना चाहिये कि हिरण्यगर्भावस्था की प्राप्ति के बाद कामना का अन्य कोई विषय न रहने के कारण इसका सर्वथा प्रविलय हो जाता है यह कथन सर्वथा अनुचित है। हिरण्यगर्भ-भोग-क्षय के बाद कामनान्तर का समुल्लास होता है। कारण यह भोग-जन्य है और इसका विषय भी परिच्छिन्न है अत एव हिरण्यगर्भावस्था में एक भोग के साथ अनवाप्त जो भोग है उसका लाभ करने के लिए कामना रह ही जाती है, इसलिये कामनाप्रविलयवादी को यह मानना पड़ेगा कि विषय का क्षयादि दोष दर्शन सर्वत्र कामना के प्रविलय का कारण है। यह भी कथन अनुचित है कि महाप्रलय के समय में हिरण्यगर्भ-लोक विनष्ट हो गया है, इसलिए हिरण्यगर्भावस्था में कामनान्तर की सम्भावना नहीं है। कारण, इस अवस्था में भी ब्रह्मज्ञान का अभाव रहने से पूर्वजन्मोपार्जित जो कर्म है उसके अनुबन्धन से अनेक प्रकार की योनि की उत्पत्ति सम्भव रहती ही है। अर्थात् इस ब्रह्मज्ञानाभाव की दशा में अगर मुक्ति स्वीकार की जाय तब तो वह कामना-प्रविलय के द्वारा न

१ वि०, पृ०, ६८१

होकर महाप्रलय के द्वारा ही मुक्ति होने से महाप्रलय को ही मुक्ति का कारण जानना पड़ेगा। इसलिए यही स्वीकार करना उचित है कि सर्वत्र विषय-दोष-दर्शन एवं नित्य वस्तु दर्शन भी कामना के उच्छेद का कारण है। गीता में भी कहा गया है **'रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गी० २।५९) इस स्थल में रस शब्द के अर्थ को काम-प्रविलयवादी से यह पूछना है कि निखिल विषय की प्राप्ति से कामोपशम होता है—यह क्या शास्त्र-प्रमाण के बल से सिद्ध है? अथवा अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सिद्ध है? इनमें पूर्व पक्ष ठीक नहीं है। कारण इस प्रकार आगम वाक्य उपलब्ध नहीं है कि हिरण्यगर्भोपभोग के बाद सभी विषयों के लाभ से कामना का सर्वथा उच्छेद हो जाता है। यदि द्वितीय पक्ष को ही कामनाप्रविलयवादी अभीष्ट मानते हैं। कारण कामावाप्ति के बाद स्वस्थ हृदय जीव कार्यान्तर में समर्थ होता है और नहीं होने से कार्यान्तर में समर्थ नहीं होता है, किन्तु विचार करने पर यह कथन सर्वथा अनुचित है कारण कामनावाप्ति के द्वारा कामना-निबन्धन जो उत्कण्ठा है उसी की निवृत्ति होती है क्योंकि कामना की प्राप्ति के बाद उसका सामर्थ्य नष्ट होने से कामना-निबन्धन उत्कण्ठा का भी उपशम हो जाता है। कामना का सामर्थ्य रहने से ही स्वच्छन्द भोग सम्भावित होता है। इसलिए काम-प्रविलयवादी अन्वय-व्यतिरेक पर भी निर्भर नहीं कर सकते हैं। मान लिया जाय कि काम-प्रविलय के द्वारा कर्म ब्रह्मज्ञान का कारण नहीं बन सकता है, तथापि मण्डन मिश्र ने कहा है कि भेद-प्रपंच के प्रविलय के द्वारा कर्मकाण्ड ब्रह्म-जिज्ञासा का हेतु हो जायगा[1]।

मण्डन मिश्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है—देह यदि आत्मा होता तो यागादि में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती। कारण यागादि कालान्तर भावी स्वर्ग का ही साधन होता है जिस देह से याग होता है उस देह का तो इस जन्म में ही भस्म हो जाता है इसलिए **स्वर्गकामो यजेत** इस वाक्य का देहात्मभाव के प्रविलय कराने में ही तात्पर्य है। इसी प्रकार **गोदोहनेन पशुकामस्य** प्रणयेत् यह वाक्य दर्शपूर्णमासादि याग में अधिकारी को ही गोदोहन में अधिकार है यह प्रतिपादन कर अधिकार-भेद का विलोप

१ ६८१ पृष्ठ का तत्त्वदीपन ब्रह्मसिद्धि का अनुवाद है।

(पं० पा० पृ० ६८१)

करता है। कारण, गोदोहनकर्ता व्यक्ति ही तो दर्शपूर्णमास के फल का भोग नहीं करता है। कारण, वह फल तो कालान्तरभावी होने के कारण इस देह के द्वारा उसका फल भोग नहीं हो सकता है। अतः अधिकारनिरूपण ही व्यर्थ है। इसी प्रकार अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादि वाक्य की रागनिबन्धन-प्रवृत्ति का प्रविलय कराने में ही तात्पर्य है। अर्थात् रागमूलक जो प्रवृत्ति है वह तो कालान्तरभावी स्वर्ग में रागनिबन्धन नहीं रहेगी। क्योंकि इस देह में राग है और कालान्तर में स्वर्ग है, वहाँ राग-निबन्धन-प्रवृत्ति नहीं है। इसी प्रकार कर्मकाण्ड भाग का भेद प्रविलय कराने में सामर्थ्य है और इसी के द्वारा ब्रह्म जिज्ञासा का कारण बनता है[1]। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहना चाहते हैं कि स्वर्गकामो यजेत् इत्यादि वाक्य से साध्य स्वर्ग और उसके साधन यागादि का सम्बन्ध ही प्रतिपादित होता है, इसका देहात्मभावादि प्रविलय में तात्पर्य नहीं है, जिस अर्थ में इस वाक्य का तात्पर्य रहता है वही उसका प्रतिपाद्य होता है अर्थापत्त्यादि के द्वारा लब्ध जो अर्थ है उसका वाक्यार्थ बोध में अन्वय नहीं होता है। कारण इस मर्यादा की रक्षा के लिये "अनन्यलभ्यो ही शब्दार्थः" यह वाक्य-न्याय जागरूक है, यदि इस तरह स्वीकार नहीं किया जाय तब तो स्वर्गकामः पशुकामः इत्यादि वैदिकवाक्य में जो कामना ग्रन्थि का काठिन्य है वह भी वाक्यार्थ बोध में भासित हो जायगा, परन्तु यह नहीं होता है, अतः, पूर्वोक्त सिद्धान्त को ही स्वीकार करना चाहिए[2]।

इसमें अपरवादी कहना चाहते हैं कि कर्म साक्षात् ब्रह्मज्ञान का कारण नहीं है। कर्म अनुष्ठीयमान होकर पुरुष का संस्कार करता है एवं उसके द्वारा वह ब्रह्म-विषयक ज्ञान का जनक होता है। अर्थात् ब्रह्मज्ञान उस पुरुष-संस्कार कर्म का कार्य समझना चाहिए यही इसका तात्पर्य है। इसका निगूढ़ आशय यही है कि एक जन्म में अनुष्ठित कर्म-राशि संस्कार के द्वारा ज्ञान का हेतु होता है इसलिए अथातो ब्रह्मजिज्ञासा सूत्र में अथ शब्द का अर्थ धर्मानुष्ठान का आनन्तर्य

१ अस्तु तर्हि भेदप्रपंचविलयद्वारेण कर्मकाण्डस्य ब्रह्मजिज्ञासाहेतुत्वम्, तथा हि- देहस्यात्मत्वे कालान्तरभाविस्वर्गसाधनयागादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् एवं सर्वस्य वेदस्य भेदविलयपरत्वमिति। त० दी०, पृ०, ६८१

२ स्वर्गकामो यजेतेति वाक्यात् साध्य-साधनसम्बन्धाविप्रतिपत्तेर्न तस्य विलयपरत्वम्, अर्थाच्चोपलभ्यमानस्य शब्दत्वे कामग्रन्थेः काठिन्यस्यापि शाब्दत्वं स्यादित्यर्थः। त० दी०, ६८१

ही समझना चाहिये। विहित कर्म को ही धर्म कहा जाता है। किन्तु विचार करने पर यह मत समीचीन अवगत नहीं होता है। कारण, सर्व एते पुण्यलोकाः भवन्ति इत्यादि श्रुति के द्वारा यह सब आश्रमी का पुण्य लोक है। अर्थात् यहाँ बहुव्रीहिसमास करके पुण्य लोको येषान्ते पुण्यलोकाः इस प्रकार आश्रमी का पुण्यलोक है यह अर्थ होता है। इस श्रुति वाक्य के द्वारा अनुष्ठीयमान कर्म-समुदाय स्वतन्त्र रूप से पुरुषार्थ का साधन है यही प्रतिपादन किया गया है। ऐसी स्थिति में ये कर्म-समुदाय किस प्रकार पुरुष के संस्कार के लिये बन सकते हैं। यदि पुरुष-संस्कार के लिए इस कार्य को स्वीकार किया जाय तब तो संस्कार कर्म (संस्कारार्थक) कर्म बन जायगा और इसका परिणाम यही होगा कि प्रोक्षणादि के समान यह गुण कर्म हो जायेगा[1]।

स्वतन्त्र रूप में फल के साथ दर्शपूर्णमासादि कभी भी संस्कार कर्म नहीं हो सकता है। कारण, संस्कार कर्म जो प्रोक्षणादि हैं उसका स्वतन्त्र रूप में फल सम्बन्ध नहीं देखा जाता है। अतः, यही सिद्ध हुआ कि जिस कर्म का स्वतन्त्र रूप से फल के साथ सम्बन्ध रहता है वह संस्कार कर्म नहीं हो सकता है[2]।

---

१ इस प्रसंग में जो संस्कार-कर्म कहा गया है वह मीमांसा दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसलिए इसका निरूपण प्रस्तुत करना आवश्यक है। श्रुति में कहा है---दर्शपूर्णमास नामक यज्ञ का उल्लेख कर्तव्य रूप से विहित है। इस यज्ञ का अनुष्ठान करने में प्रयाजादि नाम से प्रसिद्ध कियत्-संख्यक अंग कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है। इन अंग कर्मों को आरात् उपकारक अथवा प्रधान कर्म अथवा अर्थ कर्म भी कहा जाता है। व्रीहि (धान्य) प्रभृति द्रव्यों के द्वारा इन अंग कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है इन व्रीहि द्रव्यों का प्रोक्षण अवघात प्रभृति कियत्-संख्यक अनुष्ठान वेद वाक्य के द्वारा विहित हुआ है। इन अनुष्ठानों को सन्निपात्योपकारक कहा जाता है। इन कर्मों का ही दूसरा नाम गुणकर्म अथवा संस्कार-कर्म या आश्रमी कर्म है। अतएव जो कर्म प्रधान रूप से विधीयमान हुआ है वे सन्निपात्योपकारक हैं जैसे प्रोक्षण अवघात इत्यादि।

द्रष्टव्य वि०, पृ० ६७८।

२ एते सर्वे आश्रमिणः पुण्यलोकाः। पुण्यो लोको येषां ते पुण्यलोका इत्यर्थः। स्वतन्त्रफलसाधनस्य दर्शपूर्णमासादेर्न संस्कारकर्मत्वम्; संस्कारकर्मणः प्रोक्षणादेः स्वतन्त्रफलसंबन्धादृष्टेः तथा च कर्मणां स्वतन्त्रफलसाधनत्वप्रतिपत्तेर्न संस्कारकर्मत्वमित्यर्थः। त० दी०, पृ० ६८२

इसके उत्तर में प्रतिवादी कहते हैं कि स्मृति के बल से ही संस्कार-कर्म (संस्कारार्थक कर्म) सिद्ध होता है। इसके लिए स्मृति-प्रमाण-सिद्ध-संस्कार कर्म का अपलाप करना उचित नहीं है। कारण, स्मृति में कहा है **यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः** इसके द्वारा ही गर्भाधानादि संस्कारार्थक कर्मों का प्रतिपादन किया गया है।

इसमें यह शंका हो सकती है कि इस स्मृति-वाक्य का पूर्वोक्त **सर्व एते पुण्यलोकाः भवन्ति** इस श्रुति वाक्य के साथ विरोध होता है। इसलिए श्रुति के साथ स्मृति का विरोध होने से स्मृति में अप्रामाण्य हो जायगा। कारण-श्रुति तो स्मृति की अपेक्षा बलवान् होती है, इसलिए स्मृति के बल से पुरुष-संस्कारार्थक-कर्म है और वह कर्म ब्रह्म हेतु हैं यह प्रतिपादन करना असंगत है। स्मृति के द्वारा अनुमित जो श्रुति है उसी के बल से संस्कार कर्मता की उपपत्ति हो जायेगी, यह भी कहना अनुचित है। कारण, प्रत्यक्ष श्रुति का श्रुति के साथ विरोध रहने पर संस्कारत्व-ग्राहक श्रुति का अनुमान उदय ही नहीं हो सकता है। क्योंकि इस अनुमान का कारण लिंग दर्शन व्याप्तिस्मरण इत्यादि है, अतः उपजीव्य प्रत्यक्ष के साथ श्रुति के विरोध में अनुमान का उदय होना असम्भव है। इसके उत्तर में संस्कारार्थकर्मवादियों का कथन है कि प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा ही संस्कारार्थक कर्म की भी उपपत्ति होती है। क्योंकि तैत्तिरीयारण्यक में कहा गया है—**धर्मेण पापमपनुदति** इस प्रसंग में संस्कार को दो प्रकार का समझना चाहिए—गुणाधान, और मलापकर्ष **धर्मेण पापमपनुदति योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये** इत्यादि श्रुति वाक्य के द्वारा आत्मा में मलापकर्ष संस्कार सिद्ध होता है और विधि की अन्यथा अनुपपत्ति नहीं होने के कारण आत्मा में कर्म अपूर्व गुणाधान का हेतु होता है। तात्पर्य यह है कि फल के साधन रूप में विहित जो कर्म समुदाय है उस फल के बिना उसमें फल-साधनत्व नहीं हो सकता है अथ वा नित्यकर्मविधान की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण ही नित्यकर्म को अपूर्व गुणाधान का हेतु माना जाता है। यदि ऐसा नहीं होता तो नित्य कर्म का विधान ही अनुपपन्न हो जाता और श्रुति कहती है "विविदिषन्ति यज्ञेन—इसीलिये संस्कारार्थक कर्म श्रुति से ही परिज्ञात है। श्रुति में कहा गया है—**इदं मेऽनेनांगं संस्क्रियते** इसका अर्थ यह है कि इस कर्म के द्वारा मेरे अंग का

संस्कार किया जाता है अर्थात् ब्रह्माभिव्यक्ति के योग्य किया जाता है[1]। यह जो शंका की गई है कि संस्कारकर्मत्व यदि हो जाय तो प्रोक्षणादि के समान वह स्वतंत्र रूप से फल का साधन नहीं रहेगा यह आशंका भी अनुचित है। कारण, दोनों प्रसंग में स्पष्ट वैषम्य है। प्रोक्षणादि के द्वारा दर्शपूर्णमास के अंग (उपकारक) व्रीहि का संस्कार किया जाता है एवं संस्कार कर्म का जो फल वेद-वाक्य में कहा गया है वह फलश्रुति अर्थवाद है उसका स्वार्थ (फल) में तात्पर्य नहीं है यही जैमिनि का अनुशासन है। इसलिए प्रोक्षणादि का स्वतन्त्र-फलसाधनत्व स्वीकार नहीं किया जाता है। प्रकृत स्थल में पुरुष-संस्कारार्थक जो कर्म है वह क्रतु का अंग-द्रव्य का संस्कारक नहीं है। इसलिए स्वतंत्र-फलसाधनत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं होगा।

इसमें पुनः शंका होती है कि पुरुष संस्कार जो कर्म वह पुरुष में संस्काराधान करता है, वह ब्रह्मज्ञान का अंग अर्थात् साधन कैसे है? अर्थात् पुरुष के संस्कार के लिये जो कर्म है वह ब्रह्मज्ञान का अंग कैसे होगा? यह शंका निर्मूल है, कारण, देखने में आता है कि अन्य प्रयोजन साधन करने लिये जो पदार्थ है वह प्रयोजनान्तर का भी उपपादक होता है। कारण वेद-वाक्य में कहा है—द्रव्यमर्जयन् ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयात् इसमें यह शंका है कि ब्राह्मण का प्रतिग्रहादि द्वारा विहित जो द्रव्यार्जन वह क्या क्रतु के लिए है अथवा पुरुषार्थ ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए है? इस सन्देह में धन के बिना क्रतु अनुपपन्न है और कोई अधिकारि-विशेष इसमें निर्दिष्ट नहीं है, इसीलिए द्रव्यार्जन याग के लिए ही होगा इस प्रकार का सन्देह उपस्थित होने पर सिद्धान्त किया गया है कि यह द्रव्यार्जन पुरुषार्थ अर्थात् ब्राह्मण के लिए ही है। कारण क्रत्वंगत्व के प्रापक प्रकरण में यह वाक्य पठित नहीं हुआ है। इसलिए यह द्रव्यार्जन क्रतु का उपकारक है यह नहीं कहा सकता है, विशेषतः अन्य प्रयोजन के लिए संचित द्रव्य के द्वारा भी क्रतु का अनुष्ठान हो सकता, है इसीलिए यह द्रव्यार्जन ही के लिए विधीयमान हुआ है, और जो यह कहा गया है कि इस वाक्य में

---

1 संस्कारो नाम गुणाधानं मलापकर्षो वा? तत्र धर्मेण पापमपनुदति योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये इति चात्मनि मलापकर्षसंस्कारः सिध्यति विध्यन्यथानुपपत्त्या वात्मन्यपूर्वगुणाधानं गम्यते। अतः श्रुत्यवगतमेव संस्कारकर्मत्वम्, इदं मेऽनेनांगं संस्क्रियते इति च श्रुतेः। वि०, पृ० ६८२

किसी अधिकारी का कथन नहीं है यह भी अनुचित है। कारण, धनकाम ब्राह्मण ही यहाँ अधिकारी हो सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि द्रव्यार्जनम् इस वाक्य के द्वारा विधीयमान द्रव्यार्जन पुरुषार्थ होने पर भी क्रतु का भी उपकारक हो सकता है। अर्थात् अन्य प्रयोजन के लिए विहित होने पर ही वह भिन्न प्रयोजन का साधक हो सकता है। यही द्रव्यार्जनाधिकरण में जैमिनि ने कहा है। प्रकृत स्थल में भी यही स्थिति है पुरुष संस्कार के लिए विहित कर्म भी उससे अतिरिक्त ब्राह्मण रूप प्रयोजन का साधक हो सकता है[1]।

इसके उत्तर में विवरणकार ने कहा है कि पूर्वपक्षी ने जो कहा है वह अर्ध-सत्य है पूर्ण सत्य नहीं है। श्रुति के द्वारा पापक्षय और अपूर्वरूप संस्कार से अभ्युदयरूप फल उत्पन्न होता है इसीलिए स्मृति के सामर्थ्य से उसको ब्रह्मज्ञान का अंग है यह कहना उचित नहीं है। विशेषतः द्रव्य का संस्कार जिस कर्म के द्वारा होता है उस कर्म का द्रव्य संस्कार रूप स्वतन्त्रफल रहने के कारण ब्रह्मज्ञान का अंग नहीं हो सकता है। धर्मेण पापमपनुदति इस वाक्य के द्वारा मात्र संस्कार-कर्मत्व की प्रतीति होती है, इसीलिए उसमें यदि ब्रह्मज्ञान का अंगत्व स्वीकार किया जाय तब तो विधि स्वीकार करना होगा और इसके लिए श्रुति के द्वारा अवगत अभ्युदय-फलक-संस्कार-कर्म को स्मृति के बल से ब्रह्मज्ञान का अंग माना जाय तो स्मृति का श्रुति के साथ विरोध होगा। श्रुति के साथ स्मृति का विरोध तो सर्वथा अनुचित है। कारण, परस्पर विरोध होने पर अन्यतर पक्ष के बाध की कल्पना करनी पड़ेगी जो सर्वथा असंगत है। इस विषय में पूर्वपक्षी पुनः कहते हैं कि इन दोनों में विरोध नहीं है। कारण, दोनों की ही अपने-अपने फल को लेकर अविरोध में भी व्यवस्था हो सकती है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुति के द्वारा संस्कार कर्म का अभ्युदय-फलत्व प्रतिपाद्य है और स्मृति के द्वारा ज्ञानार्थत्व अभिप्रेत है तब परस्पर अविरोध कैसे सम्भव है?

इसके उत्तर में व्यवस्था प्रदर्शन करने के लिए पूर्वपक्षी कहते हैं कि—नित्य नैमितिक कर्मानुष्ठान के द्वारा आत्मा का संस्कार होता है वह यदि श्रवण मनन ध्यान अभ्यासादि ज्ञान साधन सम्पन्न हो जाय तब संस्कार कर्म-समुदाय

१ द्रव्यमर्जयन् ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयादित्येवमादिना विधीयमानस्य वा द्रव्यार्जनस्य पुरुषार्थस्यैव क्रतूपकारित्वमुक्तं द्रव्यार्जनाधिकरणे, तद्वदित्यर्थः। ऋ० वि०, पृ० ६८३

सहकारि-विशेष-प्रयुक्त-आत्मज्ञान में अवतरण कराता है। जब श्रवण-मननादि सहकारि-कारणों का अभाव रहेगा तब संस्कार से अभ्युदय एकमात्र फल ही साधन होगा। इस प्रकार व्यवस्था होने से श्रुति और स्मृति में विरोध नहीं है।

इस प्रसंग में पुनः सिद्धान्ती कहते हैं कि स्पष्ट रूप से कहा गया है कि **यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्कारा** इससे आरम्भ कर **स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति** इति इसमें सालोक्य शब्द के द्वारा हिरण्यगर्भावस्था-प्राप्ति-संस्कार-कर्मक-फल है। किन्तु परब्रह्मावाप्ति तो उसका फल नहीं है, इसके लिए पूर्वपक्षी ने जो कहा सहकारिसामर्थ्य-प्रयुक्त अनुष्ठीयमान नित्य नैमित्तिक कर्म-समुदाय पुरुष-संस्कार के द्वारा ब्रह्मज्ञान अर्थात् मोक्ष फलक हो जायगा यह कहना अनुचित है[1]।

इस प्रसंग में प्रतिवादी कहते हैं कि पूर्वोक्त वाक्य में संस्कार शब्द कहा है उस प्रयोग की अनुपत्ति हो जायगी यदि कर्म की ब्रह्मज्ञानांगता स्वीकार नहीं की जाय। अत एव संस्कार शब्द के प्रयोग की उपपत्ति के लिए कर्म समुदाय को ज्ञानशेषत्व स्वीकार करना चाहिए। कर्म संस्कार के लिए है यह श्रुत्यादि प्रतिपादित है, संस्कार शब्द कहने से ही अंगत्व प्रतीत होता है अर्थात् अन्यार्थत्व प्रतीत होता है। इसीलिए संस्कारार्थक कर्म कहने से वह किसी का अंग है यह स्वीकार करना ही पड़ेगा और इससे संस्कार-कर्म ज्ञान का अंग है यही स्वीकार करना पड़ेगा, अन्यथा कर्म के साथ संस्कार शब्द का प्रयोग अनुपपन्न हो जायगा। जो कर्मराशि किसी का अंग रहती है उसी को संस्कार कर्म कहा जाता है।

---

१ नित्य-नैमित्तिककर्मानुष्ठानैः संस्कृतस्यात्मनो यदि श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासादीनि ज्ञानसाधनानि सम्पद्यन्ते, यदा संस्कारकर्माणि सहकारिविशेषादात्मज्ञानमवतारयन्ति, यदा तु सहकारिकारणविरहः, तदाभ्युदयफलमिति व्यवस्थोपपत्तेर्न श्रुति-स्मृत्योः परस्परविरोधः। ननु यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः इत्यतः स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छतीति सालोक्यलिंगाद् हिरण्यगर्भावाप्तिः संस्कारकर्मणां फलं गम्यते, न परब्रह्मावाप्तिः, येन सहकारिसामर्थ्यात् कर्मणां पुरुषसंस्कारद्वारेण मोक्षफलता स्यात्।

वि०, पृ०, ६८३-६८४

त० दी०, पृ०, ६८३-६८४

इसमें जिज्ञासा होती है कि कर्म को यदि ज्ञानशेषत्व (अंगत्व) स्वीकार नहीं किया जाय तब संस्कार शब्द के प्रयोग की कैसे अनुपपत्ति होगी? इसके उत्तर में विवरणकार कहते हैं—संस्कार शब्द दधि-संस्कार व्रीहि-संस्कार में प्रसिद्ध है दधि-संस्कार तृप्ति साधन जो भोजन है उसका अंग जो दधि है वह शेषत्व रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार व्रीहि संस्कार कहने से प्रोक्षणादि स्वर्ग का साधन जो दर्शपूर्णमास है उसका अंग जो व्रीहि है उसी का शेषत्व प्रतिपादित होता है। दधि-संस्कार व्रीहि-संस्कार कहने से स्वतन्त्र फल का साधन जो कर्म उसी का अंगभूत द्रव्य है उसी का अंग यह कर्म है यही प्रतिपादित होता है।

संस्कार शब्द का इस अभिप्राय से ही प्रयोग होता है विहित जो प्रधान कर्म उसमें जो अंग द्रव्य है उसमें अतिशय को संस्कार कहा जाता है[1]। प्रकृत स्थल में **यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः** आदि स्मृति के द्वारा जो कहा गया है उसका आशय यह है कि नित्यनैमित्तिक कर्म आत्मा में संस्कार उत्पादन करके ही अन्वय लाभ करता है। प्रकृत स्थल में कोई प्रधान कर्म और उसका उपकारक अंग द्रव्य विहित नहीं हुआ है जिसमें यहाँ पर अतिशयाधान का हेतु संस्कार बन सकता है अथ च कर्म जब संस्कार के द्वारा अन्वयलाभ करेगा तब संस्कार शब्द का सार्थक्य मानने के लिए उसको किसी का अंग मानना ही पड़ेगा। प्रकृत स्थल में पारिशेष्य-निबन्धन अन्यथा अनुपपत्ति न होने के कारण अर्थापत्ति के द्वारा यही मानना पड़ेगा कि सभी कर्म-जनित-संस्कार तत्त्वज्ञानके अंग बनकर मोक्ष रूप प्रधान फल में सम्बन्धलाभ करते हैं। यह विषय आगे और भी सुस्पष्ट होगा।

प्रश्न हो सकता है कि अन्यथा अनुपपत्ति-निबन्धन यदि तत्त्वज्ञान का अंग नित्यनैमित्तिक-जनित-संस्कार को स्वीकार किया जाय तब हिरण्यगर्भोपासना का अंग क्यों नहीं कहा यह भी तो सम्भव है? किन्तु यहाँ इस प्रकार की शंका अनुचित है—**ब्राह्मणः सायुज्यं सालोक्यं** यह पूर्वोक्त वाक्य इस विषय में जागरुक है। सायुज्य शब्द का अर्थ है एकत्व और हिरण्यगर्भ के साथ ऐक्य सम्भव नहीं है। कारण, यदि पूर्व रूप में अवस्थान करे या नष्ट हो जाय तब

---

१ त० दी०, ६८४

वह अन्य पदार्थ अन्यात्मत्व लाभ अर्थात् ऐक्यलाभ नहीं कर सकता है। पूर्वरूप की अवस्थिति दशा में दोनों भिन्न-भिन्न हैं इसलिए दोनों में ऐक्य सम्भव नहीं है और पूर्व रूप की नाश-दशा में ऐक्य का प्रश्न ही नहीं होता है। फलतः दो के रहने पर भी ऐक्य सम्भव नहीं है और एक का जब नाश ही हो गया तब तो दोनों में एक ही हो गया अर्थात् दो में एक ही रह गया, अतः, ऐक्य का प्रश्न नहीं है। इसीलिए विद्या के द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने से ब्रह्म के साथ ऐक्य रूप सायुज्य लाभ होता है और श्रवणादि का अभाव रहने से उपासना के द्वारा ब्रह्म के समान लोक प्राप्त होता है यही पूर्वोक्त स्मृति वाक्य की विषय व्यवस्था समझनी चाहिए[1]। नित्यानित्य कर्म संस्कार के द्वारा मोक्ष के साथ सम्बन्ध लाभ करता है इसमें गीता वाक्य भी प्रमाण हैं गीता में कहा गया है कि **स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः**[2] अपने-अपने कर्म में निष्ठावान् व्यक्ति सम्यक् सिद्धिलाभ करता है इस प्रकार आरम्भ करके हे कौन्तेय ! सिद्धि-प्राप्त-व्यक्ति जिस प्रकार ब्रह्म लाभ करता है वह मुझसे समझ लो[3] यह कहकर विशुद्ध-बुद्धियुक्त होकर धैर्य्य के द्वारा चित्त को संयत कर[4] नित्य ध्यानयोगपरायण एवं वैराग्यशाली होकर[5]—एवं हमारे स्वरूप हमको स्वरूपतः जानकर उसी ज्ञान के परिपाक से हममें ही प्रविष्ट होते हैं[6] इस प्रकार कहकर नित्य कर्म के द्वारा गीतोक्त सिद्धि शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य विशुद्धान्तःकरण पुरुष का ध्यानयोगादि-सहकारिसम्पन्न होने के बाद तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के द्वारा मोक्ष लाभ करते हैं। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि नित्य कर्मानुष्ठान के द्वारा संस्कृत होने से अन्तःकरण विशुद्ध होता है एवं कर्मानुष्ठान-जनित-संस्कार के द्वारा विशुद्धान्तःकरण पुरुष को ध्यानयोगादि-सहकारि-साधन-लाभ होने से तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति को द्वार बना कर मोक्ष का लाभ होता है। **स्वे स्वे कर्मणि** इस गीता वाक्य के द्वारा नित्य कर्म को कहा गया है, संसिद्धि शब्द के द्वारा ब्रह्मज्ञान-योग्यता-प्राप्ति रूप-चित्तवैमल्य कहा गया है। अर्थात् संसिद्धि शब्द के द्वारा यही कहना चाहते हैं कि चित्त की निर्मलता अर्थात् वह ब्रह्मज्ञान लाभ के योग्य सम्पन्न होता है यही विवक्षित है। संसिद्धि

---

१ त० दी०, पृ० ६८१

२ गी० अ० श्लो० ४०

३ गी० अ० १८ श्लो० ४५

४ गी० अ० १८ श्लो० ५१

५ गी० अ० १८ श्लो० ५२

६ गी० अ० १८ श्लो० ५५

से परम सिद्धि अर्थात् मोक्ष जो बाद में विशते तदनन्तरम् इसे कहा गया है और भी पहले कहा जा चुका है कि योगी संग का त्यागकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म करते हैं यह भी सुस्पष्ट है। इसी प्रकार देव-पितृ-भूत-मनुष्य-ब्रह्मयज्ञ-रूप पंचमहायज्ञ रूप और दर्शपूर्णमासादि जो यज्ञ हैं, इनके द्वारा सूक्ष्म शरीर को ब्रह्माभिव्यक्ति के योग्य किया जाता है। इस प्रकार पापकर्म का क्षय होने से पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है। कर्मानुष्ठान के द्वारा रागद्वेषादि रूप कषाय नष्ट होने पर ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार के प्रमाण से यही उपसंहार किया जा सकता है कि यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः इस स्मृति वाक्य में कथित संस्कार-शब्द-सामर्थ्य-प्रयुक्त और गीतादि-स्मृति सामर्थ्य से नित्यकर्मसमुदाय मलापकर्षण एवं गुणाधान रूप संस्कार पुरुष में उत्पादन करता है और उसीको द्वार बनाकर पुरुष को आत्मज्ञान लाभ के योग्य बना देता है एवं यह निष्पादन कर तत्त्वज्ञान का जनक होकर मोक्ष में ज्ञान के साथ समुच्चय लाभ करता है। इस प्रसंग में मीमांसक आचार्यों की उक्ति भी दृष्टान्त में ली जा सकती है— जैसे व्रीहि का प्रोक्षणादि कर्म संस्कार कर्म है, यह संस्कार कर्म दर्शपूर्णमास याग का स्वरूप निष्पादक है। व्रीहि प्रोक्षणादि संस्कार कर्म नहीं रहने से दर्शपूर्णमासयागादि का स्वरूप ही उपपन्न नहीं हो सकता है। दर्शपूर्णमासयाग का फल है स्वर्ग उसी स्वर्ग रूप फल में संस्कार रूप फल का समुच्चय होता है[1]।

इसमें एक प्रश्न फिर उठता है कि नित्यानित्यकर्म-समुदाय ब्रह्मज्ञान के शेषरूप में परिगणित नहीं हो सकते हैं। कारण, इसमें अनधिकृताधिकारत्व-प्रसंग की आपत्ति हो जायगी। इसका आशय यह है कि दर्शपूर्णमास में अधिकारी का ही जैसे प्रोक्षणादि अनुष्ठेय होता है इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानादि भी पुरुष का भी नित्यादि कर्म अनुष्ठेय होने के कारण पृथक् रूप में अनुष्ठान भी नहीं हो सकता है और नित्यानित्य स्वतन्त्र फल का साधन भी नहीं हो सकता है। चित्त-शुद्धि रूप स्वतन्त्र फल का निर्देश पूर्व में किया है वह भी सम्भव नहीं है और पर्यवसान में यही होगा कि

१ स्वे स्वे कर्मणीति च नित्यकर्माण्युच्यन्ते। संसिद्धिशब्देन चात्मवैमल्यं ब्रह्मज्ञानयोग्यतापत्तिरुच्यते, परमसिद्धेस्तत्राभिधानात्, योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये इत्युक्तत्वाच्च · ... ... यथा व्रीहिप्रोक्षणादीनि संस्कारकर्माणि दर्शपूर्णमासस्वरूपोत्पत्तिहेतुतया स्वर्गे समुच्चीयन्त इति। वि०, पृ० ६८५

प्रोक्षणादि के बराबर नित्यकर्म-समुदाय गुणकर्म ही हो जायगा अर्थात् प्रोक्षणादि के समान वह भी स्वतन्त्र फल-साधन नहीं रहेगा[1]।

इसके उत्तर में समुच्चयवादी कहते हैं कि इस प्रकार का सन्देह अनुचित है। कारण, विधेयदर्शपूर्णमासादि कर्म में जो अंग द्रव्य है उसीका संस्कार-कर्म में अधिकृताधिकारत्व-नियम है। किन्तु ब्रह्मज्ञान अविधेय है इसलिए नित्यादिकर्म में जो विधेय है उसका जो अंग द्रव्य है उस अंग द्रव्य का संस्कारार्थत्व नहीं हो सकता है, अर्थात् विधेय जो कर्म है उसका जो अंग द्रव्य उसका संस्काराधायकत्व नित्यादि कर्म में नहीं रह सकता है यही प्रोक्षणादि संस्कार-कर्म में वैलक्षण्य है। ब्रह्मज्ञान तो विधेय नहीं है, अतः, नित्यादि कर्म में संस्काराधायकत्व नहीं रह सकता है। प्रकृत स्थल में आत्मा में संस्काराधान विवक्षित है और संस्क्रियमाण जो आत्मा उसमें विधेय कर्म का गुणत्व नहीं रह सकता है। कारण, ब्रह्मज्ञान अविधेय है यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि दर्शपूर्णमासादि विहित कर्म है, उसके अंग द्रव्य व्रीहि-प्रभृति का प्रोक्षणादि कर्म के द्वारा संस्काराधान होता है। इसलिए प्रोक्षणादि गुण कर्म रूप में परिगणित होते हैं। प्रधान कर्म तो दर्शपूर्णमास ही है। किन्तु प्रकृतस्थल में इसमें वैलक्षण्य है, ब्रह्मज्ञान अविधेय है यह दर्शपूर्णमास के समान विहित नहीं हुआ है और इसके लिए नित्यानित्य कर्म के द्वारा जो आत्मा में संस्कार होता है वह कर्म-समुदाय गुण-कर्म रूप में अर्थात् प्रोक्षणादि के समान परिगणित नहीं होता है[2]।

इसमें शंका होती है कि नित्यानित्य कर्मादि को संस्काराधायक कर्म स्वीकार किया गया है, अत एवनित्यानित्य कर्म की संस्कार-कर्मता अन्यथा उपपन्न हो नहीं सकती है, अतः, ब्रह्मज्ञान को विधेय स्वीकार करना उचित है। आशय यह है कि विहित कर्म में जो अंगभूत कर्म है उसमें अतिशय का कारण जो कर्म है उसी कर्म को संस्कार कर्म कहा जाता है, प्रोक्षणादि में यह व्यक्त है। इस प्रकार प्रकृत स्थल में भी नित्यानित्य कर्म में संस्कार रूपता रखने के लिए ब्रह्मज्ञान को विधेय स्वीकार करना पड़ेगा[3]।

---

१ वि० पृ० ६८५
२ वि० पृ० ६८५
३ वि० पृ० ६८५

इसके उत्तर में उत्तरपक्षी का कथन है कि भोजन विहित नहीं है फिर भी उसके अंग द्रव्य दधि में संस्कार प्रसिद्ध है यह पूर्व में ही कहा जा चुका है कि दधि-संस्कार तृप्ति-साधन जो भोजन है उसका अंगभूत जो दधि है उसी के शेष में यह संस्कार परिगणित होता है। इसलिए ब्रह्मज्ञान में विधि स्वीकार करना आवश्यक नहीं है[1]।

इसमें यह आशंका होती है कि श्रुति में नित्यानित्य-कर्म-समुदाय को फल के साधन के रूप में कहा है। फल सम्बन्धी जो होता है वह प्रधान होता है, अत एव नित्यानित्य-कर्म ज्ञान का अंग कैसे हो सकता है? विधि अर्थात् भावना जहाँ उद्देश्य है उसमें तरल रूप में विहित जो नित्य कर्म वह दध्यादि संस्कार के समान आत्मज्ञान के इति-कर्तव्यतारूप में प्राप्त हो रहा है यह कहना सर्वथा अनुचित है। कारण, इतिकर्तव्यता करणता-विरोधिनी है। इतिकर्तव्यता कर्तव्यता का प्रकार अंगस्थानापन्न है, इसलिए विहित नित्य-कर्म-समुदाय ब्रह्मज्ञान का अंग कहा जाय तो विरोध हो जायगा। इसमें जिज्ञासा होती है कि करण को अंग रूप में स्वीकार करलेने में वस्तुगत विरोध है या नहीं इसमें प्रमाण नहीं है। इसमें प्रथम पक्ष निर्मूल है अन्यत्र स्वतन्त्र विध्यन्तर के द्वारा सौत्रामणि याग और बृहस्पति सवन करण रूप में विहित हुआ है फिर भी ये दोनों अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत, वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत इन श्रुति वाक्यों के द्वारा सौत्रामणि की अग्नि चयन में और बृहस्पति सवन की वाजपेय में अंग रूप से इतिकर्तव्यता देखी गई है। इसमें सिद्धान्ती का कथन है कि प्रदर्शित स्थल में करण और इतिकर्तव्यता विधायक प्रमाणीभूत जो विधि वाक्य है, उसकी भेद-निबन्धन सौत्रामण्यादि याग की करणता और इतिकर्तव्यता सिद्ध हो सकती है। अत एव उस स्थल में करणता के साथ इतिकर्तव्यता का कोई विरोध नहीं हुआ। कारण, करण और इतिकर्तव्यता विधायक प्रमाणीभूत विधि वाक्य भिन्न भिन्न है अर्थात् जिस वाक्य के द्वारा सौत्रामण्यादि याग की करणता का विधान है उससे भिन्न वाक्य के द्वारा उसकी इतिकर्तव्यता का विधान हुआ है, इसलिए परस्पर कोई विरोध नहीं है।

१ अविहितभोजनांगदधिसंस्कारप्रसिद्धेः। वि० पृ० ६८५

उभयार्थत्व का जो दृष्टान्त प्रदर्शन किया है उसको सिद्धान्ती भी अंगीकार करते हैं, किन्तु इसके विरोध में प्रतिपक्षी का कथन है कि प्रकृत स्थल में उभयार्थत्व (करणत्व और इतिकर्तव्यता) ग्राही प्रमाण के अभाव प्रयुक्त नित्य कर्म ज्ञान का अङ्ग नहीं बन सकता है। क्योंकि नित्य कर्म को कारण के रूप में कहा गया है उसमें इतिकर्तव्यता अर्थात् अंगरूपता नहीं हो सकती है[1]।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रकृत स्थल में अर्थ-विरोधाभाव-प्रयुक्त नित्य-विधिसामर्थ्य-प्रयुक्त नित्य कर्म-समुदाय की कारण रूप में स्वतन्त्र फल की अङ्गता रहेगी और संस्कार स्मृति के द्वारा अनुमित जो श्रुति उसके सामर्थ्य से संस्कार रूप में आत्मज्ञान की इतिकर्तव्यता नित्य कर्म में रहेगी। इस प्रकार की कल्पना करने से प्रकृत स्थल में भी करणता और इतिकर्तव्यता की व्यवस्था हो जायगी। कर्म की इतिकर्तव्यता स्वीकार करके भी सिद्धान्ती के विरोध का परिहार प्रदर्शन किया गया है। वस्तुतः पूर्वपक्षी ने जो कर्म में इति कर्तव्यता-रूप अङ्गत्व का आपादन किया है, यही अनुचित है। इसमें प्रश्न होता है कि विहित कर्म का जो अङ्ग द्रव्य है उसका संस्कार इतिकर्तव्यता रूप में परिगणित नहीं होने पर भी शुद्ध इतिकर्तव्यता का साधक हो जायगा।

यह भी शंका अयुक्तिक है। कारण, दर्शपूर्णमासादि के लिए जो अग्नि है उसका आधान के द्वारा संस्कार होता है, परन्तु यह आधान अङ्ग रूप में (इतिकर्तव्यता) परिगृहीत नहीं होता है, इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी संस्कारमात्राधायक होने से ही अङ्गत्व-कल्पन उचित नहीं है। इसमें प्रतिवादी का कथन है कि यह दृष्टान्त सर्वथा विषम है। क्योंकि व्रीहि अङ्ग है, इसीलिए

---

१ ननु विध्युद्देशे करणतया विहितानां नित्यकर्मणां करणताविरोधिनी द्रव्यादिसंस्कारवदात्मज्ञानेतिकर्तव्यता प्राप्ता, नैष दोषः, अग्निं चित्वा सौत्रामण्या यजेत वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेतेति सौत्रामणीबृहस्पतिसवनयोरन्यत्र करणतया स्वतन्त्रविध्यन्तर्गयोरितयोरग्निचयन-वाजपेयांगतयोनिकनेकयादर्शनात् ⋯ ⋯ सौत्रामण्यादेरुभयथात्वमिति चेत्, सत्यम्।
वि० पृ० ६८५—६८६

उसका प्रोक्षणादि संस्कार भी अङ्ग बन सकता है, परन्तु दर्शपूर्णमासादि के लिए जो अग्नि है वह यहाँ उद्देश्य है अङ्ग नहीं है, इसीलिए उसका संस्कार भी अङ्ग नहीं है, किन्तु यह कथन अनुचित है। क्योंकि प्रकृत स्थल में भी वही स्थिति है। यहाँ भी संस्कृत-विशुद्ध-अन्तःकरण विरक्त जो विविदिषु है उसीको उद्देश्य करके श्रवणादि का ज्ञान साधन रूप में विधान करता है[1]। जैसे दृष्टान्त में आधान के द्वारा अग्नि-संस्कार और वही संस्कृत अग्नि उद्देश्य है वैसे ही प्रकृत स्थल में भी नित्यानित्य कर्म अन्तःकरण में संस्काराधायक हुआ और संस्कृत विशुद्धान्तःकरण विविदिषु को उद्देश्य कर ज्ञान साधन श्रवणादि का विधान हुआ। अर्थात् पूर्वोक्त गुणसम्पन्न विविदिषु ज्ञान-साधन श्रवणादि का अनुष्ठान करेगा। इसमें पुनः शंका होती है कि संस्कृत अग्नि में होम के समान संस्कृतान्तःकरण-पुरुष के द्वारा श्रवणादि अनुष्ठेय स्वीकार किया जाय तब तो पूर्वोक्त चत्वारिंशत् कर्मोदय के पूर्व में श्रवणादि के अनुष्ठान की आपत्ति होगी, किन्तु यह कथन भी अनुचित है, कर्म साक्षात् ज्ञान का उत्पादक नहीं है, वरन् चित्त की शुद्धि और प्रत्यक् प्रवणता को द्वार करके ज्ञान का उत्पादन करता है। जहाँ चित्त की विशुद्धि और प्रत्यक् प्रवणता को द्वार करके ज्ञान का उत्पादन करता है। वहाँ चित्त की विशुद्धि और प्रत्यक्-प्रवणता प्रत्यक्षतः ज्ञात होगी, यहाँ यह समझना चाहिए कि यह कर्मानुष्ठान का ही फल है। ये दोनों जन्मान्तरीण कर्म के द्वारा भी सम्भव हो सकते हैं। इसीलिए अपने चित्त की विशुद्धि और प्रत्यक्प्रवणता ज्ञात होने से जन्मान्तरीण कर्म का अनुमान होता है और चित्त शुद्धि होने से कर्म से निवृत्त हो गया और सकलकर्म परित्याग-पूर्वक ज्ञान के अन्तरंग साधन श्रवणादि में प्रवृत्त हो जायगा। अत एव जैसे स्वतन्त्र विध्यन्तर के द्वारा विहित द्रव्यार्जन सहकारी कारण के समवधान भेद से क्रतु और भोग इन दोनों का अङ्ग बन सकता है इसी प्रकार नित्य कर्म भी सहकारी के भेद-प्रयुक्त आत्मज्ञान और अभ्युदय का शेष हो सकता है इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रसंग में स्वतन्त्र विधि शब्द से अनंग विधि समझना चाहिए, उसके द्वारा विहित द्रव्यार्जन आस्तिक बुद्धि के प्राबल्य से क्रतु का शेष बनता है और रागादि के प्राबल्य से भोग का शेष होता है। इसी प्रकार कर्म भी श्रवणादि सहकारी के लाभ से

---

१ वि०, पृ० ६८६

आत्मज्ञान का शेष है अन्यथा अभ्युदय का अङ्ग होता है। भेदाभेदवादी भट्टभास्कर ने नित्यानित्यकर्म-समुदाय को संस्कारार्थत्व स्वीकार नहीं करते हैं। इनका कथन है कि कुर्वन्नेवेह कर्माणि जीजीविषेच्छतं समाः इत्यादि वाक्य के प्रमाण से नित्यकर्म समुदाय का ही ज्ञान होता है इसका स्वतन्त्र फल नहीं है। इसलिए नित्यकर्म को संस्कार का द्वार बनाकर ब्रह्मज्ञानार्थत्व कल्पन करना समीचीन नहीं है।

भट्टभास्कर का यह कथन सर्वथा असमीचीन है। इस प्रकार के कथन से वे शास्त्रार्थ विभाग के ज्ञान से शून्य है यही मालूम होता है। शास्त्रार्थ-व्यवस्था विवरणाचार्य के अभिप्रायानुसार इस प्रकार हो सकती है कुर्वन्नेवेह आदि वाक्य का अविरक्त पुरुष विषय है और तद्भिन्न विविदिषादि वाक्य का विरक्त पुरुष विषय है। क्योंकि भट्टभास्कर परमहंस के विरोधी हैं अत एव वह सर्वथा उपेक्षणीय है। इस प्रबन्ध के द्वारा यही प्रतिपादन किया गया है कि तमेतं इत्यादि वाक्य कर्म समुदाय संस्कार के द्वारा ब्रह्मज्ञान का हेतु है यही प्रतिपादन करता है। पूर्वोक्त विश्लेषण से यही आशय निकलता है कि तमेतं इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्म-समुदाय संस्कार के द्वारा ब्रह्मज्ञान का हेतु है।

परन्तु इसमें एक आपत्ति है कि तमेतं इत्यादि वाक्य से संस्कार कर्मत्व की प्रतीति नहीं होती है, अतः, पूर्वोक्त सिद्धान्त में असंगति तो सुस्पष्ट है। अत एव इसका समाधान प्रदर्शन करना तो सर्वथा उचित है।

विवरणकार कहना चाहते है कि उत्पत्तिविधि[1] से विहित सभी कर्म संयोग-पृथक्त्व[2] न्याय के द्वारा विध्यन्तर में परिणत हो सकता है, जैसे याव-

---

१ कर्म स्वरूप मात्र बोधक विधि को उत्पत्ति विधि कहा जाता है। अधिकार विधि ... फल सम्बन्ध बोधक जो विधि है उसको अधिकार विधि कहते हैं। अधिकार शब्द का अर्थ है फल या फल का स्वामित्व।

२ सभी कर्मों की फलश्रुति वेदवाक्य में है, तत्तत् फल के लिए विहित कर्म-समुदाय का यदि किसी फलान्तर के लिए विधान किया जाय तब उस स्थल में संयोग-पृथक्त्व न्याय प्रवृत्त होता है। पहले तो ब्रह्मानुभव के लिए कर्म

ज्जीवमग्निहोत्रं जुहूयात्, स्वर्गकामो यजेत इत्यादि वाक्य में उत्पत्ति विधि के द्वारा अग्निहोत्रादि कर्म विहित हुआ है परन्तु संयोग-पृथक्त्व न्याय के बल से ब्रह्मानुभवकामो यज्ञादीननुतिष्ठेत् इस प्रकार विध्यन्तर की कल्पना की जा सकती है।

समुदाय विहित नहीं हुआ था, ये सब कर्म स्वर्गादि फल के लिए ही विहित हुये थे, किन्तु अभी पूर्वोक्त न्याय से ये यज्ञादि कर्म ब्रह्मानुभव के लिए भी विहित हुए हैं। प्रश्न हो सकता है कि यह किस प्रकार सम्भव होगा? इस न्याय का आशय यह है कि आत्मतत्त्व की अपरोक्षानुभूति मुमुक्षु को अभिलषित है, इसलिए स्वर्गादि के समान भावनासाध्य है यह स्पष्ट प्रतीत होता है। कारण आत्मतत्त्व का अपरोक्ष अनुभव पुरुषार्थ है। आत्म-विषयक शाब्द-ज्ञान उत्पन्न होने से आत्मविषयक कामना उपपन्न नहीं हो सकती है। कारण, प्रकृत स्थल में ब्रह्मानुभव-कामः इसके द्वारा ज्ञान की ही कामना कही जा रही है। इसलिए ज्ञान उत्पन्न होने के कारण तद्विषयिणी कामना नहीं हो सकती है और यदि ज्ञान नहीं हो तब तो विषय की इच्छा भी नहीं हो सकती है। अत एव शब्दावगत विषय में अपरोक्ष ज्ञान की इच्छा होती है। शब्द के द्वारा अभी परोक्ष ज्ञान उत्पन्न हुआ है और अब अपरोक्ष ज्ञान की इच्छा हुई है। यह अपरोक्षज्ञान यत्नान्तर साध्य है—यह पूर्व में ही कहा जा चुका है। अब यह प्रश्न हो रहा है कि अपरोक्षानुभव भाव्य होने पर भी भावना के करण रूप में यज्ञादि विहित है। अब ब्रह्मानुभव के करण रूप में किस प्रकार हो सकता है? इस प्रकार प्रश्न के उत्तर में यही कहा गया है कि आख्यातोक्त भावना के करण रूप में यज्ञादि कर्म अन्वित होता है यह पूर्व में अवगत होने पर भी इच्छा के विशेषण रूप में गुणीभूत ज्ञान के साथ यज्ञादि कर्म का अन्वय हो सकता है। ब्रह्मानुभव काम शब्द में काम शब्द का अर्थ है इच्छा और उसमें विशेषण है ब्रह्मानुभव, इच्छा का विषय होनेसे ही वह गुणभूत हो गया प्रधान नहीं रहा। ऐसी स्थिति में यज्ञादि कर्म करण रूप में अनुभव के साथ अन्वित होगा और ब्रह्मानुभवकामः यज्ञादीननुतिष्ठेत् इस प्रकार की विधि अनायास नहीं हो सकती है। इनमें प्रश्न हो सकता है कि यज्ञादि कर्म ब्रह्मानुभव का साधन न होकर विविदिषा अर्थात् इच्छा का साधन क्यों

संयुज्यतेऽनेनेति संयोगः, इस करण व्युत्पत्ति के द्वारा यह शब्द निष्पन्न हुआ है। सम्बन्धान्तर बोधक श्रुति वचन को संयोग कहा जाता है। एक ही वस्तु उभय-प्रयोजनक होने में संयोग अर्थात् सम्बन्धान्तरबोधक श्रुति वचन का पृथक्त्व अर्थात् भेद कारण है। तात्पर्य यह है कि यदि सम्बन्धान्तर बोधक श्रुति वचन रहे तब एक ही वस्तु क्रत्वर्थक और पुरुषार्थक हो जायगी अर्थात् एक ही में क्रत्वर्थता और पुरुषार्थता रहेगी। अर्थ शब्द का अर्थ प्रयोजन होता है। इसके उदाहरण में कहा जा सकता है कि अग्निहोत्र प्रसंग में इस प्रकार का वाक्य है कि दधि से हवन करे (दध्ना जुहोति) दध्नेन्द्रियकामस्य जुहूयात् इति इनमें पूर्व वाक्य के द्वारा दधि होम का साधक अर्थात् क्रत्वर्थ रूप में (होम के अङ्ग रूप में) प्रतिपादित हुआ है। और द्वितीय वाक्य के द्वारा इन्द्रिय का बल बढ़ाने के लिए दधि के द्वारा होम प्रतिपादित हुआ है। इस स्थल में दधि पुरुषार्थ का साधन हुआ है। इसीलिए अब सन्देह होता है कि दधि में क्रत्वर्थता है या पुरुषार्थता है अथ वा उभयार्थकता? इस संशय में इस प्रकार पूर्व पक्ष होता है कि दध्नेन्द्रियकामस्य इस वाक्य में फल सम्बन्ध का श्रवण होने से और दध्ना जुहोति इस वाक्य में फलश्रुति नहीं रहने के कारण अधिकार रहित है, इससे परवर्तिवाक्य में अधिकार-निर्देश-प्रयुक्त अधिकतर बलवान् होने से उसके द्वारा दधि की पुरुषार्थता ही प्रतीत होती है। इस प्रकार पूर्व पक्ष होने पर सिद्धान्त में कहा गया है कि परस्पर साकांक्ष वाक्य द्वय में ही एक वाक्यता होती है। कारण, जैमिनि ने कहा है अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्

नहीं होगा? इस प्रकार का प्रश्न सर्वथा असंगत है कारण इच्छा साध्यरूप से प्रतीत नहीं हुई है. विषय का सौन्दर्य रहने से ही उस सौन्दर्य के कारण की इच्छा होती है इसके लिए किसी विधि की अपेक्षा नहीं है। विविदिषन्ति यज्ञेन इस स्थल में वर्तमान में लकार है। इसमें कोई विधि प्रतीत नहीं हो रही है यह भी नहीं कह सकते हैं। कारण विविदिषन्ति यह लेट् लकार में निष्पन्न है, अतः, वह विधि का ही अनुवर्तन कर रहा है। नित्य और काम्य विधि के साथ इस विधि का किसी प्रकार विशेष नहीं है। नित्य विधि जिस प्रकार संयोग पृथक्त्व न्याय से काम्य के रूप में परिणत हो सकता है उसी प्रकार यह भी काम्य के रूप में परिणत हो सकता है। तब यही सिद्ध हुआ कि यज्ञादिकर्म ब्रह्मानुभवका साधन है और किस प्रकार साधन है इसका प्रतिपादन पूर्व में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

साकांक्षं चेद्विभागे स्यात् वाक्यों का विभाग करने से यदि वाक्यद्वय परस्पर साकांक्ष हो जाय और एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करें, उसी स्थल में दोनों में एकवाक्यता रहती है। जहाँ वाक्यद्वय निराकांक्ष हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न करने से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है उस स्थल में एकवाक्यता नहीं होती है। अग्निहोत्रं जुहोति इस स्थल में उत्पति विधि है और दध्ना जुहोति इस वाक्य में विनियोग विधि हैं। अङ्गी के साथ अङ्ग का सम्बन्ध बोधक जो विधि है वही विनियोग विधि है। पूर्व वाक्य का अर्थ हुआ कि अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेत् अर्थात् अग्निहोत्र होम से अपने इष्ट का साधन करे। प्रश्न होता है कि अग्नि स्वयं किसके द्वारा सिद्ध होगा ? होम अग्हिोत्रं जुहोति इस प्रकार वाक्य के द्वारा एक बार विहित है अतः, उस विहित का पुनः विधान नहीं होता है। अतः, दध्ना जुहोति इस होम की विधि नहीं है, परन्तु पूर्वप्राप्त अर्थात् वचनान्तर से प्राप्त होम का अनुवाद कर दधि रूप गुण का विधान किया गया है। गुण शब्द का अर्थ अङ्ग होता है अत एव इस वाक्य का पर्यवसित अर्थ हुआ—दध्ना होमं भावयेत्। हु धातु का अर्थ है होम यह होम पूर्व में ही अग्नि-होत्रं जुहोति इस वाक्य के द्वारा होम इष्ट का साधन (करण रूप में) विहित हुआ है। इसीलिए दध्ना जुहोति इस वाक्य के द्वारा पुनः होम का विधान नहीं हो सकता है, परन्तु पूर्व वाक्य विहित उसी होम के उद्देश्य में होम के गुण रूप में विहित हुआ है। गुण अङ्ग और साधन ये पर्यायवाक्य है। इस प्रसंग में कुमारिलभट्ट ने तन्त्रवार्तिक में कहा है—

सर्वत्राख्यातसम्बद्धे श्रूयमाणे पदान्तरे।
विधिशक्त्युपसंक्रान्ते स्याद् धातोरनुवादता॥

दधि के बिना होम सम्भव नहीं है, अत एव दधि तो अप्रत्याख्येय अर्थात् नित्य कहा गया है। नित्य और अप्रत्याख्येय समानार्थवाचक है। जहाँ काम्यत्व है वहाँ प्रत्याख्येयत्व भी है अवश्यकरणीयत्व नहीं है। इसीलिए नित्यत्व और काम्यत्व भिन्न है। काम्य नहीं करने से भी कोई प्रत्यवाय नहीं है। प्रकृत स्थल में सम्बन्ध विधायक वाक्य भिन्न होने के कारण नित्यत्व और काम्यत्व का कोई विरोध नहीं होगा।

इसमें एक प्रश्न होता है कि तमेतं विविदिषन्ति इस स्थल में यज्ञादि और विविदिषा में विनियोग प्रतीत होता है किन्तु ब्रह्मानुभव में यज्ञादि का विनियोग नहीं कहा गया है इच्छा का विषय होने के कारण विविदिषा पद के द्वारा अनुभव इष्यमाण है यह तो सुस्पष्ट है। इसलिए इष्यमाण अनुभव के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध होने पर भी ब्रह्मानुभव की प्रतीति वेद-वाक्य शब्द से ही होती है। इसलिए ब्रह्मानुभव के लिए यज्ञादि तो अनुष्टेय नहीं हो सकता है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का आशय तत्त्वदीपनकार ने इस प्रकार कहा है—आपाततः इच्छा में ही यज्ञादि का विनियोग प्रतीत होता है, किन्तु इच्छा स्वतः पुरुषार्थ-पर्यवसायिनी नहीं है, इसलिए यज्ञादि को इच्छा में विनियोग की अनुपपत्ति होने के कारण अनुभव में (वेदन में) ही यज्ञादि का विनियोग कहना चाहिए। और इसी प्रसंग में वेद वाक्य से कहता है कि ब्रह्मविषयक जो अनुभव है वह भी अपुरुषार्थ है क्योंकि वहाँ पर परोक्ष अनुभव है ब्रह्म का परोक्ष अनुभव तो मोक्ष अर्थात् पुरुषार्थ नहीं है इसलिए उसके साथ भी यज्ञादि का सम्बन्ध नहीं हो सकता है और ब्रह्मानुभव पद का अभिधेय जो अप्रतिबद्ध-ब्रह्मविषयक-अपरोक्ष ज्ञान है वह श्रवण काल से उत्पन्न सम्भव नहीं है, इसलिए उस अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान अपेक्षित है।

इस प्रकार विवरण का आशय प्रकृत स्थल में तत्त्वदीपन में व्यक्त किया है। इस प्रसंग में तमेतं इस पद पर विशेष ध्यान आवश्यक है। इस पद के द्वारा आत्मतत्त्व का अर्थात् ब्रह्म का अपरोक्षानुभव ही इच्छा का विषय प्रतीत होता है इसलिए यह आत्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव स्वर्गादि के समान भावनासाध्य है यही प्रतीत होता है। अर्थात् स्वर्गादि जिस प्रकार आर्थी भावना पुरुषप्रयत्न से निष्पाद्य है उसी प्रकार आत्मतत्त्व विषयक अपरोक्ष अनुभव भी वेदनरूप-भावना-साध्य है, विशेषतः जो पुरुषार्थ है वही साध्य होता है, आत्मतत्त्वापरोक्षानुभव में स्वर्ग के समान पुरुषार्थता स्पष्ट प्रतीत होती है। तमेतं इस श्रुति के द्वारा आत्मतत्त्व का शाब्द ज्ञान ही इच्छा का विषय है, यह नहीं समझना चाहिए। कारण, आत्मतत्त्व का शाब्द ज्ञान ही यदि विविदिषन्ति इस वाक्य के द्वारा इष्यमाण होता तब तमेतं इत्यादि वाक्य के द्वारा शाब्द-ज्ञान होने के बाद आत्मतत्त्वविषयक शाब्द-ज्ञान इष्यमाण नहीं होता, अर्थात् ब्रह्मानुभवकामो

यज्ञादीननुतिष्ठेत् इस वाक्य के अनुसार उसमें कामना उत्पन्न नहीं होगी। आत्म-तत्त्व-विषयक-शाब्द-ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने पर आत्मतत्त्वरूप जो विषय है उसका ज्ञान नहीं रहने से वह मोक्ष इष्यमाण नहीं होगा, अर्थात् विषय का ज्ञान न रहने से उसकी कामना सम्भव नहीं होगी। अत एव आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं रहने से आत्मतत्त्व-विषयक-शाब्द-ज्ञान इष्यमाण नहीं हो सकता है। इस-लिए तमेतं इस वाक्य से आत्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव ही इष्यमाण है। ऐसी स्थिति में आत्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव में तमेतं इस वाक्य के द्वारा कामना हो सकती है, अर्थात् आत्मतत्त्वापरोक्षानुभव कामना का विषय हो सकता है। शाब्द-ज्ञान उत्पन्न होने के बाद विषय का सामान्यतया ज्ञान होता है, किन्तु जहाँ शब्द ही अपरोक्ष ज्ञान का जनक है उस स्थल में ही अपरोक्ष ज्ञान चंचल होने के कारण निश्चल अपरोक्ष ज्ञान कामना का विषय हो सकता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि शब्द के द्वारा आत्मतत्त्व-विषयक जो अपरोक्षज्ञान है वही तमेतं इत्यादि वाक्य के द्वारा प्रतिपादित नहीं है। कारण शब्द के द्वारा अप-रोक्ष ज्ञान चंचल होने के कारण तमेतं इस वाक्य के द्वारा निश्चल आत्मतत्त्व का अपरोक्षानुभव होता है[1]।

इस प्रसंग में ऋजुविवरणकार ने जिस आक्षेप का समाधान विवरणकार करना चाहते हैं उस आक्षेप का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया है—प्रश्न होता है कि आत्म-ज्ञान भी ब्रह्मानुभव-काम पद के द्वारा साध्य रूप में प्रतीत नहीं होता है। कारण, वह इच्छा का विशेषण होने के कारण इच्छा के द्वारा अप्रधान हो गया है और इस आत्म-ज्ञान में पुरुषार्थ रूप जो मोक्ष उसकी साधनता नहीं है, परोक्ष रूप आत्मानुभव की अपुरुषार्थता पूर्व में कही गई है। इसलिए इस आत्मज्ञान के लिए यज्ञादि का कैसे विनियोग हो सकता है? इसलिए ब्रह्मानु-भवकामः इत्यादि वाक्य में साध्यसाधनभाव अवगत होने के कारण इसका आन-र्थक्य परिहार करने के लिए विधि में पर्यवसान कराना पड़ेगा और विधि की कल्पना करने से विधि के घटक पदों का भावनानुसारी उसका सम्बन्ध कहना पड़ेगा। भावना भी पुरुषार्थ भाव्य-करण और इतिकर्तव्यता (पुरुषार्थ

---

1 वि० प्र० सं०, पृ० ५४१

ही भाव्य होता है) की अपेक्षा करती है, अतः, पुरुषार्थ मोक्ष ही भाव्य कहना पड़ेगा। ज्ञान करण-स्थानापन्न है और इस करण की उपकाराकांक्षा में यज्ञादि को सन्निपत्योपकारक होना सम्भव नहीं है, अतः, इसको आराद् उपकारक ही कहना चाहिए[1]।

विविदिषन्ति इस वाक्य में आख्यात के द्वारा भावना प्रतीत होती है। यह भावना, भाव्य, करण और इतिकर्तव्यता की आकांक्षा में इष्यमाण वेदन भाव्य रूप में यज्ञादिकरण रूप में और शमादि इतिकर्तव्यता रूप में अन्वित होता है। भाव्य की निर्वृत्ति द्वारा करण भावना का करण बनता है, भावना का भाव्य जो है उसी के सम्पादन द्वारा भावना का करण होता है यही सिद्धान्त है और इसका फल यह हुआ कि पूर्व वाक्य में (ब्रह्मानुभव-काम) यज्ञादि का ब्रह्मानुभव के करण रूप में अन्वय सिद्ध होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि नित्यानित्यकर्मसमुदाय का किस प्रकार ब्रह्मानुभव के करण रूप में अन्वय हो सकता है? कारण, इससे नित्य कर्म का फल के साथ सम्बन्ध-बोधक जो विधि है और काम्यकर्म का फल के साथ सम्बन्ध बोधक जो विधि है वह अधिकार विधि है। यदि यज्ञादि का ब्रह्मानुभव फल के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया जाय तब तो नित्य-कर्म और काम्य-कर्म-विषयक जो अधिकार विधि है उसके साथ विरोध सर्वथा अपरिहार्य हो जायगा।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि यह तो पूर्व में ही कहा जा चुका है कि नित्यकर्म रूप में विहित जो अग्निहोत्र वह संयोग-पृथक्त्व-न्याय से काम्य भी हो सकता है। एक ही कर्म को लेकर अनेक अधिकार विधि संभव है, यह

---

१ ननु नात्रात्मज्ञानस्यापि साध्यतया प्रतीतिरस्ति, इच्छोपसर्जनतयावगमात् अपुरुषार्थत्वाच्च। अतः कथं ज्ञानार्थत्वेन विनियोगः? किन्तु साध्य-साधनभावावगतेआनिर्थक्यपरिहाराय विधिपरत्वाद् विधौ च भावनापुरस्सर एव पदानामन्वयः। भावना च पुरुषार्थं भाव्यमपेक्षते, इति मोक्षो भाव्यः, ज्ञानं करणम्, तत्र करणोपकाराकांक्षायां यज्ञादीनां सन्निपातित्वासंभवादाराद्दुपकारकत्वं निश्चीयते। (ब्र० वि०, पृ० ६८७)

पूर्व में कहा गया है कि कर्म के साथ फल सम्बन्ध-बोधक जो विधि है वही अधिकार विधि है। एक ही कर्म का विभिन्न प्रकार के फल के साथ सम्बन्ध कराने के लिए अनेक अधिकार विधि हो सकती है इसमें अग्निहोत्र को उभयथा नित्य और काम्य रूप में विधान ही प्रमाण है। यह तो स्पष्ट है कि नित्य कर्म और काम्य कर्म का फल विलक्षण है। नित्य कर्म का फल के साथ सम्बन्ध बोधक जो नित्याधिकार विधि है, काम्य कर्म का फल के साथ सम्बन्ध बोधक जो काम्य विधि है, उनके द्वारा विहित कर्म समुदाय संयोगपृथक्त्व-न्याय से ब्रह्मानुभव में विनियोग लाभ करता है—यही सिद्धान्ती ने पूर्व में कहा है, किन्तु यह समीचीन नहीं है। कारण विविदिषन्ति यज्ञेन इस वाक्य में जो यज्ञादि शब्द है इस यज्ञादि पद के द्वारा प्रसिद्ध अग्निहोत्रादि यज्ञ का परामर्श नहीं हो हो सकता है। कारण, अग्निहोत्रादि कर्म प्रकरण में पठित है और विविदिषन्ति इस वाक्य के द्वारा उल्लिखित यज्ञादि कर्म प्रकरण से विच्छिन्न होकर पृथक् प्रदेश में प्रतिपादित हुआ है--जैसे **मासमग्निहोत्रं जुहोति** इस स्थान में जो अग्निहोत्र शब्द है वह प्रसिद्ध अग्निहोत्र शब्द का अभिधायक नहीं है। कारण, प्रसिद्ध अग्निहोत्र शब्द का जहाँ कथन है उस प्रकरण से यह विप्रकृष्ट है। इसलिए यह प्रसिद्ध अग्निहोत्र का वाचक नहीं हो सकता है। अतः, प्रकृत स्थल में यही कहना पड़ेगा कि उत्पत्ति और अधिकारविधि के द्वारा प्रसिद्ध अग्निहोत्रादि कर्म से भिन्न कर्मान्तर का ही एक साथ विधान हुआ है। इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कथन है कि यह कथन ठीक नहीं है **मासमग्निहोत्रं** जुहोति इस स्थल में हमलोग भी स्वीकार करते हैं कि यहाँ प्रसिद्ध अग्निहोत्र से व्यतिरिक्त कर्म का ही विधान है। कारण, किसी प्रकार के दुराग्रह से यदि ऐसा कहें कि मासमग्निहोत्रं जुहोति इस विषय के द्वारा प्रसिद्ध अग्निहोत्र का ही परामर्श होगा, तब उनसे हमलोगों को यही पूछना है कि पूर्वोक्त वाक्य में उच्चरित अग्निहोत्र शब्द के द्वारा ही प्रसिद्ध अग्निहोत्र का परामर्श हो जायगा अथवा जुहोति इस आख्यात के द्वारा ? पूर्वोक्त विकल्प असमीचीन है। कारण, कुण्डपायिनामयनमें जो अग्निहोत्र है वह प्रसिद्ध अग्निहोत्र प्रदेशान्तर में विहित होने के कारण उसका परामर्शक नहीं है। इसीलिए कुण्डपायिनामयनमें अवस्थित जो अग्निहोत्र शब्द है वह लोक प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग कर अलौकिक अर्थ का

ही बोधक होगा। अत एव प्रसिद्धार्थक जुहोति पद के समभिव्याहार से ही अपने अर्थ का प्रतिपादक हो जायगा यही कहना पड़ेगा, इसलिए आख्यात-परतन्त्र होकर ही यह अग्निहोत्र पद अपने अर्थका अभिधान करेगा। इसीलिए कुण्डपायिनामयनगत अग्निहोत्र शब्द स्वतन्त्रतया लोक में प्रदेशान्तर विहित अग्निहोत्र का परामर्शक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार द्वितीय विकल्प भी अनुचित है। कारण, जुहोति यह आख्यात कारक-मात्र-विशिष्ट-क्रिया-मात्र का अभिधायक है। अत एव उसका कोई व्यावर्तक नहीं रहने से आख्यात के स्वार्थ की परिसमाप्ति नहीं रहेगी। इसीलिए वह कुण्डपायिनामयन प्रकरण गत जो कारक-विशेष उसके द्वारा विशिष्ट जो अग्निहोत्र रूप कर्मान्तर उसका परित्याग कर प्रसिद्ध अग्निहोत्र का परामर्श करना इसके लिए असम्भव है। अग्निहोत्र शब्द किसी प्रकार किसी कर्मान्तर का वाचक होने के कारण इसके द्वारा मासगुणविशिष्ट-कर्मान्तर का ही विधान उचित है[1]।

प्रकृत स्थल में अर्थात् विविदिषा वाक्य में अध्ययन, दान, यज्ञ, तप और अनाशक शब्द का लौकिक अर्थ ही ग्रहण किया जाता है, अत एव वह स्वतन्त्र रूप में प्रदेशान्तर में विहित अध्ययनादि का परामर्श करता है। अतः, वह कर्म-समुदाय संयोग-पृथक्त्व-न्याय से ब्रह्मानुभव के कारण रूप से विधान किया जा सकता है।

पूर्वपक्षी कहना चाहता है कि मान लिया जाय कि अधिकारान्तर विधि के द्वारा विहित संयोग-पृथक्त्व-न्याय से अन्यत्र भी विनियोग के रूप में गृहीत हो सकता है, किन्तु इसमें एक आपत्ति है कि अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा कार्य-

---

१ कुण्डपायिनामयने अग्निहोत्रशब्दस्यालौकिकाभिधानत्वादाख्यातपरतन्त्रतया तदुक्तार्थाभिधायिनः स्वातन्त्र्येण प्रदेशान्तरविहिताग्निहोत्रपरामर्शकत्वानुपपत्तेराख्यातस्य च जुहोतेः सामान्यवाचिनः स्वसन्निहितकारकादिनिरूपितं कर्मान्तरं विहाय व्यवहिताग्निहोत्रपरामर्शित्वायोगात् कर्मान्तरमेव मासगुणविशिष्टं विधीयत इत्ययुक्तम्, इह त्वध्ययन-दान-तपो-नाशकशब्दानां लौकिकाभिधानतया स्वातन्त्र्यात् प्रदेशान्तरविहिताध्ययनादिपरामर्शोपपत्तेस्तान्येव कर्माणि संयोगभेदेन विधीयन्त इत्युपपद्यते। (वि०, पृ० ६८६)

कारणभाव का अवधारण होता है। कारण रहने से कार्य का रहना अन्वय है, कारण के न रहने से कार्य का न रहना व्यतिरेक है। किन्तु यज्ञादिजन्य अदृष्ट के साथ केवल व्यतिरेक रूप नहीं है, अर्थात् अदृष्ट के अभाव से ब्रह्मज्ञान का अभाव नहीं होता है, इसलिए यज्ञादि अन्य अदृष्ट ज्ञान का हेतु नहीं हो सकता है। ब्रह्मज्ञान प्रमिति है इसलिए जिस प्रकार अन्यत्र प्रमिति की कारणसामग्री से प्रमिति की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी प्रमिति होने के कारण प्रमिति की वलृप्त सामग्री से ही ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति हो जायगी इसमें अदृष्ट का उपयोग होगा। अदृष्ट व्यतिरिक्त प्रमासामग्री की सद्भाव दशा में अदृष्टाभाव-प्रयुक्त ज्ञान की उत्पत्ति का अभाव कहीं भी दृष्टिचर नहीं है। क्योंकि, ऐसा होता है कि प्रमासामग्री को समावधान में भी अदृष्ट न रहने से अदृष्टाभावापराधप्रयुक्त ज्ञानोत्पत्ति का अभाव नहीं देखा जाता है। अदृष्टाभाव के साथ ज्ञानोत्पत्त्यभाव का अगर व्यतिरेक रहता तब तो अदृष्ट को ज्ञानोत्पत्ति के हेतु रूप में ग्रहण किया जा सकता[१]।

इस प्रकार का प्रश्न विकल्पसह नहीं है, इस प्रकार प्रश्न करनेवाले को पूछा जा सकता है कि सर्वत्र कारणत्व को अन्वयव्यतिरेकाधीन आश्रय करके क्या व्यतिरेकाभाव प्रयुक्त अदृष्ट का ब्रह्मज्ञानहेतुत्व निराश करना चाहते हैं? अथ वा ब्रह्मज्ञान कारणान्तर से भी सम्भव हो सकता है, इसीलिए अदृष्ट की ब्रह्मज्ञानहेतुता निराश्रित है? प्रथम विकल्प के अनुसार व्यतिरेक को कारणत्व निश्चय का प्रयोजक मानने पर भी प्रकृत स्थल में कोई हानि नहीं है। दृष्ट पदार्थ का कारणत्व-कल्पन में अन्वय-व्यतिरेक प्रमाण है, केवल अन्वय एवं केवल व्यतिरेक के द्वारा नहीं वरन् इस उभय के द्वारा कारणत्व निश्चित होता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि कारणत्व निश्चय में केवल व्यतिरेक की जो अपेक्षा है वह दृष्ट पदार्थ में ही है। प्रकृत स्थल में शास्त्र के द्वारा ही यागजन्य अदृष्ट का ब्रह्मज्ञान में कारणत्व प्रतिपादित हुआ है। इसलिए यज्ञादि के साथ ब्रह्मज्ञान का व्यतिरेक

---

१ ननु एवमपि ब्रह्मज्ञानं दृष्टप्रमाणसामग्रीजन्यत्वाद् नादृष्टमपेक्षते, इति प्रमाणकारणे यज्ञाद्यभावाद् ज्ञानोदयादर्शनाभावात्, नैतत् दृष्टकारणकल्पनौ ह्यन्वय-व्यतिरेकप्रमाणान्तर्भूतत्वात् केवलव्यतिरेकस्य तदपेक्षा युज्यते।

(वि०, पृ० ६१०)

सहचार नहीं रहने पर भी कोई दोष नहीं होता है, इसका स्पष्ट प्रतिपादन इस प्रकार किया जा सकता है—विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग सुखोत्पत्ति का कारण है, विषयेन्द्रिय संयोग होने से ही सुखोदय देखा जाता है अदृष्ट नहीं है इसीलिए विषयेन्द्रिय-संयोग होने पर भी सुखोत्पत्ति नहीं होती है ऐसा कभी नहीं होता है। यद्यपि यह स्थिति देखी जाती है, तथापि सुखोत्पत्ति में अदृष्ट हेतु है यह श्रुति के द्वारा स्पष्ट प्रतिपादन हो रहा है। श्रुति में कहा गया है **पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा धर्मात्सुखं चेति** इसलिए अदृष्ट को जैसे सुखोत्पत्ति में हेतु स्वीकार किया जाता है अदृष्ट से सुखोत्पत्ति नहीं रहने पर भी, वैसे ही शास्त्रानुरोध प्रयुक्त अदृष्ट के साथ ब्रह्मज्ञान का व्यतिरेक नहीं रहने पर भी अदृष्ट को ब्रह्मज्ञान का हेतु स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रसंग का निष्कर्ष प्रदर्शन करते हुए विवरण के प्रसिद्ध टीकाकार चित्सुखाचार्य ने कहा है कि शास्त्रैकसमधिगम्य अर्थ में व्यतिरेकाभाव कारणत्वावधारण में कोई दोषावह नहीं है[1]।

इसमें समुच्चयवादियों ने संदेह किया है कि नित्यानित्य-कर्म-समुदाय साक्षात् ज्ञान का हेतु नहीं है। कारण, इसमें कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है, इसलिए कर्म परम्परा-क्रम में ज्ञान का हेतु है यही स्वीकार करना पड़ेगा, इतना ही नहीं इस परम्परा की भी कोई उपलब्धि नहीं है। तात्पर्य यह है कि नित्यानित्य-कर्म-समुदाय का ज्ञानजनन में जो विनियोग कहा गया यह विनियोग सम्भव नहीं है। कारण, कर्म ज्ञान का साक्षात् हेतु नहीं हो सकता है, इसलिए किसी को द्वार या व्यापार रूप में अवलम्बन करके ही परम्परा से ही हेतु हो सकता है। किन्तु इस द्वार अथ वा व्यापार का प्रतिपादन नहीं मिलता है जिसका फल ज्ञान स्वीकार किया गया है, इसलिए कर्म का ज्ञानजनन-विनियोग कहना अनुचित है ज्ञान को छोड़कर ज्ञान के फल में ही कर्म का विनियोग कहना उचित है[2]।

---

१ यत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां कारणत्वं लक्ष्यते, तत्र न केवलव्यतिरेकापेक्षा, इह तु शास्त्रेणैव कारणत्वाधिगमात् व्यतिरेकाभावो न दोषाय सुखोत्पत्ताविव अदृष्टस्य इति परिहरति। (भा० प्र०, पृ० ५४४-५४५)

२ वि० प्र० सं०, पृ० ५५३

इसमें पूर्वपक्षी (समुच्चयवादी) का कथन है कि पहले तो यह कहा जा चुका है कि अन्तःकरण शुद्धि को द्वार बनाकर ही कर्म ज्ञान का जनक होगा, अतः कर्म के द्वारा ज्ञानजन्याभाव-प्रदर्शन तो अनुचित है। सिद्धान्ती का कथन है कि समुच्चयवादी का यह विचार समीचीन नहीं है। कर्म को यदि मोक्ष का साधन स्वीकार किया जाय तब यज्ञेन विविदिषन्ति इस वाक्य के द्वारा यज्ञादि को ज्ञान के करणरूप में जो कहा गया है इसका सर्वथा बाध हो जायगा। इस ज्ञान-करणत्व-प्रतिपादक-विभक्ति का बाध हो जायगा यह समुच्चयवादी को स्मरण रखना चाहिए और जो समुच्चयवादी ने द्वाराभाव प्रदर्शन किया है वह भी असिद्ध है। कारण, मीमांसकों ने यागादि क्रिया को स्वर्ग का साधन स्वीकार किया है, परन्तु यह यागादि क्रिया क्षणभंगुर है और स्वर्ग कालान्तरभावी अर्थात् मृत्यु के बाद होता है। अथ च यागादि कारण को स्वर्ग रूप कार्य के अव्यवहित पूर्व काल में रहना चाहिए किन्तु यह सम्भव नहीं है, अतः इसके उपपादन करने के लिए याग का अवान्तरफल अपूर्व को स्वीकार किया गया है। याग के विनष्ट हो जाने पर भी कालान्तर में स्वर्ग फल को उत्पादन करने के लिए मीमांसकों ने यागानुष्ठानजन्य अपूर्व (अदृष्ट) ही यजमान की आत्मा में सूक्ष्मरूप से अवस्थित रहता है यह स्वीकार किया है। मृत्यु के बाद यही अपूर्व मिलित होकर स्वर्गादि फल का जनक होता है विधिसामर्थ्य-प्रयुक्त याग और स्वर्ग इन दोनों के मध्यवर्ती अपूर्व-राशि-कल्पन जिस प्रकार आवश्यक है प्रकृत स्थल में भी ब्रह्म ज्ञान का कर्म साक्षात् हेतु न होने पर भी अन्तःकरण-शुद्धि चित्त की एकाग्रता आदि को द्वार बनाकर ज्ञान का हेतु हो सकता है[1]। इसमें विचार्य यही है कि जो पदार्थ जिस फल के करण रूप में श्रुति के द्वारा गृहीत हुआ है वह अनुपपन्न होने से वह करण उस फल का करण है क्या यही कल्पना उचित है? अथ वा परम्परा-कल्पन करके विहितकरण का करणत्व स्वीकार करना उचित है? इस संशय में अन्त पक्ष ही समीचीन है। अभिप्राय यह है कि यद्यपि यागादि में साक्षात् श्रुत ज्ञान-साधनत्व उपपन्न नहीं हो सकता है, तथापि यागादि को ज्ञान

---

१ यथा यागादिकर्मणां स्वर्गाद्युद्देशेन विहितानां तदुपपत्तये विधिसामर्थ्यादेव मध्यवर्त्यपूर्वाणि कल्प्यन्ते, एवमिहाप्यन्तःकरणशुद्धिचित्तैकाग्र्यादिद्वारं कल्प्यतामिति। (वि० पृ० ६६०)

का फल मोक्ष के साधन रूप में कल्पन करना अनुचित है वरन् परम्परा-रूप में से यज्ञादि को ज्ञान करण रूप में कल्पन करना ही उचित है। लोक में काष्ठैः पचति इत्यादि स्थल में पाक क्रिया का परम्परा रूप से साधन काष्ठ में करण विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है। काष्ठादि ज्वाला उत्पादन कर पाक का हेतु होता है फिर भी काष्ठैः इस स्थल में करण विभक्ति का प्रयोग अनुपपन्न स्वीकार नहीं किया जाता है। अत एव यज्ञेन विविदिषन्ति इस स्थल में शुद्धि-द्वारा ज्ञान के साधन यज्ञ में यज्ञेन इस करण विभक्ति का प्रयोग विरुद्ध नहीं है।

विविदिषन्ति यज्ञेन इस स्थल में ज्ञान इच्छा का विषय है। ज्ञान के प्रति यज्ञेन इस स्थल में करण विभक्ति है अर्थात् यज्ञ इत्यादि ज्ञान के करण रूप में विहित हुआ है इसलिए यहाँ पर करण-प्रतिपादक-विभक्ति का प्रयोग हुआ है। इस स्थिति में यज्ञादि को ज्ञान-फल-मोक्ष का करण स्वीकार किया जाय तब यज्ञेन इस करण विभक्ति का व्याकोप होगा। विशेषतः विविदिषन्ति इस वाक्य में मोक्षवाचक पद नहीं है, अत एव यज्ञादि कर्म का मोक्ष साधन रूप में कल्पन अनुचित है[1]। इसमें समुच्चयवादी यह कहते हैं कि तमेतं इस पद के द्वारा आत्मा ही ज्ञानादिसाध्य कर्म रूप में प्रतीत होता है और अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में आत्मा ही मोक्ष है, अत एव विविदिषादि वाक्य में मोक्ष का श्रवण नहीं है यह कहना अनुचित है इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं इस वाक्य के द्वारा आत्मा ज्ञान का ही प्रकाश्य है यह अर्थ प्रतीत होता है, किन्तु यज्ञादि का साध्य आत्मा है, इस प्रकार अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता है। प्रमाणान्तर के साथ विरोध का प्रसंग है, इसलिए भी यज्ञादि कर्म मोक्ष के कारण रूप में गृहीत नहीं हो सकता है, प्रमाणान्तर विरोध-परिहार करके ही श्रुतार्थप-रित्याग और अश्रुतार्थ की कल्पना की जाती है। अगर प्रमाणा-न्तर के साथ विरोध नहीं रहता तब तो कर्म का श्रुत-ज्ञान-साधनत्व का परित्याग कर अश्रुत जो ज्ञान फल मोक्ष उसका साधनत्व स्वीकार किया जा सकता। परन्तु नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय न कर्मणा न प्रजया

---

१ वि०, पृ० ६६०–६६१

इत्यादि के द्वारा कर्म का मोक्ष-साधनत्व निषेध किया है। इसीलिए कर्म को मोक्ष के करण के रूप में स्वीकार करना अनुचित है कर्म-समुदाय कल्मष का निवर्तक होता है यह श्रुति के द्वारा सिद्ध है। श्रुति कहती है येन केनचन इस श्रुति के द्वारा ही यह प्रतिपादन किया जाता है। इसीलिए अद्वैतवेदान्त-सिद्धान्त में तमेतम् इत्यादि स्थल में भी कर्म कल्मष-निवृति द्वारा परम्परा से मोक्ष का साधन है यह कल्पना की गई है और यही पक्ष श्रुति-सम्मत भी है[1]।

इसमें समुच्चयवादी शंका करते हैं कि **कर्मणैव संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः हिरण्यादमृतत्वं भजन्ते** इत्यादि वचनों के अनुरोध से कर्म-समुदाय को साक्षात् साधन क्यों नहीं माना जायगा ?

इसके उत्तर में सिद्धान्ती कहते हैं कि सकल श्रुति और स्मृति का पर्यालोचन करके कर्म-समुदाय अन्तःकरण शुद्धि का हेतु होता है यह परिज्ञात हुआ है। इसीलिए समुच्चयवादी ने जो कर्मणेव आदि स्मृति का प्रदर्शन किया है उसकी प्रकारान्तर से ही योजना करनी चाहिए, अर्थात् कर्म-समुदाय का अन्तःकरण-शुद्धि-हेतुत्व-प्रदर्शक-श्रुति-राशि के साथ विरोध होने के कारण इन स्मृतियों का अन्तःकरण-शुद्धि में ही तात्पर्य है यह समझना चाहिए बलवान् के साथ विरोध होने पर दुर्बल का ही अन्यथा नयन होता है[2]।

---

१ नचास्मिन् वाक्ये यज्ञादिसाध्यो मोक्षः श्रूयते, आत्मा तु ज्ञानकर्मतया तत्साध्योऽवगम्यते, न यज्ञादिसाध्यः। किं च प्रमाणान्तरविरोधं परिहृत्यैव श्रुतपरित्यागेनाश्रुतकल्पना युक्ता, अस्ति च नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय न कर्मणा न प्रजयेत्यादिना कर्मणां मोक्षसाधनत्वनिषेधः। किं च परम्परया साधनत्वकल्पना प्रमाणान्तरमप्यनुसरतीत्याह येन केनचन यजेतेत्यादिः। अन्तःकरणशुद्धिपरवाक्यजातोपलक्षणार्थः। वि०, पृ०६६१

२ सकलश्रुति-स्मृतिपर्यालोचनया कर्मणामन्तःकरणशुद्धिहेतुत्वोपलम्भादितराण्यन्यथा नेयानीत्यर्थः। त० दी०, पृ० ६६१

कर्म का विविदिषार्थत्व पक्ष

विवरणाचार्य के कर्म-विविदिषार्थत्व पक्ष प्रतिपादन में यही आशय है कि तमेतं वेदानुवचनेन इस श्रुति वाक्य के द्वारा नित्य-कर्म संस्कारार्थक है यह सिद्ध नहीं होता है, किन्तु कर्म विविदिषा के लिए ही है यही पक्ष समीचीन है। प्रश्न होता है कि कर्म विशुद्धि को द्वार कर यदि ज्ञान-हेतु हो जाय तब संस्कार और विविदिषा पक्ष में क्या अन्तर है? संस्कार पक्ष में चित्त की विशुद्धि प्रत्यक् प्रावण्य द्वारा कर्म ब्रह्मज्ञान का जनक होता है और विविदिषा पक्ष में चित्त-विशुद्धि को द्वार रूप में करके कर्म का ब्रह्मज्ञान में उपयोग प्रतिपादन किया गया है[1]।

इसके उत्तर में विवरणकार कहते हैं कि शुद्धि द्वारा ज्ञान-हेतुत्व उभय पक्ष में रहने पर भी बहुत बड़ा भेद है। कर्म संस्कार के लिए है इस पक्ष में श्रवण मनन ध्यान और अभ्यासादि सहकारी के समवधान होने से ही कर्म-जन्य-संस्कार ब्रह्मज्ञान को उत्पन्न करता है और सहकारी के समवधान नहीं रहने पर केवल अभ्युदय पुण्यलोक स्वर्गादि फल का जनक होता है। विविदिषा पक्ष में विज्ञान कर्म का फल है इसलिए विज्ञान रूप फल-निष्पत्ति-पर्यन्त श्रवणादि साधन को सम्पादन करके भी कर्म विज्ञान का जनक होता है। स्वर्गरूप उद्देश्य से विहित यागादि जैसे अपूर्व को द्वार कर स्वर्ग का साधन होता है वैसे ही प्रकृत स्थल में कर्म श्रवणादि को सम्पादन करके भी ब्रह्मज्ञान का जनक होता है[2]।

संस्कार पक्ष में कर्म का सहकारि-कारणसमवधान में सामर्थ्य नहीं है, सहकारि कारण के सम्पन्नहोने पर ही वह ज्ञान का उत्पादक हो सकता है, अन्य-

---

१ ननु विशुद्धिद्वारेण ज्ञानहेतुत्वे संस्कार-विविदिषापक्षयोः को विवेक ? उच्यते
वि०,पृ० ६६१

२ श्रवण-मनन-ध्यानाभ्यासादिसहकारिकारणसम्पत्तावेव संस्कारो विज्ञानं साधयति, तदभावे सत्यभ्युदयमेव, विविदिषायां तु विज्ञानस्य कर्मफलत्वात् फलपर्यन्तं साधनानि सम्पाद्यापि विज्ञानं जनयतीति विशेषः।
वि०,पृ०६५१

था स्वर्गादि रूप अभ्युदय फल का ही जनक होता है, विविदिषा पक्ष में कर्म ही सहकारि-कारणों के समवधान सम्पादन में स्वयं ही समर्थ है और इन सह-कारि-कारणों का समवधान कराकर ब्रह्मज्ञान का जनक कर्म ही होता है। अर्थात् इस पक्ष में ब्रह्मज्ञान रूप फल पर्यन्त कर्म का व्यापार रहता है और वहाँ संस्कार पर्यन्त ही कर्म का व्यापार है। कारण विविदिषन्ति यज्ञेन आदि वाक्यों के द्वारा ज्ञान के उद्देश्य से ही कर्म का विधान किया गया है। जैसे **ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः** (स्वर्ग रूप फल की कामना करने वाला ज्योतिष्टोम याग करे) याग क्रिया कालान्तरभावी स्वर्ग रूप फल की साधक होती है। अपूर्व प्रणाली से भी स्वर्ग रूप उद्देश्य से ज्योतिष्टोम का विधान किया है, यह उसका साधक है अन्यथा यह विधान ही व्यर्थ रहता इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिए।

भास्कर के कथन का अभिप्राय यह है कि प्रकृत में यज्ञेन विविदिषन्ति इस वाक्य में यज्ञेन इस साधकतम को मानकर ही करण होने से कर्तृकरणयो-स्तृतीया इस पाणिनीय सूत्र से ही तृतीया विभक्ति होती है। करण का फल-पर्यन्त अन्वय होता है। इसीलिए क्रिया की सर्वथा निष्पत्ति जिसके व्यापार से विवक्षित होती है वही करण होता है जैसे—अश्वेन जिगमिषति (अश्व से जाने की इच्छा करता है) यहाँ पर गमन ही इष्यमाण है उसी गमन का साधन है अश्व, किन्तु केवल इष्यमाण गमन रूप व्यापार मात्र से ही उसका अन्वय नहीं होता है, वरन् व्यापार से जन्य जो फल होता है उसमें भी साधन का अन्वय रहता है, अतः, अश्व का व्यापार जो गमन उससे उत्पन्न जो ग्राम-प्राप्ति-रूप फल उसमें भी करण का अन्वय होता है। फल में अन्वय न मानने पर व्यापारवान् जो असाधरण कारण उसको करण संज्ञा होती है इस नियम का भंग हो जायगा। पुण्येन दृष्टो हरिः यहाँ पर पुण्य शब्द यदि परमापूर्वपरक माना जाना है तब इसमें करणत्व न होने के कारण हेतु में तृतीया विभक्ति सिद्ध होती है और पुण्य शब्द से योग का ग्रहण करने पर अपूर्व रूप व्यापार होने के कारण अपूर्व द्वारा हरि दर्शन रूप फल में अन्वय होने से व्यापारवान् असाधा-

रण कारण होने से करण में तृतीया सिद्ध होती है[1]। विविदिषन्ति यज्ञेन इस प्रकृत वाक्य में भी यज्ञ में इष्यमाण ज्ञान की साधनता है, अतः, ज्ञान का फल जो मोक्ष उसमें यज्ञ का अन्वय प्रतीत होता है। इसलिए पूर्व प्रदर्शित उदाहरण के समान मोक्ष के प्रति ज्ञान के साथ धर्मों का भी अन्वय प्रतीत होने से कर्म भी ज्ञानसाधनमोक्ष रूप फल में करणत्वेन अन्वित है। इसी आशय से भास्कर ने ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद प्रदर्शित किया है अर्थात् मोक्ष रूप फल में ज्ञान के समान कर्म भी करण है।

इसके खण्डन प्रसंग में विवरणाचार्य का कथन है कि मोक्ष यदि कर्मानुष्ठान के द्वारा निष्पाद्य हो जाय तब वह मोक्ष कर्म से निष्पाद्य होने के कारण अनित्य हो जायगा और भी श्रुति में नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इत्यादि आगम-वाक्य के द्वारा ज्ञान से इतर में मोक्षसाधनता का निराकरण कर ज्ञान मात्र में ही मोक्ष-साधनता स्वीकृत की गई है, इसलिए भास्कर का मत युक्ति और आगम विरुद्ध है[2]।

इसमें प्रश्न होता है कि ब्रह्मसूत्र में सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् (३।४ २६) इसमें दृष्टान्त की उत्पत्ति कैसे होगी? इसका तात्पर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है अश्वेन जिगमिषति इस वाक्य के उच्चारण करने में इष्यमाण [इच्छा का विषय] गमन प्रतीत होता है और इस गमन के द्वारा ग्राम-प्राप्ति रूप फल में अश्व की करणत्व रूप से प्रतीति होती है। यज्ञेन विविदिषन्ति इस स्थल में भी यज्ञादि इच्छा के विषय ज्ञान को द्वार बनाकर अन्वय का लाभ करेगा अर्थात् मोक्ष का साधन होगा—यही पूर्वोक्त सूत्र का आशय होना

१ पुण्यशब्देनेह परमापूर्वमुच्यते, तस्य च हरिदर्शनरूपक्रियान्वयित्वसंभवेऽपि व्यापारवत्त्वाभावान्न करणत्वमिति भावः। यदा तु ज्ञानादिकमेव पुण्य-शब्देन विवक्ष्यते, तदा तस्य व्यापारवत्त्वमस्त्येवेति कर्तृ —इत्यनेन तृतीया। तत्वबो० पृ० १७५

२ त्रिदण्डिसम्प्रदाय के आचार्य भास्कर जो ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं इनका मत विवरण में सर्वसंकरवादी या भेदाभेदवादी के रूप में ग्रहण किया है विवरणकार ने इनके प्रति अतिशय उपेक्षा प्रदर्शित की है। इनको न्याय एवं आगम से अनभिज्ञ कहा है। वि०, पृ० ६६१

समीचीन मालूम होता है। इसके समाधान में विवरणाचार्य कहना चाहते हैं कि सूत्र का प्रदर्शित अभिप्राय सर्वथा असमीचीन है। अश्व शीघ्र गमन का साधन है इस प्रकार ब्रह्मार्पण बुद्धि द्वारा सम्यक् अनुष्ठित कर्म राशि शीघ्र ही ब्रह्म-ज्ञान उत्पन्न करती है इसी अंश में अश्व दृष्टान्त का अभिप्राय है यही ब्रह्मसूत्र का हृदय है। इसलिए विविक्षित आशंका का परित्याग कर यदि अश्व को ग्राम-प्राप्ति रूप फल का साधन स्वीकार किया जाय एवं इसी दृष्टान्त के अनुसार यागा-दिको भी मोक्ष का साधन स्वीकार किया जाय तब तो महान अनिष्ट हो जायगा। कारण, लोक व्यवहार में देखा जाता है कि ग्राम से अश्व पुनरावृत्ति का साधन भी अश्व होता है और इसको सर्वांश में यज्ञेन विविदिषन्ति का दृष्टान्त मानने पर यागादि कर्मों को भी मोक्ष रूप फल से पुरावृत्ति का साधन स्वीकार करना पड़ेगा और इससे अनिर्मोक्ष की प्रसक्ति होगी एवं न स पुनरावर्तते इस श्रुति का भी विरोध होगा। इससे यह स्पष्ट है कि सूत्र में विवक्षित अंश में भी इस दृष्टान्त का ग्रहण है सर्वांश में इस दृष्टान्त का ग्रहण नहीं है। पूर्वोक्त न्याय और आगम के द्वारा अन्तःकरण शुद्धि को द्वार बनानेवाला ज्ञान ही कर्म का साध्य कहा गया गया है। कर्म को मोक्ष साधन रूप से कहीं भी नहीं कहा गया है। अत एव सद्वारज्ञान का ही करणत्व यागादि कर्म में विवक्षित है। इसमें पुनः शंका होती है कि लोक में देखा जाता है कि अवहनन का फल तण्डुल की निष्पत्ति है। अतः, यह तण्डुल की निष्पत्ति जब तक नहीं होती है तबतक चलता रहता है। इसी प्रकार ज्ञान को कर्म का फल स्वीकार नहीं जाय तब तो ज्ञानोदय पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान चलता रहेगा और इसका फल होगा कि विविदिषा के लिए जो कर्म का सन्यास कहा गया है वह सिद्ध नहीं होगा[1]।

इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है कि जिस पक्ष में कर्म श्रव-णादि को सम्पादन कर ज्ञान उत्पन्न करता है उस पक्ष में कर्म और फल में द्वार अर्थात् व्यापार का व्यवधान होता है। कर्म और फल इन दोनों के अभ्यन्तर-भाग में व्यापार [द्वार] रहने के कारण इन दोनों में व्यवधान हो ही जाता है, इसलिए जहाँ व्यापार के द्वारा कर्म से फल का व्यवधान होता है, उस स्थल में ज्ञान रूप फलोदय-पर्यन्त कर्मानुष्ठान की आवृत्ति नहीं हो सकती है, उस

१ वि०, पृ० ६६२

स्थल में प्रत्यक्-प्रवणता ही कर्म का साध्य है, इस प्रत्यक् प्रवणता रूप द्वार उत्पन्न होने के बाद ही कर्म उपरत हो जाता है इसीलिए पूर्वोक्त दोष की शंका नहीं है।

इस प्रसंग के उपसंहार में हमलोगों का यही कथन है कि विवरणाचार्य और वाचस्पति मिश्र के मत का जो सारांश उपस्थापित किया है एवं इन दोनों मतों का जो तुलनामूलक पर्यालोचन प्रस्तुत किया है उससे इन दोनों मतों का सामान्य ज्ञान हो जाता है, इस प्रसंग में विवरणाचार्य का मत और उसके साथ भट्टभास्कर का मत भी विस्तृत रूप से दिया गया है जिससे इस पृष्ठभूमिका में वाचस्पति का मत सर्वथा सुस्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाय। यद्यपि वाचस्पति और विवरण इन दोनों का पर्यालोचन प्रदर्शन ही हमलोगों के लिए इस परिच्छेद का विषय है तथापि विस्तृत रूप से विवरणाचार्य का मत प्रतिपादन नहीं होने से वर्त्तमान निबन्ध सर्वांश में अपूर्ण रहेगा, इसलिए विवरणाचार्य का मत विस्तार से दिया गया है।

अद्वैतवेदान्त की आचार्य परम्परा में विवरणाचार्य का स्थान सर्वश्रेष्ठ है अद्वैत वेदान्त की प्रकरणांश रचना में जिस प्रकार सर्वातिशायी प्रतिभा का प्रदर्शन इन्होंने किया है वैसा भामती में नहीं है। भामतीकार विशेष रूप से परमत निराकरण में ही आग्रह रखते हैं, अतः विवरण के द्वारा अद्वैत-वेदान्त का सिद्धान्त जिस प्रकार ज्ञात हो सकता है वैसा भामती के द्वारा सम्भव नहीं है। इसलिए परवर्ती रामानुज, माध्व आदि द्वैतवादी आचार्यों ने विशेष रूप से विवरणाचार्य के ऊपर ही आक्षेप किया है और इन्हीं आक्षेपों का परिहार मधुसूदन प्रभृति नवीन वेदान्तियों ने दिया है और विवरणाचार्य के मत की उपादेयता भी प्रदर्शित की है। अद्वैतवेदान्ती विवरणाचार्य पर अतिशय बहुमान रखते हैं, यही कारण है कि इस मत का खण्डन वे सब किसी प्रकार भी सहन नहीं कर पाते हैं। अद्वैतवेदान्त के रहस्य ज्ञान के लिए विवरण का अध्ययन सर्वथा अपेक्षित है। इस समय विवरण की उपेक्षा कर अन्य अद्वैत-वेदान्तों के ग्रन्थों के अध्ययन में लोग अधिक समय देते हैं, जिसका परिणाम यह हुआ है कि अद्वैत-वेदान्त का रहस्य अवगत नहीं रहता है, अतः, मेरा

यह आग्रह है कि अद्वैत-वेदान्त के ज्ञान के लिए अन्य ग्रन्थों में अधिक समय नष्ट न कर विवरण का अध्ययन अवश्य ही करें। इसका अध्ययन बहुसमय सापेक्ष नहीं है साथ ही इसके अध्ययन के बाद अद्वैतसिद्धि आदि विशिष्ट ग्रन्थों के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष का ज्ञान भी सम्भव है, अन्यथा किस अभीष्ट सिद्धान्त के समर्थन के लिए मधुसूदन प्रभृति प्रवृत्त हुए हैं यह ज्ञात नहीं हो सकता है। इतना ही नहीं द्वैतवादियों के विशिष्ट ग्रन्थाध्ययन में अद्वैतवेदान्ती को पूर्व पक्ष के रूप में कहाँ से गृहीत किया है, इसका आशय क्या है, इसका ज्ञान न होने से उन ग्रन्थों का अध्ययन भी सर्वथा अपूर्ण एवं अनुपादेय रहेगा।

इस प्रसंग के क्रम में यह भी लिखना आवश्यक समझता हूँ कि अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों का मत प्रदर्शन ही हमलोगों के निबन्ध का विषय है, अतः तुलना-मूलक अध्ययन प्रस्तुत करना ही उद्देश्य हो सकता है किसी आचार्य का उत्कर्ष एवं अपकर्ष दिखाना इस निबन्ध का विषय नहीं है। कारण, आचार्यों का दोष निरीक्षण मेरा उद्देश्य नहीं है, वरन् आचार्यों की चिन्ताधारा किस मार्ग से प्रवाहित हुई है इसका आविष्कार करना ही मेरा उद्देश्य है।

विवरणाचार्य के मत में अविद्या के आश्रयत्व-विषयत्व का निरूपण

विवरणाचार्य ने स्पष्ट रूप से कहा है कि शुद्ध-चिन्मात्र ही अज्ञान का आश्रय है शुद्ध चिन्मात्र से अतिरिक्त जीव या ईश्वर अज्ञान का आश्रय नहीं है[1]। क्योंकि जीव और ईश्वर अज्ञान कल्पित है। अज्ञान-कल्पित वस्तु ही अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकती है। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि केवल विवरणाचार्य ने ही शुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय स्वीकार नहीं किया है। संक्षेपशारीरककार ने भी शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय निर्दिष्ट किया है[2]। इनका यह कथन है कि निर्विशेष चैतन्यमात्र ही अज्ञान का आश्रय और विषय होता है। अविद्या-कल्पित जीव और ईश्वर अविद्या क आश्रय अथवा विषय नहीं हो सकता है। कारण अविद्या-कल्पित जीव और ईश्वर को अज्ञान का आश्रय अथवा विषय स्वीकार करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति होगी। अज्ञान की सिद्धि होने पर अज्ञान के द्वारा कल्पित जीव और ईश्वर की सिद्धि होगी, जीव और ईश्वर की सिद्धि होने पर जीव में आश्रित अज्ञान की सिद्धि होगी। आशय यह है कि जीव ही अज्ञान का आश्रय है अतः, जबतक आश्रय की सिद्धि न होगी तबतक अज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती है। निराश्रित तो अज्ञान नहीं रहेगा एवं जीव की सिद्धि अज्ञान के अधीन है, क्योंकि जीव अज्ञान-कल्पित है अतः, अज्ञान के बिना जीव की कल्पना हो ही नहीं सकती है। फलतः अज्ञान और जीव की सिद्धि परस्पर एक की सिद्धि दूसरे के आश्रित है एक की पूर्वसिद्धि के बिना दूसरे की सिद्धि

---

१ चिन्मात्राश्रितैवाविद्या। अद्वै० सि० पृ०

२ आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला। सं० शा० श्लो०

सम्भव नहीं है और अन्योऽन्याश्रित होने के कारण एक की पूर्वस्थिति सम्भव नहीं है। इस प्रकार विवरणाचार्य एवं संक्षेपशारीरककार ने शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय और विषय के रूप में निर्दिष्ट किया है।

इस विषय में वाचस्पतिमिश्र का मत आगे प्रदर्शित होगा। शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय कहा गया है। शुद्ध चैतन्य ही जीव और ईश्वर दोनों में अनुस्यूत है। शुद्ध चैतन्य जीव और ईश्वर उभय में अनुस्यूत रहने से अज्ञान भी उभय में अनुस्यूत है, शुद्ध अर्थात् चैतन्य जीव और ईश्वर उभय में अनुस्यूत है। इसमें किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। अतः प्रश्न यह होता है कि जब अज्ञान शुद्ध चैतन्य एवं ईश्वर में भी अनुस्यूत ही है तब शुद्ध चैतन्य और ईश्वर में संसार रूपकार्य न होकर केवल चित् के प्रतिबिम्बरूप जीव में ही संसार रूप कार्य क्यों होता है? चित् प्रतिबिम्बभूत जीव का बिम्ब रूप चैतन्य ईश्वर है उसमें अथ वा बिम्ब और प्रतिबिम्ब उभय में अनुस्यूत शुद्ध में अज्ञान संसार का सम्पादक क्यों नहीं होता है? इस प्रकार की शंका के समाधान में विवरणानुयायी अद्वैतवेदान्तियों का कथन यह है कि—मुख बिम्ब रूप है। उसका प्रतिबिम्ब दर्पण आदि में होता है। इस दर्पण का शुद्ध मुख मात्र (बिम्ब रूप मुख) के साथ सम्बन्ध होने पर भी प्रतिबिम्बभूत मुख में ही उपाधिगत जो मालिन्य आदि हैं, उसका सम्पादक होता है, बिम्बभूत मुख में मालिन्य आदि का सम्पादक नहीं होता है। इसी प्रकार जीव चित्-प्रतिबिम्ब रूप है, उस चित्प्रतिबिम्ब रूप जीव और ईश्वर रूप से भेद आपादन कर अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से भेद दिखलाकर प्रतिबिम्ब जीव में ही संसार की सम्पादिका अविद्या होती है। जैसे दर्पण प्रतिबिम्बभूत मुख में मालिन्यादि का आपादक होने पर भी बिम्बभूत मुख में उपाधिगत मालिन्य आदि का आधायक नहीं होता है। उपाधि प्रतिबिम्ब का ही पक्षपाती होता है यह प्रसिद्ध है। उपाधि का प्रतिबिम्ब-पक्षपातितारूप स्वभावप्रयुक्त ही प्रतिबिम्ब में कार्य का उत्पादन करता है, किन्तु बिम्ब में वह कार्यकर नहीं होता है। इस कथित विश्लेषण के अनुसार ही अविद्या या अज्ञान शुद्ध चैतन्य मात्र में आश्रित होने पर भी चित्प्रतिबिम्बित जीव में ही संसार सम्पादिका होती है शुद्ध और बिम्बभूत ईश्वर मे नहीं। इसका

रहस्य यह है कि दर्पण रूप उपाधि शुद्धमुख के साथ सम्बद्ध होती है। बिम्बत्व और प्रतिबिम्बत्व धर्म से अनाक्रान्त अर्थात् बिम्बत्व आदि धर्म जिसमें नहीं है वही शुद्ध मुख है। दर्पणरूप उपाधि का शुद्ध मुख के साथ सम्बद्ध होकर प्रतिबिम्ब मुख और मुख इन दो रूपों में एक ही शुद्ध मुख में भेद की कल्पना होती है। इन दो रूपों में से प्रतिबिम्बभूत मुख में ही मालिन्यादि धर्म की आपादिका यह उपाधि होती है। इसी प्रकार अज्ञान रूप उपाधि शुद्ध चैतन्य के साथ सम्बद्ध होकर बिम्बप्रतिबिम्ब रूप अर्थात् ईश्वर ओर जीव रूप भेद की कल्पना कर देती है। इस कल्पित प्रतिबिम्बभूत जीव में संसार का सम्पादन होता है। यही विवरण और संक्षेपशारीरक का मत है[1]।

इस मत के विरोध में द्वैत सिद्धान्त के श्रेष्ठ आचार्य न्यायामृतकार व्यास तीर्थ ने कहा है कि—चैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है।

अज्ञान को शुद्ध चैतन्याश्रित न होने में न्यायामृतकार ने चार प्रधान युक्तिओं का उद्भावन किया है :—

१ विरोध

२ धर्मिग्राहकमानबाध

३ श्रुतिविरोध

४ भ्रान्तिज्ञान के साथ अज्ञान का सामानाधिकरण्य।

विरोध का विश्लेषण

शुद्ध चैतन्य मात्र को ही अज्ञान का आश्रय स्वीकार करने से ज्ञान ही अज्ञान का आश्रय होता है, यहीं स्वीकार करना पड़ेगा, कारण चैतन्य ही तो ज्ञान है। परन्तु एक विषयक ज्ञान और अज्ञान विरुद्ध होता है। विरुद्ध वस्तु में परस्पर आश्रयाश्रयिभाव किसी तरह भी सम्भव नहीं है। अतः, ज्ञान (चैतन्य) अज्ञान का आश्रय नही हो सकता। जैसे प्रकाश और अन्धकार

---

१ सत्यप्यैक्ये प्रतिबिम्बात्मन्यध्यस्तश्यामत्वादेर्बिम्बे दर्शनाद् अवदाततायाश्चाविरोधदर्शनात्, एवं सर्वज्ञत्वाविद्याश्रयत्वयोः सत्यप्यैक्ये विरोधात्।
वि०, पृ० २६८

परस्पर विरुद्ध रूप है। अतः, प्रकाश अपने विरुद्ध अन्धकार का कभी भी आश्रय नहीं हो सकता है[1]।

इस विषय में निम्नलिखित रूप से अनुमान भी किया जा सकता है :—

अज्ञान [पक्ष] अपने विरोधी का आश्रय नहीं है [साध्य] विरुद्ध होने से [हेतु] प्रकाश के अनाश्रित अन्धकार के समान [उदाहरण] इस अनुमान के द्वारा भी अज्ञान शुद्ध चैतन्याश्रित है—इस सिद्धान्त का विरोध है। अतः, इस अनुमान प्रमाण से भी यही सिद्ध होता है कि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं है[2]।

इस पूर्व प्रदर्शित अनुमान में आपत्ति यह है कि—जो जिसके विरुद्ध होता है वह उसमें आश्रित नहीं होता है यह व्याप्ति पूर्वोक्त अनुमान के लिए अपेक्षित है किन्तु यह व्याप्ति ही असम्भव है। कारण, घट और घटात्यन्ताभाव परस्पर विरुद्ध है। किन्तु विरुद्ध होने पर भी घट का अत्यन्ताभाव घट में आश्रित है। जिस प्रकार घट का अत्यन्ताभाव भूतल आदि में है उसी प्रकार घट में भी है। अतः, घट अपने विरुद्ध घटात्यन्ताभाव का आश्रय है। यदि घट में घट का अत्यन्ताभाव नहीं ही रहेगा तो घट में घट का स्वत्व प्रसक्त होगा। घट में घट के स्वत्व रहने पर सब घट ही घटवान् हैं इस प्रकार की प्रतीति में भी प्रमात्व रहेगा।

इसके उत्तर में यह कथन है कि चार युक्तियों में प्रथम विरोध रूप जो हेतु कहा गया है—वह परस्पर विरह स्वरूप अर्थात् अभाव स्वरूप नहीं है। पूर्वोक्त विश्लेषण में घट और अभाव परस्पर अभाव स्वरूप विरोध है, परस्पर विरहरूपविरोध को इस स्थल में हेतु रूप से ग्रहण नहीं किया गया है, वरन्

---

१ विरोधाद् धर्मिमानेन बाधात् श्रुतिविरोधतः।
भ्रान्त्यैकाधिकाराच्च नाज्ञानं शुद्धचिद्गतम् ॥
(न्यायामृत—३३६ प्र० पं० ३३७)

२ अज्ञानम् न स्वविरोध्याश्रितम्, विरुद्धत्वात्, प्रकाशानाश्रिततमोवत्।
(न्या० पृ० ३३७)

अन्धकार और प्रकाश के समान वध्यघातक भाव रूप विरोध को ही हेतु रूप में ग्रहण किया गया है यद्यपि वैशेषिक सिद्धान्त में अन्धकार और प्रकाश का परस्पर अभाव रूप विरोध ही वर्त्तमान है क्योंकि इस सिद्धान्त में अन्धकार को प्रकाश के अभाव रूप में ही स्वीकार किया गया है। तथापि मीमांसक ने अन्धकार को भाव पदार्थ स्वीकार किया है प्रकाश का अभाव रूप नहीं। अतः, अन्धकार प्रकाश के द्वारा नाश्य होने पर भी प्रकाश का अभावरूप नहीं है।

फलतः, मीमांसक मत के अनुसार अन्धकार और प्रकाश का वध्य-घातक भावरूप ही विरोध समझना चाहिए। अतः, उनका आश्रित भाव नहीं है। घट में घटात्यन्ताभाव रहने पर भी जो जिसका विरुद्ध है वह उसमें आश्रित नहीं हो सकता है, इस प्रकार पूर्व प्रदर्शित व्याप्ति में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है। अब पूर्व प्रदर्शित अनुमान में किसी प्रकार की बाधा भी नहीं है[1]।

इस प्रकार व्याप्ति के व्यभिचार का निराकरण करने पर भी, फिर भी आपत्ति है—अज्ञान के साथ चैतन्य का वध्य-घातक [नाश्य नाशकरूपबाध्य बाधकभाव] ही अप्रसिद्ध है। कारण, अद्वैत सिद्धान्त में चैतन्य अज्ञान का निवर्तक नहीं है। अतः, चैतन्य अज्ञान रूप ज्ञान के साथ अज्ञान का वध्य-घातक भाव विरोध नहीं है। परन्तु अद्वैतवादियों का पूर्वोक्त कथन उचित नहीं है—यदि, अज्ञान ज्ञान के द्वारा निवर्तनीय नहीं हो तब तो वह अज्ञान ही नहीं होगा, क्योंकि ज्ञान-निवर्त्यत्व ही अज्ञान का लक्षण है। यदि यह कहा जाय कि अज्ञान, चैतन्य रूप ज्ञान से निवर्त्य नहीं होता है तब भी ज्ञान-निवर्त्यत्व रूप अज्ञान लक्षण में दोष नहीं है। कारण अज्ञान वृत्ति-रूप-ज्ञान से निवर्त्य होता है, अतः, चैतन्य रूप ज्ञान से निवर्त्य नहीं होने पर भी वृत्ति-रूप-ज्ञान से निवर्त्य होने से ज्ञान-निवर्त्यत्व रूप अज्ञान का लक्षण अज्ञान में रहेगा।

इस प्रकार अद्वैत वादियों का समाधान भी ठीक नहीं है, कारण-विवरणाचार्य ने अन्तःकरण परिणाम रूप वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार स्वीकार किया है।

---

१ वि०, पृ० २६६

अन्तःकरणपरिणामरूपवृत्ति मुख्य ज्ञान नहीं है वरन् औपचारिक ज्ञान है, अज्ञान औपचारिक ज्ञान विरोधी होने पर भी मुख्य ज्ञान विरोधी नहीं है। अतः, अज्ञान में ज्ञान-निवर्त्यत्वरूप मुख्य अज्ञानत्व नही रहेगा। चैतन्य रूप ज्ञान यदि अज्ञान का विरोधी नहीं हो जाय अर्थात् अज्ञान का निवर्तक नहीं हो तब तो वह ज्ञान ही नहीं रहेगा। क्योंकि अज्ञान का अविरोधी घटादिवस्तु जैसे ज्ञान नहीं है, इसी प्रकार चैतन्य भी अज्ञान का अविरोधी है, अतः, उसमें भी अज्ञानत्व रहेगा।

इसके उत्तर में विवरणानुसारी आचार्यगण का कथन है कि द्वैतवादियों का यह दोप ठीक नहीं है। यह बात तो ठीक है कि शुद्ध चैतन्यरूप ज्ञान अज्ञान विरोधी नहीं है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का साधक है बाधक नहीं। जो जिसका साधक है वह उसका बाधक कैसे हो सकता है। परन्तु यही तो सब कुछ नहीं है। प्रमाण-जन्य अन्तःकरण-वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है चिन्मात्र नहीं। यही कारण है कि द्वैतवादियों का कथन—जो वस्तु जिसका विरोधी है वह उसमें आश्रित नहीं हो सकता है। इसके साथ हमलोग भी एकमत हैं, कारण वृत्ति-प्रतिबिम्बित-चैतन्य अज्ञान का विरोधी है। इसीलिए वृत्ति-प्रतिबिम्बित-चैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं कहा गया है और जिस शुद्ध चैतन्य को अज्ञान का आश्रय कहा गया है वह तो अज्ञान का विरोधी नहीं है। द्वैतवादियों ने जो यह अधिक्षेप किया कि यदि शुद्धचैतन्य को अज्ञान का विरोधी नहीं मानेंगे तो शुद्ध चैतन्य में ज्ञानत्व हीउपपन्न नहीं होगा अर्थात् शुद्ध चैतन्य भी घटादि के समान अप्रकाश एवंअज्ञान में परिगणित होने लगेगा। यह उनलोगों का कथन संगत नहीं है क्योंकि विवरणाचार्य के मत में चैतन्य में अज्ञान नाशकता नहीं है यह नहीं, वरन् प्रमारूप-अन्तःकरण-वृत्ति के अवच्छेदक में चैतन्य ही अज्ञान का निवर्तक होता है यही अभिप्राय है।

यद्यपि प्रमारूप अन्तःकरण की वृत्तिद्वारा अनवच्छिन्न-चैतन्य अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है तथापि प्रमारूप-अन्तःकरणवृत्ति द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य ही अज्ञान का निवर्तक होता है। जैसे सूर्य किरण स्वतः तृण वृक्ष आदि वस्तुओं की प्रकाशिका होती है नाशक नहीं होती है किन्तु वही तृण वृक्ष आदि की

प्रकाशिका अथ वा स्वतः अनाशिका सूर्य किरण ही सूर्यकान्त शिला के अवच्छेद में सूर्यकिरण भास्य तृण वृक्ष आदि की दाहक भी होती है। इसी प्रकार अज्ञान का भासक चैतन्य हो, प्रमारूप अन्तःकरण वृत्ति के अवच्छेद में अज्ञान का नाशक भी होता है, अर्थात् जो चैतन्य स्वतः अविद्या और उसके कार्य का भासक है वही चैतन्य प्रमारूप वृत्ति के अवच्छेदक रूप में अज्ञान का नाशक भी हो जाता है। जिस प्रमारूप वृत्ति से अवच्छिन्न होकर चैतन्य जिस अविद्या और उसके कार्य का नाशक होता है। प्रमावृत्ति के व्यतिरेक [प्रमावृत्ति के अभाव में] वह चैतन्य ही अविद्या और उसके कार्य का भासक होता है। इस प्रसंग में विवरणाचार्य का गूढ़ आशय यह है कि—

अविद्या वृत्ति से अविच्छिन्न साक्षि चेतन्य अविद्या और अविद्या के कार्य का भासक है। प्रमारूप-अन्तःकरण-वृत्ति में अवच्छिन्न वही चैतन्य अविद्या और अविद्या के कार्य का नाशक होता है। चैतन्य जिस अज्ञान का भासक होता है वह भासक चैतन्य सामान्य रूप से भासक नहीं होता है वरन् अविद्या वृत्ति द्वारा अवच्छिन्न होकर ही भासक होता है। अर्थात् अविद्या वृत्ति द्वारा अनवच्छिन्न चैतन्य अविद्या का भासक नहीं होता है। इसीलिए समाधि ओर प्रलय दशा में अविद्या भी है और चैतन्य भी है फिर भी अविद्या की प्रतीति नहीं होती है। इसका आशय यह हे कि अविद्यावृत्ति इन उभय अवस्थाओं में नहीं है। अब यह सिद्ध हुआ कि द्वैतावादियों ने विवरणसिद्धान्त के सम्बन्ध में जो कहा है कि विरोध-प्रयुक्त शुद्ध चैतन्य और अविद्या में आश्रयाश्रयिभाव नहीं है, किन्तु पूर्वोक्त विस्तृत विश्लेपण से यह सिद्ध है कि शुद्ध चैतन्य और अविद्या में विरोध नहीं है। जो चैतन्य अविद्या का विरोधी है वह अविद्या का आश्रय नहीं है। इसका भी सुस्पष्ट प्रतिपादन हो चुका है। अतः विवरण-सिद्धान्त में दोष प्रदर्शन के लिए जिन चार युक्तियों का उद्भावन द्वैतवादी आचार्यों ने किया था उनमें प्रथम युक्ति का समाधान इसके द्वारा हो गया।

धर्मिग्राहकमानबाध का निरसन

द्वैतवादी आचार्यों का यह कथन हे कि—अज्ञान शुद्ध चैतन्य में आश्रित नहीं हो सकता है, क्योंकि अहमर्थ रूप धर्मी में अज्ञान के ग्राहक साक्षिप्रत्यक्ष के

द्वारा बाघ होगा। अहमज्ञः [मैं अज्ञ हूँ] इस प्रकार साक्षि के प्रत्यक्ष द्वारा अज्ञान अहमर्थाश्रित रूप में ही सिद्ध होता है, अहमर्थाश्रित रूप में अज्ञान का ग्राहक साक्षात् ही है। अतः अज्ञान को विवरणाचार्य सम्मत शुद्ध चैतन्याश्रित मानने में वह बाधक हो जायगा।

इसके समाधान में विवरणानुसारी आचार्यों का यह कथन है कि अहमर्थ धर्मी अज्ञान का जो साक्षी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है वह प्रत्यक्ष प्रमात्मक नहीं भ्रमात्मक है। प्रमात्मक अहमर्थ-धर्मिक अज्ञान का साक्षिप्रत्यक्ष होने पर शुद्ध चैतन्याश्रित अज्ञान की सिद्धि बाधक हो सकती थी, किन्तु यह प्रत्यक्ष तो भ्रमात्मक है, अतः इस भ्रमात्मक प्रत्यक्ष के द्वारा अज्ञान के शुद्ध चैतन्याश्रितत्व का बाध नहीं हो सकता है। पूर्वोक्त प्रत्यक्ष भ्रमात्मक है इस विषय में बलाधान के लिए एक दृष्टान्त भी दिया जा सकता है—मैं मोटा हूँ [अहं स्थूल.] इस प्रतीति में देह का स्थौल्य धर्म, अहमर्थ में न रहने पर भी स्थौल्ययुक्त देह अहमर्थ में अर्थात् अहंकारवाच्छिन्न चैतन्य में अभेद रूप में अध्यस्त हुआ है।
देह का धर्म स्थौल्य अहमर्थ में भासमान होता है। अहमर्थ में देह का ऐक्याध्यास होने में ही देहधर्म स्थौल्य अहमर्थ में भासित हुआ। जैसे स्थौल्य, अहमर्थ में भासमान होने पर भी स्थौल्य अहमर्थ का धर्म नहीं है इसी प्रकार मैं अज्ञानी हूँ [अहमज्ञः] इस प्रतीति मे भी वहंकार वस्तुतः अज्ञान का आश्रय नहीं है फिर भी अज्ञान के वस्तुतः आश्रयभूत चैतन्य के ऐक्याध्यास होने से अहमज्ञः इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीति होती है। अज्ञानाश्रय चैतन्य के साथ अहंकार का ऐक्याध्यास होता है। अज्ञानामय चैतन्य अधिष्ठान और अहंकार अभेद में अध्यस्त है यही अद्वैतवादियों का अभिप्राय है। इस अर्थ की प्रतीति के लिए एक और दृष्टान्त भी ले सकते हैं। केवल लौह में वस्तुतः दाहकत्व नहीं है किन्तु दाहकत्व धर्म और लौह का एक अग्नि के साथ सम्बन्ध होने के कारण दाहकत्व धर्म और लौह का अग्नि के साथ सम्बन्ध है इसीलिए लौह जलता है अयो दहति ऐसी भ्रमात्मक प्रतीति होती है। इसी प्रकार अहमर्थ में वस्तुतः अज्ञानाश्रयत्व न रहने पर भी अज्ञान और अहमर्थ का एक चैतन्य में अध्यास होने के कारण मैं अज्ञानी हूँ अहमज्ञः इस प्रकार की भ्रमात्मक प्रतीति होती है। इसीलिए पूर्व में कथित साक्षी की प्रतीति के द्वारा अज्ञान शुद्ध चैतन्य में आश्रित है इस सिद्धान्त का बाधक नहीं होगा। प्रदर्शित इन दो दृष्टान्तों में ये लक्षण

यह है कि—प्रथम दृष्टान्त में अज्ञान को उपादानत्व स्वीकार कर प्रदर्शित किया गया है। इस द्वितीय दृष्टान्त को विवरण ग्रन्थ में सुस्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया गया है। अभिप्राय यह है कि उभय दृष्टान्तों के द्वारा अहमंज्ञ इसप्रतीति में भ्रान्तिरूपता सिद्ध होती है और इससे अहमज्ञ इस प्रतीति के द्वारा अहंकार का अज्ञानाश्रयत्व सिद्ध नहीं हो सकता है।

इसके उत्तर में विवरण-विरोधी आचार्यों का यह कथन है कि पूर्वोक्त विवरण-सिद्धान्त समीचीन नहीं है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता है, क्योंकि विवरणाचार्य शुद्ध-चैतन्य अज्ञान का आश्रय है यह स्थापित नहीं कर सकते हैं, जबतक शुद्ध-चैतन्य अज्ञान का आश्रय है यह सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होगा, तबतक अहमज्ञ यह प्रतीति भ्रममूलक है यह भी तो कल्पना नहीं हो सकती है। अहमज्ञः इस प्रतीति के द्वारा अज्ञान अहंकार में आश्रित है यही सिद्ध होता है। अतः, अज्ञान का शुद्ध-चैतन्याश्रितत्व यह प्रमाण के द्वारा स्थापित हो जाय तब तो अहमज्ञः इस प्रतीति को भ्रमरूप स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होगी। परन्तु यह तो अभी भी प्रमाणित नहीं हुआ है। अतः, विवरणाचार्य के मत में निम्नलिखित अन्योन्याश्रय दोष की ही आपत्ति होगी। अहमज्ञः यह अज्ञान को धर्मिग्राहकप्रतीति है अर्थात् अज्ञान-रूप-धर्मी में अहंकाराश्रितत्व धर्म की ग्राहिका है। इसी धर्मिग्राहक-प्रमाण के द्वारा अज्ञान रूपधर्मी में शुद्ध चैतन्य में आश्रितत्व धर्म का ग्राहक मान-बाधित हो जाता है। शुद्धचिदाश्रितत्वग्राहकमान की बाधिका अहमज्ञ प्रतीति में भ्रमत्व सिद्ध होने से अज्ञान का शुद्धचैतन्याश्रितत्व सिद्ध होगा और अज्ञान का शुद्ध-चैतन्याश्रितत्व सिद्ध होने से अहमज्ञ इस प्रतीति में भ्रमत्व सिद्ध होगा। अहमज्ञ इस प्रतीति में भ्रमत्व सिद्ध होने से यह प्रतीति अज्ञान के शुद्ध चैतन्याश्रितत्व का ग्राहक जो मान है उस मान को बाधक सिद्ध नहीं हो सकेगी।

इसके समाधान में विवरणानुसारी आचार्यगण यह कहना चाहते हैं कि पूर्वोक्त अन्योन्याश्रयदोष का प्रदर्शन सर्वथा असंगत है क्योंकि माया, अविद्या प्रभृति शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। अहंकारादि वस्तु अविद्याधीन हैं। अहंकारादि को अविद्योपादानक न कहकर अविद्याधीन कहने का अभिप्राय यह है

कि अहंकारादि को ब्रह्मोपादानकत्व पक्ष में अविद्योपादानक नहीं है परन्तु अहंकारादिक के अविद्योपादानकत्व रहने पर भी अविद्याधीनत्व तो है ही। अविद्योपादानक वस्तु भी अविद्याधीन होती है। इसीलिए उभयोपादानत्व पक्ष की मर्यादा के रक्षण के लिए अहंकारादि को अविद्याधीन कहा गया है। फलतः अविद्याधीन या अविद्यापेपादानक अहंकार अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता है। जो पदार्थ जिसके अधीन है, वह उसके बाद में सिद्ध है इसी लिए अहंकार की उत्पत्ति के पूर्व काल में सिद्ध अविद्या, बाद में होनेवाले अन्तःकरण [अहंकार] में आश्रित कैसे हो सकती है ? इसीलिए अनादि अविद्या का आश्रय सादि अन्तःकरणादि कभी नहीं हो सकता है। अनादि वस्तु को ही अनादि अविद्या का आश्रय स्वीकार करना होगा और इसीलिए अनादि चैतन्य अनादि ईश्वर अथवा अनादि जीव इन तीन में कोई एक अविद्या का आश्रय हो सकता है। आश्रयत्व विश्लेषण में इन तीन पक्षों में किसी एक पक्ष को अद्वैतवाद के भिन्न प्रस्थानानुसारी आचार्यों ने स्वीकार किया है।

विवरणकार और संक्षेपशारीरककार इन दोनों का यह सिद्धान्त है कि अनादि शुद्ध चैतन्य ही अनादि अविद्या का आश्रय होता है। सादि अहंकारआदि अविद्या का आश्रय नहीं होता है। अहमज्ञ इस प्रतीति में जो अहमर्थ में अविद्याश्रयत्व की प्रतीति होती है वह भ्रमरूप ही प्रतीति है। विवरण के विरोधी आचार्यगण अहमर्थ में अविद्याश्रयत्व की प्रतीति की प्रमाणिकता किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं कर सकते हैं और इसलिए अहमज्ञ यह प्रतीति अज्ञानाश्रय चैतन्य में अहमर्थ का ऐक्याध्यास निबन्धन है यही स्वीकार करना पड़ेगा। अध्यासनिबन्धन जो प्रतीति होती है वह भ्रमरूप ही होती है और भ्रमरूप प्रतीति कभी भी बाधक नहीं हो सकती है—यही विवरणाचार्य का गूढ़ मन्तव्य है।

विवरण प्रतिपक्षी द्वैतवादी आचार्यों का कहना है—अहमज्ञ यह साक्षिज्ञान दोषजन्य है। अतः, वह भ्रम नहीं हो सकता है। साक्षिज्ञान यदि दोषजन्य होता तभी वह भ्रमरूप होता किन्तु साक्षिज्ञान दोषजन्य नहीं है। अतः, यह प्रमाज्ञान ही रहेगा। किन्तु इन लोगों का यह कथन भी संगत नहीं है। अविद्यावृत्ति-प्रतिबिम्बित चैतन्य ही साक्षी है और अविद्या वृत्ति

अविद्या-दोष से जन्य है; अतः साक्षिज्ञान दोष-जन्य नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है। विशेषतः अहमज्ञ, यह साक्षिज्ञान बाधितार्थविषयक होने से भ्रमरूप ही होगा। यह पूर्व में स्पष्ट कर दिया है कि अहंकाराध्यास प्रयुक्त ही अहमज्ञः यह प्रतीति होती है। अतः, धर्मिग्राहकमान स्वयं ही भ्रमरूप है। भ्रम रूप होने से वह विवरणाचार्य प्रदर्शित अज्ञान का शुद्ध चैतन्याश्रितत्वग्राहक-मान का बाधक नहीं हो सकता है।

श्रुतिविरोध का उद्भावन और उसका समाधान

द्वैतवादी वेदवेत्ताओं का कथन है कि शुद्ध चैतन्य में अज्ञान आश्रित नहीं हो सकता है। विवरणाचार्य के सिद्धान्तानुसार अज्ञान को शुद्ध चैतन्य में आश्रित मानने पर श्रुति का विरोध है। क्योंकि—श्रुतियों में सुस्पष्ट रूप से व्यक्त है कि चैतन्य में दोष सम्बन्ध नहीं है। शुद्ध चैतन्य में अविद्या का सम्बन्ध स्वीकार करने पर चैतन्य के सदोषत्व की आपत्ति है, कारण, अविद्या दोषरूपिणी है। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में भी शुद्ध चैतन्य को शोक और मोह से परे वर्णन किया है। अविद्या और मोह पर्याय शब्द है, अतः, मोह-शून्य शुद्ध चैतन्य में मोह रूप अविद्या आश्रित नहीं हो सकती है। श्रुत्यन्तर में शुद्ध चैतन्य को सत्ययुक्त रूप में निर्दिष्ट किया है। अविद्या स्वयं बन्धस्वरूपिणी बन्ध का कारण है। बन्ध अथ वा बन्धकारण यदि शुद्ध चैतन्य में स्वीकार किया जाय तब शुद्ध चैतन्य नित्यमुक्त नहीं हो सकेगा। अतः, यह स्पष्ट है कि विवरणाचार्य का सिद्धान्त श्रुति-विरोध-प्रयुक्त अश्रद्धेय है और इसीलिए शुद्ध चैतन्य को अविद्या का आश्रय स्वीकार करना भी अनुचित है।

उत्तर में विवरणानुसारी अद्वैतवादियों का यह कथन है कि प्रदर्शित श्रुति समूह ने शुद्ध चैतन्य में तात्त्विक अविद्या और तात्त्विक शोकादिको ही निषेध किया है। अतः, उसमें व्यावहारिक अविद्या का सम्बन्ध स्वीकार करने पर किसो प्रकार का विरोध निहीं है। अद्वैत सिद्धान्त में अविद्या शोकादि व्यावहारिक वस्तु है, व्यावहारिक अविद्या से शुद्ध चैतन्य में रहने पर भी तात्त्विक (पारमार्थिक) अविद्यादि शुद्ध चैतन्य में नहीं है। इसलिए शुद्ध चैतन्य को निरवद्य (निर्दोष) एवं नित्ययुक्त कहा जा सकता है।

स्थूलदृष्टि से यह समाधान समुचित होने पर भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर विवरणानुसारी आचार्यों का यह कथन सर्वथा अनुचित है, क्योंकि, अद्वैतवादी के मत में तात्त्विक अविद्या तो अप्रसिद्ध ही है। अप्रसिद्ध अविद्यादि की शुद्ध चैतन्य में प्रसक्ति ही सम्भावित नहीं है। अतः, विवरणानुयायी अद्वैतवादी यदि तात्त्विक अविद्या का निषेध करना चाहते हैं तो अप्रसक्त का ही निषेध कहा जायेगा और अप्रसक्त का प्रतिषेध कोई स्वस्थ चित्त नहीं करेगा। इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य विषय है कि तात्त्विक अविद्यादि जैसे शुद्ध चैतन्य में नहीं है वैसे ही जीव में भी नहीं है। कारण, तात्त्विक अविद्यादि अप्रसिद्ध वस्तु है। श्रुति पुनः पुनः अविद्या-सम्बन्ध-जन्य जीव की सावद्यता (दुष्टत्व) और अविद्या सम्बन्ध न होने के कारण चैतन्य की निरवद्यता (निर्दुष्टत्व) प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में विवरणाचार्य का मत स्वीकार करने से उक्त श्रुति के साथ विरोध अपरिहार्य हो जायगा अर्थात शुद्ध चैतन्य और जीव ये दोनों ही समान रूप में सावद्य अथवा निरवद्य रहेंगे। क्योंकि शुद्ध चैतन्य के साथ अविद्या का सम्बन्ध मानने पर भी श्रुति से अनुमोदित निरवद्यत्व मानने पर जीव भी अविद्या के सम्बन्ध रहने पर भी निरवद्य [निर्दुष्ट] रहेगा। अथवा जीव में अविद्या का सम्बन्ध जिस प्रकार सावद्य है विवरणाचार्य के मत में वैसे ही शुद्ध चैतन्य में भी सावद्य रहेगा। अर्थात् शुद्ध चैतन्य और जीव दोनों समान रूप से सावद्य या निरवद्य रहेंगे।

इसके उत्तर में विवरणानुसारी आचार्यगणों ने कहा है कि प्रदर्शित श्रुति विरोध नितान्त असंगत है। अविद्या शुद्ध चैतन्य में आश्रित होने पर भी अविद्या रूप उपाधि-प्रयुक्त चैतन्य बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से ईश्वर और जीव रूप में भिन्न हो जायेगा। अविद्या-रूप उपाधि जीव-भिन्न चैतन्य में कार्य उत्पादन नहीं करती है। अविद्या रूप उपाधि केवल प्रतिबिम्ब जीव चैतन्य में कार्योत्पादक होती है। अविद्या जिसमें कार्यकर होती है वही सावद्य बन जाता है एवं जिसमें कार्यकर नहीं होती है वह निरवद्य [निर्दुष्ट] रह जाता है। जीव चैतन्य सावद्य एवं शुद्ध चैतन्य और ईश्वर चैतन्य निरवद्य है। पूर्वोक्त रूप से श्रुति-प्रदर्शित व्यवस्था की अनायास में उपपत्ति हो जाती है। उपाधि प्रतिबिम्ब में ही अपने कार्य का जनक होती है इसीलिए उपाधि को प्रतिबिम्ब-पक्षपाती

कहा गया है, क्योंकि, अविद्या रूप उपाधि प्रतिबिम्बभूत जीवचैतन्य में ही अहंकार एवं रागादि कार्य की उत्पादिका होती है, बिम्ब में नहीं। जीव के प्रति ही चैतन्य का आवरण करता है।

इस प्रसंग में द्वैतवादी आचार्य ये आपत्तियाँ करते हैं कि—ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ [श्वेता २।१९] इस श्रुति के द्वारा जीव को ही अज्ञानाश्रय प्रतिपादित किया है अर्थात् जीव में अज्ञान की आश्रयता है। इसीलिए प्रदर्शित श्रुति में जीव को अज्ञ कहा है।

इसके समाधान में विवरणानुसारी आचार्यगण का यह कथन है कि —अज्ञान का आश्रयत्व-प्रयुक्त जीव को अज्ञ इस श्रुति के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया गया है, कारण, जीव अविद्या का आश्रय नहीं है। ऐसा होने पर भी अविद्या का कार्य आवरण जीव के प्रति ही होता है यही कारण है कि श्रुति जीव को ही अज्ञरूप से निर्दिष्ट करती है। इसमें विशेष ध्यान देने योग्य विषय यह है कि केवल जीव चैतन्य को अविद्या का आश्रय स्वीकार करने पर जीवत्व धर्म को ही अविद्या का आश्रयतावच्छेदक मानना पड़ेगा। और इससे अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य हो जायेगा। जीव चैतन्य में अज्ञान आश्रित होगा और अज्ञान की आश्रयता-प्रयुक्त ही चैतन्य की जीवत्व सिद्ध होगी। अर्थात् जीवत्वाधीन अज्ञान और अज्ञानाधीन जीवत्व रहेगा।

यद्यपि वाचस्पतिमिश्र और मण्डनमिश्र ने जीवाश्रित अज्ञान को स्वीकार किया है। इससे इन लोगों के मत में अज्ञानाश्रयतावच्छेद कर्म जीवत्व होता है। इस जीवत्व में अज्ञानावच्छिन्नत्व धर्म है। मनोवच्छिन्न चित्तरूपत्व नहीं है।

वाचस्पतिमिश्र ने अज्ञान को जीवाश्रित रूप में स्वीकार किया है, किन्तु, अज्ञान को अहमर्थाश्रित रूप में स्वीकार नहीं किया है। मनोऽवच्छिन्नचैतन्य अहमर्थ एवं अविद्यावच्छिन्न चैतन्य जीव पदार्थ है। वाचस्पतिमिश्र के मत में अज्ञानावाच्छिन्न चैतन्य ही जीव है। अज्ञान को जीवाश्रित न मानकर शुद्ध चिन्मात्राश्रित मानने में रहस्य यह है कि वाचस्पति के मत में जीवनिष्ठ अविद्याश्रयता किसी धर्म से अवच्छिन्न [किंचिद् धर्मावच्छिन्न] है और शुद्ध चैतन्य में रहने

वाली अविद्याश्रयता अनवच्छिन्न है अर्थात् किसी धर्म के द्वारा अवच्छिन्न नहीं है। अतः, अनवच्छिन्नत्व और अवच्छिन्नत्व दोनों पक्षों में अविद्या का अनवच्छिन्नाश्रयतापक्ष ही इस स्थल में समर्थित हुआ है। वाचस्पति के मत में इस प्रकार भी कहा जा सकता है—जीव चैतन्य में जो अज्ञानाश्रयता है उसका अवच्छेदक जीवत्व नहीं है। जैसे वृक्षनिष्ठ संयोग का अवच्छेदक शाखादि होता है। वैसे ही जीवत्व अज्ञानाश्रयता का अवच्छेदक नहीं है। परन्तु अज्ञानाश्रयिभूत जीवनिष्ठ जीवत्व धर्म को उपाधि मात्र स्वीकार किया जाता है। जीवत्व में अवच्छेदकता स्वीकार नहीं करते हैं। फलतः अभी यह नहीं कह सकते हैं कि अज्ञानाश्रयता के अवच्छिन्नत्व पक्ष में गौरव है। कारण इस पक्ष में भी जीवत्व धर्म अवच्छेदक नहीं उपाधि[१] है। इसलिए अवच्छेदक पक्ष में जो गौरव-दोष की सद्भावना है, वह नगण्य है।

शुद्ध चैतन्य के अविद्याश्रयत्व पक्ष में ज्ञाज्ञौ इस श्रुति में अज्ञ पद द्वारा जीव का निर्देश किया गया है। इसमें अज्ञ पद के द्वारा अज्ञान का आश्रय यह अर्थ ग्रहण न कर अज्ञान का कार्य आवरण·विशेष का आश्रय यह अर्थ स्वीकार किया गया है कार्य आवरण विशेष का आश्रय है, इस अर्थ की प्रतीति के लिए अज्ञ पद में लक्षणा स्वीकार करना पड़ता है। पूर्व प्रदर्शित अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना से ही अज्ञ शब्द का शक्यार्थ परित्याग कर लक्ष्यार्थ स्वीकार किया गया है। यदि जीव ही अज्ञ पद का शब्दार्थ स्वीकार किया गया होता तो पूर्वपक्षी के मत में अन्योऽन्याश्रय दोष अपरिहार्य ही होता। अज्ञान की शुद्ध चैतन्याश्रयतावादी के मत में जिस प्रकार लक्षणा स्वीकार आवश्यक होता है उसी प्रकार जीवाश्रित अज्ञानवादी वाचस्पति के मत में भी मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् इस श्रुति के मायी पद में माया विषय इस अर्थ में लक्षणा मानना आवश्यक हो जाता है। इसलिए दोनों ही पक्ष में लक्षणा स्वीकार सर्वथा अपरिहार्य है। अतः, एक पक्षी दूसरे

१ अवच्छेदक और उपाधि का भेद अन्यत्र व्यक्त है। जीवत्व यदि आश्रयतावच्छेदक हो जाय तब आश्रय की प्रतीति में वह नियत विषय रहेगा। उपाधि मानने से आश्रय की प्रतीति में नियत विषय होने की आवश्यकता नहीं होती है।

पक्ष में लक्षणा स्वीकार रूप दोष का उद्भावन नहीं कर सकते हैं। अब जीव चैतन्य को अविद्या का आश्रय न कहकर शुद्ध चैतन्य को अविद्या का आश्रय कहने में लाघव होता है। अतः, अविद्या का शुद्ध चैतन्याश्रितत्व पक्ष ही समीचीन है।

द्वैतवादी आचार्य जो अहमर्थाश्रित अज्ञान को सिद्ध करना चाहते है, वह तो सर्वथा असंगत है, कारण अहमर्थ की अनुपपत्ति दशा में अज्ञान अहमर्थाश्रित नहीं हो सकता है। यह पूर्व में भी कह दिया है कि मनोवऽच्छिन्न चैतन्य ही अहमर्थ है। अतः, अनादि अविद्या शुद्ध चैतन्याश्रित है, यही स्वीकार करना उचित है। इस प्रकार अहमज्ञ इस ज्ञान को भी स्वीकार करने से उपपत्ति हो जाती है। अहमर्थाश्रित अज्ञान पक्ष में अन्यदोष भी है—अज्ञान का कार्य है अहमर्थ अन्तःकरण वह अज्ञानाश्रित है और अज्ञान अहमर्थाश्रित है अज्ञान अहमर्थ अज्ञान में स्थित है अन्ततः इस प्रकार की स्थिति में अन्योऽन्याश्रय दोष अपरिहार्य हो जायेगा; क्योंकि, कारण कभी भी अपने कार्य में आश्रित नहीं हो सकता है। उपादान उपादेय में आश्रित नहीं हो सकता है। अज्ञान को शुद्ध चैतन्य में आश्रित न मानने पर अज्ञान की सिद्धि ही नहीं होगी। क्योंकि, अज्ञान प्रमाण सिद्ध नहीं साक्षि-सिद्ध है अर्थात् अज्ञान साक्षिमात्र सिद्ध है। अज्ञान में अनादित्व, ज्ञान-निवर्त्यत्व और बाध-भिन्नत्व की सिद्धि के लिए ही अनुमानादि प्रमाणों को उपन्यास किया जाता है। अनुमानादि प्रमाण अज्ञान का स्वरूप साधक नहीं है—यह विवरण में सुस्पष्ट प्रतिपादित है।

भ्रान्ति-समानाधिकरण्य।

द्वैतवादी आचार्यगण का यह कथन है कि अज्ञान शुद्ध चैतन्य में आश्रित नहीं हो सकता है, क्योंकि, अज्ञान, भ्रान्ति और सम्यग् ज्ञान एक ही अधिकरण में आश्रित होता है। जिस पुरुष को अज्ञान, उसी पुरुष को भ्रान्ति और उसी पुरुष के सम्यग् ज्ञान होता है, मोक्ष भी उसी व्यक्ति को होता है। अतः, अज्ञान के साथ भ्रान्ति का समानाधिकरण्य स्वीकार करना पड़ेगा। अज्ञान को यदि शुद्ध चैतन्य में आश्रित स्वीकार किया जाय तो भ्रान्ति भी शुद्ध चैतन्य में ही स्वीकार करनी पड़ेगी। परन्तु यह नितान्त विरुद्ध है—ज्ञाता पुरुष

को ही भ्रान्ति होती है, शुद्ध चैतन्य ज्ञाता नहीं है, अतः, ज्ञाता पुरुष में ही अज्ञान स्वीकार करना उचित है। अर्थात् अज्ञान ज्ञाता में आश्रित है चैतन्य में नहीं। फलतः, विवरणाचार्य ने जो अज्ञान को शुद्ध चैतन्याश्रित स्वीकार किया है, यह सर्वथा असंगत है। ज्ञाता के अर्थ का अप्रकाश ही अज्ञान है। जैसे—शुक्ति-विषयक-अज्ञान ज्ञाता को शुक्ति का प्रकाश न होना ही है। शुक्ति का ज्ञाता को भासित न होना ही शुक्ति-विषयक अज्ञान है। शुक्ति-विषयक-अज्ञान के समान सभी अज्ञान को ज्ञाता में आश्रित होना ही उचित है। और भी एक विचारणीय विषय पर ध्यान देना उचित है कि अज्ञान का कार्य और कारण का सामानाधिकरण्य भी स्वीकार करना चाहिए। इसी प्रकार संसार भी अज्ञान का कार्य है भ्रम और संसार ये दोनों ज्ञाता को ही होते हैं। शुद्ध चैतन्य को नहीं।

इस प्रकार अज्ञान-निवर्त्तक प्रमाज्ञान भी ज्ञाता को ही होता है। इसीलिए प्रमा ज्ञान और निवर्त्य अज्ञान की समानाश्रयता स्वीकार करना उचित है। विभिन्न आश्रय में आश्रितज्ञान और अज्ञान का निवर्त्य-निवर्तक भाव नहीं हो सकता है। प्रागभाव प्रतियोगी का जनक और प्रतियोगिनाश्य होता है। जन्य-जनक-भाव और नाश्य-नाशकभाव सामानाधिकरण्य में ही सम्भव होता है। इसीलिए ज्ञान का प्रागभाव ज्ञान का असमानाधिकरण्य है—यह आचार्य को भी अभिमत नहीं है। अज्ञान ज्ञानप्रागभाव का समान योग-क्षेम है। वादि-वृन्द जिस स्थल में ज्ञान-प्रागभाव स्वीकार करते हैं, अद्वैतवेदान्तिगण उसी स्थल में अज्ञान स्वीकार करते हैं। अतः, ज्ञानप्रागभाव जिस प्रकार ज्ञाता में आश्रित है, उसी प्रकार अज्ञान भी ज्ञाता में ही आश्रित रहेगा ज्ञान-स्वरूप-चैतन्य में आश्रित नहीं हो सकता है। भ्रम-ज्ञान और प्रमा-ज्ञान दोनों ही अज्ञान समानाधिकरण होता है—यह विवरणाचार्य ने ही स्वीकार किया है। विवरणाचार्य ने कहा है कि जड वस्तु को यदि अज्ञान का आश्रय स्वीकार किया जायतो अज्ञानाश्रय उसी जडवस्तु में भ्रमाश्रयत्व और प्रमाश्रयत्व की भी आपत्ति होगी[1]।

इसके उत्तर में विवरणमतानुसारी आचार्यों का कहना है—अज्ञान शुद्ध चैतन्याश्रित होने पर भी भ्रम और प्रमाज्ञान के साथ अज्ञान का समानाधिकरण्य

---

[1] विवरण पृ० ४५ [विजयनगर]।

हो सकता है अर्थात् ज्ञाता का ही अज्ञान यह सिद्ध हो सकता है। इस मत में भी शुद्ध चैतन्याश्रित अज्ञान ज्ञाता में आश्रित है यह कहा जा सकता है। कारण, ज्ञातृत्वधर्म बुद्धिगत है, बुद्धिगत इस ज्ञातृत्वधर्म का ही चैतन्य में अध्यास होता है। इसीलिए ज्ञातृत्व और अज्ञान ये दोनों एक ही में आश्रित रहते हैं। अज्ञान का ज्ञातृ-सम्बन्ध तो पूर्व-प्रदर्शित अध्यास के द्वारा हो सकता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से समाधान होने पर द्वैतवादी आचार्यों का कथन है कि इस विवेचन में अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति है।

शुद्ध चैतन्य में अज्ञान की सिद्धि होने पर शुद्ध चैतन्य में अज्ञान-कार्य ज्ञातृत्व का अध्यास सिद्ध होगा और इस कथन की सिद्धि होने पर ज्ञान और अज्ञान का वैयधिकरण्य रूप बाधक-परिहार-सिद्धि-प्रयुक्त शुद्ध चैतन्य में अज्ञान की सिद्धि होगी अर्थात चिन्मात्र अज्ञान-सिद्धि-प्रयुक्त शुद्ध चैतन्य की ज्ञातृत्व की सिद्धि होने से शुद्ध चैतन्य में अज्ञानाश्रयत्व सिद्धि होगी। इस तरह परस्पर आश्रित होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष की आपत्ति है।

इसके उत्तर में विवरणानुसारी आचार्यों का कथन है कि द्वैतवादियों का पूर्वोक्त कथन सर्वथा अनुचित है। कारण, चैतन्य ही ज्ञाता है। अन्तःकरण-अध्यास प्रयुक्त ही शुद्ध चैतन्य का ज्ञातृत्व होता है। ज्ञाता के पास अर्थ प्रकाश ही ज्ञान है। इसलिए अज्ञान और सम्यग्ज्ञान का समानाधिकरण्य ही हो गया और इस पूर्वोक्त रूप से अज्ञान का भ्रान्ति-सामानाधिकरण्य अनायास ही उपपन्न हो जायेगा। पूर्वपक्षी ने जो अन्योऽन्याश्रय दोष का प्रदर्शन किया है— ज्ञातृत्व और अविद्याश्रयत्व परस्पर सापेक्ष होने से अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा— यह भी कथन अनुचित है। कारण, ज्ञातृत्व और अविद्याश्रयत्व सापेक्ष होने पर भी अविद्याश्रयत्व ज्ञातृत्व की अपेक्षा निरपेक्ष होने के कारण पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रयदोष सम्भव नहीं है। शुद्ध चैतन्य में अनादि सिद्ध अविद्या और अविद्या-प्रयुक्त-ज्ञातृत्व— ये दोनों ही है। अतः अविद्या और ज्ञातृत्व का समानाधिकरण्य सिद्ध हो गया। इन दोनों का सामानाधिकरण्य है— इसीलिए एक धर्म दूसरे का सापेक्ष हो जायेगा— यह कथन सर्वथा असंगत है। यदि दोनों धर्मों में जन्य-जनक-भाव हो तब तो जन्य-धर्म जनक-धर्म की अपेक्षा अवश्य ही करता परन्तु दोनों धर्मों का सामानाधिकरण्य है। इसलिए एक दूसरे की अपेक्षा नहीं कर सकता है। जैसे रूप और

रस एक ही अधिकरण में रहते हैं। अतः इन दोनों में समानाधिकरण्य है। किन्तु रूप और रस इन दोनों का समानाधिकरण्य होने पर भी ये दोनों परस्पर सापेक्ष नहीं है। अतः इन दोनों में अन्योऽन्याश्रय नहीं है। प्रकृत में ज्ञातृत्व धर्म अविद्या-सापेक्ष होने पर भी अनादि-अविद्या ज्ञातृत्व निरपेक्ष है। फलतः शुद्ध चैतन्य को अज्ञानाश्रय स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। अतः विवरण सम्मत शुद्ध चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय है यह पक्ष समीचीन है।

मूलाज्ञान का विषय-निरूपण

स्वयं प्रकाश चैतन्य ही अविद्या का आश्रय है यह पूर्वोक्त विवेचन से सिद्ध किया गया है। इस प्रकरण में अविद्या का विषय कौन होता है इसका निरूपण किया जायेगा। अविद्या का विषय होता है इसका विस्तृत विश्लेषण किया है। इस प्रसंग में जिस अविद्या का आश्रय और विषय का निरूपण किया गया है वह अविद्या मूला अविद्या ही है।

द्वैतवादी आचार्यों का कहना है कि अविद्या का विषय निरूपण सम्भावित नहीं है। इसके उत्तर में विवरणाचार्य का कथन है— अविद्या के विषय का निरूपण भी आश्रय निरूपण के समान ही अनायास से ही किया जा सकता है। शुद्ध चिन्मात्र ही अविद्या का आश्रय है, और वही अविद्या का विषय भी है। शुद्ध चैतन्य अकल्पित वस्तु है, इसलिए शुद्ध चिन्मात्र ही अविद्या का विषय हो सकता है। अविद्या-कल्पित-वस्तुओं को यदि अविद्या का विषय स्वीकार किया जायेगा, तो अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति होगी। सविषयक अविद्या द्वारा विषय कल्पित होगा एवं विषय कल्पित होने पर अविद्या सविषयक होगी - इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति हो जायेगी। अतः अविद्या के आश्रय शुद्ध चैतन्य को ही अविद्या का विषय भी स्वीकार करना उचित होगा। अविद्या का प्रकाश होता है। कल्पित जड वस्तु तो अविद्या (अज्ञान) विषय मानने पर अविद्या की सिद्धि नहीं होगी। इस प्रसंग में एक विषय और भी ध्यान देने योग्य है, चैतन्य स्वप्रकाश वस्तु है, इसलिए यह प्रसक्त प्रकाश है। प्रसक्त प्रकाश चैतन्य अज्ञानावृत न होने से सभी समय जीव के समीप में भासमान रहता है और इसके फलस्वरूप जीव और ब्रह्म का ऐक्य-प्रतिपादक शास्त्रोपदेश भी व्यर्थ हो जाता है। अतएव प्रसक्त प्रकाश चैतन्य में ही अज्ञान रूप आवरण के द्वारा प्रसक्त प्रकाश का प्रतिबन्धन

होता है। अज्ञान में आवरण शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद माना गया है। शक्ति-शक्तिमान् का अभेद- प्रयुक्त अज्ञान को भी आवरण कहा जाता है। जिससे आवरण किया जाय (आव्रियतेऽ नेन) इस करण व्युत्पत्ति के द्वारा अज्ञान (अविद्या) को आवरण स्वीकार किया जाता है। इस आवरण रूप अज्ञान का कृत्य आवृति (आवरण) होता है। आवृति प्रसक्त प्रकाश का प्रतिबन्धन है। फलतः प्रकृत में अज्ञान का आविद्या का) विषय प्रसक्त प्रकाश चैतन्य होने से अज्ञान रूप आवरण की आवृति सम्भावित हो सकती है। जड वस्तु अप्रकाश स्वरूप है, वह स्वयं प्रकाश रहित है। अतः उसमें आवृति सर्वथा निष्प्रयोजन है। जड वस्तु अनावृत होने पर भी उसके स्वभावतः प्रकाश की सम्भावना नहीं है। स्वप्रकाश ब्रह्म स्वरूप यदि जीव के पास अज्ञानावृत नहीं रहे तब तो जीवमात्र स्वयं ही अपने को प्रकाश ब्रह्म स्वरूप में अनुभव करेगा। मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) इस प्रकार का ज्ञान सभी को स्वभाव सिद्ध हो जाएगा। इसी प्रकार जीव का संसार भी अनुपपन्न हो जायेगा। जाग्रत् और स्वप्नकाल में जाग्रत् आदि वृत्ति को प्रतिबोधक स्वीकार करने से सुषुप्ति दशा में ब्रह्मात्मता का स्फुरण अनिवार्य हो जायेगा। अतएव जीव तो प्रसक्त प्रकाश अखण्ड-चैतन्य मूलाविद्या के द्वारा आवृत रहता है। अर्थात् मूलाविद्या को आवृति प्रयोजनवती रहती है। मूलाविद्या का विषय शुद्ध चैतन्य को ही मानने पर यह सम्भव है. जीव या जड वस्तु का अविद्या का विषय स्वीकार करने पर यह सम्भव नहीं है। अतः स्वप्रकाश चैतन्य ही अज्ञान का विषय है अन्य नहीं। कारण, पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति अन्य को अविद्या का विषय स्वीकार करने पर प्रसक्त रहेगी। अतः अज्ञान कल्पित जीव अज्ञान का विषय नहीं है। अज्ञान कल्पित जड वस्तु को अज्ञान का विषय स्वीकार करने से अन्योऽन्याश्रय दोष मात्र की ही प्रसक्ति नहीं है वरन्, जड वस्तु अप्रसक्त प्रकाश होने के कारण अज्ञान की आवृत्ति भी व्यर्थ हो जायेगी। इसलिए शुद्ध चिन्मात्र अज्ञान का विषय है यह स्वीकार करना चाहिए। विवरणाचार्य का कथन है कि—स्वयं प्रकाश ब्रह्म चैतन्य प्रसक्त प्रकाश है। उसी में आवरण कृत्य सम्भावित है। अप्रसक्त प्रकाश में आवरण कृत्य कथमपि सम्भावित नहीं है।

इस पर द्वैतवादियों की शंका है—कि विवरणाचार्य ने इस प्रसङ्ग में जो आवरण कृत्य कहा है? वह आवरण कृत्य क्या है? विवरण में आवरण

कृत्य की विशद् व्याख्या मिलती है। विवरणाचार्य ने आवरण कृत्य को अज्ञान-निमित्त कहा है। अज्ञान-निमित्त शब्द का अर्थ – अज्ञान निमित्त है जिसका अर्थात अज्ञान निमित्तक । तत्त्वदीपनकार ने अज्ञान निमित्त शब्द में बहुव्रीहि समास स्वीकार कर पूर्वोक्त अर्थ का अभिधान किया है। अर्थात् अज्ञानं निमित्तं यस्य यह बहुव्रीहि का स्वरूप टीकाकार ने प्रदर्शन किया है। इसी तरह आवरण कृत्य शब्द का अर्थ आवरण रूपकृत्य इस प्रकार कर्मधारय समास स्वीकार कर आवरण कृत्य शब्द का अर्थ तत्त्वदीपन में प्रदर्शित किया है। इसका फलितार्थ यही है कि अज्ञान-जन्य चैतन्य का आवरण ही अज्ञाननिमित्त—आवरण कृत्य है। विवरणकार ने अविद्या सम्बन्ध को ही आवरण कहकर निर्दिष्ट किया है।

अविद्या के साथ चैतन्य का सम्बन्ध ही चैतन्य का आवरण है। अतएव अज्ञान निमित्तक आवरण कृत्य चैतन्य के साथ अज्ञान का सम्बन्धस्वरूप है। अज्ञान और चैतन्य का सम्बन्ध भी उसी प्रकार अनादि स्वीकार किया गया है। इस विषय का प्रतिपादन विवरण में भी किया गया है।

जीव, ईश्वर, विशुद्ध चैतन्य, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, और अविद्या और चैतन्य का सम्बन्ध ये अनादि हैं[1]। इस सिद्धान्त के अनुसार भी अज्ञान और चैतन्य का सम्बन्ध ही आवरण है। यह अद्वैत सिद्धि में विवरण का मत कहकर प्रतिपादन किया है। यह अनादि आवरण अज्ञान-जन्य नहीं हो सकता है। कारण, आदि वस्तु ही जन्य होती है। अनादि वस्तु किसी से जन्य नहीं होती है। अतएव अज्ञान निमित शब्द का अर्थ अज्ञान-प्रयुक्तत्व है—अर्थात अज्ञान का व्याप्य अज्ञान व्याप्य अविद्या-चैतन्य सम्बन्ध ही आवरण कृत्य है। तत्त्वदीपनकार का विश्लेपण देखने पर उनको भी यही अर्थ अभिमत है यह आपततः अवगत होता है, किन्तु सूक्ष्म विश्लेपण करने पर ज्ञान होगा कि सिद्धान्तकी दृष्टि से तत्त्वदीपनकार का यह अर्थ ठीक नहीं हुआ। कारण, तत्त्वदीपनकार का यह अभिप्राय स्वीकार किया जाय तब तो आवरण कृत्य पद

१—जीव ईशो विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः

कृत्य अंश व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि आवरण कहने से ही अभिमत अर्थ का प्रकाशन हो जाता है। साथ ही विवरणाचार्य को भी यह अर्थ अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता है, कारण, विवरण में कहा गया है कि—अस्ति प्रकाशते इत्यादि अभिज्ञा रूप व्यवहार के पुष्कलकारण रहने पर भी नास्ति, न प्रकाशते, इत्यादि अनस्तित्व विषयक-व्यवहार आत्मा का किसी प्रकार भी आवरण के बिना उपपन्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार कहने से नास्ति न प्रकाशते इस प्रकार के व्यवहार की सिद्धि ही अज्ञानावरण का प्रयोजन या फल है, अतएव आवरण रूप कृत्य नहीं कहकर आवरण का कृत्य इस प्रकार कथन ही उचित है। कर्मधारय समास स्वीकार न कर षष्ठी तत्पुरुष समास स्वीकार करना ही उचित है। अज्ञान चैतन्य-सम्बन्ध आवरण एवं उसका कृत्य नास्ति न प्रकाशते इस रूप व्यवहार की सिद्धि है—प्रकाश हीन जड का आवरणार्थ भी नहीं हो सकता है। इस स्थल में आवरण कृत्य न कहकर आवरणार्थ कहा है। यहां अर्थ शब्द के द्वारा प्रयोजन ही समझा जाता है। आवरणार्थ ही आवरण कृत्य अर्थात् आवरण प्रयोजन नास्ति, न प्रकाशते इस प्रकार व्यवहार ही प्रयोजन है। फलतः कृत्य पद को निरर्थक स्वीकार कर आवरणीकृत्य इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करना तत्त्व-दीपनकार का किसी प्रकार समीचीन नहीं है।

माध्व सम्प्रदाय के अन्यतम श्रेष्ठ आचार्य न्यायामृतकार एवं तरंगिणीकार ने आवरण शब्द का अर्थ आवरक अज्ञान एवं कृत्य पद का अर्थ आवृति यह स्वीकार किया है। आवरक जन्य आवृति को आवरक कृत्य का अर्थ कहते हैं। परन्तु इस प्रकार की अर्थ कल्पना भी सर्वथा असंगत है। कारण, आवरण कृत्य शब्द न्यायामृतकार का अपने सम्प्रदायानुसार उद्भावित है और यह अद्वैत सिद्धान्त सम्मत विषय है। यह भी पूर्व में ही प्रदर्शित किया गया है विवरणकार ने विशेष आग्रह पूर्वक इसका विश्लेशण अपने ग्रन्थ में दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि आवरण शब्दका अर्थ यदि आवरक अज्ञान स्वीकार किया जायेगा तब पूर्वोक्त विवरण वाक्य की संगति किस प्रकार सम्भव हो सकेगी। फलतः आवरण शब्द का अर्थ आवरक किसी प्रकार भी नहीं हो सकता है वरन् आवरणक शब्द का अर्थ अज्ञान सम्बन्ध ही है। न्यायामृतकार ने विवरण के आशय का अनुधावन न कर

---

१ वि० पृ० १५

अपनी इच्छा के अनुसार आवरण का एक काल्पनिक अर्थ स्वीकार कर उसी अर्थ पर दोष प्रदर्शन किया है। पूर्वपक्षी के आशय अवगत किये बिना दोष प्रदर्शन सर्वथा अनुचित है स्थिति यही है कि—न्यायामृत ग्रन्थ के पूर्व न्यायसुधा एवं न्यायसुधा के पूर्व अद्वैत वेदान्त के किसी आचार्य से विरचित अद्वैतसिद्धि के समान कोई ग्रन्थ भी था। किन्तु दैव दुर्विपाक से उस ग्रन्थ की चर्चा नहीं मिलती है। केवल गतानुगतिक रूप से अवलम्बन कर परस्पर द्वैत और अद्वैत दूषण भूषण चला आ रहा है। मूल ग्रन्थानुसन्धान का आग्रह सर्वथा क्षीण है।

आवरण कृत्य शब्द का अर्थ यदि आवृति स्वीकार किया जाय तब व्यवहार प्रभृति आवरण कृत्य के अर्थ किस रूप में परिगणित हो सकते है। आवरण कृत्य शब्द का अर्थ आवृति कहा गया है। व्यवहार आवृति जन्य होता है। अतः जन्य और जनक दोनों किस प्रकार हो सकता है? इस पूर्वोक्त विश्लेषण से विवरण की टीका ऋजुविवरण एवं तत्त्वदीपन इन दोनों ने आवरण और कृत्य इन दो शब्दों में भेद नहीं स्वीकार किया है। अतः आवरण कृत्य शब्द में दोनों टीकाकारों की दृष्टि में कर्मधारय है यह सुस्पष्ट व्यक्त किया है।

शुद्ध चैतन्याश्रित, शुद्ध चैतन्य विषयिणी अविद्या का आवरण कृत्य विवरणानुसार प्रदर्शित किया गया।

इसमें द्वैतवादी आचार्य यह शंका करना चाहते हैं कि—प्रकाश स्वरूप चैतन्य में अज्ञान किस प्रकार रह सकता है? आलोक में अन्धकार तो नहीं रह सकता है! इस प्रसंग में यह भी उल्लेख करना आवश्यक समझ में आता है कि पूर्वोक्त अद्वैतवादियों के प्रति आपत्ति भगवद्भास्कर-रामानुज प्रभृति सभी आचार्यों ने एकस्वर में की है। इस आपत्ति के समाधान का विशद विवेचन निम्नलिखित पंक्तियों में कर रहा हूँ।

प्रकाश और अन्धकार का विरोध

आलोक में अन्धकार किस प्रकार रह सकता है—यह आपत्ति जिन दार्शनिकों ने की है, वे थोड़ा प्रणिधान देने से ही समझ सकते हैं कि आलोक के साथ अन्धकार की विरोधिता नहीं है। मन्द-अन्धकार और आलोक एक साथ ही रहता है। गृह अभ्यन्तर भाग में बैठ कर जब हमलोग कार्य-सम्पादन करते

हैं, तब अनुभव होता है कि अन्धकार और प्रकाश एकत्र अवस्थित है। प्राचीन मन्दिर में जिन लोगों ने दर्शन किया है उनको अनुभव है कि आलोक और अन्धकार का सहावस्थान सम्भव है। अप्रासंगिक चर्चा होने से इस विषय का विशद विवेचन पुनः करूंगा। अस्तु यह मान भी लिया जाय कि आलोक और अन्धकार से परस्पर विरोध ही है। फिर भी आलोक और अन्धकार में परस्पर विरोध रहने पर ही चैतन्य के साथ अज्ञान का भी विरोध रहेगा, यह किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? जिस प्रकार अन्धकार आलोक का विरोधी है वैसे ही अज्ञान भी चैतन्य का विरोधी है।

यह कहाँ सिद्ध हुआ कि अन्धकार और अज्ञान को प्रकाश विरोधिता में महद्-वैलक्षण्य है। यह सामान्यतया सभी को अनुभूत है कि आलोक-प्रकाशित स्थान में अन्धकार के न रहने पर भी साक्षि-प्रकाशित विषय में अज्ञान रहता है। तुमने जो कहा उसको मैं नहीं जनता हूं (त्वदुक्तमर्थं न जानामि) यह अनुभव सब को होता है। अतः यह स्वीकार सभी को करना पड़ेगा कि अज्ञान के अनुभव से प्रकाशमान वस्तु में अज्ञान का अनुभव भी साथ में रहता है।

विवरणाचार्य के सिद्धान्त के अनुसार अज्ञान साक्षिभास्य एवं अज्ञान का व्यावर्तक विषय भी साक्षिभास्य है अतएव साक्षिभास्य त्वदुक्तमर्थ विषय का अज्ञान का अपर भास्य सर्वथा अनुचित है। सुतरां साक्षी के द्वारा प्रकाशमान त्वदुक्त अर्थ में अज्ञान का अनुभव होता है यह मानना ही पड़ेगा।

अतः प्रकाशमान वस्तु के साथ अज्ञान का विरोध है। यह स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

इस स्थल पर विवरण का गूढ़ आशय यह है कि—आलोक के साथ अन्धकार और प्रकाशका विरोध है चैतन्य के साथ अज्ञान का वैसा विरोध नहीं है। यही कारण है कि विवरणानुसारी आचार्यगण कहते हैं कि एक अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य भी जीव है। दूसरा अविद्या अवच्छिन्न चैतन्य भी जीव है। अविद्या द्वारा जीव और ईश्वर का भेद प्रतीत होता है। यह कल्पित भेद विशिष्ट चैतन्य जीव है। अर्थात ईश्वर प्रतियोगिक कल्पित भेद का आश्रय चैतन्य ही जीव है। निष्कर्ष यह है कि अविद्या कल्पित भेद रूप चैतन्य को ही जीव कहा जा

सकता है। ये पूर्वोक्त तीनों जीव के स्वरूप अविद्या के अधीन है। अविद्या अवच्छिन्न चैतन्य अविद्या द्वारा कल्पित चैतन्य में अविद्या के न होने पर नहीं हो सकती। सुतराम् चैतन्य जीवत्व अविद्या के अधीन कहा गया है। अविद्या जीवाश्रित मानने पर अविद्या द्वारा चैतन्य का जीवत्व सिद्ध होने से अविद्या जीव चैतन्य में आश्रित हो सकेगी। एवं अविद्या चैतन्य में आश्रित होने से जीव चैतन्य का जीवत्व सिद्ध होगा। जीवत्व सिद्धि के अधीन अविद्या का जीवाश्रितत्व एवं अविद्या का जीवाश्रितत्व प्रयुक्त जीव चैतन्य अविद्या अधीन जीव की सिद्धि होने से जीवाश्रित रूप में अविद्या की सिद्धि यहीं मानना पड़ेगा। इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष सुस्पष्ट है। इसके उत्तर में भामतीमतानुसारी आचार्य कहते है पूर्वोक्त— अन्योऽन्याश्रय-दोष प्रदर्शन सर्वथा असंगत है, कारण, अन्योऽन्याश्रय दोष की दूषकता तीन प्रकार से होती है। उत्पत्ति में अन्योन्याश्रय दोष दूषक होता है, अन्य किसी कि स्थिति में नहीं। उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष होने से अर्थात् वस्तु द्वय की परस्पर सापेक्ष उत्पत्ति होने से अन्यतर वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी तरह परसापेक्ष ज्ञप्ति होने से अर्थात ज्ञान सापेक्ष परस्पर ज्ञान होने से अन्यतर वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। इस तरह परस्पर सापेक्ष दो वस्तुओं की स्थिति होने से अन्यतर वस्तु की स्थिति नहीं हो सकती। इस पूर्वोक्त प्रदर्शित तीन प्रकार में किसी एक प्रकार का अवलम्बन कर अन्योऽन्याश्रय दोष दूषक होता है। प्रकृत में इन तीनों में एक भी सम्भावित नहीं है क्योंकि उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष प्रदर्शित स्थल में सम्भावित नहीं है। कारण, अविद्या और जीव ये दोनों ही अनादि वस्तु हैं। अनादि वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए प्रकृत में उत्पत्ति से अन्योऽन्याश्रय-दोष नहीं है। इसी प्रकार ज्ञप्ति में भी प्रकृत में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। कारण, अज्ञान साक्षिरूप जीव चैतन्य भास्य होने पर भी साक्षिरूप जीव चैतन्य प्रकाश होने के कारण अविद्याभास्य नहीं है अतः अविद्या की ज्ञप्ति जीवाधीन होने पर भी जीव की ज्ञप्ति अविद्याधीन नहीं है। इसीलिए प्रकृत में ज्ञप्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। स्वरूप चैतन्य और साक्षिचैतन्य अज्ञान का विरोधी नहीं है। क्योंकि साक्षी से प्रकाश अथवा आलोक में अज्ञान सर्वानुभव सिद्ध है। अन्धकार के साथ आलोक का इस प्रकार अविरोध नहीं है। आलोक युक्त स्थान अन्धकार प्रतीत नहीं होता है। अतएव आलोकमात्र ही अन्धकार का विरोधी है; परन्तु चैतन्य मात्र अज्ञान का विरोधी नहीं है। केवल प्रमा रूप अन्तःकरण वृत्ति द्वारा अभिव्यक्त चैतन्य ही अज्ञान का विरोधी है।

वस्तुतः बात यह है कि आलोक मात्र अन्धकार का विरोधी है; यह स्वीकार करके ही चैतन्य मात्र अज्ञान का विरोधी होता है यह प्रतिपादन किया गया है। परन्तु विवेचन करने से स्पष्ट ज्ञात होगा कि आलोक मात्र अन्धकार का विरोधी नहीं है। कारण, विस्तृत प्रकाश और आलोक का मन्दान्धकारसाहित्य सर्वानुभव सिद्ध है। प्रकाश और अन्धकार साथ रहता है। सुतराम आलोकमात्र अन्धकार का विरोधी नहीं है। गृह के अभ्यन्तर भाग में आलोक और अन्धकार दोनों ही अनुभव सिद्ध हैं। मध्याह्न काल में भी वृक्ष-छाया-युक्त-भूमि में आलोक और अन्धकार दोनों का एक साथ अवस्थान अनुभव सिद्ध है। सूर्यालोक-प्रकाशित भूमि में भी सूर्यकान्त शिला द्वारा आलोक प्राप्त करने पर प्रकाश का आधिक्य देखा जाता है। सूर्यालोक-प्रकाशित भूमि में दर्पण आदि प्रतिफलित सौर किरण प्राप्त कर प्रकाशाधिक्य होता है। अतः सौर किरण प्रकाशित देश में भी अन्धकार की स्थिति स्वीकार करनी पड़ेगी। अन्यथा सूर्य से प्रकाशित भूमि में अन्धकार न मानने पर प्रतिफलित सूर्य किरण द्वारा उस स्थल में प्रकाश की अधिकता नहीं होती। इन पूर्वोक्त बातों को सूक्ष्म रूप से समीक्षा करने पर स्पष्ट प्रतीत हो जायेगा कि आलोक मात्र अन्धकार का विरोधी नहीं है। जिस तरह आलोक-मात्र अन्धकार का विरोधी नहीं है उसी प्रकार चैतन्य-मात्र अज्ञान का विरोधी नहीं है।

वाचस्पति का मत

विवरणाचार्य के मत में अविद्या शुद्ध चैतन्याश्रित एवं शुद्ध चैतन्य-विषयिणी है यह प्रतिपादन किया गया। इसमें पूर्वपक्षियों के द्वारा उद्भावित दोषों का परिहार भी विस्तृत रूप से दिया गया। वाचस्पति मिश्र अविद्या को शुद्ध चैतन्याश्रित न मानकर जीवाश्रित स्वीकार करते हैं। अविद्या शुद्ध चैतन्य में आश्रित नहीं वरन् जीव आश्रित है यही उनका सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार जीव भेद से अविद्या भी भिन्न-भिन्न है। इसमें द्वैतवादी आचार्यगण वाचस्पति के मत में भी दोष प्रदर्शन करते हैं। वे सब कहना चाहते हैं कि अविद्या को जीवाश्रित स्वीकार करने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। कारण, वाचस्पति के मत में जीव स्वरूप का तीन प्रकार विश्लेषण कर सकते हैं।

(१) अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है।

(२) अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही जीव है।

(३) अविद्या के द्वारा जीव और ईश्वर का भेद कल्पित होता है। और यह कल्पित भेद विशिष्ट चैतन्य ही जीव है। अर्थात् ईश्वर प्रतियोगिक कल्पित भेद का आश्रय चैतन्य ही जीव है। निष्कर्ष एक ही है कि अविद्या कल्पित भेदरूप चैतन्य को ही जीव कहा जा सकता है।

ये तीनों जीवस्वरूप अविद्या के अधीन हैं। अविद्या-प्रतिबिम्बित अविद्यावच्छिन्न चैतन्य, अविद्या द्वारा कल्पित भेद चैतन्य ये तीनों ही अविद्या न होने से नहीं हो सकते हैं। अतः चैतन्य जीवत्व अविद्या के आश्रित है। अर्थात् अविद्या के अधीन है। आगे कहा गया है कि जीवाश्रित अविद्या द्वारा चैतन्य का जीवत्व सिद्ध होने से जीव चैतन्य में आश्रित हो सकेगा एवं अविद्याधीन जीव चैतन्य के अविद्याका आश्रय होने से जीव चैतन्य का जीवत्व सिद्ध होगा। जीवत्व की सिद्धि के अधीन अविद्या की जीवाश्रितत्व एवं अविद्या का जीवाश्रितत्व प्रयुक्त जीव चैतन्य का जीवत्व होगा। अविद्याधीन जीव की सिद्धि एवं जीव की सिद्धि होने से जीवाश्रित रूप से अविद्या की सिद्धि—यही कहना होगा, और इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष स्पष्ट ही है। इसमें भामतीमताधिकारी आचार्यों का कहना है कि पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष प्रदर्शन सर्वथा असंगत है। कारण, अन्योऽन्याश्रय दोष की दूषकता तीन प्रकार से हो सकती है। (१) उत्पत्ति में (२) ज्ञप्ति में (३) और स्थिति में, उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष होने से अर्थात् दो वस्तुओं की परस्पर सापेक्ष उत्पत्ति होने से वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसी प्रकार परस्पर सापेक्ष ज्ञप्तिक होने से अर्थात् परस्पर ज्ञान सापेक्ष ज्ञान होने से वस्तु का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। परस्पर सापेक्ष स्थिति होने से भी वस्तु की स्थिति नहीं हो सकती है। इस प्रकार प्रदर्शित तीन प्रकारों में किसी एक प्रकार को स्वीकार कर अन्योऽन्याश्रय दोष की स्थिति स्वीकार की जा सकती है। प्रदर्शित प्रसंग में ऊपर दिखाये गये इन तीनों में किसी एक की भी सम्भावना नहीं है। अतः यह अन्योऽन्याश्रय दोष किसी भी तरह संभव नहीं होगा। उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष पूर्वोक्त स्थल में नहीं हो सकता। क्योंकि अविद्या और जीव दोनों ही अनादि हैं। इसलिए इन दोनों की उत्पत्ति स्वीकार नहीं की जाती है; इसलिए उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष प्रकृत में नहीं हो सकता है, इसी प्रकार ज्ञप्ति में भी अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना नहीं है, कारण, अज्ञान साक्षिरूप जीव चैतन्य से भास्य होने

पर भी साक्षिरूप जीव चैतन्य स्वयं प्रकाश है। जो स्वयं प्रकाश रहता है वह किसी से भास्य नहीं हो सकता। अतः अविद्या की ज्ञप्ति पक्ष में भी जीवाश्रयता होने पर भी जीव की ज्ञप्ति अविद्या के अधीन ही है। आशयं यह है कि अविद्या की ज्ञप्ति को जीवाश्रितत्व मानने पर भी जीव की ज्ञप्ति अविद्यायत्त नहीं है। इसलिए ज्ञप्ति में अन्योऽन्याश्रय दोष किसी भी तरह नहीं हो सकता है।

अब स्थिति पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष की सम्भावना का जो प्रदर्शन किया गया है वही अवशिष्ट रह जाता है। किन्तु विश्लेषण करने से यह स्पष्ट रूप से अवगत हो जाता है कि स्थिति में भी प्रकृत स्थल में अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। कारण स्थिति में अन्योऽन्याश्रय दोष दो प्रकार से हो सकता है—(१) अगर दो वस्तु परस्पर में आश्रित हो जाय तब इस स्थिति में अन्योऽन्याश्रय दोष होता है—(२) दो वस्तु परस्पर आश्रित न होकर परस्पर सापेक्ष-स्थितिक हो जाय तब इस स्थिति में अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। प्रदर्शित स्थल में स्थिति में अन्योऽन्याश्रय दोष भी सम्भावित नहीं है। कारण, अज्ञान जीवाश्रित होने पर भी जीव आज्ञानाश्रित नहीं है। जीव शुद्ध चैतन्य में आश्रित है यह अविद्याश्रित नहीं है। इस प्रकार अज्ञान जीवाधीन-स्थितिक होने पर भी अर्थात् जीव भिन्न में अवृत्तिक होने पर भी जीव अविद्या भिन्न में अवृत्तिक नहीं है। कारण शुद्ध जीव शुद्ध चैतन्य वृत्तिक है। सुतराम जीव अविद्याधीन स्थितिक अर्थात् अविद्या—भिन्न में अवृत्ति नहीं है। अत एव ये दोनों परस्पर आपेक्ष स्थितिक नहीं है। प्रदर्शित रूप में अन्योऽन्याश्रय दोष सर्वथा अनुचित है। वाचस्पति के मत में अविद्या का आश्रय जीव और अविद्या का विषय ब्रह्म है। ब्रह्म-विषयक जीवाश्रिता अविद्या यही उनका सिद्धान्त है। ईश्वर जो जीव का द्रष्टा होता है वह भी स्वरूप चैतन्य के द्वारा ही द्रष्टा होता है। इसमें अविद्या वृत्ति की अपेक्षा नहीं है ईश्वर अविद्या का आश्रय नहीं है। इसीलिए अविद्या-वृत्ति द्वारा ईश्वर जीव का द्रष्टा नहीं हो सकता है। जीव अविद्या का आश्रय होने से अविद्या वृत्ति द्वारा जीव अविद्या-विषयत्व रूप में आश्रयता सम्बन्ध से अविद्या जीव में और विषयता सम्बन्ध से अविद्या ब्रह्म में रहती है। इस मत में ब्रह्म को ही प्रपंचाकार स्वीकार किया जाय तब भी विषयता सम्बन्ध में अविद्या प्रपंच का निमित्त कारण और ब्रह्म को प्रपंच का आधार स्वीकार करना पड़ेगा। आधारता सम्बन्ध में प्रपंच के प्रति विषयता सम्बन्ध

से अविद्या निमित्त कारण है। अविद्या उपादान कारण नहीं, ब्रह्म ही प्रपंचाकार है अतः वही उपादान है, अविद्या उसका सम्पादक मात्र है। अतः इस मत से जीव को ही प्रपंचाधार स्वीकार किया जाय ब्रह्म को प्रपंचाधार स्वीकार नहीं किया जाय तब जीव और अविद्या दोनों ही को प्रपंच का उपादान मानना पड़ेगा। जीव और ब्रह्म में वास्तव भेद नहीं है। इसीलिए जीवोपादानक प्रपंच में ब्रह्मोपादानकत्व भी है और इससे ब्रह्म को जगत् का उपादान प्रतिपादन करनेवाली श्रुति की भी उपपत्ति हो जायगी। जीव के साथ ब्रह्म का अभेद प्रयुक्त जीवोपादानक प्रपंच में ब्रह्मोपादनकत्व स्वीकार न करके भी इस प्रकार कहा जाता कि यतो वा इमानि इत्यादि श्रुति के द्वारा ब्रह्म का जगदुपादनत्व प्रतिपादन नहीं किया गया जगदुपादन अविद्या विषयत्व में यतो वा इमानि आदि श्रुति के द्वारा कहा गया है और यही ब्रह्म का लक्षण है। जो शुद्ध ब्रह्माश्रित अविद्या को ही जगत्-उपादान स्वीकार करते हैं, ब्रह्म अथवा जीव को जगदुपादान नहीं कहते हैं। उनलोगों के मत में ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकेगा। इसलिए वे लोग जगदुपादन अविद्याश्रयत्व ही ब्रह्म का लक्षण स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जगदुपादान अविद्याविषयत्व भी ब्रह्मका लक्षण हो सकता है। इसलिए अविद्या के जीवाश्रितत्व पक्ष में भी कोई दोष नहीं है।

इस प्रसंग में यह कहना उचित समझता हूँ कि वाचस्पति मिश्र का सिद्धान्त जानने के लिए उनके उपजीव्य आचार्य मण्डन का मत-ज्ञान भी एकान्त आवश्यक है। शांकर भाष्य की व्याख्या प्रकटार्थविवरण में कहा गया है कि—वाचस्पति मिश्र मण्डन मिश्र के अनुयायी हैं[1]।

प्रकटार्थकार की यह उक्ति बहुत अंश में सत्य है किसी किसी अंश में मण्डन के साथ वाचस्पति का विरोध रहने पर भी अविद्या की आलोचना में वाचस्पति ने मण्डन की ही आलोचना की है।

मण्डन मिश्र की ब्रह्मसिद्धि के ब्रह्मकाण्ड में अविद्या सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना की गई है एवं अविद्या को जीवाश्रित कहा गया है। भामती ग्रन्थ में

---

१. वाचस्पतिस्तु मण्डनपृष्ठसेवी (बृ० सू० ३–४–४७)

वाचस्पति ने भी यही कहा है। किसकी अविद्या है? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में मण्डन ने कहा है कि जीव समूह को अविद्या है[२]।

भामती टीका में वाचस्पति मिश्र ने मंगल श्लोक से आरम्भ कर बहुत स्थल में अविद्या सम्बन्ध में आलोचना की है। इसमें जीव को अविद्याश्रितत्व प्रतिपादन करने के लिए ब्रह्मसूत्र का १–४–२२ सूत्र की भामती में बहुत विस्तार से कहा है और वह मण्डन मिश्र की निर्यास ही प्रदर्शन किया है।

जीव और परमात्मा में यदि स्वाभाविक अभेद है; तब कैसे भेदबुद्धि होती है-- जीव और परमात्मा? और किस प्रकार नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव भगवान् को संसारिकता सिद्ध होती है? इसके समाधान में भामतीकार ने कहा है कि अविद्याकृत नाम और रूप उपाधि के अधीन ही जीव और भगवान् का भेद व्यवहार सिद्ध होता है। इसी प्रसंग में आगे भामती ने कहा है कि—यह अविद्या किसकी है? यह अविद्या जीवाश्रिता नहीं कही जा सकती है, कारण, जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है[१]। परमात्मा की यह अविद्या है यह भी नहीं कहा जा सकता है। कारण, ज्ञानैकरस उस परमात्मा में अविद्या का आश्रयत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। इस तरह संसारित्व और असंसारित्व विद्यावत्त्व और अविद्यावत्त्व रूप विरुद्ध धर्म के संसर्ग से ज्ञान और व्यपदेश के भेद से जीव और ईश्वर का भेद भी स्वाभाविक है। जीव और परमात्मा के एकत्व के विषय से सम्यग्ज्ञान रहने पर जीव और परमात्मा का नाम मात्र ही भेद है।

× × ×

सभी श्रुतियाँ द्वैतज्ञान की निन्दा कर सर्वथा अद्वैत प्रतिपादनपरक ही प्रतीत होती है। जैसे बिम्ब और प्रतिबिम्ब का तात्त्विक अभेद रहने पर भी मणि, कृपाण और कांच आदि उपधान के भेद से काल्पनिक जीवों का भेद है। यह स्वच्छ बिम्ब और ये नीलकमल के समान श्याम एवं आकार आदि भेदों से भिन्न और अनेक है, इसी प्रकार शुद्धस्वभाव वाले परमात्मा से जीवों का ऐकान्तिक अभेद

---

२. कस्याविद्येति जीवानामिति ब्रूमः। (ब्र० सि० पृ० १०)

१. कस्येयमविद्या, न तावज्जीवस्य, तस्य परमात्मनो व्यतिरेकाभावात्, नापि परमात्मनः तस्य विद्यैकरसस्याविद्याश्रयत्वानुपपत्तेः। (भाम० पृ० ४२०)

रहने पर अनिर्वचनीय अनादि अविद्या के उपधान के भेद से काल्पनिक जीवों का भेद एवं ज्ञान भेद भी है। यह परमात्मा शुद्ध विज्ञान एवं आनन्द स्वभाव है और यह जीव अविद्या शोक दुःख आदि उपद्रवों से युक्त है। यद्यपि अविद्या उपधान विद्या स्वभाव परमात्मा में साक्षात् नहीं है, तथापि उसके प्रतिबिम्बकरूपजीव के द्वारा परमात्मा में भी कहा जाता है।

ऐसी स्थिति में यह शंका होता है कि ऐसा मानने पर अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। कारण, जीवविभागाश्रया अविद्या है और अविद्याश्रय जीव का विभाग है अतः परस्पर आश्रित होने के कारण अन्योऽन्याश्रय दोष की प्रसक्ति है। इसके समाधान में यह कहा गया है बीज और अंकुर के समान यह अनादि है इसलिए यहां अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है[1]।

---

१. न चैवमन्योन्याश्रयो जीवविभागाश्रयाविद्या, अविद्याश्रयश्च जीवभाग इति बीजांकुरवदनादित्वात्। (भाम० पृ० ४२१)
.........तत्रानादित्वान्नेतरेतराश्रयः दोषः। (ब्र० सि० पृ० १०) न च—अविद्यायां सत्यां जीवविभागः, सति च जीवात्मविभागे तदाश्रयाविद्येत्यन्योऽन्याश्रयमिति—सांप्रतम्, अनादित्वेन जीवाविद्ययोर्बीजांकुरवदनवक्लृप्तेरयोगात्। [भाम० पृ० २३५]

अज्ञान की एकता (अवस्थाज्ञानपक्ष और विवरणमत)

विवरणाचार्य ने अज्ञान के एकत्व का समर्थन किया है अर्थात् उनके मत में अज्ञान एक ही है। इस प्रकार अज्ञानवाद में ब्रह्म ज्ञान से अतिरिक्त किसी अन्य ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है एवं ज्ञान एकत्व पक्ष में भ्रम का उपादानत्व ही अज्ञान का लक्षण है[1]।

इस प्रसंग में द्वैतवादी आचार्यों का कथन है कि अज्ञान का एकत्व स्वीकार करने पर शुक्ति विषयक ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने पर उस शुक्ति विषय अज्ञान की निवृत्ति जिस पुरुष की हो गई उसको मोक्ष लाभ होने लगेगा, क्योंकि अज्ञान तो एक ही है और वह शुक्ति के ज्ञान के द्वारा ही निवृत्त हो गया है[1]।

अद्वैतवेदान्तियों के सिद्धान्त में अज्ञान की निवृत्ति को ही मोक्ष कहकर स्वीकार किया है[2]। अविद्या की निवृत्ति ही मोक्ष है एवं अविद्या ही बन्ध है[2]।

इसके उत्तर में अद्वैतवादियों का कहना है कि—अज्ञान का एकत्व स्वीकार करने पर भी शुक्ति ज्ञान के द्वारा ही मोक्ष की आपत्ति नहीं कह सकते हैं। शुद्ध चैतन्य विषय का ज्ञान शुक्ति विषय अज्ञान के द्वारा निवृत्त नही होता है। क्योंकि समान-विषयक-ज्ञान ही अज्ञान का निवर्तक होता है। शुक्ति ज्ञान के द्वारा शुद्ध चैतन्य विषयक अज्ञान की निवृत्ति न होने पर भी शुक्ति ज्ञान अज्ञान के अवस्थाविशेष का नाशक होता है। अद्वैतवेदान्त में मूलाज्ञान एवं तुलाज्ञान एवं मूलाज्ञान की अवस्था नाम से अज्ञान का प्रकार भेद स्वीकार किया गया है। उसका संक्षिप्त परिचय यही है कि शुद्ध ब्रह्म की आवरक अविद्या ही मूलाज्ञान है। इस मूलाज्ञान में आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति है। आवरण और विक्षेप शक्ति-द्वय प्रयुक्त ब्रह्मज्ञान से नाश्य अज्ञान ही मूलाज्ञान है। आवरण और विक्षेप शक्ति से युक्त ब्रह्मज्ञान से भिन्न ज्ञान से नाश्य एवं मूलाज्ञान के साथ तादात्म्य-भावानापन्न अज्ञान ही तुलाज्ञान है, और मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष कहने से

---

१. एकमेवाज्ञानमिति पक्षे तु तत्र भ्रमोपादानत्वमक्षतमेव। ; अ० सि० ४८९)

२. अविद्यास्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः (पृ० वा०)

आवरण की विक्षेप शक्ति से अर्थात् ब्रह्मज्ञान से अन्य जो ज्ञान उससे नाश्य एवं मूलाज्ञान के साथ तादात्म्यापन्न अज्ञान समझना चाहिए[1]।

विवरणाचार्य ने इस विषय में विशेप विचार किया है। शुक्तिकादि ज्ञान के द्वारा रजतादि अध्यास का अपने कारण में प्रविलय मात्र ही होता है। किन्तु रजता-ध्यास से उपादान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है। एकाज्ञानवाद में ब्रह्म ... से अन्य किसी ज्ञान से भी अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती है। ... मूसल के प्रहार से घट के उपादान का उच्छेद नहीं होता है। उसी प्रकार शुक्तिकादि ज्ञान के द्वारा भी उपादान का उच्छेद नहीं होता है[2]।

विवरणाचार्य ने इस प्रकार एकाज्ञानवाद का उपपादन करके अथवा पक्ष अव-लम्बन-पूर्वक अनेक अवस्था अज्ञान को स्वीकार किया है। इस अवस्था अज्ञान स्वी-कार का अभिप्राय यह है कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान की ही निवृत्ति होती है। अज्ञान के साथ ही ज्ञान का साक्षात् विरोध है। किन्तु अज्ञान कार्य के साथ ज्ञान का साक्षात् विरोध नहीं है। शुक्तिकादि ज्ञान के द्वारा रजतादि अध्यास के उपादान अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है केवल रजतादि अध्यास का प्रविलय मात्र होता है। इस प्रकार स्वीकार करने से प्रदर्शित अनुभव का अविरोध अपरिहार्य है। ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा भी ब्रह्म विषयक अज्ञान के कार्य प्रपंच की ही निवृत्ति होती है, किन्तु ब्रह्म-विषयक अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। जैसे शुक्ति-विषयक ज्ञान के द्वारा रजतादि अध्यास की ही निवृत्ति होती है, किन्तु अज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है—इसी प्रकार की आपत्ति होगी।

और भी दूसरी बात है कि—अद्वैतवादिगण में ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा प्रपंचाध्यास के साथ अज्ञान की निवृत्ति होती है, यह स्वीकार किया है। वे सब

---

१. एकाज्ञानपक्षे शुक्तिभेदस्य शुक्तिरूप्याद्यनुपादानत्वेऽपि शुक्त्यादिज्ञानेन रूप्यादि-निवृत्तिर्युज्यते। (ल० च० पृ० ४८६)

२. एकाज्ञानपक्षे रूप्यादेः शुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुद्गरप्रहा-रेणैव घटस्य न स्वज्ञानं निवर्त्यत इति (ल० चि० पृ० ४८६) अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञानेन रजताध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते मूसल-प्रहारेणैव घटस्य। (वि० पृ० १०९)

कहते हैं कि—ज्ञान के द्वारा सविलास अज्ञान की निवृत्ति लोक-दृष्ट है। सुतरां दृष्टानुसार ज्ञान सविलास अज्ञान का निवर्तक होगा। दृष्ट द्वारा ब्रह्मज्ञान सविलास अज्ञान का निवर्तक होता है—यही अद्वैतसिद्धान्त है। किन्तु शुक्तिकादि ज्ञान द्वारा यदि अज्ञान की निवृत्ति नहीं होता है केवल अध्यास की ही निवृत्ति होती है। तब ब्रह्मसाक्षात्कार सविलास अज्ञान का निवर्तक होगा—यह दृष्ट द्वारा कैसे सम्भावित हुआ ? शुक्तिकादि ज्ञानद्वारा अध्यास मात्र की निवृत्ति ही तो अध्यास के साथ अज्ञान की निवृत्ति लोकदृष्ट है, तभी ब्रह्मसाक्षात्कार द्वारा सविलास अज्ञान की निवृत्ति लोकदृष्ट अनुसार में स्वीकार की जा सकती है। इसीलिए विवरणाचार्य-प्रदर्शित एकाज्ञानवाद के समर्थन के लिए मूलाज्ञान का अवस्थाभेद रूप अज्ञान शुक्तिकादि ज्ञान निवर्तनीय कहकर स्वीकार किया है। शुक्तिकादि ज्ञान निवर्त्य मूलाज्ञान का अवस्थाभेद मूलाज्ञान से अत्यन्त भिन्न नहीं है। इस मूलाज्ञान की अवस्था ही रजतादि अध्यास का उपादान नहीं है। किन्तु मूलाज्ञान रजतादि अध्यास का उपादान नहीं है। शुक्तिकादि ज्ञानद्वारा रजतादि अध्यास का उपादान अवस्था अज्ञान के साथ रजतादि अध्यास की निवृत्ति होती है[1]।

इस प्रकार मूलाज्ञान की अवस्था स्वीकार कर कथंचित् एकाज्ञानवाद भी सुरक्षित होता है। एवं शुक्तिकादि ज्ञान द्वारा अध्यास के साथ अज्ञान की निवृत्ति भी समर्थित होती है। मूलाज्ञान के समान ही यह अवस्था अज्ञान भी आवरण-विक्षेप-शक्ति-युक्त मूलाज्ञान शुद्ध चैतन्य का आवरक और अवस्था अज्ञान शुक्त्याद्यवच्छिन्न चैतन्य का आवरक है। मूलाज्ञान विक्षेप शक्ति के द्वारा रजतादि अध्यासका हेतु होकर रहता है। अवस्था अज्ञान विक्षेप शक्ति द्वारा रजतादि अध्यास का हेतु होकर रहता है। मूलाज्ञान के समान यह अवस्था अज्ञान भी अनादि है। यह अवस्था अज्ञान में भी अनादिभावत्वे सति ज्ञाननिवर्त्यत्वरूप अज्ञान का लक्षण संगत होता है। अज्ञानमात्र ही अनादि है यही वेदान्त-सिद्धान्त है।

विवरण के टीकाकार ऋजुविवरण में सर्वज्ञविष्णुभट्ट ने कहा है मूलाज्ञान के समान अवस्था अज्ञान भी अनादि है इस तरह किसी किसी आचार्य ने स्वीकार

---

१. अथवा मूलाज्ञानस्यैवावस्थाभेदा रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैस्सहाध्यासेन निवर्तन्त इति कल्प्यताम्। (वि० पृ० १०९)

किया है। किन्तु यह ठीक नहीं है कारण शुक्ति-विषयक-ज्ञान, शुक्ति-विषयक अवस्था अज्ञान का निवर्तक होता है। शुक्ति विषयक ज्ञान जितनी वार होगा उतनी-वार एक एक ज्ञान शुक्ति-विषयक अवस्था अज्ञान का निवर्तक होता है। इसलिए शुक्ति-विषयक अवस्था अज्ञान भी ज्ञान-प्रागभाव के समान ज्ञान का समसंख्याक है, इस अवस्था अज्ञानको अनादि मानने पर एक विषयक जितना अवस्था अज्ञान सम्भावित है अज्ञान के समान विषयक एक ज्ञान के द्वारा ही उन सभी अवस्था अज्ञान की निवृत्ति होगी और उससे शुक्त्यादि विषयक एक वार ज्ञान होने पर पुनः अज्ञान नहीं हो सकता है। इससे ज्ञात वस्तु का भी कालान्तर में नेत्र के द्वारा अनुभव विरुद्ध हो जायेगा। सकृत् ज्ञात वस्तु में कालान्तर में भी अध्यास नहीं होगा। कारण, अध्यास का उपादान अवस्था अज्ञान तद्विषयक एकमात्र ज्ञान के द्वारा ही निवृत्त हो गया है[1]।

यदि यह कहा जाय अवस्था अज्ञान अनादि होने पर भी एक विषयक समस्त अवस्था अज्ञान विषय का युगपत् आवरण नही होता है एक समय में अनेक अवस्था अज्ञान विषय को आवरण नहीं करता है। एक तो अज्ञान के द्वारा ही आवरणसिद्ध हो जाता है। इसलिए बहुत अज्ञान का एक साथ आवरण व्यर्थ है। सुतरां ज्ञान उत्पन्न होने पर विषयावरक एक ही अवस्था अज्ञान की निवृत्ति होगी अन्य अवस्था अज्ञान की निवृत्ति नहीं होगी। प्रकाशक ज्ञान आवरक अज्ञान का ही निवर्त्तक होता है। किन्तु इस प्रकार का कथन भी नितान्त असंगत है। कारण, यह मानने पर निर्विषयक अज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा। एक अवस्था अज्ञान ही विषय का आवरण करता है अन्य अवस्था अज्ञान का समूह रहने पर भी विषय का आवरण नहीं करता है—इस प्रकार कहने से भी विषय का अनावरक अज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा। अज्ञान जिसका आवरण करता है वही अज्ञान का विषय होता है। अज्ञान वर्त्तमान रहने पर भी विषय का आवरण ही करता है यह मानने पर निर्विषयक अज्ञान स्वीकार ही करना पड़ेगा और इस प्रकार निर्विषयक ज्ञान जैसे अप्रसिद्ध है वैसे ही निर्विषयक अज्ञान अप्रसिद्ध है। इसीलिए

---

१. केचित्—अज्ञानवदवस्थानामनादित्वम्— आहुः, तदसत्, तथा सत्येकेन तत्त्वज्ञानेन सर्वावस्थाज्ञाननिवृत्तिः स्यात्, एकविषयत्वात्। (कृ.वि.पृ.११०)

अवस्था अज्ञान को अनादि कहना ठीक नहीं है। एक अज्ञान के द्वारा एक अवस्था अज्ञान की निवृत्ति होने पर मूलाज्ञान होने पर उत्पन्न और एक अवस्था अज्ञान विषय को आवरण करके रहता है इसीलिए असंख्य अवस्था अज्ञान युगपत् वर्त्तमान नहीं रहता। इन विषयों का प्रतिपादन कर ऋजुविवरणकार ने इस प्रकार उपसंहार किया, किन्तु विस्तार भय से अधिक नही कहता हूं[1]।

सिद्धान्तलेश के प्रथम परिच्छेद में अप्पयदीक्षित ने कहा है कि और भी अवस्था अज्ञान सादि है यह अन्य आचार्यों का मत है अवस्था अज्ञान को सादि कहनेवालों में ऋजुविवरणकार भी है। अवस्था अज्ञान के सादित्व पक्ष में अनादित्व घटित अविद्या का लक्षण संगत नहीं होगा। अतः अवस्था अज्ञान को सादित्व स्वीकार करने पर अज्ञान का द्वितीय लक्षण अथवा तृतीय लक्षण स्वीकार करना पड़ेगा। अद्वैतसिद्धि का द्वितीय और तृतीय लक्षण सादि और अनादि उभय अज्ञान साधारण है। अज्ञान का अनादित्व अनुभव सिद्ध होने पर भी अनेक प्रकार की व्यावहारिक प्रक्रिया उपपादन करने के लिए कतिपय आचार्यों ने अवस्था अज्ञान को सादि भी स्वीकार किया है। विवरण की टीका भावप्रकाशिका में नृसिंहाश्रम ने अवस्था अज्ञान का सादित्व खण्डन कर अनादित्व समर्थन किया है। अज्ञान मात्र ही अनादि है। अनादि न रहने पर अज्ञान ही नहीं हो सकता है। क्योंकि अज्ञान का अनादित्व-घटित लक्षण उपयुक्त है। यद्यपि-ज्ञान निवर्त्यस्वरूप अज्ञान का द्वितीय लक्षण सादि अज्ञान में भी सम्भावित है। तथापि मूलाज्ञान के कार्यमात्र ही केवल ब्रह्म ज्ञान निवर्त्य होते हैं। जैसे आकाशादिप्रपञ्च मूलाज्ञान का कार्य होकर ब्रह्मज्ञानमात्र निवर्त्य है मूलाज्ञान के अनिवर्तक ज्ञान के द्वारा अज्ञान का कार्य निवर्त्य नहीं हो सकता है। अवस्था अज्ञान भी मूलाज्ञान का कार्य होने पर भी घटादि विषयक ज्ञान द्वारा निवर्त्य नहीं होता है और वहां पर अवस्था अज्ञान की कल्पना सर्वथा व्यर्थ है। इस सम्बन्ध में और भी विस्तृत आलोचना भावप्रकाशिका में की गई है।

जो मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष स्वीकार नहीं करते हैं उनके मत में यह प्रदर्शित करने पर अर्थात् शुक्तिज्ञान मूलाज्ञान की अवस्थाविशेष का नाशक होता

---

१. ऋ० वि० पृ० ११०

है यह कथन संगत नहीं है। इसलिए अद्वैतसिद्धिकार ने कहा—इस विषय पर मैंने सिद्धान्तविन्दु में विस्तृत रूप से आलोचना की है। सिद्धान्तविन्दु में जो कहा गया है उसका अभिप्राय यही है कि शुक्तिकाप्रमाविरहविशिष्टमूलाज्ञान ही है। यही शुक्तिर्न भाति इत्यादि व्यवहार का नियामक होता है। शुक्ति प्रमा उत्पन्न होने पर मूलाज्ञान रहने पर भी शुक्तिर्न भाति इस प्रकार के व्यवहार की जनक नहीं होती है। सुतरां शुक्तिप्रमा न भाति इत्यादि व्यवहार की निवर्तक होती है। किन्तु मूलाज्ञान की निवर्तक नहीं होती है। इससे शुक्ति ज्ञान के द्वारा मोक्ष की आपत्ति भी नहीं होती है।

उपसंहार

वाचस्पति ने अविद्या को जीवाश्रित स्वीकार किया है। इसमें दोष यह है कि अविद्या को जीवाश्रित मानने पर अविद्या जिसकी आश्रित होगी वही जगत् का उपादान होगा इससे ब्रह्म जगत् का उपादान न होकर जीव ही जगत् का उपादान होगा। केवल यही नहीं वेदान्त वाक्यों का सम्बन्ध भी जीव से हैं यही स्वीकार करना पड़ेगा और उन वाक्यों का समन्वय ब्रह्म के साथ नहीं हो सकेगा। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह सर्वथा अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध है। इसीलिए कल्पतरुकार ने पूर्व पक्ष के रूप में संग्रह किया है और समान प्रसंग में कल्पतरुकार कहते हैं—जीवावच्छेदब्रह्माश्रिता अविद्या है उनके ही शब्दों में "अधिष्ठानं विवर्तानामाश्रयो ब्रह्मशक्तिवत्। जीवाविद्यादिकानां स्यादिति सर्वमनाकुलम्"॥ कल्प० पृ० २३९॥ इसका फल यही हुआ कि अन्तोगत्वा विवरण मत में ही प्रविष्ट होना पड़ा।

वाचस्पति मिश्र के मत में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य जीव है परन्तु सुषुप्ति में अन्तःकरण विलीन होने के कारण जीवत्व नहीं रहेगा और इस अवस्था में अविद्या किस के आश्रित रहेगी यह प्रश्न बना ही रहेगा। इसके उत्तर में यह कहा जाय कि अन्तःकरण सूक्ष्म रूप में सुषुप्ति में भी वर्तमान रहता है और वही लेकर जीवत्व उपपन्न होगा। यह भी कथन अनुचित ही है क्योंकि सूक्ष्म रूप में स्थित अन्तःकरण अविद्या ही है और इसका फल यही होगा कि अविद्या अविद्याश्रित है यही स्वीकार करना पड़ेगा जो सर्वथा अनुचित है। जब सुषुप्ति अवस्था

में अविद्या को ब्रह्माश्रित स्वीकार करना ही है तब जीवाश्रित स्वीकार करना व्यर्थ है। जीवाश्रित अविद्या इस रूप में स्वीकार करने के कारण चित्सुखाचार्य ने इस को अपसिद्धान्त कहा है।

वाचस्पति ने अन्तःकरण को इन्द्रिय स्वीकार किया है; वस्तुतः अन्तःकरण इन्द्रिय नहीं हो सकता; क्योंकि इन्द्रिय इन्द्रियान्तर का सहकारी नहीं हो सकता जैसे प्रमाण प्रमाणान्तर का सहकारी नहीं होता है। चाक्षुषादि प्रत्यक्ष के समय में मन ही सहकारी होता है इसलिए वह इन्द्रिय नहीं हो सकता। इस पर ध्यान देकर विवरणानुसारी आचार्यों ने अन्तःकरण के योग्य परिणाम समूह को साक्षिभास्य कहा है। अन्तःकरण के द्वारा ज्ञान होता है यह नहीं कहा है। भाष्यकार ने भी स्वयं कहा है—अशेषस्वप्रचारसाक्षिणी इत्यादि। यह कहना अनावश्यक है कि अन्तःकरण का योग्य धर्माधर्म आदि साक्षिभास्य नहीं है। अतएव वाचस्पति के मतानुसार साक्षी के रूपमें किसी की स्थापना करना असंभव है। वाचस्पति ने अन्तःकरण को इन्द्रिय कहा है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनकी न्यायवासना ही प्रबल है।

☆

॥ अवच्छेदवाद ॥

भारतीय-दर्शन का प्रधान विवेच्य विषय आत्मा का स्वरूप विचार ही है। जीव और ईश्वर का स्वरूप-विवेचन ही आत्मा का स्वरूप विवेचन है। वैदिक-दर्शनों में आत्मा के स्वरूप-विवेचन का मूलाधार वेद ही हो सकता है। उपनिषत् के आधार पर ही जीवेश्वर स्वरूप का निरूपण होता है, किन्तु श्रुतिओं में जीवेश्वर स्वरूप समझाने के लिए अनेक उदाहरणों का आश्रयण किया है। आचार्यों के द्वारा जो आत्म-स्वरूप-निरूपण की प्रक्रियायें प्रदर्शित की गई हैं उनका भेद इन भिन्न उदाहरणों के आश्रयण से ही होता है, अद्वैत-वेदान्त में आत्मस्वरूप में किसी तरह का पारमार्थिक भेद नहीं है। इसमें ब्रह्म-व्यतिरिक्त किसी भी वस्तु की पारमार्थिक सत्ता स्वीकर ही नहीं की गई है। जीव की ब्रह्म से अतिरिक्त परमार्थसत्ता नहीं है। जीव की ब्रह्म से अतिरिक्त परमार्थ नहीं माना है। अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति के द्वारा जीव और ब्रह्म का अभेद बोधन होता है। इस अभेद की उपपत्ति अनेक दृष्टान्तों के द्वारा वर्णित है। रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव, तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय, मायाभासेन जीवेशौ करोति एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् एवं

घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा ।
घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥

इत्यादि श्रुतियां जीवस्वरूप बोधनके लिए उपलब्ध होती है। इनमें प्रथम श्रुति के अनुरूप जो श्रुतियां है अर्थात जिनमें प्रतिबिम्ब की अर्थतः अभिव्यक्ति होती है उन श्रुतिओं का मुख्यतया विश्लेषण प्रदर्शन कर विम्ब-प्रतिविम्बभाव से जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः एकत्व एवं अभेद बोधन होता है; किन्तु घट और आकाश के उदाहरण के अनुसार एवं तदनुरूप ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः आदि अंशांशिभाव-बोधक स्मृतियों के अनुसार जीव-स्वरूप-विश्लेषण काल में अवच्छेदवाद को स्वीकार करते हैं; किन्तु सभी स्थिति में स्वरूपतः जीव और ब्रह्म का अभेद एवं एकत्वही रहता है। भेद मिथ्या अर्थात् उपाधिकृत रहता है। पूर्वश्रुति का आशय यह है कि घटरूप उपाधि का ही अन्यत्र नयन होता है व्यापक आकाश का स्थानान्तर में नयन नहीं होता है उसीघट संवृत आकाश के समान जीव है। यहां जीव और ब्रह्म में घट और

तन्तु के समान अथवा परमाणु और घट के समान अवयवावयिभाव रूप अर्थात् जैसे परमाणु या तन्तु घट का आरम्भक होता है वैसे ही जीव भी ब्रह्म का आरम्भक नहीं होता है; क्योंकि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म की अनादिता सिद्ध है; अतः उस ब्रह्म का आरम्भक यह जीव नहीं हो सकता है। जीव को ब्रह्म का खण्ड या अवयव मानना भी सम्भव नहीं है। कारण, निरंश, अच्छेद्य कूटस्थ ब्रह्म का खण्ड या अवयव संभव ही नहीं है। ब्रह्म को समुदायी और जीव को समुदाय भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में समुदाय-समुदायिभाव स्वीकार करने पर समुदायी समुदाय से अन्य नहीं होता है। अतः समुदाय समुदायिस्वरूप होने लगेगा। ऐसी स्थिति में फल यह होगा कि व्यवहार दशा में जो जीव और ब्रह्म का भेद है वह समाप्त हो जायेगा और परिणाम यह होगा की व्यवहार दशा में भी संसारी से अन्य शुद्ध ब्रह्म भाव की आपत्ति होगी[1]। पुनः शंका होती है कि पूर्वोक्त अंश रूपता जीव-ब्रह्म के साथ होने पर भी भिन्न और अभिन्न द्रव्यस्वरूपता जीव और ब्रह्म से होने के कारण ही जीव ब्रह्म का अंश होगा। यह भी कथन ठीक नहीं है। क्योंकि जो द्रव्य जिस द्रव्य के साथ पारमार्थिक दृष्टि से भिन्न और अभिन्न रहता है वह द्रव्य उसका अंश होता है[1]। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से श्रुति ने ही जीव और ब्रह्म का स्वरूपतः अभेद प्रदर्शन किया है। अतः पारमार्थिक या तात्त्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म का भेदाभेद अंगीकार नहीं किया गया है। अब प्रश्न होता है कि प्रदर्शित रूप में अंशत्व न होने पर भी पट और पट खण्ड में जैसे अंशांशिभाव है वैसे ही ब्रह्म और जीव में अंशांशिभाव रहेगा। यह भी कथन ठीक नहीं है। क्योंकि प्रदेशशून्य ब्रह्म में प्रदेश की कल्पना के बिना अंशांशिभाव सम्भव नहीं है। आशय यह है कि जिस द्रव्य का जिस द्रव्य के साथ भेदाभेद रहता वही द्रव्य उसका प्रदेश होता है[2]। जैसे पट रूप द्रव्य का खण्ड पट के साथ पट और खण्ड पट के रूप में भेद एवं अभेद भी है किन्तु निष्प्रदेश ब्रह्म में प्रदेश कल्पना के बिना भेद सम्भव ही नहीं है। प्रत्युत महाकाश और घटाकाश एवं जीव और चित् को सामानाधिकरण्य रूप से ही प्रतीति होती

---

१. यथाब्रह्म प्रति.........अद्वैत सि० पृ० ८४६

१. यद्द्रव्यतात्त्विकभेदवत् यद्द्रव्यं, तस्य तदंशः। गौडब्रह्मानन्दी पृ० ८४६

२. यद्द्रव्यभिन्नाभिन्नं यद्द्रव्यं, तस्य तत्प्रदेशः। गौडब्रह्मानन्दी पृ० ८४६

है, अतः भेद न होने के कारण जीव ब्रह्म का प्रदेश नहीं हो सकता है। इसलिए घटाकाश और महाकाश में जैसे घटरूप उपाधि को अवेच्छदक रूप में कल्पना करके उपाधि के द्वारा काल्पनिक प्रदेश स्वीकार कर घटावच्छिन्न आकाश और अनवच्छिन्न आकाश रूप में अवच्छिन्नत्व रूप अंशत्व मानते हैं वैसे ही ब्रह्म में अविद्योपादान क अन्तःकरण रूप उपाधि को अवच्छेदक रूप में कल्पना करके अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अनवच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है यह काल्पनिक अंशांशिभाव स्वीकार किया जायेगा। अतः स्वरूपतः चित् और जीव का एकत्व एवं सामानाधिकरण्य होने से अवच्छेदक रूप अंशत्व का व्यवहार होता है। वस्तुतः स्वरूपतः दोनों एक ही है—यही अवच्छेदवाद है।

जिस पक्ष में अविद्या जीवाश्रिता स्वीकार की जाती है वही मत इस अवच्छेद-वाद का आधार है, अतः जिन आचार्यों के मत में जीव को ही अविद्या का आश्रय एवं जगत् का कारण स्वीकार किया जाता है उनके मत में अवच्छेदवाद को मानना भी आवश्यक प्रतीत होता है। इसीलिए अवच्छेदवाद का उपक्रम कर सिद्धान्त-विन्दु में मधुसूदनसरस्वती ने कहा है कि अज्ञान के द्वारा विषयीकृत चैतन्य ही ईश्वर है और अज्ञान का आश्रयीभूत जीव है यह वाचस्पति मिश्र का मत है। इस पक्ष में अज्ञान की अनेकता से जीव की अनेकता मानी जाती है। प्रत्येक जीव का भिन्न-भिन्न प्रपंच है। जीव ही अपने ज्ञान से उपबृंहित होकर जगत् का उपा-दान है। अब यह शंका होती है कि जीव ही जगत् का उपादान है एवं प्रति-जीव प्रपंच का भेद भी है। तब जो घट तुमने देखा वही घट मैंने भी देखा यह प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी, क्योंकि सभी जीवों का तो अपना अपना भिन्न-भिन्न प्रपंच है, अतः एक जीव के प्रपंच-घट का अन्य जीव के द्वारा दर्शन सम्भव नहीं है अतः सादृश्यमूलकप्रत्यभिज्ञा का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए कहा है कि दृष्टत्व के सादृश्यमात्र से ही प्रकृत में प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है अर्थात् त्वया दृष्टः मया दृश्यते इस रूप में यः त्वद्दृष्टः मद्दृष्टः इस रूप में सादृश्य से यहां प्रत्यभिज्ञा उपपन्न होती है। यदि जीव को ही जगत् के प्रति उपादनता है तब यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते इत्यादि श्रुति का विरोध प्राप्त होता है, क्योंकि श्रुति से ब्रह्म को ही जगत् की कारणता प्रतीत होती है। इसके समाधान में कहा गया है कि प्रपंचसहित जीव की जो अविद्या

उसका अधिष्ठान—विषय ब्रह्म है, अतः शुक्ति आदि के समान विषयस्वरूप में उपचरित कारणता है। मुख्य कारणता जीव में है भाक्त कारणता ब्रह्म में है। औपचारिक-कारणत्व ब्रह्म में है—यही अवच्छेदवाद है[1]।

इन पंक्तियों का आशय प्रदर्शित करते हुए न्यायरत्नावली एवं नारायणी में कहा है कि—ब्रह्म में अज्ञानकल्पन नहीं हो सकता है। कारण, ब्रह्म का भान नहीं होता है, यह व्यवहार जीवाश्रित है, अतः, इसका कारण जो अज्ञान है उसको भी जीवाश्रित ही स्वीकार करना उचित है, क्योंकि कार्य-कारण-भाव को एकाश्रित स्वीकार करना उचित है। अर्थात् आश्रयता-सम्बन्ध से अज्ञान विशिष्ट ही जीव है। यहाँ शंका हो सकती है कि अज्ञान के आश्रय को ही जीव स्वीकार करने पर अज्ञान ही अज्ञान का आश्रय होने से आत्माश्रय दोष होगा। जीवत्व रूप से जीवाश्रित अज्ञान में अज्ञानाश्रितत्व दोष नहीं है। आशय यह है कि अज्ञानोपहित ही जीवत्व है, अतः जीवाश्रित अज्ञान स्वीकार करने पर भी आत्माश्रय दोष नहीं है।

दण्डत्वोपहित दण्ड की घट के प्रति कारणता होने पर भी दण्डत्व की घट के प्रति कारणता नहीं है। प्रकृत में अज्ञानोपहित जीवत्व में अज्ञान की आश्रयता होने पर भी अज्ञान में अज्ञान की आश्रयता प्रतीत नहीं होती है। "अस्मिंश्च पक्षे" इस पद का व्याख्यान करते हुए नारायणी में लिखा है कि अवच्छेदवादपक्षे। अज्ञाननानात्व आदि को वाचस्पति-सम्मत-विश्लेषण एवं आश्रयत्व-विषयत्व का विस्तृत विश्लेषण अन्य प्रकरण में विस्तार पूर्वक किया गया है, अतः प्रकृत में पुनरुक्ति भय से इन विषयों का व्याख्यान नहीं करता हूँ।

वाचस्पति ने भी "स्मृतेश्च" इस सूत्र के भाष्य में जीव और ईश के भेद का उपक्रम कर उसका खण्डन प्रदर्शन करते हुए गीता को उद्धृत किया है—"क्षेत्रज्ञं चापि

---

१. अज्ञानविषयीकृतं चैतन्यमीश्वरः। अज्ञानाश्रयीभूतं च जीव इति वाचस्पति-मिश्राः। अस्मिंश्च पक्षे अज्ञाननानात्वात् जीवनानात्वम्। प्रतिजीवं च प्रपंचभेदः। जीवस्यैव स्वाज्ञानोपहिततया जगदुपादानत्वात्। प्रत्यभिज्ञा चापि सादृश्यात्। ईश्वरस्य च सप्रपंचजीवाधिष्ठानत्वेन कारणत्वोपचारादिति। अयमेव चावच्छेद-वादः। (सिद्धान्तबिन्दु पृ० २२७–२३२)

मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।" गीता १३।२। सभी शरीर में जीव भी मुझे ही समझो। इस गीता को प्रदर्शन कर भाष्य में कहा है कि—यह ठीक है, पर आत्मा ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि रूप उपाधियों से परिच्छिन्न होने से बालकों के द्वारा जीव कहा जाता है। घट-करक आदि उपाधिवश से अपरिच्छिन्न भी आकाश परिच्छिन्न के समान भासित होता है। इस भाष्य का व्याख्यान करते हुए भामतीकार ने लिखा है कि अनादि अविद्या रूप उपाधि के द्वारा पर आत्मा ही अवच्छेदवश से जीवभाव प्राप्त कर स्वतः भेद रूप में अवभासित होता है। अविद्या से अवच्छिन्न जीव की ही (आश्रिता) अविद्या है अनुपहित ब्रह्म में आश्रिता अविद्या नहीं है। पुनः शंका की है कि अविद्या होने पर जीवात्मविभाग और जीवात्मविभाग होने पर जीव की आश्रित अविद्या होगी, अतः अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, इसलिए जीवाश्रिता अविद्या यह पक्ष समीचीन नहीं है। इस शंका के समाधान में जीव और अविद्या का बीज और अंकुर के समान अनादित्व होने से अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है। इस विषय का विश्लेषण अन्य प्रकरण में हो गया है, अतः संक्षेप में ही प्रदर्शन कर रहा हूँ। कल्पतरुकार ने भी जीव को अविद्या से अवच्छिन्न है यही कहा है। जीव और अविद्या में जीव और अंकुर के समान हेतुमत्ता कहने से जीव का अनित्यत्व प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है, किन्तु उत्तरोत्तर जीवाभिव्यक्तियाँ पूर्व-पूर्व भ्रम-निमित्तक है, यही प्रतिपादन किया गया है। परिमलकार ने भी कल्पतरु की व्याख्या करते हुए यही कहा है कि अन्यत्र जो कुछ भी हो प्रकृत में जीव और अविद्या में मात्र अवच्छेद्यावच्छेदकभाव अभिलपित है, अविद्या रूप उपाधि से अवच्छिन्न ही जीव है अविद्या जीव की अवच्छेदिका है, जीव अविद्या से अवच्छिन्न है, अविद्या चैतन्याश्रिता है, किन्तु, वृक्षाश्रित कपि संयोग होने पर भी जैसे वृक्षमूल संयोग का अवच्छेदक होता है वैसे ही अविद्या चैतन्य में आश्रित होने पर भी जीवत्व से अवच्छिन्न है। पुनः शंका की है कि सर्वज्ञ और सर्वशक्ति-सम्पन्न ब्रह्म की अकस्मात् संसारिता कैसे होती है? क्योंकि स्वतन्त्र-व्यक्ति किस कारण से बन्धन में प्रविष्ट होता है, क्योंकि जो परतन्त्र होता है वही दूसरे के द्वारा बन्धनागार में प्रविष्ट होता है, स्वतन्त्र व्यक्ति बन्धनागार में प्रविष्ट नहीं होता है। ब्रह्मांश जीव की बन्धनागार प्रवेशिता नहीं है, यदि बन्धनागार में प्रवेश होता, तब यह अनुपयुक्त होता है, किन्तु इसका तो मात्र पूर्वपूर्व कर्म-जन्य अज्ञान संस्कार के कारण ही

संसारित्व है। अतः यह किसी तरह का अनुपपन्न नहीं है। जीवत्व होने पर भी ईश्वर की परतन्त्रता या असमर्थता नहीं है, अन्य उपकरणों की अपेक्षिता नहीं है, अतः कर्ता के स्वातन्त्र्य का विघात नहीं होता है। यह शंका होती है कि जीव और अविद्या का आश्रयाश्रयिभाव के अभाव में अज्ञान और चैतन्य का आश्रय कौन होता है? इस समाधान में भामती, कल्पतरु, एवं परिमल में सभी प्रपंच विवर्तका अधिष्ठान ब्रह्म ही है—यह प्रतिपादन किया है। कल्पतरु में कहा है कि जीव अविद्या आदि सभी विवर्तों का आश्रय अधिष्ठानरूप ब्रह्म ही है जैसे रजतादि भ्रम का अधिष्ठान शुक्ति होता है वैसे ही ब्रह्म भी अधिष्ठान है। इस भाष्य के अनुसार ही सिद्धान्तविन्दु में वाचस्पति मत का विश्लेषण किया है[1]।

वाचस्पति मिश्र ने भामती के अन्य स्थलों में भी जीव का विश्लेषण करते हुए अवच्छेदरूप में ही उसका निर्वचन किया है—वेद के नित्यत्व-निरूपण-प्रसग में भामती में कहा है कि अध्यापक और अध्येता के क्रम-विच्छेद काल में वेद का आश्रय कौन होगा? अध्यापक और अध्येता के क्रम-विच्छेद काल में भी जीव की स्थिति रहेगी, अतः जीव ही अविद्या-वासना से वासित रहेगा। इस पर पुनः शंकोद्भावन करते हुए भामती में कहा है कि—अन्तःकरणरूप उपाधि से कल्पित ही जीव है; अतः अन्तःकरण उपाधि के विच्छेद होने पर जीव की स्थिति कैसे हो सकती है? ब्रह्म में ही अविद्या वासना रहेगी। निरविद्य-अविद्या रहित अज्ञान-स्वरूप शुद्ध ब्रह्म अविद्या सिद्ध प्रमाण आदि का आश्रय नहीं हो सकता है और प्रमाण का आश्रय न होने पर अविद्यानादिवासना की उसमें सम्भावना ही नहीं होती है। पुनः आगे अविद्या वासना के निषेध प्रसंग में यह भी लिखा है कि ब्रह्म से सृष्टि के आरम्भ में अन्तःकरणादि एवं उस अन्तःकरण से अविच्छिन्न-जीव उत्पन्न होता है, अतः वे पूर्वप्रक्रम अविद्या वासना से मुक्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये तो अपूर्व ही हैं इससे पूर्व में थे ही नहीं[1]।

---

१. भामती पृ० २३५–२३६।

१. न च जीवास्तद्वासनावासिताः सम्भवन्तीति वाच्यम्, अन्तःकरणाद्युपाधिकल्पिता हि ते तद्विच्छेदे न स्थातुमर्हन्ति। न च ब्रह्मणस्तद्वासना, तस्य विद्यात्मनः शुद्धस्वभावस्य तदयोगात्। ब्रह्मणश्च सृष्ट्यादावन्तःकारणादयस्तद-वच्छिन्नाश्च जीवाः प्रादुर्भवन्तो न पूर्वकर्माविद्यावासनावन्तो भवितुमर्हन्ति, अपूर्वत्वात्।
(भामती पृ० २३२)

इसी प्रकार "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः" इस सूत्रके भाष्य की व्याख्या प्रसंग में वाचस्पति ने कहा है कि—जीव आत्मा से अन्य नहीं है और न जीव आत्मा का विकार ही है, किन्तु आत्मा ही अविद्यारूप उपाधि से कल्पित अवच्छिन्न रूप जीव है। जैसे आकाश घटः, मणिका (शराव) आदि से कल्पित अवच्छेदरूप घटाकाश मणिकाकाशः कहा जाता है, किन्तु न तो यह घटाकाशादि परमाकाश से अन्य है और न उसका विकार ही है। अतः जीवात्मा का उपक्रम परमात्मा का ही उपक्रम है, क्योंकि जीव परमात्मा से अभिन्न है। इस पंक्तियों के द्वारा वाचस्पति-सम्मत अवच्छेदवाद की अभिव्यक्ति होती है[१]।

"अधिकं तु भेदनिर्देशात्" इस सूत्र भाष्य की व्याख्या में भामती में पुनः अवच्छेद-वाद की ओर दृष्टिपात किया है—जीव परमात्मा से तत्त्वतः भिन्न नहीं है अविद्या-रूप उपाधि के भेद से ही भिन्न रूप में भासित होता है, घटकरक आदि उपाधि के भेद से आकाश भेद के समान ही है[१]।

इसी प्रकार "कर्मानुस्मृतिशब्दविधाधिकरण" की भामती में अवच्छेदवाद का समर्थन उपलब्ध होता है—जीव परमेश्वर से भिन्न नहीं है, जैसे घटाकाश परमा-काश से अन्य नहीं है, किन्तु जबतक घट रहता है तबतक भिन्न के समान अनुभूत होता है। वस्तुतः स्वरूपतः आकाश महाकाश से भिन्न नहीं है, किन्तु उपाधि रूप घट के भेद से वह भिन्न होता है। इसी प्रकार अनादि अनिर्वचनीय अविद्यारूप उपधान भेद से उपाधि के द्वारा कल्पित जीव है, वस्तुतः परमात्मा से भिन्न नहीं होता है। इसका आशय व्यक्त करते हुए कल्पतरु में कहा है अनादि अनिर्वचनीय अविद्या का जो उपादान में भेद अर्थात् सम्बन्ध-विशेष है वही उपाधि है, उसी के

---

१. स एव स्वविद्योपधानभेदाद् घटकरकाद्याकाशवद् भेदेन प्रथते। (भा० पृ० ४७२)

१. न च जीव आत्मनोऽन्यः नापि तद्विकारः। किन्त्वात्मैवाविद्योपधानकल्पिता-वच्छेदः आकाश इव घटमणिकादिकल्पितावच्छेदो घटाकाशो मणिकाकाशो न तु परमाकाशादन्यस्तद्विकारो वा ततश्च जीवात्मन उपक्रमः परमात्मन एवोपक्रमस्तस्य ततोऽभेदात्। (भा० पृ० ४१)

द्वारा कल्पित जीव है उपाधिकल्पित ही जीव है। उपाधि के उद्भव और अभिभव होने से उद्भूत और अभिभूत के समान प्रतीत होता है[१]।

प्रतिबिम्बवाद एवं विवरणमत

इस अध्याय में विवरण-सम्मत प्रतिबिम्बवाद के विषय में पर्यालोचन करूँगा। साथ ही भामतीकार ने प्रतिबिम्बवाद पर जिस सिद्धान्त का पोषण करते हैं, उसका भी विवरणाचार्य के साथ तुलना-मूलक विचार प्रदर्शन करूँगा। यह सुस्पष्ट है कि भारतीय-दर्शनशास्त्र जीव और ईश्वर के स्वरूप निरूपण एवं उनके परस्पर सम्बन्ध प्रतिपादन के लिए प्रधानरूप से प्रवृत्त हुए हैं। दर्शन पद वाच्य हो वह नहीं है जिसमें इन विषयों का संक्षिप्त या विस्तृत-विवेचन प्रस्तुत नहीं है। वेदान्त दर्शन का तो एक विशेष-अंश इस जीवेश्वर-विभाग और इन दोनों का स्वरूप निरूपण करता है। मेरे इस वर्तमान निबन्ध में यह अध्याय, विवरणाचार्य एवं भामतीकार के जीव और ईश्वर के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त है, उस पर प्रकाश देने के लिए रखा गया है। प्रसंगतः वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों का सिद्धान्त पर्यालोचन भी करूँगा। कारण, इस विषय पर सहस्रधा आलोचन होते रहे हैं, किन्तु आज भी यह विषय दुर्विज्ञेय ही बना हुआ है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस विषय पर प्राचीन सर्वज्ञ कल्प आचार्यों का परस्पर मतैक्यका लाभ करना संभव नहीं हुआ उस पर मेरे जैसे स्वल्प प्रज्ञा व्यक्ति के लिए मौलिक-नवीन-उद्भावन करना अतिशय-दुरुह-कार्य है, तथापि मेरे स्वाध्याय के अनुसार इस विषय पर विशेष ध्यान देकर अध्ययन करने से जो स्पष्ट प्रतीत हुआ है, उसे इस परिच्छेद में व्यक्त करूँगा।

विवरणकार और संक्षेपशारीरककार प्रतिबिम्बवादी है। जीव चैतन्य का प्रतिबिम्ब है यह इनका मत है। विवरणकार के मत में अज्ञान रूपी उपाधि[१] से अनुप-

---

१. यथा घटाकाशो नाम न परमाकाशादन्यः। अथ चान्य इव यावद्घटमनुवर्तते। न चासौ दुर्विवेचस्तदुपाधेर्घटस्य विविक्तत्वात्। एवमनाद्यनिर्वचनीयाविद्योपधान-भेदोपाधिकल्पितो जीवो न परमात्मनो भिद्यते तदुपाध्युद्भवाभिभवाभ्यां चोद्भूत-इवाभिभूत इव प्रतीयते। (भा० पृ० ७०५)

१. यहां पर उपाधि का संक्षिप्त विश्लेषण आवश्यक है—विशेष्य में स्थित धर्म का जो आश्रय नहीं है और साक्षात् अन्य का व्यावर्तक है उसको उपाधि कहते हैं विशेष्यवृत्तिधर्मानाश्रयत्वे सति साक्षात् व्यावर्तकः। ना० पृ० २१२) आकाश पदार्थ श्रोत्र में कर्णशष्कुली (कान का पिण्ड) उपाधि है। कर्ण शष्कुली रूप उपाधि से आकाश को सत्ता का व्यवहार नहीं होता है।

हित (रहित) शुद्ध ब्रह्म है। अज्ञान रूप उपाधि के अन्तर्गत चैतन्य ईश्वर है। यही बिम्ब चैतन्य है अर्थात् ईश्वर चैतन्य ग्रीवा में स्थित मुख के समान अज्ञान रूपी उपाधि के अन्तर्गत है बिम्बरूप है[1]।

कर्ण शष्कुली विशेष्य जो आकाश उसमें रहनेवाले सत्त्व आदि का आश्रय नहीं है और मठाकाश आदि का व्यावर्तक है। शष्कुली रूप उपाधि के कारण मठाकाश आदि की व्यावृत्ति होती है। विशेषण—विशेष्य वृत्ति धर्म का आश्रय होकर जो व्यावर्तक होता है, उसको कहते है विशेष्यवृत्तिधर्माश्रयत्वे सति व्यावर्तकं विशेषणम् (ना० पृ०) २१८। जैसे घट में घटत्व विशेषण है यह विशेष्य घट में रहनेवाली सत्ता का आश्रय है और पट का व्यावर्तक है। प्रकृत में अज्ञान या अन्तःकरण और इसका संस्कार उपाधि है। कर्ण शष्कुली रूप उपाधि से युक्त श्रोत्र के समान अज्ञान रूप उपाधि से युक्त बिम्ब भूत ईश्वर है। अन्तःकरण और उसका संस्कार[1] इन दोनों में से किसी एक से विशिष्ट जो आज्ञन उससे प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं। अर्थात् अन्तःकरणान्तर्गतत्व रूप आरोपित धर्मविशिष्ट जो चैतन्य वही जीव शब्द से कहा जानेवाला आत्मा है। बिम्बात्मक चैतन्य ही जीव है; कारण; इस मत में बिम्ब और प्रतिबिम्ब में स्वरूपतः एकत्व है और दोनों में भेद कल्पित है।

अब यह प्रश्न होता है कि रूप रहित एवं अवयव रहित आत्मा का प्रतिबिम्ब अन्तःकरण में कैसे संभव है, क्योंकि प्रतिबिम्ब के लिए ये निश्चित सामग्री है। जिसका प्रतिबिम्ब है, उस बिम्ब को रूपवान् होना (२) नयन से उस वस्तु का प्रत्यक्ष रूप से ग्रहण होना (३) उपाधि को भी रूपवान् एवं सावयव होना बिम्ब-

---

१. सृष्टि में अन्तःकरण स्थूल अवस्था से विशिष्ट मन रहता है और प्रलय की अवस्था में अन्तःकरण रूप उपाधि में प्रतिविम्बित चैतन्य को जीव मानने से प्रलयावस्था में जब उसका संस्कार रहता है उस समय आत्मा का अभाव सिद्ध होगा। क्योंकि, जैसे घट संस्कार में घट का अभाव रहता है वैसे ही अन्तःकरण के संस्कार की स्थिति काल में अन्तःकरण का अभाव ही मानना पड़ेगा। इसीलिए अन्तःकरण और उसका संस्कार इन दोनों में से किसी एक उपाधि में प्रतिबिम्बित चैतन्य जीव है। यह विवरण का संक्षिप्त आशय है।

प्रतिबिम्बभाव के लिए अपेक्षित सामग्री है, इस प्रकार (४) बिम्ब और प्रतिबिम्ब के मध्य में व्यवधान एवं अतिशय सान्निध्य भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव का बाधक है। जैसे अपने सम्मुख जो रूपवान् एवं अवयववान् दर्पण है वह स्वच्छ होने से उसमें रूपवान् एवं अवयववान् मुख रूप बिम्ब का सम्बन्ध होने से प्रतिबिम्ब उपपन्न होता है। बिम्ब के सम्मुख ऐनक रूप उपाधि से नयन-किरण टकरा कर कण्ठ में स्थित मेरा मुख है इसको न जानने के दोष से सम्मुख जो ऐनक उपाधि है उसके अन्दर मुख है इस अन्तर्गतत्व का मुख में आरोप होने से मेरा मुख दर्पणान्तर्गत है (मम मुखं दर्पणान्तर्गतम् इत्यात्मकः) इस प्रकार प्रतिबिम्बविभ्रम का व्यवहार उपपन्न होता है। यहां बिम्बप्रतिबिम्बभाव नेत्र से प्रत्यक्ष रूपवान् और अवयववान् होने से होता है। इसी प्रकार ऐनक रूप उपाधि का अभिमुखीभाव उसके रूपवान् और अवयववान् होने से ही होता है, अतः उपाधि एवं जिसका प्रतिबिम्ब है इन दोनों को सावयव होना नितान्त अपेक्षित है।

उपाधि और बिम्ब जब किसी अन्य से व्यवहित रहता है तब भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं रहता है। जैसे मेघ से व्यवहित स्थिति में सूर्य का प्रतिबिम्ब जल में नहीं होता है, इसी प्रकार अतिशय-सान्निध्य भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का बाधक है। दोनों की एकत्र स्थिति में बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। प्रकृत में बिम्ब रूप जो चैतन्य वह रूप रहित एवं सर्वथा निरवयव है। अज्ञान रूप उपाधि भी बिम्ब के समान नीरूप एवं निरवयव है। ऐसी स्थिति में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की सभी सामग्रियों के न रहने से यहाँ चैतन्य का अज्ञान में प्रतिबिम्बभाव उपपन्न नहीं हो सकता है। उपाधि का आभिमुख्य भी प्रतिबिम्ब के लिए अपेक्षित है, आभिमुख्य सावयवत्व के अधीन है। अतः अविद्या में चैतन्य का प्रतिबिम्ब कैसे होगा? दूसरी बात यह भी है कि चित् और अविद्या का अतिशय सान्निध्य है जैसे जल में निमज्जन करने पर मुख का अतिशय सान्निध्य होने से मुख का प्रतिबिम्ब जल में गृहीत नहीं होता है, इसलिए बिम्बप्रतिबिम्बभाव यहाँ भी उपपन्न नहीं हो सकता है। अर्थात् अज्ञान या अविद्या में उपाधित्व एवं चैतन्य में बिम्बत्व दोनों ही संभव नहीं है। अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं हो सकता है[1]। क्योंकि यहां अविद्या और चैतन्य ये दोनों नीरूप निरवयव एवं अचाक्षुष है।

---

१. अथ रूपवतश्चाक्षुषस्यैवोपाधित्वं दर्पणजलादेः रूपवतश्चाक्षुषस्यैव बिम्बत्वं मुखादेर्दृष्टमेवमभिमुखयोरत्यर्थव्यवहितयोरत्यर्थसन्निकृष्टयोश्च प्रतिबिम्बत्वानिरूपकत्वं च दृष्टमिति कथमेतादृशयाविद्याचैतन्ययोरुपाधित्वबिम्बत्वयोः संभवः। गू० त० पृ० ९०

प्रतिबिम्बग्राहक सावयव उपाधि स्वाभिमुख गुणविशिष्ट जो वस्तु उसको अन्य के समान एवं उपाधि के अन्तर्गत रूप से प्रदर्शित करती है। पूर्व विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि रूपवान् एवं चाक्षुषप्रत्यक्षविषय का ही उपाधि रूप दर्पण एवं जलादि में प्रतिबिम्बत्व देखा गया है, अतः बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव यहाँ उपपन्न नहीं हो सकता है।

रूपवत्त्व तथा चाक्षुषत्व को बिम्बत्व का प्रयोजक मानने पर ही अचाक्षुष द्रव्य का प्रतिबिम्बत्व नहीं देखा जाता है यह उपपन्न नहीं हो सकता है। जिस तरह दर्पण एवं जल के उदाहरण से रूपवत्त्व एवं चाक्षुषत्व को प्रतिबिम्बत्व का निरूपक मानते हैं। उसी तरह जवाकुसुम के रूप का स्फटिक में एवं शब्द का प्रतिशब्द रूप से प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होने से सरूप चाक्षुष विषयवस्तु के प्रतिबिम्ब स्थलों में चाक्षुषत्व एवं सरूपत्व को प्रतिबिम्ब सामग्री के समान नीरूप एवं अचाक्षुष स्थलीय बिम्बप्रतिबिम्बभाव स्थल मे भिन्न सामग्री का मानना आवश्यक है। अर्थात् रूप मे रूप नहीं रहता है, अतः स्फटिक रूप का एवं अचाक्षुष आकाश का प्रतिबिम्ब देखने से चाक्षुषत्व एवं रूपवत्त्व बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव का प्रयोजक और व्यापक नहीं हो सकता है। फलतः नीरूप एवं अचाक्षुष वस्तु के प्रतिबिम्बभ्रम रूप कार्य की उपलब्धि होने से रूप एवं चाक्षुष स्थलीय प्रतिबिम्ब भ्रम की सामग्री से विलक्षण सामग्री नीरूप एवं अचाक्षुष प्रतिबिम्ब भ्रम स्थल में है—यह स्वीकार करना आवश्यक है। अतः पूर्वोक्त सामग्री के अभाव मे भी प्रतिबिम्ब रूप कार्य को मानने में किसी प्रकार सामग्री का वैगुण्य अथवा प्रतिबिम्बभाव के व्यापक का अभाव नहीं मिलता है। अर्थात् रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है यह व्यक्त नहीं है[1]।

---

१. (क) रूपहीनस्यापि रूपपरिमाणादेरचाक्षुषस्याप्याकाशादेः प्रतिबिम्बदर्शनेन रूपचाक्षुषत्वादेर्बिम्बत्वाप्रयोजकत्वाव्यापकत्वाच्च। गू० त० पृ० ९०

(ख) सि० वि० पृ० १४८-१४९

(ग) सरूपस्येव नीरूपस्यापि प्रतिबिम्बभ्रमरूपकार्यसम्भवात् सरूपस्थलीयकारण विलक्षणं कारणं नीरूपस्थले कल्प्यत इति भावः।

न्या० र० पृ० १४९

जवाकुसुम के सान्निध्य में स्फटिक में प्रतिबिम्ब-भ्रम-स्थल में स्वरूप जया-कुसुम-रूप-बिम्ब का ही स्फटिक में प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार शब्द के प्रतिध्वनि-स्थल में शब्दान्तर की ही स्थिति है, अतः नीरूप निरवयव के प्रति-बिम्ब की उपपत्ति न होने से पूर्व नियम की व्यापकता में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। क्योंकि प्रतिबिम्बत्व का स्वरूप रूप और अवयव विशिष्ट मुखादि का दर्पण आदि के अन्तर्गतत्व रूप आरोपित होना ही प्रतिबिम्ब शब्द से कहा जाता है। प्रतिशब्द की वैसी स्थिति नहीं है इसलिए वह प्रतिबिम्ब नहीं है। जवाकुसुम का प्रतिबिम्ब स्फटिक में नहीं वरन् जवाकुसुम के रूप का ही प्रतिबिम्ब होता है रूप गुण है, अतः वह गुण-शून्य है, गुण शून्य होने से वह रूप निर्गुण है द्रव्याभाव होने से अवयव-रहित भी है। स्वच्छ स्फटिक के अन्तर्गत दृश्यमान रक्तिमा ही प्रतिबिम्बित है। नीरूप एवं निरवयव रूप का ही स्फटिक रूप उपाधि के अन्तर्गतत्व का आरोप रूप प्रतिबिम्ब देखा जा रहा है। अतः स्फटिक में पूर्वोक्त सामग्री को बिम्बप्रतिबिम्बभाव के लिए व्यापक रूप में स्वीकार करने पर व्यभिचार उपलब्ध हो रहा है।

इसके समाधान में प्रतिद्वन्द्वी ने कहा है कि साक्षात् रूप यद्यपि रूप शून्य है फिर भी परम्परा सम्बन्ध से रूपवान् रहने पर भी चाक्षुष पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है यह स्वीकार करने से प्रकृत में व्यभिचार नहीं है। रूप में समवाय सम्बन्ध से रूप का अभाव होने पर भी स्वाश्रयवृत्तित्व रूप परम्परा सम्बन्ध से रूप में रूप माना जाता है। रूप का समवायी जो धर्मी उसमें समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाला) रूप है, अतः परम्परा सम्बन्ध से रूप में धर्मि-गत रूप होने से रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब मानने पर भी कोई व्यभिचार नहीं है, क्योंकि प्रकृत में केवल रूप का ही सम्बन्ध नहीं है रूप विशिष्ट धर्मी का सम्बन्ध हो रहा है अर्थात् यहां पर रूपवान् जो जवाकुसुम है उसका प्रतिबिम्ब है सिर्फ रूप का नहीं है। भ्रमवश अरुण स्फटिक यह केवल रूप के प्रतिबिम्ब का ज्ञान हो रहा है केवल रूप की स्थिति पृथक् उपलब्ध नहीं हो रही है। क्योंकि रूप द्रव्याश्रित है; अतः निराश्रित बिना द्रव्य के उसका रहना सम्भव नहीं है जिसके आधार पर रूप शून्य रूप का प्रतिबिम्ब माना जाय। अस्तु कथं-चित् क्लिष्ट कल्पना कर उसकी उपपत्ति करने पर भी शब्द के प्रतिशब्द रूप प्रतिबिम्ब से वह सिद्ध होता है कि नीरूप और निरवयव का भी प्रतिबिम्ब होता है।

मठ के मध्य में स्थित व्यक्ति के कण्ठ रूप उपाधि से युक्त शब्द अर्थात् मठ-मध्यस्थ पुरुष-कण्ठ द्वारा वैखरी वाणी का प्रयोग होने पर उस पुरुष के कर्णावच्छिन्नत्व रूप से उपलभ्यमान शब्द और मठ के अन्त या उपरि भाग से अवच्छिन्न आकाश रूप उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप से प्रतीत होने वाला शब्द पूर्व शब्द का प्रतिबिम्ब ही है, अतः प्रतिबिम्ब का सरूप सावयवत्व एवं चाक्षुषत्व रूप से ही ज्ञान होता है यह नियम नहीं है, वरन् किसी भी उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप प्रतिबिम्बत्व रूप से ही भान होता है प्रतिशब्द को शब्दान्तर रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता है। सर्व-सम्मत जो दर्पण में मुखादि प्रतिबिम्ब है उससे विलक्षणता अर्थात् भिन्नरूपता प्रतिशब्द में नहीं प्रतीत होती है। उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप आरोपित धर्म से विशिष्टबिम्ब ही प्रतिबिम्ब है। मुख की जो दर्पण में प्रतिबिम्बता है वह दर्पणादि के अन्तर्गतत्व रूप से बिम्ब का भ्रमज्ञान है जबतक दर्पण रूप उपाधि का सन्निधान अर्थात् आभिमुख्य रहता है तबतक उस मुखादिक प्रतिबिम्ब का अनुवर्तन होता है। जवाकुसुम के रूप में भी स्फटिक मणिरूप उपाधि के अन्तर्गतत्व का भ्रम है। जबतक स्फटिक रूप उपाधि का सन्निधान रहता है तबतक रूप प्रतिबिम्ब का अनुवर्तन स्फटिक आदि में प्रतीत होता है। जवाकुसुम रूप का प्रतिबिम्ब मुखादि प्रतिबिम्ब के समान ही है, मुख-प्रतिबिम्ब और जवाकुसुम रूप के प्रतिबिम्ब में किसी तरह का वैलक्षण्य प्रतिपादन सम्भव नहीं है। शब्द के प्रतिबिम्ब की भी यही स्थिति है। यहाँ भी उपरि भाग से अवच्छिन्न जो आकाश उसके अन्तर्गतत्व रूप से प्रतीति होती है। शब्द का प्रतिबिम्बत्व स्वीकार करने पर चाक्षुषत्व रूपवत्त्व के प्रतिबिम्बत्व में व्यभिचार होने पर भी बहिरिन्द्रिय चक्षु कर्ण नासिका जिह्वा और त्वक् इन पाँचों में से किसी एकसे योग विषय का ही प्रतिबिम्बन होता है इसके स्वीकार करने में ही पूर्वोक्त उदाहरण की उपपन्नता हो जाती है[1]।

रूपहीन रूप के प्रतिबिम्ब में जो आपत्ति आई है उसका तो यह भी समा-

---

(क) जपाकुसुमरूपस्य निरूपस्यापि स्फटिकादौ प्रतिबिम्बदर्शनाच्छब्दस्यापि प्रतिशब्दाख्यप्रतिबिम्बोपलम्भात्तयोः सम्प्रतिपन्नप्रतिबिम्बवैलक्षण्यानिरूपणात्। सि० बि० पृ० १४९-१५०

(ख) मठमध्यस्थ-पुरुषः——। तथा च प्रतिबिम्ब सि० बि० पृ० १५०

मान हो सकता है कि द्रव्य के प्रतिबिम्ब में चाक्षुषत्व एवं रूपवत्त्व की व्यापकता एवं प्रयोजकता है अर्थात् किसी द्रव्य के रूप का बिम्ब-प्रतिबिम्ब मानने पर उसका रूपवान् एवं चक्षुरूप इन्द्रिय के ज्ञान का विषय होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में जब बिम्ब का किसी इन्द्रिय से कभी भी ग्रहण नहीं है उसके प्रतिबिम्ब में रूप और परिणाम का ग्रहण स्फटिक एवं दर्पण आदि उपाधि में होता है।

आशय यह है कि रूप का तो कभी भी ग्रहण नहीं है फिर भी स्फटिक में प्रतिबिम्ब रूप से प्रतीत है। रूपवत्त्व एवं चाक्षुषत्व को बिम्बत्व का प्रयोजक मानने पर रूप जिसका प्रतिबिम्ब है उसके सर्वथा रूप-हीन होने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि रूप के प्रतिबिम्ब में रूपवत्त्व एवं चाक्षुषत्व की प्रयोजकता एवं व्यापकता है। किन्तु द्रव्य के प्रतिबिम्ब में इनकी व्यापकता और प्रयोजकता नहीं है। इस प्रकार का प्रयोज्य-प्रयोजकभाव एवं व्याप्य-व्यापकभाव स्वीकार करने पर भी प्रकृत में कोई दोष नहीं है कारण ब्रह्म के द्रव्यत्व होने में किसी तरह का प्रमाण नहीं होने से ब्रह्म के प्रतिबिम्ब में भी रूपवत्त्व एवं चाक्षुषत्व की प्रयोजकता नहीं है। अतः व्यभिचार नहीं होने से मेरे यहाँ दोष नहीं है फिर भी आकाशादि द्रव्य के प्रतिबिम्ब में उपर्युक्त नियम का व्यभिचार है। क्योंकि आकाश रूप-रहित एवं अचाक्षुष है। आकाश किसी भी इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं है वरन् वह साक्षिभास्य है। आकाश में रूपादिक का अभाव होने से उसको चक्षु से प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता है। अतः नीरूप एवं अचाक्षु आकाश रूप द्रव्य का प्रतिबिम्ब होने से द्रव्य के प्रतिबिम्ब में चाक्षुषत्व एवं रूपवत्त्व की प्रयोजकता या व्यापकता है।

यदि यह मान लिया कि जलादि में जो आकाश का प्रतिबिम्ब होता है अर्थात् जलान्तर्गतस्वरूप से आकाश की उपलब्धि होती है वह आकाश की ही प्रतीत है जलावच्छिन्न आकाश की प्रतीत नहीं है। जल को अवच्छेदक मानकर आकाश की प्रतीत मानने पर जितना परिमाण जल का रहेगा उससे अधिक गाम्भीर्य परिमाण विशिष्ट आकाश की प्रतीति सम्भव नहीं है[1]। जानुमात्र परिमाण-

---

१ (क) अनिन्द्रियग्राह्यस्य साक्षिप्रत्यक्षभास्याकाशस्यापि जलादौ प्रतिबिम्बोपलम्भात्। अन्यथा जानुमात्रेऽप्युदके अतिगंभीर प्रतीतिर्न स्यात्।
सि० वि० पृ० १५१-१५२

(ख) न्या० र० पृ० १५९

(ग) जानुमात्रपरिमाणापेक्षयाधिकपरिमाणविशिष्टस्याकाशस्य जानुमात्रोदकान्तर्गतत्वेन प्रतीतिरित्यर्थः। (नारा० पृ० १५२)

वाले जल में जानुमात्र परिमाण से अधिक-परिमाण-विशिष्ट आकाश की प्रतीति होती है। दो जानु परिमित जल में जल रूप उपाधि के अन्तर्गतत्व रूप आरोपित धर्म से विशिष्ट जितने परिमाण से युक्त आकाश का ग्रहण है उतने ही परिमाण से विशिष्ट आकाश की बुद्धि जानुमात्र जल में भी होती है। जलात्रावाच्छिन्न आकाश मानने पर इस तरह की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः जल के ऊपर भाग में स्थित उतने आकाश का प्रतिबिम्ब मानना आवश्यक है। फलतः सूक्ष्मतर उपाधि में प्रतीयमान विपुल आकाश के प्रतिबिम्ब-भ्रम की उपेक्षा करना उचित नहीं है। रूपवान् एवं चाक्षुषद्रव्य का ही प्रतिबिम्ब होता है इस नियम की प्रयोजकता मानकर आलोक के प्रतिबिम्ब में ही गगन के प्रतिबिम्बत्व का भ्रम मात्र है वस्तुतः गगन का प्रतिबिम्बत्व नहीं है। इसी प्रकार आकाश में तल की मलिनता अर्थात् अधोमुखीभूत नीलम की कढ़ाई के सदृश यह अध्यास भी आलोक में जो यह मलिनता के अध्यास का गगन में विभ्रम मात्र है। वस्तुतः गगन में तलमलिनता का अध्यास नहीं है यह भी कल्पना हो सकती है, किन्तु इस कल्पना में अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तमलिनतामध्यस्यन्ति। इस भाष्य का विरोध होगा। क्योंकि उपर्युक्त भाष्य से आकाश में तलमलिनता का अध्यास सुव्यक्त हो रहा है आलोक का नहीं है। आकाश में अध्यास की सिद्धि मानने पर इसी आधार पर प्रतिबिम्बत्व की भी उपपत्ति होगी। अतः उक्तनियम की व्यापकता एवं प्रयोजकता नहीं है[1]।

पूर्वोक्त भाष्य के सामंजस्य के लिए यह माना जाय कि रूपवान् का ही चाक्षुषत्व होता है यह नियम नहीं है वरन् रूपवान् या रूपहीन किसी अन्य के धर्म

---

१ (क) ननु रूपवत एव प्रतिबिम्ब इति नास्ति नियमः, जानुदघ्ने कूपके दूरविशालतलमलिनतादियुक्तगगनप्रतिबिम्बदर्शनाद्,— — — रूपवत एव प्रतिबिम्ब इति नियमादस्यालोकप्रतिबिम्बे गगनप्रतिबिम्बत्व-विभ्रममात्रं, न तु गगनस्य प्रतिबिम्बोऽस्तीति कल्प्यते, रूपवत एव चाक्षुषत्वमिति नियमावरुध्य गगनप्रसृतालोके एव तलमलिनताध्यास इति विभ्रममात्रमित्यपि कल्प्येत, तथाप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनतामध्यस्यन्तीति भाष्यविरोधः। क० म० पृ० ७

(ख) गगने कल्लोलीभूतालोकप्रतिबिम्बत्वभ्रमेण गगनस्य सलिले प्रतिबिम्बत्वभ्रमः। आभो० पृ० ११

का इस रूपहीन वस्तु में उपाधान अर्थात् सम्बन्ध से चाक्षुषत्व होता है। प्रकृत में गगन यद्यपि नीरूप है तथापि गगन में अध्यस्त जो अधोदेश की मलिनता उसके उपधान से गगन का चाक्षुषत्व है। इसी प्रकार यहाँ रूपवान् वस्तु का ही प्रतिबिम्ब होता है यह नियम नहीं है वरन् रूप के उपधान चाक्षुष द्रव्य का प्रतिबिम्ब भ्रम होता है। फलतः अध्यस्यमान तलमलिनता रूप उपधान के समवधान से ही प्रतिबिम्बविभ्रम आकाश में उपपन्न होता है। इसी प्रकार चैतन्य में देहगत रूप के उपधान के कारण प्रतिबिम्बत्व उपपन्न होता है[1]।

गगन का प्रतिबिम्ब मानने पर भी आलोक का प्रतिबिम्ब अवश्य ही मानना होगा। क्योंकि गगन तो चक्षु से प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। जानुमात्र जल में भी अधिक गगन का परिमाण-रूप-प्रतिबिम्ब की विशालता है। गगनमात्र प्रतिबिम्ब में इसे भी अचाक्षुष मानना पड़ेगा। क्योंकि जहाँ रूप भासित होता है वहीं परिमाण भी चाक्षुष होता है। गगन में रूप नहीं है ऐसी स्थिति में उसके परिमाण का भासित होना भी सम्भव नहीं है। अधिक परिमाण के भासित होने से ही उससे अवच्छिन्न आकाश की प्रतीति न मानकर प्रतिबिम्ब स्वीकार किया जाता है। फलतः गगन और आलोक इन दोनों का प्रतिबिम्ब स्वीकार कर आलोक के प्रतिबिम्ब में भासमान विशालत्व का गगन प्रतिबिम्बत्व रूप से भ्रम है यह मानना पड़ेगा। अतः इस पक्ष के स्वीकार करने से तो अच्छा यही होगा कि आलोक का ही प्रतिबिम्ब स्वीकार करें एवं आलोक-प्रतिबिम्ब में ही अधःप्रदेश में तलमलिनतादिका अध्यास भी स्वीकार करें। इस तरह आलोक प्रतिबिम्ब में ही अधः-प्रदेश में तलमलिनतादिका अध्यास मानने में लाघव है। अन्यथा तो यह स्वीकार करना पड़ता है कि रूप-विशालता के साथ आलोक का साथही स्फुरण और फिर उसका गगनप्रतिबिम्बत्व विभ्रम होता है—यह कल्पना करनी पड़ती है। इस कल्पना में गगन-प्रतिबिम्बत्व-विभ्रम यह कल्पना करनी पड़ती है। इस कल्पना में गगन प्रतिबिम्ब का विभ्रम और आलोक का रूप एवं विशालता के साथ स्फुरण इन दोनों कल्पनाओं की आवश्यकता होती है, अतः इन दोनों की अपेक्षा एक ही कल्पना से कार्य चला लेना उचित है।

---

१ क०प० पृ० ७

इसी प्रकार नीलं नभः विशालं नभः ये प्रतीतियाँ भी उपपन्न हो जायगी। जल मध्य में नभ के प्रतिबिम्ब के ग्रहण के समान बाहर आकाश का ग्रहण नहीं होता है। अतः ये प्रतीतियां नभ में जो नीलिमा का अध्यास है वही बाहर फैले हुए आलोक के रूप के अध्यास से एवं आलोक की विशालता के अनुभव को स्वीकार कर चलती है। इस प्रकार नभ का प्रतिबिम्ब न मानने से रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है यह स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं हैं अतः, रूपवत्त्व और चाक्षुषत्व ही प्रतिबिम्बत्व का व्यापक एवं प्रयोजक है, क्योंकि गगन का प्रतिबिम्बत्व आकाश में व्याप्त आलोक के प्रतिबिम्ब से ही उपपन्न हो जाता है। गगन-प्रतिबिम्बत्व-व्यवहार भ्रम मूलक है। इस तरह आलोक का ही प्रतिबिम्ब है; उसी की नीलिमा का अध्यास गगन में है इस प्रकार विवेचन से दीक्षितजी ने गगन की प्रतिबिम्बता का खण्डन किया है और आलोक की ही नीलिमा सिद्ध की है[1]।

मेरे विचार में इस प्रकार के प्रतिबिम्बत्व का खण्डन आग्रहमात्र है। क्षुद्रायतन उपाधि में नीलत्व रूप से प्रतीयमान विपुलाकाश प्रतिबिम्ब का अनुभव कुत्सा का विषय नहीं है। जैसे आकाश में नीलिमा का ग्रहण नहीं है वैसे ही प्रभामण्डल भी नील रूपसे गृहीत नहीं है : क्योंकि प्रभा में भास्वर रूप हैं। फिर किस प्रकार रूपावली प्रभा का प्रतिबिम्ब जल में स्वीकार कर नीलिमा की उपपत्ति हो सकती है। आलोक का प्रतिबिम्ब एवं आलोक की नीलिमा एवं विशालता का अनुभव आने पर अप्रत्यक्षे आकाशे बालास्तमलिनतादिकमध्यस्यन्ति, इस भाष्य का विरोध होगा। क्योंकि व्याप्त प्रभा तो अप्रत्यक्ष नहीं है। अतः अप्रत्यक्ष आकाश में ही तलमलिनतादिक अध्यास को उपपन्न करना पड़ेगा न कि आलोक में स्वीकार

१ (क) जले गगनप्रतिबिम्बमभ्युपगच्छताप्यालोकप्रतिबिम्बोऽवश्यमभ्युपगन्तव्यः। अन्यथा कूपाभिकपरिमाणरूपस्य प्रतिबिम्बगतविशालत्वस्याचाक्षुषत्वप्रसंगात् यत्र रूपं भासते तत्रैव परिमाणस्य चाक्षुषत्वात्। एवं च गगनालोकयोरुभयोरपि प्रतिबिम्बावंगीकृत्यालोकप्रतिबिम्बे भासमानस्य गगनप्रतिबिम्बगतत्वेन विभ्रम इति कल्पनाद्वरमालोकप्रतिबिम्ब एवाधः प्रदेशे तलमलिनताद्यध्यासः—— व्यभिचाराभावान्नात्मनः प्रतिबिम्बो घटत इति भावः।

क० प० पृष्ठ ८

कर भाष्य के तात्पर्य का खण्डन करना होगा।

तृतीयाध्याय २ पाद के बीसवें सूत्र के वरकान्त में 'अम्बुवद्ग्रहणात्तु तथात्वम्' इस सूत्र में आत्मभूत नहीं एवं उपाधि से पृथक् नहीं फिर भी प्रतिबिम्ब हो सकता है, इसके खण्डन प्रसंग में कहा है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि आकाश के प्रतिबिम्ब भ्रम में नेत्र की क्यों अपेक्षा होती है ! आकाश से तो चक्षु का संयोग नहीं होता है। चक्षु की अपेक्षा न होने पर आँख मूदने पर भी प्रतिबिम्ब भ्रम का ज्ञान हो जायगा किन्तु यह अनुभव विरुद्ध है। इसी प्रकार जिस किसी रूप में ज्ञान अपेक्षित होने पर अन्य का भी प्रतिबिम्ब भ्रम रहेगा। बिम्ब अंश में ज्ञान मात्र अपेक्षित है और अधिष्ठान अंश को चक्षु रूप इन्द्रिय का विषय होना आवश्यक है। आकाश के विशेष भाग से शून्य जो जल, उक्त भ्रम मूल कारण भूत अज्ञान का विषय रूप अधिष्ठान है। उस सामान्य अंश रूप जल का ज्ञान पूर्वोक्त भ्रम का कारण है उसके ज्ञान के लिए चक्षु की अपेक्षा है न कि आकाश के ज्ञान के लिए, भ्रम के कारण भूत जल का ज्ञान आँख मूद लेने पर नहीं होता है। अतः चक्षु की इस भ्रम में अपेक्षा है। इसलिए आकाश नेत्र के प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता है। अतः उसके प्रतिबिम्ब भ्रम में नेत्र की अपेक्षा नहीं है यह कल्पना ठीक नहीं है।

इस तरह इसकी उपपत्ति करने पर भी नीलं नभः आदि भ्रम में आकाश ही अधिष्ठान है और आकाश अचाक्षुष है। अतः नीलं नभः इस प्रतीति के अधिष्ठान अंश के ज्ञान के लिए नेत्र की अपेक्षा नहीं होगी। ऐसी स्थिति में अन्धे को भी नीलं नभः यह ज्ञान होने लगेगा। अधिष्ठान रूप नभ को नेत्र से प्रत्यक्ष मानने पर आकाश के साक्षिभास्यत्व मात्र का विरोध होगा, साथ ही सबसे बड़ी बात है कि नभ चक्षु के प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। अधिष्ठान सामान्य अंश से भिन्न नभमात्र की साक्षी के न होने पर भी अधिष्ठान सामान्य अंश के प्रत्यक्ष के लिए चक्षु की अपेक्षा होती है (नीलं नभः) नील आकाश यह भ्रम चक्षु के संयोग के रहने पर होता है और चक्षु के संयोग के न रहने पर नहीं होता है। इस प्रकार अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा नील आकाश रूप भ्रम के कारण रूप अधिष्ठान सामान्य ज्ञान में चक्षु की अपेक्षा होती है। अन्वय और व्यतिरेक से चक्षु की अपेक्षा इस भ्रम में मानने पर भ्रम कारण आकाश को फिर भी चक्षु प्रत्यक्ष का विषय मानना पड़ेगा।

नीलं नभः इस वाक्य के द्वारा कथित भ्रम में आलोक विशिष्ट आकाश का अधिष्ठान सामान्य अंश है अर्थात् आलोक विशिष्ट आकाश को ही यहाँ नभ शब्द से कहा जाता है, वही भ्रमकारणीभूत अज्ञान का विषय है। इस भ्रम में विशेषण रूप से ज्ञात आलोक हो सामान्य अंश है, अतः सामान्य अंश आलोक जो भ्रम का कारण है, उसका नेत्र से ज्ञान संभावित है, अतः अधिष्ठान प्रत्यक्ष के लिए चक्षु अपेक्षित है। इस प्रकार नीलं नभः इस भ्रम में किसी प्रकार व्यभिचार नहीं है[1]।

जैसे नीलं नभः में चक्षु की अपेक्षा होने से आलोक-विशिष्ट नभ यह नभ शब्द का अर्थ माना गया है वैसे ही आलोकविशिष्ट आकाश का ही जल में प्रतिबिम्ब है अथवा लाघव से आलोक का ही जल में प्रतिबिम्ब है यह कह सकते हैं। इस तरह आलोक का जल में प्रतिबिम्ब मानने पर इन्द्रिय ग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब होता है इस नियम में व्यभिचार नहीं है। चक्षु की अपेक्षा अन्यथा उपपन्न नहीं हो सकती है। अतः नील गगन इस भ्रम में आलोक-विशिष्ट आकाश का ही भान है यह स्वीकार करने पर भी जल में आकाश प्रतिबिम्ब भ्रम में आलोक-विशिष्ट नभ के मानने में कोई प्रमाण नहीं है। चक्षु की अपेक्षा पूर्वोक्त प्रदर्शित मान से जल रूप अधिष्ठान ग्रहण के लिए ही उपपन्न हो जाती है। अतः वहाँ आलोक के मानने में कोई प्रमाण नहीं है। इन्द्रियग्राह्यत्व को बिम्बत्व का व्यापक एवं प्रयोजक मानने पर दर्पण रूप उपाधि में अत्यन्त सदृश दर्पणान्तर के भी प्रतिबिम्ब की उपलब्धि होगी, क्योंकि बिम्बत्वप्रयोजक-इन्द्रियग्राह्यत्व दर्पण में उपलब्ध है। यदि इन्द्रियग्राह्यत्व बिम्बत्व का व्याप्य-व्यापक रूप प्रयोजक नहीं है तब इन्द्रियग्राह्यत्व के रहने पर ही बिम्ब का प्रतिबिम्ब उपलब्ध हो यह कोई आवश्यक नहीं रहेगा। अतः इन्द्रियग्राह्यत्वव्याप्य के न रहने पर भी प्रतिबिम्बत्व हो सकता है इस

१ (क) आकाशप्रतिबिम्बस्य साक्षिभास्यत्वेऽपि अधिष्ठानग्रहणार्थंचक्षुषोऽपेक्षणात्।

सि० बि० पृ० १५९-१५१

(ख) नन्वेवमपि नीलं नभः इत्यादिभ्रमे नभस एवाधिष्ठानत्वाच्चाक्षुषार्थंतया चक्षुरपेक्षणं वाच्यम्, तथा च नभसस्साक्षिमात्रवेद्यत्वहाने— ——तादृशभ्रमकरणेऽधिष्ठानसामान्यज्ञाने चक्षुरपेक्षेति।

न्या० र० पृ० १५१

तरह आकाश एवं ब्रह्म के इन्द्रियाग्राह्यत्व होने पर भी उसका प्रतिबिम्ब स्वीकार करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। यदि व्यापक मात्र ही प्रयोजक होता है यह मानते हैं तब बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव में इसके अतिरिक्त स्वच्छत्व आदि को प्रयोजक मानना पड़ेगा। अनेक स्थल में इन्द्रियग्राह्यत्व का बिम्बत्व के साथ सहचार देखने पर भी व्याप्तिग्राहक किसी अनुकूल तर्क के अभाव में कहीं व्यभिचार हो इस आशंका से सहचारगृहीत होने पर भी व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत नहीं हो सकता है जैसे धूम और वह्नि का सहचार मात्र से व्याप्य-व्यापक भाव का ग्रहण नहीं होता है वरन् मशक आदि के निवारण के लिए धूम की आवश्यकता होने पर नियमतः वह्नि के आनयन में प्रवृत्ति होना ही अनुकूल तर्क है। अतः इस तर्क के आधार पर व्याप्य-व्यापक-भाव गृहीत होता है सहचार-दर्शन मात्र से नहीं। सहचारमात्र दर्शन में कहीं व्यभिचार हो सकता है इस आशंका से व्याप्य- व्यापक भाव का ग्रहण नहीं होता है जैसे जहाँ पृथ्वीत्व और लौह-लेख्यत्व में सर्वत्र सहचार देखा जाता है। जहाँ जहाँ घट आदि में पृथ्वीत्व है वहाँ लौह-लेख्यत्व भी है। अतः दोनों का सहचार अनेक स्थलों में देखने पर भी व्याप्य व्यापकभाव गृहीत नहीं हो सकता है। क्योंकि वज्रमणि (हीरक) में पृथिवीत्व है किन्तु लौहलेख्यत्व नहीं होने से इसका व्यभिचार उपलब्ध होता है। इसलिए व्याप्य-व्यापक-भाव ग्रहण नहीं होता है। वैसे ही यहाँ भी अनुकूल तर्क के अभाव में सहचार-दर्शन मात्र से व्याप्य-व्यापक-भाव का ग्रहण नहीं होता है। अतः आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं है अपितु प्रभामण्डल का ही आकाश में प्रतिबिम्बत्व का आरोप है, किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है। एक तो प्रभामण्डल में नीलत्व ग्रहण नहीं है दूसरे अल्प जल में विपुल आकाश के प्रतिबिम्ब का अपलाप नहीं हो सकता है।

यह कहना भी ठीक नहीं है कि आकाश के प्रतिबिम्ब की सिद्धि होने पर चाक्षुष द्रव्यत्व की बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की अप्रयोजकता सिद्ध हो और इसकी अप्रयोजकता सिद्ध होने पर आकाश के प्रतिबिम्बत्व की सिद्धि हो इस तरह यहाँ पर अन्योऽन्याश्रय है। अतः चाक्षुषद्रव्यत्व की प्रयोजकता एवं व्यापकता है। फलतः, ब्रह्म के प्रतिबिम्ब की सिद्धि नहीं हो सकती है, किन्तु यह कथन ठीक नहीं है अनुमूयमान आकाश के प्रतिबिम्ब की असिद्धि हो तब चाक्षुषत्व आदि की व्यापकता सिद्ध हो उसकी व्यापकता की सिद्धि हो तब अनुमूयमान आकाश आदि के प्रति-

विम्व की असिद्धि हो। इस तरह अन्योऽन्याश्रय होने से चाक्षुपत्व में व्यापकता की सिद्धि नहीं हो सकती है, एवं प्रभामण्डल के प्रतिविम्व का आकाश में आरोप मानने पर आकाश का आरोपित प्रतिविम्वत्व रूप होने से वहीं पर चाक्षुपत्व का व्यभिचार रहेगा, क्योंकि प्रतिविम्व में आरोपितत्व ही रहता है कोई भी प्रतिविम्व अनारोपित नहीं होता है। अतः चाक्षुपत्व प्रतिविम्व में अप्रयोजक है।

जहाँ जहाँ प्रतिविम्व होता है वहाँ—वहाँ उपाधि से चक्षुरश्मि का संयोग होता है पुनः टकड़ा कर लौटी हुई चक्षुरश्मि विम्व के साथ संयुक्त होकर विम्व में चाक्षुपत्व उत्पन्न करती है और वाद में विम्व में उपाधि के अन्तर्गतत्व का आरोप करता है यही प्रतिविम्व का क्रम है। रूप के विना विम्वभूत आकाश का चाक्षुपत्व नहीं होगा अतः आकाश का प्रतिविम्व कैसे संभव हो सकता है[1]। पूर्वोक्त विश्लेपण से यह सिद्ध हो चुका है कि इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिबिम्ब होता है यह नियम नहीं हैं। अतः सरूप स्थलीय प्रतिविम्व भाव की अपेक्षा नीरूप स्थलीय प्रतिविम्व में भिन्न क्रम है, इसलिए नभ के प्रतिविम्व स्वीकार करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है[2]।

इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य का ही प्रतिविम्व होता है इस नियम का वाध होने से आकाश का प्रतिविम्व सिद्ध होता है, किन्तु आत्मा के प्रतिबिम्ब में तो कोई प्रमाण नहीं है। इसके उत्तर में आचार्यों का कथन है कि श्रुति ही इस विषय में प्रमाण है। श्रुति में कहा है कि वह पक्षी होकर मन में पुरुप प्रविष्ट हुआ (स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुप आविशत्) इस पूर्व वाक्य के द्वारा मन रूप में पुरुप का अन्तर्गतत्व रूप प्रवेश कहा गया है। नीरूप एवं निरवयव पदार्थ का प्रवेश संभव नहीं है। अतः आगे श्रुति में कहा गया है—ऋषि ने देखते हुए कहा मन में प्रति-

---

१. ननु यत्र यत्र प्रतिबिम्वभ्रमस्तत्रतत्रोपाधिना संयुक्तास्तेनाभिहताचक्षुरश्मयो विम्बेन सह पश्चात्संयुज्य विम्बे चाक्षुपत्वमुत्पादयन्ति, तथा च रूपं विना बिम्बभूतद्रव्यचाक्षुपाभावात्कथं नभसः प्रतिविम्वत्वमुक्तम्।

न्या० र० पृ० १५४

२. इन्द्रियग्राह्यस्यैव प्रतिविम्व इति नियमाभावात्।

न्या० र० पृ० १६४

बिम्बत्व ही यहाँ उसके अन्तर्गतत्व रूप प्रवेश का अर्थ है। प्रत्येक अन्तःकरण या मन में ब्रह्म का अहम् इस व्यवहार के लिए प्रतिबिम्बत्व है। इस श्रुति में रूप शब्द का अर्थ है अहम् मन के द्वारा ही आत्मा का अहम् इस शब्द से व्यवहार होता है। व्यवहार अर्थ वाले रूप धातु से करण में घ प्रत्यय के द्वारा रूप शब्द की सिद्धि होती है। प्रतिरूप शब्द प्रतिबिम्ब अर्थ का वाचक है। अर्थात् इस परमात्मा का वह रूप मन में प्रविष्ट प्रतिबिम्ब स्वरूप अहम् इस व्यवहार के लिए पर्याप्त है[1]। इसी प्रकार अन्य श्रुतियाँ भी प्रमाण रूप में उपलब्ध होती हैं। ब्रह्म-बिन्दूपनिषद् में एक ही सभी प्राणियों का आत्मा प्राणी-प्राणी में व्यवस्थित है स्व-भावतः एक स्वरूप भी परमात्मा जल में प्रतिबिम्बित चन्द्र के समान मन मन में प्रविष्ट होकर अनेक रूप में दिखाई देता है[2]। इसी प्रकार अनेक श्रुतियों के द्वारा प्रतिबिम्बत्व सिद्ध है। इतना ही नहीं अर्थापत्ति प्रमाण से भी प्रतिबिम्बत्व समर्थित होता है।

वह यह परमात्मा ब्रह्मादि-स्तम्ब-पर्यन्त शरीर में प्रविष्ट हुआ[3]। परमात्मा उत्पन्न रूप सभी का सृजन कर अपने द्वारा उत्पादित कार्य में स्वयं प्रविष्ट हुआ[4]। इत्यादि श्रुतियों में देहादि में परमात्मा का प्रवेश प्रतिपादित है। प्रवेश उसी का होता है जो बाहर में स्थित रहता है। जैसे बाहर में स्थित देवदत्त घर में प्रविष्ट होता है किन्तु वैसे यहाँ प्रवेश संभव नहीं है। अतः प्रवेश की अन्यथा उपपत्ति न होने से प्रतिबिम्बत्व की कल्पना होती है। जैसे मुख दर्पण में प्रतिबिम्बित हो प्रविष्ट के समान होता है वैसे ही यहाँ स्वच्छ अन्तःकरण आदि में चैतन्य का

---

१. रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
बृ० २।५।१९

२. एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥
ब्र० बि० उ० १२

३. स एष इह प्रविष्टः। बृ० उ० १।४।७

४. तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तै० उ० २।६।१

प्रतिबिम्ब होता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बत्व स्वीकार करने से तदनन्तर्गत्व के आरोप होने से प्रवेश उपपन्न होता है। श्रुति का इस प्रकार का अर्थ मात्र अपनी बुद्धि के द्वारा ही समर्थित नहीं वरन् भगवद् बादरायण सूत्र से भी समर्थित है। यह जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब रूप है[1]। जल प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है न तो साक्षात् वही है और न वस्त्वन्तर है[2]। फलतः जैसे किसी एक जलस्थ सूर्य प्रतिबिम्ब के कंपित होने से दूसरा जलस्थ सूर्य प्रतिबिम्ब कंपित नहीं होता है उसी प्रकार किसी एक जीव के कर्म फल का संबन्ध होने पर भी जीवान्तर में उस कर्म के फल का संबन्ध नहीं रहता है। क्योंकि वह जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है। निर्विशेष चन्द्र रूप यह नहीं इत्यादि श्रुति प्रमाण से युक्त है। इसीलिए अपारमार्थिक विशेष रूप को ग्रहण कर जल में प्रतिबिम्बित सूर्य के समान यह उपमा दी जाती है।

इन सूत्रों का आशय यह है कि सूर्य मूर्त रूप है एवं दूर देश में स्थित भी है। अतः उपाधि भूत जल सूर्य का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। इस प्रकार आत्मा न तो मूर्त रूप है और न मन रूप उपाधि से दूर देश में स्थित है। अतः इस उदाहरण से आत्मा का प्रतिबिम्बत्व उपपन्न नहीं हो सकता है। प्रथम सूत्र का यही आशय है कि जलगत वृद्धि ह्रास कम्पन जैसे जलगत सूर्य में प्रतीत होता है वैसे ही मनोगत कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि का व्यवहार अहम् रूप में अवस्थित आत्मा में प्रतीत होता है। मूर्त सूर्य का जल में अन्तर्भाव जिस प्रकार सूर्य प्रतिबिम्बत्व है वैसे ही आत्मा का मन में अन्तर्भाव विवक्षित है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ इत्यादि ज्ञान में आत्मा का अन्तर्भाव रूप प्रतिबिम्बत्व ग्रहण कर ही वृद्धि-ह्रास आदि की प्रतीति पूर्व में उक्त उपमा वाक्य से बोधित है अन्तर्भाव को त्याग कर नहीं, दूरदेशस्थत्व एवं मूर्त वस्तु से प्रतिबिम्ब का अतिशय सान्निध्य एवं अमूर्त के प्रतिबिम्ब का विरोध न होने से यह उपपन्न हो सकता है क्योंकि सन्निकृष्ट और अमूर्त आकाश आदि का जलादि में प्रतिबिम्ब के समान अमूर्त और सन्निकृष्ट आत्मा

---

१. आभास एव च। २।३।५०
२. उपमा सूर्यकादिवत्। ३।२।१८

का मन में अन्तर्भाव अहम् इस ज्ञान के द्वारा सिद्ध है, क्योंकि अनुभव के आधार पर अनेक प्रकार के भ्रम के हेतुओं का कल्पन संभव है। यही द्वितीय सूत्र का आशय है। इसी तरह आत्मा का प्रतिबिम्ब श्रुति के द्वारा घोषित होने से अप्रामाणिक मात्र कल्पना प्रसूत नहीं है।

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य की विकास व्याख्या में आचार्य प्रवर श्रीलक्ष्मीनाथझाजी ने प्रतिबिम्बवाद के खण्डन के लिए ही स एष इह प्रविष्टः इस बृहदारण्यक भाष्य से ही अन्तःकरण में अहम् का प्रतिरूप है, जल चन्द्र के समान दिखाई देता है आदि श्रुतियों में भी प्रतिबिम्ब का दृष्टान्त रूप से वर्णन किया है इसलिए जीव प्रतिबिम्ब रूप नहीं है। यही श्रुति और भाष्य आदि का अनुमत है। इसीलिए बृहदारण्यक भाष्य में भी वह यह नखाग्रपर्यन्त इस वाक्य की व्याख्या में सर्वगत परमात्मा का प्रवेश इसका क्या आशय है यह उपक्रम कर प्रतिबिम्बन ही प्रवेश इस पक्ष को विप्रकृष्ट देश आदि के अभाव से दूषित कर देहादि में आत्मा का उपलभ्यमानत्व ही प्रवेश है पाषाणादि के समान देहादि में आत्मा की अनुपलब्धि नहीं है इस तरह प्रवेश पदार्थ की अन्यथा व्याख्या कर प्रतिबिम्ब पक्ष का प्रतिरोध किया है और इसीलिए जगत् का सृजन कर उसी सृष्ट जगत् में पश्चात् प्रविष्ट हुआ इस तैत्तिरीय भाष्य में भी जलसूर्य के समान प्रवेश है यह नहीं कह सकते है, वह परिच्छेद रहित है अर्थात् व्यापक और अनादि होने से देश एवं काल के परिच्छेद से रहित है। परिच्छिन्न और मूर्त सूर्यादि का उससे अन्यत्र प्रतिबिम्ब होता है किन्तु अमूर्त आत्मा के व्यापक होने से एवं उससे विप्रकृष्ट प्रतिबिम्बाधार मूर्त वस्तु के अभाव में प्रतिबिम्ब रूप प्रवेश उचित नहीं है। इस तरह प्रतिबिम्ब भाव से प्रवेश का निराकरण किया है।

१. रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव, दृश्यते जलचन्द्रवत् इत्यादि श्रुतिष्वपि प्रतिबिम्बस्य दृष्टान्तत्वमेव वर्णितमतो न प्रतिबिम्बरूपो जीवः श्रुतिभाष्यानुमतः। अत एव बृहदारण्यकभाष्येऽपि स एष इहानखाग्रेभ्यः इति वाक्यव्याख्यायाम् सर्वगतस्य परमात्मनः कः प्रवेशो नाम इत्युपक्रम्य प्रतिबिम्बितं प्रवेश इति पक्षं विप्रकृष्टदेशाद्यभावेन दूषयित्वा देहादावात्मन उपलभ्यमानत्वं प्रवेशः नहि पाषाणादिवत् देहादावात्मनोऽनुपलब्धिरस्ति, इति———प्रतिबिम्बरूपः प्रवेशो युक्तः इति प्रतिबिम्बभावेन प्रवेशो निराकृतः। भा० विका० पृ० १३

उपर्युक्त बृहदारण्यक एवं तैत्तिरीय भाष्य के पर्यालोचन से झाजी की कथित बातें उपपन्न नहीं होती वरन् इस अंश में उनका मात्र आग्रह प्रतीत होता है। झाजी का आग्रह हीं इन बातों का समर्थक है भाष्य की पंक्तियाँ नहीं।

पूर्वोक्त विश्लेषण से यह सिद्ध है कि अन्तःकरण रूप उपाधि के कारण ही आत्मा में मिथ्या ही अहंकर्त्ता यह ज्ञान होता है। स्वच्छ स्फटिक मणि में जवा-कुसुम-निमित्तक रक्तिमा के समान कर्तृत्वादि का ज्ञान है। आत्मा वस्तुतः इस ज्ञान एवं क्रिया आदि का आश्रय नहीं है। इस व्यवहार से यद्यपि आत्मा ही ज्ञान और कर्त्ता का आश्रय प्रतीत हो रहा है क्योंकि मैं जानता हूँ मैं कर्त्ता हूँ आदि व्यवहार आत्मा के वास्तविक कर्तृत्व का साधक सिद्ध होता है किन्तु इस व्यवहार को विवक्षित अर्थ का साधक मानने से मैं मोटा हूँ मैं दुबला हूँ इस व्यवहार के आधार पर देह को भी आत्मा मानना पड़ेगा। अतः यह स्वीकार करना होगा कि मात्र व्यवहार किसी परमार्थ अर्थ का साधक नहीं है। युक्ति के आधार पर विचार करने से आत्मा में वास्तव कर्तृत्व का साधक कोई न्याय उपलब्ध नहीं होता है। श्रुति के द्वारा आत्मा निरवयव एवं असंग है। अतः पारमार्थिक कर्तृत्व-साधक न्याय का अभाव है। कथँचित् किसी न्याय के आधार पर यह मान भी लिया जाय तब भी विरुद्ध तर्क से इसका निवारण हो जायगा।

अब यह जिज्ञासा हो सकती है कि कर्ता हूँ, जानता हूँ आदि ज्ञानों के उपपत्ति कैसे होगी ? आत्मा तो श्रुत्यादि सिद्ध असंग एवं निरवयव है। सावयव एवं परिणामी अन्तःकरण के सन्निधान से आत्मा का मिथ्या ज्ञान एवं क्रिया सिद्ध है। अतः अन्यथासिद्ध कर्तृत्वादि का श्रुति-तर्कादि विरुद्ध आत्मा में पारमार्थिक रूप से मानना उचित नहीं है।

पारमार्थिक रूप से निश्चित आत्मा में वास्तविक-कर्तृत्व न मानने पर अहंकार ही कर्तृत्व आदि का धर्मी है और वह आत्मा से अन्य है ऐसी स्थिति में बन्धन अहं का है और मोक्ष किसी अन्य का हो रहा है। इसके समाधान में भावप्रकाशिका ने कहा है कि वास्तव जो आत्मा है उसी में अन्तःकरण आदि उपाधि के कारण कर्तृत्व आदि का भान होता है। निरवयव सर्वगत और असंग आत्मा में कर्तृत्व आदि नहीं है किन्तु अन्तःकरण से अवच्छिन्न वास्तव आत्मा में

ही कर्तृत्वादि का भ्रम है अतः बन्धन और मोक्ष में वैयाधिकरण्य नहीं है वरन् जिसका बन्धन है उसी का मोक्ष है[1]। आत्मा में प्रतीयमान कर्तृत्वादि मिथ्या है अन्तःकरण- रूप उपाधि के कारण है। यह जवा-कुसुम के सन्निधान में स्फटिक में लौहित्य के समान है। अविवेक के कारण ही लौहित्य आदि की प्रतीति हो रही है[2]।

कर्तृत्वादि की प्रतीति एवं उसकी सत्ता वास्तविक न होने से कारण के अभाव से पारमार्थिक कर्तृत्वादि आत्मा में नहीं है। जैसे स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति है, किन्तु यह पारमार्थिक रूप से स्फटिक में लौहित्य प्रतीति नहीं है। क्योंकि जवाकुसुम सन्निधान में ही उसकी प्रतीति है अन्यथा नहीं, लौहित्य की सत्ता भी स्फटिक में नहीं है, वरन् उसमें शुक्ल गुण ही वर्तमान है। अन्तःकरण के सान्निध्य से उसमें वर्तमान जो कर्तृत्व आदि उसी का असंग आत्मा में प्रतिभास मानने से ही कर्तृत्व आदि आत्मा में उपपन्न हो सकता है। अतः उस अन्यथा सिद्ध कर्तृत्व आदि को आत्मा में मानने की आवश्यकता नहीं है। स्फटिक में लौहित्य की प्रतीति मात्र से उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं मानी जाती है उसी प्रकार यहां भी कर्तृत्व आदि की अन्तःकरण के सान्निध्य से उपपत्ति होती है वास्तविक सत्ता नहीं मानी जाती है।

---

१. ननु एवं बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्। अहंकारस्यैव कर्तृत्त्वादिधर्मित्वात् तस्य चात्मनोऽन्यत्वात्——निरवयवे असंगे तदयोगात वास्तवस्यात्मनएवान्तः करणावच्छिन्नतया वैयधिकरण्यादिदोषाभावात्।

भा० प्र० पृ० २७४

२. (क) आत्मनि प्रतीयमानं कर्तृत्वादिकं मिथ्या सोपाधिकत्वात् स्फटिकलौहित्यवत्।

भा० प्र० पृ० २७४

(ख) प० पा० वि० पृ० ४७४

(ग) ता० प्र० पृ० २७४

अख्यातिवादी मीमांसकों का यह कहना है कि शुक्ल स्फटिक में प्रतीयमान लौहित्य यदि मिथ्या हो एवं स्फटिक में जवाकुसुमगत लौहित्य का प्रतिभास सिद्ध हो तो उसी दृष्टान्त से अन्तःकरण के कर्तृत्व आदि का ही आत्मा में प्रतिभास है यह भी सिद्ध हो और प्रतिभास होने से उसको मिथ्या भी मान लिया जाय, किन्तु स्फटिक में लौहित्य का प्रतिभास नहीं है। वरन् कुसुम गत लौहित्य का ही ग्रहण हो रहा है, स्फटिक गत लौहित्य का नहीं। अब यह प्रश्न होता है कि स्फटिक में लौहित्य का प्रतिभास न मानने पर लाल स्फटिक यह प्रतीति कैसे उपपन्न होगी? जितनी भी प्रतीतियाँ हैं वह यथार्थ ही है अर्थात् ज्ञान समीचीन हो रहते हैं[1]। अतः मिथ्या लौहित्य का प्रतिभास नहीं है।

स्फटिक के प्रत्यक्ष के लिए प्रवृत्त नयन किरण स्फटिक से प्रतिहत (अर्थात् टकराती) होती है और उस स्फटिक से प्रतिहत होकर स्फटिक द्रव्य का ग्रहण कर उसकी शुक्लता को बोध करने में असमर्थ लौटकर कुसुम में समवाय सम्बन्ध से स्थित लौहित्य गुण का ग्रहण करती है। इस कुसुमनिष्ठ लौहित्य का स्फटिक एवं कुसुम उभय से विलक्षण धर्मी निष्ठ रूप से स्फुरण होता है। किन्तु यहाँ लोचन का कुसुम के साथ संयोग होने पर भी कुसुम समवेत रूप से लौहित्य का भान न होकर विलक्षण धर्मी निष्ठ होकर न होने वाले लाल स्फटिक—यह व्यवहार होता है। इस तरह शुक्ल स्फटिक में प्रतीयमान लौहित्य का मिथ्यात्व नहीं है। अख्यातिवादी ने लौहित्य के मिथ्यात्व का खण्डनपूर्वक लौहित्य का उपपादन इस प्रकार किया है[2]।

---

१. अख्यातिवादी के सिद्धान्त में सभी ज्ञानों को समीचीन माना जाता है। अतः इस मत में भ्रम ज्ञान नहीं है। इस मत का विस्तृत विश्लेषण अध्यास में हो चुका है। भेद के अग्रह से ही स्फटिक में जवा कुसुम गत गृहीत लौहित्य का भान हो रहा है।

२. स्फटिकग्रहणार्थं "वृत्ता नायनरश्मयः स्फटिकेन प्रतिहन्यन्ते, प्रतिहताश्च सन्तो द्रव्यं गृहीत्वा शौक्ल्यं बोधयितुमनीशानाः परावृत्य कुसुमसमवेतं लौहित्यं गृह्णन्ति, तस्य कुसुमनिष्ठतया प्रतिपत्तौ रक्तः स्फटिकः इति व्यवहारो जायत इत्यर्थः। त० दी० पृ० ३२४

जवाकुसुम में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले लौहित्य का जवाकुसुम मे समवेत-रूप से ग्रहण न होने का कारण ज्ञात नहीं होता है। प्रतिबन्धक के कारण ही इन्द्रिय का कुसुम के साथ संयोग नहीं होता है। दोष रूप प्रतिबन्धक के कारण जवाकुसुम-संयोग न होने से कुसुम-गत लौहित्य है यह ग्रहण नहीं हुआ। आशय यह है कि स्फटिक-संयुक्त-नयन की रश्मि जवाकुसुम से संयुक्त होगी जो विशिष्ट सन्निवेश के विना केवल उसी लौहित्य को ग्रहण करेगी अर्थात् उस गुण के आश्रय के विना मात्रगुण का इन्द्रिय से ग्रहण होगा, किन्तु इन्द्रिय-संयुक्त-द्रव्य को छोड़कर द्रव्य में समवेत रूप का ग्रहण कहीं भी नहीं देखा है। कुसुम संयोग हो किन्तु संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से केवल रूप का ही ग्रहण हो—ऐसा नहीं देखा गया है। नैयायिक मत से इन्द्रिय-संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से अथवा जिनके गुण और गुणी का तादात्म्य है उनके यहाँ संयोग-रूप सम्बन्ध से केवल रूप का ही ग्रहण होता है। लोहितगुणवान् का ग्रहण होता है लोहितगुणवान् द्रव्य का ग्रहण न होने के कारण द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है। फलतः स्फटिक में पूर्वोक्त प्रकार से लौहित्य का प्रतिभास होता है इसलिए अपने आश्रय द्रव्य को छोड़कर केवल रूप को प्रतिबिम्ब कहीं नहीं देखा गया है[1]।

अख्यातिमत में प्रतिबिम्बत्व संभव नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बत्व समर्थन करने पर ज्ञान का मिथ्यात्व प्राप्त होगा। केवल रूप का ही ग्रहण प्रकृत में विवक्षित है, किन्तु इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप का ग्रहण कहीं भी नहीं देखा गया है। दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय का रूप के साथ सम्बन्ध होने पर द्रव्य के साथ भी सम्बन्ध हो जायगा। अतः अख्यातिमत में लौहित्य के मिथ्यात्व की प्रतीति नहीं होगी। अख्यातिवादी प्रतिबिम्ब को स्वीकार नहीं करते हैं।

प्रकृत में यह शंका होती है—क्या अहंकार में विद्यमान कर्तृत्वधर्म का ही आत्मा में आरोप किया जाता है? अथवा आत्मा में मिथ्याभूत अहंकारगत कर्तृत्व उत्पन्न होता है? प्रथम कल्प को यदि स्वीकार किया जाय तब तो लोहितः स्फटिकः

---

१ स्फटिकप्रतिस्फालिता नायना रश्मयो जवाकुसुममुपसर्पेयुः; यदा विशिष्टसन्निवेशं तदैव लोहितं ग्राहयेयुः। नहि रूपमात्रनिष्ठश्चाक्षुषः प्रत्ययो दृष्टपूर्वः। नापि स्वाश्रयमनाकर्षद् रूपमात्रं प्रतिबिम्बितं क्वचिदुपलब्धपूर्वम्। प० पा०, पृ० ३३४

यह जो दृष्टान्त के रूप में दिया गया है उसकी उपपत्ति सम्भव नहीं होगी। द्वितीय कल्प को यदि माना जाय तब तो आत्मा सत्य कर्त्ता और अहंकार मिथ्या कर्त्ता इस प्रकार दो कर्त्ता की प्रतीति माननी पड़ेगी। किन्तु यह पूर्व प्रदर्शित शंका समीचीन नहीं है, कारण प्रथम कल्प में किसी प्रकार का दोष नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक कर्तृत्व स्वीकार नहीं किया जाता है उसमें न रहने वाले कर्तृत्व का ही आरोप किया जाता है; रक्तः स्फटिकः इस दृष्टान्त की जो विषमता दिखायी गयी है वह भी ठीक नहीं है, कारण; मात्र इसी अंश में यह दृष्टान्त दिया गया है। अब यह शंका हो सकती है कि ऐसा मानने पर अन्यथाख्याति पक्ष का प्रसंग हो जायेगा। परन्तु विचार करने पर यह शंका भी निर्मूल ही अवगत होती है। कारण, कर्तृत्वादिधर्मविशिष्ट अहंकार का आत्मा में अध्यास होने से ही आत्मा में कर्तृत्व आदि को मिथ्या माना गया है। अन्यथाख्याति पक्ष में आरोप विषय जो रजतादि है उसको सत्य माना जाता है। इसी तरह विचार करने पर द्वितीय पक्ष में भी दोष नहीं है। कारण, आत्मा और अहंकार इन दोनों की ऐक्य बुद्धि होने से दो कर्त्ताओं की प्रतीति नहीं होगी क्योंकि, ऐक्य बुद्धि न होने पर ही अर्थात् दोनों में भेद रहने पर ही दो कर्त्ताओं की प्रतीति सम्भव है।

आशय यह है कि अख्यातिवादी के मत में प्रतिबिम्ब स्वीकार नहीं किया गया है। यदि अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक मत को स्वीकार कर द्रव्य को छोड़कर रूप-मात्र प्रतिबिम्बित होकर स्फटिक रूप से प्रतिभात हो रहा है यह भी कथन ठीक नहीं है। कारण, गुणी को छोड़कर गुण का अन्यत्र गमन उपलब्ध नहीं होता है, अतः रूपमात्र का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है।

अन्यथाख्यातिवादी यह कहते हैं कि आश्रय के साथ लौहित्य का प्रतिबिम्ब अथवा अविवेक है; अतः अविविक्त होने के कारण स्फटिक रूप से गृहीत होता है। उनका आशय यह है कि पद्मरागादिमणि के समान जवाकुसुम में भी प्रभा है और उसी प्रभा से व्याप्त होने के कारण स्फटिक भी लोहित के समान अवभासित हो रहा है। यह भी कथन ठीक नहीं है, कारण संसर्ग का अपरोक्ष रूप से भान होने से उसका असत्त्व नहीं कह सकते हैं एवं बाध होने से सत्त्व भी नहीं है, अतः अन्यथाख्याति में संसर्ग का मिथ्यात्व रहेगा एवं स्वयं अलोहित होते हुए भी मिथ्या ही लोहित रहेगा[1]।

---

१ (क) पं० पा०, पृ० २३४-२३५

(ख) भ० प०, पृ० १०१

इस प्रसंग में अख्यातिवादी का यह कथन है कि प्रभागत जो लौहित्य है उसी का स्फटिक के साथ अविविक्त होकर भान हो रहा है। ऐसी स्थिति में संयुक्त-समवाय सामग्री के रहने से अथवा अप्रतिबद्ध संयोग से (नेत्र का स्फटिक के साथ संयोग एवं उसमें समवाय सम्बन्ध से शुक्लता का स्फटिक में प्रतिभान होगा। शुक्ल गुण विरोधी रक्तगुण की प्रभा से उसको हटा दिया गया अथवा उसकी प्रतिबन्धकता के कारण शुक्ल गुण का भान नहीं होता है। गुण और गुणी में अभेद है, अतः गुण के प्रतिबन्ध से उसके द्वारा द्रव्य का भी प्रतिबन्ध हो जायगा। दूसरी बात यह है प्रतिबद्ध होने से अथवा अपसारित होने से नीरूप का प्रत्यक्ष कैसे होगा? यदि कहा जाय कि रूपहीन द्रव्य होने पर भी रूपिद्रव्य में संयोग से—रूपिप्रभा के संयोग से उसका नेत्र के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। ऐसा स्वीकार करने पर वायु का चाक्षुपत्व होने लगेगा। इस शंका के समाधान में यह कथन है कि प्रभा के द्वारा शुक्लता को हटाकर वहाँ पर लौहित्य की उत्पत्ति होने से इस निमित्त से रूपवान् हो जाने के कारण चक्षु के द्वारा नीरूप का भी प्रत्यक्ष होता है एवं लौहित्य का भान होता है। दूसरी बात यह है कि ऐसा स्वीकार करने पर निमित्त के नाश होने पर भी नैमित्तिक की स्थिति देखी जाती है, अतः कुसुम के नाश होने पर भी स्फटिक में लौहित्य की उपलब्धि होगी।

इस पूर्वोक्त विश्लेषण का गूढ़ आशय यह है कि पद्मरागमणि के समान प्रभा के व्याप्त होने मात्र से लौहित्य का प्रतिभास सम्भव नहीं है। गगन के व्याप्त होने मात्र से घटादि गगन के समान भासित नहीं होने लगता है। अर्थात् प्रभा से व्याप्ति लौहित्य प्रतीति का कारण नहीं हो सकता है। वस्तुतः इसमें प्रभा भी नहीं है। अतः द्रव्य के साथ लौहित्य ही स्फटिक से विलक्षण धर्मी संयुक्त रूप से स्फुरित होकर स्फटिक धर्मी तादात्म्यापन्न भासित होता है। यह भी नहीं हो सकता है—विलक्षण-धर्मिनिष्ठतया अविवेकाभ्युपगम कर लौहित्य का भान नहीं करा सकते हैं, क्योंकि अख्यातिमत में स्वयं अलोहित स्फटिक है और मिथ्या ही लोहित स्फटिक की प्रतीति है। स्फटिक में लौहित्य का प्रतिभान मानने पर अन्यथाख्याति माननी पड़ेगी क्योंकि लौहित्य का स्फटिक के साथ सम्बन्ध तो मिथ्या रहेगा ही[1]।

---

१ तथाप्यन्यथाख्यातौ संसर्गमिथ्यात्वम्। पं० वि०, पृ० ३३५

अन्यथाख्यातिके निवारण के लिए स्फटिक में लौहित्य का प्रतिभान नही मानते हैं वरन् प्रभा ही लाल अवभासित होती है। ऐसी स्थति में स्फटिक में शुक्ल गुण का भी भान होने लगेगा। स्फटिक के ग्रहण काल में संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से अर्थात् इन्द्रिय-संयुक्त-समवाय सम्बन्ध से या स्फटिक का ग्रहण होने पर अप्रतिबद्ध संयोग-सम्बन्ध से स्फटिक के शुक्लत्व की भी प्रतीति होने में कोई बाधा नहीं है। आशय यह है कि नीरूप द्रव्य का ग्रहण नहीं होता है। रूप ग्रहण करते हुए द्रव्य का भी ग्रहण होता है। दोनों की प्रतीति एक काल में ही होती है। अतः शुक्लत्व का भी भान होने लगेगा[1]।

शौक्ल्य गुण का अपसारण कर लौहित्य गुण की उत्पत्ति प्रभा के द्वारा हो जाती है। अतः शुक्लत्व की प्रतीति वहाँ नहीं होती है। एवं रूपवान् होने से नेत्र के द्वारा उसके प्रत्यक्ष होने में भी कोई आपत्ति नहीं है। प्रभा के द्वारा शुक्लत्व का प्रतिबन्ध नहीं मान सकते हैं। क्योंकि वेदान्त मत में गुण का प्रतिबन्ध मानने पर द्रव्य का प्रतिबन्ध नही मान सकते हैं। फलतः रूप का सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष का प्रयोजक है। अतः स्फटिक में भी प्रभा के द्वारा रूप का सम्बन्ध होने से चाक्षुषत्व हो जायेगा और नीरूप द्रव्य के प्रत्यक्ष की आशंका भी अब नहीं रह जाती है। प्रभानिमित्तक गुणान्तर की उत्पत्ति मानने पर निमित्त के न रहने पर नैमित्तिक स्थिति देखी जाती है, जैसे घट के निमित्त दण्ड के नाश होने पर भी घट की स्थिति होती है। ऐसी स्थिति में रूपवान् प्रभा के नाश होने पर भी वहाँ लौहित्य की उपलब्धि होती रहेगी; किन्तु ऐसा होता नहीं है; जवाकुसुम रूप उपाधि के हटाने से रिक्तता की उपलब्धि नहीं होती है। पद्मरागमणि में जिस प्रकार निराश्रिता प्रभा फैलती हुई प्रभा उपलब्ध होती है, वैसी जवाकुसुम उपाधि के कारण जिस तरह रक्तिमा है उसी तरह असंग आत्मा में अहंकार रूप उपाधि के कारण ही कर्तृत्व आदि का आरोप है[2]।

यदि यह मान लिया जाय कि रूपज्ञान नहीं है फिर भी द्रव्य का ज्ञान होता है। रक्तं स्फटिक यह व्यवहार पूर्वोक्त अविवेक से भी उपपन्न होगा, क्योंकि यह,

---

१ अथ प्रभैव लोहिता इव भासते, न स्फटिक इति। शौक्ल्यमपि स्फटिके प्रकाशेत।

पं० पा०, पृ० ३३५

२ वि०, पृ० ३३५

कुलधर्म तो नहीं है कि रूप के ग्रहण करने पर ही द्रव्य का ग्रहण होता है, रूप के विना नेत्र के द्वारा उस द्रव्य का ग्रहण ही नहीं हो सकता है। उद्भूत रूप वान् द्रव्य ही नेत्र के द्वारा गृहीत होता है। अतः जाति के ज्ञान के विना भी व्यक्ति का ग्रहण हो सकता है, क्योंकि जाति नेत्र की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है। विशिष्ट-द्रव्य यह व्यवहार अविवेक से साध्य नहीं है। अतः स्फटिक में जवाकुसम के सान्निध्य से आरोप मूलक ही रक्त स्फटिक यह व्यवहार है। स्फटिक में वास्तविक रक्तिमा नहीं है जवाकुसुम गत रक्तिमा का आरोप है। इस प्रकार मिथ्या रक्तिमा के रहने से स्फटिक यह व्यवहार है। फलनः अहंकार रूप उपाधि-प्रतिविम्बत्व-निमित्तक आत्मा में कर्तृत्व आदि का आरोप है और आरोप होने से मैं करता हूँ आदि का व्यवहार होता है।

आत्मा में अहंकारगत जो कर्तृत्व है उसका आरोप मात्र है या मिथ्या ही कर्तृत्वादि धर्मान्तर की अहंकार में जो कर्तृत्वादि है उससे अतिरिक्त कर्तृत्वादि की उत्पत्ति है यदि आत्मा में आरोप मात्र ही स्वीकार करते हैं तब इस दृष्टान्त की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि दृष्टान्त और जिसके लिए यह दृष्टान्त है इन दोनों में विषमता है, मिथ्या लौहित्य की उत्पत्ति स्फटिक में मानी गई है। उसी तरह यहाँ भी मिथ्या कर्तृत्व की उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। यदि यह कहा जाय कि वेदान्तियों के यहाँ मिथ्या लौहित्य की उत्पत्ति मानने पर भी नैयायिकों के सिद्धान्त में आरोप मात्र से ही सर्वत्र कार्य चलता है अतः जिस प्रकार स्फटिक में लौहित्य के आरोप मानने से रक्त स्फटिक यह प्रतीत होता है। वैसे ही यहाँ भी अहंकारगत धर्म के आरोप मात्र से ही कर्तृत्व आदि की प्रतीति सिद्ध हो जायेगी। मानती हूँ कि इस प्रकार यह दृष्टान्त हो सकता है, क्योंकि आत्मा में न रहने वाला कर्तृत्व ही प्रतीति होता है, क्योंकि इसी अंश में रक्तः स्फटिकः यह दृष्टान्त भी दिया गया है किन्तु ऐसा स्वीकार करने पर अन्यथाख्याति पक्ष की सिद्धि होगी। द्वितीय पक्ष मानने पर अहंकार गत सत्य कर्तृत्व और आत्मगत मिथ्या कर्तृत्व इन दो कर्तृत्वों की प्रतीति स्वीकार करनी पड़ेगी[1]।

---

१ ननु अहंकारधर्मस्यात्मन्यारोपमात्रं क्रियते ! किं वा मिथ्यैव धर्मान्तरमुत्पद्यते इति ! पूर्वस्मिन् नायं दृष्टान्तः अन्यथाख्यातिश्च स्यात, उत्तरस्मिन् सत्यमिथ्याकर्तृत्वाद् द्वयावभासः स्यात्
वि०, पृ० १०६

किन्तु पूर्वपक्ष के स्वीकार करने पर अन्यथाख्याति पक्ष होगा यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि अन्यथाख्याति पक्ष में शुक्ति में जो रक्त की प्रतीति होती है उससे भिन्न स्थल में सत्य रजत है। उसके संसर्गमात्र का आरोप है और प्रकृत में कर्तृत्वादि धर्म से विशिष्ट अहंकार का आत्मा में आरोप रूप अध्यास माना गया है एवं आत्मा में कर्तृत्वादि सहित अहंकार के अध्यस्त होने से उसमें कर्तृत्वादि मिथ्या माना गया है। अर्थात् कर्तृत्वादि-विशिष्ट अहंकार संसर्ग का सत्य रजत के समान अन्यत्र सद्भाव स्वीकार न करने से कर्तृत्वादि धर्मसहित अहंकार का अध्यास होने से अन्यथाख्याति का प्रसंग नहीं है। कारण, अन्यथाख्याति में सत्य रजत का संसर्ग ही आरोप्य है[1]।

इस प्रकार अन्यथाख्याति का निवारण करने पर भी दृष्टान्त की उपपत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि लौहित्य रूप धर्ममात्र का ही आरोप है लौहित्य की धर्मी का आरोप नहीं है। अतः धर्मी और धर्म उभय की अध्यस्तता स्थल में यह दृष्टान्त उपपन्न नहीं हो सकता है। किन्तु यह शंका ठीक नहीं है कारण सभी अंश में दृष्टान्त की समता अपेक्षित नहीं रहती है, जिस अंश की उपपत्ति के लिए दृष्टान्त दिया जाता है, उस अंश में विषमता न होने से ही दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है, प्रकृत में रक्त स्फटिक का दृष्टान्त इतने ही अंश में दिया गया है कि अन्य के सन्निधान में दूसरे मिथ्या धर्म की प्रतीति होती है अर्थात् जो धर्म उसमें नहीं है प्रतिबिम्ब होने से उपाधि के धर्म का अध्यास होने से उस मिथ्या धर्म की प्रतीति होती है। अतः जैसे स्फटिक में जवाकुसुम के सन्निधान से मिथ्या लौहित्य का अवभास है वैसे ही यहाँ अहंकार के सन्निधान से मिथ्या कर्तृत्वादि का आत्मा में अवभास है[2]।

द्वितीय पक्ष में भी आपत्ति नहीं है। अहंकारगत सत्य कर्तृत्व और आत्मगत मिथ्या कर्तृत्व उभय का भान होगा यह आपत्ति भी असंगत नहीं है सत्य कर्तृत्व

---

१ अन्यथाख्यातिमतेऽन्यत्र सत्यरूपादेः संसर्गमात्रस्यारोप्यत्वम्, अत्र तु धर्मविशिष्टस्याहंकारस्यारोपोपगमादन्यथाख्यातिरित्यर्थः ।

त० दी० पृ० २३६

२ अन्यसन्निधानादन्यस्मिन्मिथ्याधर्मावभास इत्येतावति दृष्टान्तः

वि० पृ० २३६

और मिथ्या कर्तृत्व इस प्रकार दो कर्तृत्व के रहने पर भी आत्मा और अहंकार में एकत्व ज्ञान हो जाने से दो कर्तृत्व प्रतीति होने की आशंका नहीं है। दो धर्मी हो तब पृथक्-पृथक् कर्तृत्व धर्म के भान होने से कर्तृत्वद्वय की प्रतीति हो किन्तु कर्तृत्व-विशिष्ट अन्तःकरण का आत्मा में अध्यास हो जाने से अहंकार और आत्मा ये भिन्न दो धर्मी कहाँ है कि दो कर्तृत्व के भान का प्रसंग उत्पन्न होता है। अन्तःकरण की अध्यस्त रूप से अन्यत्र स्थिति उपपन्न नहीं होती है एवं कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मयुक्त अन्तःकरण का आत्मा में अध्यास होने से अन्यथाख्याति की भी प्रसक्ति नहीं है। अन्यथाख्याति में अन्यत्र बाजार आदि में सत्य रजत की उपलब्धि है। शुक्ति खण्ड में यह रजत है (शुक्तौ इदं रजतम्) इस भ्रम स्थल में सत्य रजत के संसर्ग मात्र का ही आरोप है। प्रकृत में कर्तृत्वादिधर्म विशिष्ट अहंकार का आरोप मानते हैं। केवल संसर्ग का आरोप नहीं है और न सत्य रजत के समान अन्यत्र कर्तृत्वादिविशिष्ट अहंकार की उपलब्धि है कि जिसके संसर्ग मात्र के आरोप से कार्य की उपपत्ति है, अतः अन्यथाख्याति नहीं है। अथवा अहंकारनिष्ठ सत्य कर्तृत्व और आत्मनिष्ठ मिथ्या कर्तृत्व इस प्रकार भिन्न कर्तृत्वद्वय के रहने पर भी प्रकृत में दो कर्तृत्व की प्रतीति नहीं होगी। भिन्न सत्य और मिथ्या धर्मद्वय होने पर भी अहंकार और आत्मा के धर्मी तो दो नहीं हैं। अध्यास के बाद अहंकार और आत्मा एक धर्मी के रूप में प्रतीत होते हैं। अतः दो कर्तृत्व रूप की प्रतीति धर्मी एक होने पर कैसे सम्भव है[1]।

आशय यह है कि प्रकृत में धर्म और धर्मी (कर्तृत्वादि-धर्म-विशिष्ट अहंकार का इन दोनों का अध्यास (प्रतिबिम्ब) स्वीकार करने पर स्फटिक यह दृष्टान्त की उपपत्ति सम्भव नहीं होगी, क्योंकि वहाँ लौहित्य रूप धर्ममात्र का ही प्रतिबिम्बत्व है पुष्परूप धर्मी का प्रतिबिम्बत्व नहीं है, अतः यह विषम दृष्टान्त होगा। किसी वस्तु के सन्निधान से किसी दूसरी निर्मल वस्तु में मिथ्या धर्म का अवभास होता है इसी अंश में यह दृष्टान्त है। प्रकृत में अन्तःकरण के सन्निधान से आत्मा में मिथ्याभूत कर्तृत्वादि धर्म का अवभास है जैसे जवाकुसुम के सन्निधान से स्फटिक में लौहित्य का अवभास होता है। अन्य सन्निधान में अन्य में मिथ्या धर्म

१ कर्तृत्वद्वयोऽपि धर्मिणोरेकत्वापत्त्या धर्मभेदावभास इत्यविरोधः।
वि०, पृ० १३६

का अवभास होता है इतने अंश में ही यह दृष्टान्त है। विवरण में ऐसे स्थलों में प्रतिबिम्बत्व से भी यही तात्पर्य विवक्षित है। अन्यथा यह उपपन्न नहीं हो सकता है। अतः प्रतिबिम्बत्व से तात्पर्य अन्य के सन्निधान से अन्य में मिथ्या धर्म का का अवभास होता है[1]। इस प्रकार स्फटिक दृष्टान्त से कर्तृत्वादि आत्मा में मिथ्या है यह सिद्ध होता है और दर्पण के दृष्टान्त से जीव और ब्रह्म का विभाग औपाधिक है यह सिद्ध होता है।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद

इस प्रकार स्फटिक के दृष्टान्त से आत्मा में कर्तृत्वादि की प्रतीति स्फटिक के लौहित्य के समान मिथ्या होने पर भी जीव और ब्रह्म की एकता की सिद्धि नहीं होती है। ब्रह्म की बिम्बरूपता तथा जीव की प्रतिबिम्बरूपता स्वीकार करने पर जीव और ब्रह्म के एकत्व की प्रतिपादक अनेक श्रुतिओं का बाध होगा। तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि श्रुतियों के अर्थ विश्लेषण से जीव और ब्रह्म के अभेद में ही श्रुति का तात्पर्य गृहीत होता है। तत्त्वमसि इस वाक्य का उपनिषद् में नवधा अभ्यास देखा गया है। छान्दोग्यपनिषद् के छठे प्रपाठक में—हे सौम्य यह पूर्व में सद्रूप था[2] एक ही था द्वितीय से रहित था इससे उपक्रम कर यह सब जो कुछ है वह आत्मरूप है। हे सौम्य जैसे एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से सभी मृन्मय वस्तु का ज्ञान हो जाता है शब्द के आरम्भ से कृद्विकार जितने भी हैं नामधेयमात्र है; सत्य मृत्तिका ही है अर्थात् मृत्तिका एक रूप से सर्वत्र अनुस्यूत है[3]। वह सद्रूप है और वही तुम हो[3] इस वाक्य से उपसंहार किया है। वह तुम ही हो इसका नववार अभ्यास किया है। जीव और ब्रह्मैकत्व-प्रतिपादन अन्य प्रमाण से अधिगत नहीं है; अतः यह अपूर्व है। प्रमाणान्तर से अनधिगत होने से इसकी अपूर्वता सिद्ध ही है। आचार्य से युक्त पुरुष ही जानता है तबतक ही वह रहता है जबतक मुक्त नहीं होता है[4]।

---

१ (क) स्फटिकमणावुपधानोपराग इव चिदात्मन्यहंकारोपरागः। पं० पा०, पृ० ३३५
(ख) अन्यसन्निधानादन्यस्मिन् मिथ्याधर्मावभासः वि०, पृ० ३३६
२ सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छा०, उ० ६।२।१
३ ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसीति। छा०, ६।७।७
४ आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये न संपत्स्ये। छा०, ६।१४।२

जिससे अश्रुत श्रुत होता है। यह अर्थवाद[1] उपपत्ति प्रदर्शक वाक्य भी है। सौम्य एक मृत्पिण्ड से सभी मृन्मय का ज्ञान हो जाता है। वाणी मूलक ही विकार है जो नामधेय मात्र है मृत्तिका यही सत्य[2] है इत्यादि।

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् का भी तात्पर्य जीव और ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादन अर्थात अद्वितीय आत्मतत्त्व प्रबोधन में ही है। इस उपनिषद् में भी सबके लिए प्रिय नहीं होता है, वरन् अपने लिए सभी प्रिय होता है आत्मा का ज्ञान श्रवण मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिए[3]। इससे आत्मा का उपक्रम कर विज्ञाता को किससे जाना जाय[4] इस वाक्य के द्वारा उसी आत्मा का उपसंहार किया है। आत्मा के ज्ञान श्रवण मनन विज्ञान होने पर सभी वस्तु का ज्ञान हो जाता है[5], यह आत्मा अनुच्छिद्यमान धर्मवाला है, सब कुछ छोड़ देता है जो आत्मा से अन्य में सबकुछ समझता है[6]; इन वाक्यों से सभी आत्मा का पुनः पुनः कीर्तन रूप अभ्यास है।

किसी अन्य प्रमाण से अधिगत न होने से अपूर्वत्व सर्वथा प्रसिद्ध ही है। जहाँ सब आत्मरूप ही हो जाता है[7] इसके द्वारा सर्वात्मभाव लक्षणरूप फल कठिन है यही अतिशय सुख है, यह अर्थवाद वाक्य है जैसे दुन्दुभि के आघात से इत्यादि उपपत्ति वाक्य है[8]। इस प्रकार तात्पर्यधारक छ लिंगों से वेदान्त वाक्यों

---

१ येनाश्रुतं श्रुतं भवति। छा० ६।१।४

२ यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं भवति वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छा० ६।१।४

३ न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च बृ० ४।५।६

४ विज्ञातरमरे केन विजानीयात्। बृ० ४।५।६

५ आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् बृ० ४।५।६

६ सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद

७ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्। बृ० ४।५।६

८ यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्येत्यादि। बृ० ४।५।८

का जीव ब्रह्म के एकत्व प्रतिपादन में तात्पर्य निश्चित होता है। इस प्रकार उपनिषद् के वाक्यों के पर्यालोचन से एकत्व में ही तात्पर्य सिद्ध होता है, किन्तु जीव और ब्रह्म का विवरण-सम्मत बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव स्वीकार करने पर दोनों में भेद सिद्ध होने लगेगा। भेद मानने पर उपनिषद् का विरोध सिद्ध होता है, इसीलिए व्यवहार में भेद होने पर ही चैत्र और उसकी छाया यह प्रयोग सम्भव है। अन्यथा अभेद में बिम्ब और प्रतिबिम्ब होने पर षष्ठी का प्रयोग नहीं होगा। इसलिए बिम्ब और प्रतिबिम्ब में एकत्व स्वीकार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि चैत्र और उसका प्रतिबिम्ब भिन्न है। दर्पण पास में स्थित व्यक्ति बिम्ब-प्रतिबिम्ब में इसी प्रकार भेद ग्रहण करता है। इस के भेद की अनुभूति के आधार पर ही चैत्र और उसके प्रतिबिम्ब का भेद ही सिद्ध नहीं है वरन् युक्ति अर्थात् अनुमान से भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद ही सिद्ध होता है। प्रतिबिम्बं बिम्बाद् भिन्नम् प्रत्यङ्मुखत्वादिविरुद्धधर्मत्वाद्, इस अनुमान से चैत्र के प्रतिबिम्ब में विपरीत मुखत्वभंग की उपलब्धि होने से भेद का अनुमान होगा। जिस व्यक्ति का प्रतिबिम्ब रहता है वह व्यक्ति पूर्व की ओर मुख किये रहता है तब उसका प्रतिबिम्ब पश्चिम की ओर मुख किये रहता है अर्थात पूर्वोन्मुख व्यक्ति का पश्चिमोन्मुखमुख रहता है। फलतः दर्पण में मुख की छाया इस अनुभव के आधार पर छाया भिन्न ही द्रव्य है या ग्रीवास्थ मुख से अन्य ही प्रतिबिम्ब रूप मुख है इस प्रकार विपरीत दिशोन्मुखमुखत्वादि के द्वारा भेद की प्रतीति होने से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में एकत्व स्वीकार कैसे हो सकता है?[1] इस तरह बिम्ब भिन्न वस्तुरूप प्रतिबिम्ब के होने से यह वही है यह ज्ञान नहीं हो सकता है। सर्वथा अभेद मानने पर प्रतिबिम्ब कुछ है या नहीं यह स्वीकार करने पर भी यह वही है यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकता है।

जैसे वस्तुओं में भेद होनेपर प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकता है वैसे ही अभेद में भी एकत्व के अभिज्ञान न होने से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद निश्चय नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म में बिम्बरूपता और जीव में प्रतिबिम्बरूपता स्वीकार करने पर तत्त्वमसि आदि के द्वारा जो अभेद निश्चय होता है उसका बाध होगा। आपाततः भेद की प्रतीति युक्तिपूर्वक विश्लेषण के आधार पर प्रत्यक्ष के

---

१ प्रत्यङ्मुखताभेदावभासाभ्यां वस्त्वन्तरे बिम्बात् प्रतिबिम्बे प्रत्यक्षे कथमेकत्वं प्रमाण्यमन्तरेण तदेव तत। वृ०, पृ० ३।३।८

द्वारा बिम्ब और प्रतिबिम्ब में एकत्व की सिद्धि होती है। प्रसिद्ध जो छाया है उसमें वस्त्वन्तर की सिद्धि होने पर भी दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब रूप मुख वस्त्वन्तर नहीं है। क्योंकि वस्त्वन्तर मानने पर दर्पण में मुख है यह अनुभव नहीं होगा। दूसरी बात यह भी है कि मेरा ही मुख दर्पण में है (ममैव मुखम्) यह प्रतीति होने से मुखत्व का सम्बन्ध जिस प्रकार ग्रीवास्थ मुख में है उसी प्रकार दर्पणस्थ मुख में भी हो रहा है। अतः ग्रीवास्थ मुख के साथ उस मुख की अभेदानुभूति होती है। जैसे स्वरूप का अपरिज्ञान रहने पर भेद के भ्रम से युक्त व्यक्ति को भी बाहर में स्थित चैत्र जिस स्वरूप में उपलब्ध होता है अर्थात् अवस्था परिमाण आदि से युक्त है गृह में स्थित चैत्र को भी उसी अवस्था परिमाण आदि से युक्त देखकर यह वही है यह बुद्धि होती है, उसी प्रकार ग्रीवा में स्थित मुख को जिस रूप में देखता है दर्पण में स्थित मुख भी उसी रूप में देखता है। अतः यह वही मुख है इस ऐक्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार पूर्वोक्त विश्लेषण से अभेद की अनुभूति होने से अन्य मुख नहीं है एक ही मुख व्यक्ति है यह ज्ञान होता है[1]।

यह शंका होती है कि यहाँ भेद की भी मुख में प्रतीति होती है और यह वही मुख है मुखान्तर नहीं है इस अभेद की भी प्रतीति हो रही है दोनों ही प्रतीति-पारमार्थिक है। एक मिथ्या प्रतीति और दूसरी पारमार्थिक ऐसी बात नहीं है एक सत्य और दूसरा मिथ्या रहता तब मिथ्याभूत भेद ज्ञान का पारमार्थिक अभेद ज्ञान से बाध हो जाता, किन्तु यहाँ दोनों ही पारमार्थिक है। दूसरी बात यह है कि दर्पणस्थ मुख है; इस ज्ञान के लिए केवल नेत्र और दर्पणस्थ मुख के संयोग की अपेक्षा है। यह वही मुख है इस ज्ञान के लिए पूर्वानुभूत मुख का संस्कार एवं उस संस्कार को उद्बुद्ध करनेवाली सामग्री की अपेक्षा है। फलतः प्रत्यभिज्ञा अभिज्ञा ज्ञान के बाद उत्पन्न होती है। शीघ्र उत्पन्न होने वाले पूर्व अभिज्ञा-ज्ञान से दुर्बल यह वही मुख है इस प्रत्यभिज्ञा ज्ञान का ही बाध होगा। पूर्व में

१ (क) ——यथा बहिः स्थितो देवदत्तो यत्स्वलक्षणः प्रतिपन्नः, तत्स्वलक्षण एव वेश्मान्तः प्रविष्टोऽपि प्रतीयते, तथा दर्पणतलस्थितोऽपि, न तद् वस्त्वन्तरत्वे युज्यते। प्र० पा०, पृ० ३३९

(ख) वि०; पृ० ३३९

उत्पन्न अभिज्ञा ज्ञान यदि मिथ्या होता तब तो निश्चित ही बाद में अभेदात्मक पारमार्थिक अभेद ज्ञान से उसका बाध हो जाता है। जैसे पूर्वोत्पन्न शुक्ति में रजत का ज्ञान बाद में उत्पन्न पारमार्थिक यह रजत नहीं है इस ज्ञान से बधित होता है वैसे प्रकृत में दोनों ही ज्ञान जब प्रामाणिक है तब अभिज्ञा ज्ञान में जो भेद का भाव होता है उसका प्रत्यभिज्ञा ज्ञान में अभेद का भान होने से बाध हो जायेगा; इसमें कोई हेतु समझ में नहीं आता है। प्रत्युत न्यून सामग्री से उत्पन्न अभिज्ञा ज्ञान को बलवान् मानना ही उचित है। अन्य दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञा की अपेक्षा अभिज्ञा ही बलवती सिद्ध होती है। अभिज्ञा में छायात्व प्राङ्मुखत्व दर्पणस्थत्व ग्रीवास्थत्व इन चार भेदों की अनुभूति है और अपने छायाभूत शिर में मेरा शिर है इस अनुभव के समान मुखत्व का दर्पणस्थ मुख में संसर्ग और ग्रीवास्थ मुख के साथ अभेद इन दो की अनुभूतियाँ प्रत्यभिज्ञा में है एवं अभिज्ञा प्रत्यभिज्ञा की उपजीव्यभूत है क्योंकि पूर्व प्रदर्शित प्रकार से अभिज्ञा के बाद उसका संस्कार पुनः उद्बोधक की अपेक्षा करता है अतः विलम्ब से प्रत्यभिज्ञा होती है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा से अभिज्ञा ही बलवती है क्योंकि अभिज्ञा का बाध मानने पर पूर्वोक्त चार अनुभवों के प्रामाण्य का बाध मानना पड़ेगा और प्रत्यभिज्ञा का अभिज्ञा से बाध मानने पर अनुभवों के प्रामाण्य का ही बाध स्वीकार करना होगा। अतः चार अनुभवों के प्रामाण्य के बाधकी अपेक्षा दो अनुभवों के प्रामाण्य का बाध ही समुचित है जबकि अन्य अनेक कारणों से भी अभिज्ञा बलवती सिद्ध है[१]।

पूर्वोक्त संशय के समाधान में अर्थात् अभिज्ञा में जो भेद का प्रतिभास है उसका प्रत्यभिज्ञा में कैसे बाध होता है, इस प्रसंग में आचार्यों ने कहा है कि प्रत्यभिज्ञा का अभिज्ञा के द्वारा बाध मानने पर भी चार प्रकार के प्रामाण्य का बाध मानना पड़ेगा क्योंकि दर्पण में ग्रीवा में स्थित मुख का ही अनुभव हो रहा है, अतः मुखत्व का संसर्ग ग्रीवास्थ वैशिष्ट्य ग्रीवास्थमुख का अभेद और दर्पणस्थत्व

---

१ (क) ननु अभिज्ञायां भेदप्रतिभासः कथं प्रत्यभिज्ञया बाध्यत इति

वि०, पृ० ३३८

(ख) ननु छायात्वं प्राङ्मुखत्वं प्रत्यभिज्ञतस्तदुपजीव्याभिज्ञा च बलवतीति—

भा० प्र०, पृ० २७८

का अभाव इन चार प्रामाण्यों का बाध प्रकृत में भी समान है। अर्थात— दर्पण में स्थित मुख भी ग्रीवा में स्थित मुख ही है यह अनुभूत होता है, अन्य मुख दर्पण में है यह ज्ञान किसी को भी नहीं होता है। ग्रीवास्थ मुख से भिन्न मुख की अनुभूति न होने पर मुखत्व का संसर्ग जिस प्रकार ग्रीवास्थ मुख में है उसी प्रकार दर्पणस्थ मुख में भी है, क्योंकि मुख से भिन्न वस्तु तो दर्पणस्थ मुख नहीं है फलतः मुखत्व का सम्बन्ध ऐक्य के लिए अवश्य ही मानना होगा। इसी तरह दर्पणस्थ एक मुख में भी ग्रीवास्थत्व वैशिष्ट्य भी मानना हो पड़ेगा अन्यथा तो वस्त्वन्तर की सिद्धि होगी एवं ग्रीवास्थ मुख के साथ दर्पणस्थ मुख का अभेद भी मानना होगा अथवा यह वही मुख है यह अवभास दर्पणस्थ मुख देखने पर नहीं होगा। ग्रीवास्थ मुख के साथ अभेद प्रतिभान होने पर फलतः यह सिद्ध होता है कि मुख में दर्पणस्थत्व का अभाव है। अतः इन चार प्रमाणों का बाध, अभिज्ञा के द्वारा सिद्ध भेद के अवभासन को प्रमाणिक मानने पर मानना हो पड़ेगा, दूसरी बात यह भी है कि आपने जो अभिज्ञा को प्रत्यभिज्ञा का उपजीव्य समझा था यह बात भी नही है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में यह वही है इसके द्वारा अभेद की प्रतीति होती है। अतः भेद आदि पूर्वोक्त चार अनुभव कालीन अभिज्ञा प्रत्यभिज्ञा की उपजीव्य ही नहीं हो सकती है। अतः प्रकृत में उपजीव्य का विरोध भी नहीं है प्रत्युत ग्रीवास्थ ही मुख है यह अनुभव होता है[1]।

बाध्यबाधकभाव में अनेक प्रकार के सिद्धान्त की उपलब्धि होती है। वैयाकरणों के यहाँ तुल्यबल-विरोध में परवर्ती में बाधकता और पूर्ववर्ती में बाध्यता स्वीकार की है किन्तु अभीष्ट सिद्धि न होने पर शब्दों को इष्टवाची मानकर पूर्व की भी बलवत्ता स्वीकार की है। किन्तु यह सिद्धान्त सूत्र क्रम के पूर्व और परत्व पर आधारित होने से प्रकृत में उपयोगी नहीं है।

मीमांसा में श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षाद् (३।३।१४। जै० सू०) के आधार पर श्रुति ज्ञान की अपेक्षा लिंग ज्ञान की इसी क्रम से पूर्व ज्ञान की अपेक्षा पर की दुर्बलता का बोधन होता है किन्तु एकमात्र

---

१ (क) पं० पा०, पृ० ३३८

(ख) भा० प्र०, पृ० २७९

यही सिद्धान्त मीमांसा में उपलब्ध नहीं है। इसके विरुद्ध सिद्धान्त की भी उप लब्धि है जिनके आधार पर पूर्व और पर में दुर्बल एवं सबल भाव होता है।

प्रकृति के समान पौर्वापर्य पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवद् (६ ५।५४) इस सूत्र के आधार पर पूर्व की दुर्बलता का भी बोधन हो रहा है। अब इसका निर्णय आवश्यक हो गया है। अतः इस विश्लेषण के परिहार के लिए श्लोकवार्तिक में कुमारिल ने योगदर्शन की तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति ने विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपमप्रतिष्ठम् इस सूत्र की व्याख्या में आचार्यों ने कहा है कि पूर्व और पर दो ज्ञान जहाँ पर उत्पन्न होते हैं परस्पर उभय ज्ञान के विरोध रहने पर किस ज्ञान में बाध्यता रहेगी। इस शंका के समाधान में कुमारिल ने कहा है कि जहाँ पर परस्पर निरपेक्ष होकर दोनों उत्पन्न होते हैं। एक ज्ञान की उत्पत्ति में दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं रहती है वहाँ परवर्ती ज्ञान बलवान् रहता है। पूर्व ज्ञान की उत्पत्ति की सामग्री भिन्न है वहाँ पर पूर्व के बाधन के बिना पर का उदय सम्भव ही नहीं है क्योंकि पूर्वज्ञान पर से पूर्व ही उत्पन्न होता है। उस समय पर ज्ञान तो है ही नहीं; जिसका बाधन उसमें सम्भव हो, अतः जहाँ पूर्व बाधन कर पर की उत्पत्ति होती है वहाँ पूर्व दुर्बल है और पर प्रबल होता है क्योंकि पूर्व के बाधन के बिना पर की उत्पत्ति सम्भव नही है[1]।

पूर्वोक्त कथन से अभेद मानने पर जिस प्रकार चार प्रकार के अनुभव का बाध है; उसी प्रकार उभय में भेद मानने पर भी चार प्रकार के अनुभव का बाध है; अतः अतिरिक्त प्रमाण न होने के कारण प्रतिबिम्ब में ग्रीवास्थमुख का अभिन्नत्व किस तरह सिद्ध हो सकता है? क्योंकि चार प्रकार के अनुभव की समानता होने से ही तुल्य बल होता है। तुल्यबल न होने से एक का अन्य से बाध सम्भव नहीं है क्योंकि दुर्बल का सबल से बाधन यही अनुभव सिद्ध है। अतः ग्रीवास्थ मुख में उसका अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है, क्योंकि अभेद मानने पर अनुभूत चार प्रकार के प्रमाण का बाध सिद्ध होता है। भेद मानने पर अभेद पक्ष समर्थन के लिए अनुकूल चार प्रतीतियों का बाध है साथ ही प्रतिबिम्ब में अनुभूत केशत्व नासिकात्व आदि

---

१ नोत्तरेणोपजातविरोधिना ज्ञानेन पूर्वं बाधनीयमपि तु पूर्वेणैव प्रथममुपजातेनानुपजातविरोधिना परम्। यत्र पूर्वापेक्षा परोत्पत्तिस्तत्रैवम्। तस्मादनुपजातविरोधिता बाध्यत्वे हेतुरुपजातविरोधिना च बाधकत्वे। त० वै०, पृ० ३३-४४

के आकार की स्थिति सम्भव नहीं है साथ ही मुखत्व आदि धर्म के आश्रयभूत एक धर्मी की भी कल्पना करनी पड़ेगी यहाँ भी गौरव है। अभेद पक्ष में केशत्व नासिकत्व आदि के आकार की प्रतीति का अप्रमाण्य नहीं है; क्योंकि ग्रीवास्थ मुख के साथ अभेद होने के कारण इस आकार की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा नहीं है; एवं किसी अतिरिक्त धर्मी के स्वीकार की आवश्यकता नहीं होती है। अन्य बात यह भी है कि छाया व्यक्त्यन्तर है अथवा प्रतिबिम्ब मुखान्तर है इस सिद्धान्त में भी वास्तविक प्रामाण्य नहीं हो सकता है। क्योंकि कठिन द्रव्य के अन्तर्गत भी अन्यवस्तु नहीं हो सकती है; दर्पण के अन्दर मुख है ऐसी बात नहीं है वरन् दर्पण के ऊपर ही मुख है। पूर्वमुखत्व आदि में भेद की अनुभूति के समान दर्पण के अन्दर मुख है इस अनुभव का भी दर्पण के रहने तक बाधन नहीं हो सकता है। इसी प्रकार दूसरी आपत्ति यह भी है कि बहुत दूर में स्थित व्यवहित जो आकाश नक्षत्रादि है उसके प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति एवं ज्ञान का कोई कारण नहीं है, अतः प्रतिबिम्ब ज्ञान में प्रामाण्य नहीं हो सकता है। सन्निहित और अव्यवहित का ही प्रतिबिम्ब होता है बहुत दूर में स्थित वस्तु का एवं व्यवहित वस्तु का प्रतिबिम्ब नहीं होता है। अतः पूर्वोक्त भेदज्ञान की स्थिति ही भेद आदि के मत में प्रतिबिम्बोक्तयुक्तियाँ ज्ञान में प्रमाण है और वह अभेद वादियों के मत में समान है। स्पष्ट दांत एवं केशादि से युक्त प्रतिबिम्ब का अनुभव होता है एवं छाया विरोधी आलोक में भी रहने के कारण प्रतिबिम्ब को छाया रूप नहीं मान सकते हैं। प्रसिद्ध छाया से विलक्षण प्रतिबिम्ब में छायात्व का व्यवहार छाया के समान ही प्रतिबिम्ब बिम्ब की चेष्टा के अनुरूप चेष्टाविधान मात्र से सादृश के कारण गौण प्रयोग है। जैसे शौर्यादि गुणों के कारण मानव में सिंह शब्द का गौण प्रयोग होता है। अतः प्रतिबिम्ब मुख भी ग्रीवास्थ ही है दर्पणस्थ नहीं है अथवा छाया वस्त्वन्तर नहीं है यही स्वीकार करना होगा यदि छाया और प्रतिबिम्ब की एकता स्वीकार करते हैं। इसी आशा को अभिव्यक्ति विवरण मे इन शब्दों से की है ऐक्य भेदावभासन इन दो में एक की अप्रामाणिकता स्वीकार करने पर भी भेदप्रतिभास ही अप्रमाणिक है और ऐक्य प्रामाणिक है ऐक्य और भेदावभासन होने पर यह किसका किससे बोध होगा यह संशय होने पर बिम्ब और प्रतिबिम्ब में व्यक्तिभेद ही युक्तिरहित होने से बाधित होता है। स्वच्छताम्र आदि में मुख की छाया मात्र की ही प्रतीति होती है। अतः उस छायामात्र प्रतीति में यह वही मुख है इस प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति

नहीं हो सकती है, क्योंकि वह यही मुख है इस प्रत्यभिज्ञा के लिए संस्थान विशेष की प्रतीति अपेक्षित है। अतः ग्रीवास्थ मुख जिसरूप में प्रतीत होता है छाया में भी वैसी ही है यह प्रतीति अपेक्षित है। सर्वत्र इस तरह की प्रतीति न होने पर भी निर्मल दर्पण आदि में ही संस्थान विशेष की प्रतीति होने के कारण प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि होती है। चैत्र का प्रतिबिम्ब देखा है चैत्र को नहीं देखा है। वरन् चैत्र का प्रतिबिम्ब देखकर चैत्र का अनुमान किया इस प्रकार व्यवहार होने से बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद की ही सिद्धि होती है, क्योंकि ऐक्य पक्ष में चैत्र को नहीं देखा इस व्यवहार का विरोध है। अतः यह वही है यह पूर्वोक्त व्यवहार के अभेद ज्ञान न होने से ही उपपन्न होता है ऐसी बात नहीं है। वस्तुतः बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद ज्ञान रहने पर भी दर्पण रूप उपाधि से अविच्छिन्न चैत्र को देखा है अनवच्छिन्न का अनुमान किया है; इस प्रतीति में कोई विरोध नहीं है जैसे शरद् गंगा के द्वारा वर्षा ऋतु की गंगा का अनुमान होता है।

यदि प्रतिबिम्ब में यह वही मुख है इस प्रत्यभिज्ञा की प्रतीति मानेंगे; तब बिम्ब और प्रतिबिम्ब में अभेद स्वीकार करने पर प्रतिबिम्ब में विपरीत दिशा की ओर मुख देखकर अपने मुख में भी उसी दिशा की ओर मेरा मुख है यह प्रतीति होने लगेगी एवं लड़का को अपने प्रतिबिम्ब में दूसरे बालक का भ्रम भी नहीं होगा, किन्तु इस तरह के भ्रम की अनुभूति का अपलाप नहीं किया जा सकता है। बालक को अपने मुख का ज्ञान न होने के कारण ही दूसरे होने का भ्रम होता है। इसीलिए कभी कभी प्रतिबिम्ब में मेरा ही मुख है यह ज्ञान और व्यवहार भी होता है।

कथंचित् बिम्ब और प्रतिबिम्ब का भेद मान भी लिया जाय तब भी सन्निहित जो मुखादि है उसके प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति में कारण का निर्देश नहीं कर सकते हैं जानुपरिमाण मात्र जल में बहुत दूर स्थित अभ्रआदि के प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति के भी कारण-निरूपण की कथा ही दूर है।

यदि यह कहा जाय कि प्रतिबिम्बरूप व्यक्त्यन्तर की उत्पत्ति न होने पर भी दर्पण का ही मुख के आकार में परिमाण है, यह मानने से तो व्यक्त्यन्तर रूप प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति हो सकती है। अतः भेद मानने पर प्रतिबिम्ब की अनुत्पत्तिरूप दोष नहीं है। दर्पण का प्रतिबिम्ब रूप मुखव्यक्त्यन्तर के आकार में परिणाम मानने पर दर्पण की जगह पर मुख की ही उपलब्धि होगी, क्योंकि मुखाकार परिणाम

मानने पर दर्पण व्यापी मुख की उपलब्धि होगी परिणाम का अर्थ ही होता है दर्पण का तत्त्वतः मुख के रूप में अन्यथा भाव होना, फलतः दर्पण की उपलब्धि नहीं होगी। किन्तु मुखाकार परिणति होने पर भी दर्पण स्वरूपतः उपलब्ध होता ही रहता है।

यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण दर्पण का परिणाम मुखाकार रूप में नहीं वरन् दर्पण के अवयव का ही तदाकार परिणाम है अतः दर्पणव्यापी कार्य की आशंका नहीं है।

आदर्श के परिणाम से प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति सिद्ध करने पर बिम्ब को उस आदर्श के परिणाम के प्रति निमित्त कारण स्वीकार करना होगा ऐसी स्थिति में उस निमित्त कारण के समवधान में आदर्श का जब प्रतिबिम्ब के रूप में परिणाम हो गया तब तो उसकी उपलब्धि, उस परिणाम के निमित्त कारणभूत बिम्ब के हट जाने पर भी, उस परिणत प्रतिबिम्ब के रूप में होनी चाहिए क्योंकि निमित्त कारण के हटने पर नैमित्तिक का नाश नहीं देखा गया है जैसे घट रूप कार्य के निमित्त कारण दण्ड निमित्त के समवधान में घट रूप कार्य की उत्पत्ति के बाद निमित्त कारणभूत दण्ड के नाश होने पर भी घट की उपलब्धि तो उस रूप में होती ही रहती है। फलतः कार्य की उत्पत्ति के बाद निमित्त कारण का समवधान उसकी स्थिति के लिए अकिंचित्कर है। किन्तु बिम्ब के असमवधान में आदर्श की प्रतिबिम्ब में स्थिति नहीं रहती है। इतना ही नहीं जिसका प्रतिबिम्ब रूप आदर्श का परिणाम है वही व्यक्ति यदि सामने से आदर्श को नहीं देखता है तब उसके प्रतिबिम्ब की उपलब्धि नहीं होती है साथ ही जिसके प्रतिबिम्ब के रूप में आदर्श का परिणाम हुआ है उससे भिन्न व्यक्ति उस पूर्व व्यक्ति के तिर्यक् निरीक्षण काल में सम्मुख से आदर्श को देखता है, तब उस इतर व्यक्ति का ही प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है पूर्व व्यक्ति का नहीं। इस प्रकार भिन्न भिन्न बिम्ब के सन्निधान में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब के रूप में परिणाम एक ही आदर्श का मानना पड़ेगा।

यदि यह कहा जाय कि बिम्ब रूप निमित्त कारण के समवधान में भिन्न-भिन्न परिणति में आपत्ति की क्या है? फिर भी निमित्त कारण के नाश के साथ उसका

नाश तो सिद्धान्त विरुद्ध ही है। निमित्त कारण के रहने पर भी नैमित्तिक की उपलब्धि होनी चाहिए[१]।

यदि यह कहा जाय कि निमित्त के विना नैमित्तिक कार्य की स्थिति में व्यभिचार देखा जाता है। कहीं-कहीं निमित्त कारण के हटने के साथ ही कार्य का भी नाश देखा गया जैसे वैशेषिकों की अपेक्षा बुद्धि। वैशेषिकों के सिद्धान्त में द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति में निमित्त कारण है अपेक्षा बुद्धि एकत्व को विषय कर जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह अपेक्षाबुद्धि कही जाती है। इसी अपेक्षा के द्वारा द्वित्व त्रित्व आदि बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जैसे यह एक यह एक यह दो। वैशेषिकों के सिद्धान्त में द्वित्व आदि संख्या की उत्पत्ति में निमित्त कारण अपेक्षा बुद्धि है। एकत्व को विषयकर जो बुद्धि उत्पन्न होती है वह अपेक्षा बुद्धि कही जाती है। इसी अपेक्षा बुद्धि के द्वारा द्वित्व त्रित्व आदि बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसी तरह यह एक यह एक यह एक ये तीन इस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि के द्वारा तीन ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः इन दो एवं तीन ज्ञानों की उत्पत्ति में पूर्वोक्त अपेक्षा बुद्धि निमित्त कारण है। इस पूर्वोक्त अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से द्वित्व एवं त्रित्व का नाश माना गया। अपेक्षा बुद्धि की क्रिया यह है कि इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर यह एक इस तरह अनेक धर्म से युक्त विशेष्यता-शाली और एकत्व धर्म से युक्त प्रकारताशाली (विशेषणक) प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि द्वित्व की उत्पत्ति स्थल में अनेक पदार्थ रहते हैं इदं शब्द से पदार्थ का ग्रहण होता है यह एक इस में यह विशेष्य है और एकत्व विशेषण है। अतः यहां पर व्यक्ति में स्थित इदन्त्व धर्म से युक्त विशेष्यता है। अनेक व्यक्ति होने से अनेक पदार्थ में स्थित अनेक धर्म से युक्त अनेक विशेष्यता से निरूपित एकत्व धर्म से युक्त प्रकारता-शाली प्रत्यक्ष है। इस अपेक्षा बुद्धि के द्वितीय क्षण में ये दो यह द्वित्व की उत्पत्ति होती है। इस द्वित्वादि संख्या के प्रति समवायि कारण जो अनेक द्रव्य उसमें समवाय सम्बन्ध से वर्तमान जो एकत्व वह असमवायि कारण है और अपेक्षा बुद्धि निमित्त कारण है। अतः इस द्वित्व आदि की अपेक्षा बुद्धि से

१ (क) पं० पा० पृ० ३३९

(ख) ननु व्यक्तिगतयोरैक्यं पूर्वोत्पन्नमुखदर्पणाभावात।

वि० पृ० ३३९

ही उत्पत्ति होती है। इसके बाद द्वित्व और द्वित्व उभय निष्ठ चतुर्थ विषयताशाली निर्विकल्पक ज्ञान होता है। दोनो निर्विकल्पक ज्ञान में द्वित्वत्व और द्वित्व दोनों ही स्वतन्त्र रूप से ज्ञात होते हैं यह तृतीय क्षण में होता है। इसके बाद द्वित्वत्व प्रकारक और द्वित्व विशेष्यक लौकिक प्रत्यक्ष और पूर्वोक्त अपेक्षा बुद्धि का नाश होता है इस अपेक्षा बुद्धि के नाश के बाद द्वित्व का नाश होता है—यह प्रक्रिया है। यद्यपि सामान्यतया ज्ञान दो क्षणमात्र अवस्थायी रहता है किन्तु अपेक्षात्मक ज्ञान को भी दो क्षण मात्र स्थायी मानने पर निर्विकल्पक ज्ञान के समय ही अपेक्षा बुद्धि का नाश हो जायेगा तब द्वित्व का प्रत्यक्ष ही नहीं होगा क्योंकि अपेक्षा बुद्धि के नाश होने से द्वित्व रूप कार्य के कारण का नाश हो जाने से द्वित्व रूप कार्य का चतुर्थक्षण में नाश ही प्रसक्त होगा। द्वित्व रूप कार्य के नाश हो जाने से सविकल्पक प्रत्यक्ष के विषयभूत द्वित्व का नाश हो जाने से सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होगा। प्रत्यक्ष के प्रति विषयविधया विषय की कारणता है क्योंकि विषय के रहने पर ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है यह सिद्धान्त है। अतः अपेक्षा बुद्धि को तीन क्षण स्थायी स्वीकार करते हैं और द्वित्व प्रत्यक्ष को ही अपेक्षा बुद्धि का नाशक मानते हैं। द्वित्व के नाश के प्रति अपेक्षा बुद्धि के नाश की कारणता स्वीकार क्यों करते हैं? अपेक्षा बुद्धि नाश की उत्पत्ति के इतर क्षण में द्वित्व का लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है। क्योंकि अपेक्षा बुद्धि प्रत्यक्ष के बाद होती है। अतः अपेक्षा बुद्धि नाश के बाद लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता है। फलतः द्वित्व नाश के प्रति अपेक्षा बुद्धि का नाश ही कारण है यह सिद्ध है। अपेक्षा बुद्धि द्वित्व की उत्पत्ति में असाधारण कारण है अतः अपेक्षा बुद्धि के नाश को द्वित्व नाश के प्रति कारण मानते हैं। द्रव्य नाश के प्रति असमवायि कारण का नाश ही निश्चित कारण है। अतः असाधारण निमित्त कारण रूप अपेक्षा बुद्धि के नाश में कारणता कल्पित करते हैं क्योंकि कारण नाश में कार्य नाश के प्रति हेतुता असमवायिकारण के दृष्टान्त से सिद्ध है। अतः कारण से अतिरिक्त को कार्यनाश प्रति हेतुता कल्पन में क्लृप्त सिद्धान्त का विरोध है।

अतः निमित्त कारण की कार्य नाश के प्रति हेतुता सिद्ध होने से बिम्ब रूप से निमित्त कारण को प्रतिबिम्ब नाश के प्रति हेतुता मानने पर किसी अपूर्व सिद्धान्त का कल्पन नहीं हो रहा है। इसलिए बिम्ब रूप निमित्त कारण के न रहने से प्रतिबिम्ब की उपलब्धि नहीं होती है इसमें कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार जो चटाई अनेक दिनों से संवेष्टित कर (समेटकर) रखी हुई है, उसके फैलाने का निमित्त कारण है हाथ का संयोग उस हाथ के संयोग के हट जाने से चटाई का फैलाव समाप्त हो जाता है और वह पुनः संकुचित हो जाती है। अतः प्रसारण का निमित्त कारण संयोग है। हटने से कार्य का नाश देखा जाता है इस अवस्था में निमित्त कारण के नाश से कार्य नाश की उत्पत्ति मानने में कोई दोष नहीं है।

इसी प्रकार द्रव द्रव्य की उत्पत्ति में अग्निसंयोग निमित्त कारण है। उस अग्निसंयोगरूप निमित्त कारण के हट जाने से द्रव्य की द्रवता रूप कार्य का विनाश देखा गया है। अतः अनेक स्थल में निमित्त कारण को कार्य नाश की उत्पत्ति का हेतु देखा गया है। अतः प्रकृत में भी ऐसा मानने पर किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

पूर्व प्रदर्शित दो उदाहरण उपयुक्त प्रतीत नहीं होते हैं। कारण, अग्निसंयोग को ताम्र की द्रवता का निमित्त कारण एवं कट के प्रसारण कार्य की उत्पत्ति में हस्त-संयोग को निमित्तकारण कहा है। किन्तु अग्निसंयोग की ताम्र द्रवता के प्रति असमवायिकारणता है निमित्तकारणता नहीं है इसी प्रकार हस्तसंयोग में कटप्रसारण के प्रति असमवायिकारणता है निमित्तकारणता नहीं है। अतः इन उदाहरणों से निमित्त कारण के नाश से कार्य नाश का कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है।

यदि यह कहा जाय कि निमित्त पद से भिन्न कारणमात्र का कथन है। अतः पूर्वोक्त उदाहरण में असमवायि कारण होने से भी कोई क्षति नहीं है। निमित्तपद से समवायिकारण भिन्न, यह अर्थ स्वीकार करने से प्रकृत उदाहरण को संगति होने पर भी निमित्त कारण के अन्तर्गत असमवायिकारण के संगृहीत होने से निमित्त-करण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है, इस सिद्धान्त का ही उच्छेद होगा। कारण तन्तु-संयोग आदि के नाश से पट का नाश होता है। किन्तु निमित्त पद से समवायि कारण भिन्न अर्थ ग्रहण करने से निमित्त के नाश से कार्य का नाश नहीं है— इस सिद्धान्त पक्ष में तन्तु-संयोग के नाश से पटनाश के निषेध की प्रसक्ति होगी।

दूसरी बात यह भी है कि द्रव द्रव्य की उत्पत्ति में कटविवरण रूप कार्य की उत्पत्ति में अग्निसंयोग एवं हस्तसंयोग निमित्त कारण ही है। कारण वैशेषिक मत

में कठिन द्रव्य से द्रुत द्रव्य भिन्न द्रव्य है। अतः उस भिन्न द्रव्य की उत्पत्ति में यह अग्नि संयोग निमित्त कारण ही है, असमवायिकारण नहीं। क्योंकि उस द्रव द्रव्य रूप भिन्न अवयवी द्रव्यरूप कार्य में उस द्रव्य का अवयवसंयोग असमवायिकारण है। इसी प्रकार प्रसारित कटरूपकार्य संवेष्टित कटरूप द्रव्य से भिन्न द्रव्य है। अतः पूर्वोक्त रूप से हस्तसंयोग उसका निमित्त कारण ही है असमवायिकारण नहीं। अस्तु, इस चर्चा से प्रकृत में लाभ नहीं है जब यह सिद्ध हो गया कि निमित्तकारण के नाश से कार्य का नाश होता है।

वस्तुतः निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है। पूर्वोक्त उदाहरणों की उत्पत्ति अन्यथा ही होती है। कट के संवेष्टन में चिरकाल तक कट को संवेष्टित करके रखने से सिद्ध जो संस्कार उस संस्कार से उत्पन्न जो प्रसरण, इस प्रसरण से विरुद्ध जो संवेष्टन, इसी विरुद्ध संवेष्टन कार्य के द्वारा प्रसारण कार्य का नाश होता है। निमित्तकारण के नाश होने से कार्य का नाश नहीं होता है। आशय यह है कि विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति अपने से विरुद्ध कार्य की नाशिका है। अनेक कारणों के समवधान में विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

पूर्वोक्त उदाहरण उपर्युक्त नहीं प्रतीत होते हैं क्योंकि अग्निसंयोग को ताम्र की द्रवता का निमित्त कारण एवं कट के प्रसारण कार्य की उत्पत्ति में हस्तसंयोग को निमित्तकारण कहा है, किन्तु अग्निसंयोग की ताम्र द्रवता के प्रति असमवायिकारणता है निमित्तकारणता नहीं है. इसी प्रकार हस्तसंयोग में कट प्रसारण के प्रति असमवायिकारणता है निमित्तकारणता नहीं है। अतः निमित्तकारण के नाश से कार्य नाश का कथन युक्ति संगत नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि निमित्त पद से यहाँ समवायिकारण से भिन्न का कथन है अतः असमवायिकारण होने से भी किसी प्रकार की क्षति नहीं है। इस प्रकार निमित्त पद का समवायिकारण भिन्न यह अर्थ स्वीकार कर असमवायिकारण को संगृहीत करने से निमित्त के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है इस कथन की ही अनुपपत्ति होगी। क्योंकि तन्तुसंयोग आदि के नाश से पट का नाश होता है अब निमित्त के अपाय से भी कार्य का नाश नहीं होता है इस सिद्धान्त पक्ष में तन्तु संयोग के नाश से पट नाश का निषेध प्रसक्त होगा।

द्रव द्रव्य की उत्पत्ति में एवं कट बिवरण रूप कार्य की उत्पत्ति में अग्नि संयोग एवं हस्तसंयोग निमित्त कारण है। क्योंकि वैशेषिक मत में कठिन द्रव्य से दुत द्रव्य भिन्न द्रव्य है अतः भिन्न द्रव्य की उत्पत्ति में यह अग्निसंयोग निमित्त कारण ही है असमवायिकारण नहीं है उस द्रव द्रव्य रूप भिन्न अवयवी द्रव्य रूप कार्य में उस द्रव्य का अवयव संयोग असमवायि कारण है। इसी प्रकार फैला हुआ कट रूप कार्य संवेष्टित कट से भिन्न द्रव्य है अतः पूर्वोक्त प्रकार से हस्त संयोग उसका निमित्त कारण ही है असमवायिकारण नहीं है।

अस्तु इस विश्लेषण से लाभ ही क्या है जब प्रकृत विश्लेषण से यह सिद्ध हो गया है कि निमित्त कारण के नाश से भी कार्य का नाश होता है।

निमित्त कारण के नाश से कार्य का नाश होता है यह सिद्धान्त भ्रममूलक है पारमार्थिक नहीं है।

वट के संवेष्टन में चिरकालतक संविष्टित कर कट को रखने के कारण सिद्ध जो संस्कार उस संस्कार में उत्पन्न जो प्रसरण उससे विरुद्ध जो संवेष्टन उसी विरुद्ध संवेष्टन कार्य के द्वारा प्रसारण कार्य का नाश होता है निमित्त के नाश होने से कार्य का नाश नहीं है किन्तु विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति अपने से विरुद्ध कार्य की नाशिका है। अनेक कारणों के समवधान में विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। संस्कार के द्वारा प्रसारण के विरुद्ध संवेष्टन रूप कार्य ही प्रसारण कार्य का बाधक है। उत्तर कार्य पूर्वकार्य के विनाश का हेतु होता है इसका निर्णय अन्वयव्यतिरेक के द्वारा सिद्ध है केवल यहीं पर देखने से यह कल्पना नहीं हो रही है जिसमें व्यभिचार की आशंका हो। क्योंकि अग्निसंयोग अन्य द्रव द्रव्य रूप कार्य की उत्पत्ति से विरुद्ध कठिन द्रव्य के उदय होने से ही द्रवता का विनाश होता है अन्यथा संवेष्टन संस्कार के न रहने के कारण संवेष्टन की उत्पत्ति न हो फिर भी निमित्त कारणभूत हस्तसंयोग के हट जाने मात्र से प्रसारण हट जाना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता है अतः विरुद्ध कार्य का उदय ही पूर्व कार्य का विनाशक है। निमित्त कारण का अपायकारण होता तो संस्कार के अभाव में संवेष्टन हो जाता।

द्वित्वरूप कार्योत्पत्ति के प्रति अपेक्षा बुद्धि रूप निमित्त कारण के अपाय से वैशेषिकों ने द्वित्व कार्य का अपाय स्वीकार किया है। वहाँ पर दो प्रकार का आश्रय

द्रव्य की उत्पत्ति के द्वारा द्वित्व की उत्पत्ति है इसीलिए आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के बाद ही द्वित्व की उत्पत्ति होती है द्वित्व उभय द्रव्य में व्याप्त भी रहता है। फलतः द्वित्व की उत्पत्ति में अपेक्षा बुद्धि की अपेक्षा नहीं है और न अपेक्षा बुद्धि के विनाश से विनाश ही होता है अपितु आश्रयभूत द्रव्य के नाश से द्वित्व का नाश भी विवक्षित है। वस्तु के साथ ही द्वित्व की स्थिति मानने पर समीप में तो एकत्व द्वय के आश्रयभूत द्रव्य की उत्पत्ति के अनन्तर भावी द्वित्व को स्वीकार करने पर भी व्यवहित देश में उत्पत्ति वस्तु में भी द्वित्व को प्रतीति देखी गई है तब वहां एकत्वद्वय के आश्रयभूत वस्तु सहभावी द्वित्व को कैसे मानेंगे क्योंकि व्यवहित देश में उत्पन्न वस्तुद्वय के सहभाव से वह द्वित्व नहीं है। अव्यवहित देश में एक के बाद अन्य द्रव्य की उत्पत्ति के साथ द्वित्व की उत्पत्ति मानी जा सकती है। व्यवहित देश में उत्पन्न वस्तु की द्वित्व के प्रति कारणता संभव ही नहीं है। पृथ्वी और आकाश इन भिन्न देश में स्थित वृक्ष और चन्द्र आदि में जैसे द्वित्व रहता है वैसे ही व्यवहित देश में वस्तुद्वय अवलोकन के साथ एकत्व के आश्रय के आधार में द्वित्व की उत्पत्ति उपपन्न हो सकती है। द्वित्व की उत्पत्ति के प्रति इस प्रकार अपेक्षा बुद्धि की कारणता का परिहार करने पर भी द्वित्व से आक्रान्त जो वस्तु है उसमें त्रित्व की उत्पत्ति कैसे होगी क्योंकि द्वित्व और त्रित्व में विरोध है फलतः द्वित्व के बाद एकत्व तीन के आश्रय होने पर भी द्वित्व की उत्पत्ति तो पूर्व में एकत्वद्वय द्रव्य की उत्पत्ति के साथ हो चुकी है, अतः त्रित्व की उत्पत्ति नहीं होगी। एक ही वस्तु में जैसे किसी की अपेक्षा ह्रस्वत्व और किसी की अपेक्षा दीर्घत्व रहता है उसी प्रकार द्वित्व और त्रित्व की एकत्र स्थिति में कोई विरोध नहीं है। अपेक्षा बुद्धि को द्वित्व की उत्पत्ति में कारण मानने पर द्वित्वत्व के निर्विकल्पक ज्ञान के बाद ही उसका विनाश हो जाने से विकल्प के ज्ञान न होने से ये दो (इमौ द्वौ) यह प्रत्यक्ष नहीं होगा एवं द्वित्व विशिष्ट बुद्धि धारा की परस्पर द्वित्व विषयत्व कल्पना करना पड़ेगा; यह भी गौरव है; अतः पूर्वोक्त वैशेषिक पक्ष ठीक नहीं है।

इस प्रकार निमित्त कारण के नाश की कार्य नाश के प्रति कारणता का खण्डन करने पर भी विपरीत कार्य की उत्पत्ति को तो पूर्व कार्य का विनाशक माना ही गया है, प्रकृत में भी दर्पण को समतल संस्थान पर चिरकाल तक स्थित रहने से बिम्ब के हटने से प्रतिबिम्ब का नाश नहीं अपितु उसके संस्कार से ही विरुद्ध कार्य के उदय

होने से प्रतिबिम्ब का नाश हो जाता है। किन्तु पूर्वोक्त समाधान युक्ति संगत नही है जो दर्पण अभी ही उत्पन्न हुआ है जिसमें चिरकाल समतल संस्थान अन्य संस्कार नहीं है उस दर्पण में चिरकाल तक बिम्ब रूप मुख के द्वारा मुखाकार परिणाम संस्कार रहने पर भी उसके संस्कार से कुछ देर भी प्रतिबिम्ब की स्थिति नहीं रहती हैं वरन् बिम्ब के हटने के साथ ही प्रतिबिम्ब का नाश हो जाता है। संस्कार के द्वारा स्थिति मानने पर बिम्ब की स्थिति रहनी चाहिए, लेकिन वैसा देखते नहीं है। अतः सर्वत्र विरुद्ध कार्य के उदयमात्र से प्रतिबिम्ब की निवृत्ति नहीं मान सकते हैं; उत्पन्न दर्पण में मुखाकार परिणति कहने पर समतल संस्कार का सर्वथा अभाव कथित है। यदि यह कहें कि कहीं कहीं विरद्ध कार्य के उदय से प्रतिबिम्ब की निवृत्ति होती है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रतिबिम्ब के नाश होने के निमित्त-भूत बिम्ब के न रहने पर भी कदाचित् उसकी उपलब्धि होनी चाहिए। अतः निमित्त के न रहने से ही प्रतिबिम्ब की कभी भी उपलब्धि नहीं होती है यही ठीक है।[1] पूर्वोक्त उदाहरण से अतिरिक्त स्थल में भी वैसा देखा जाता है जैसे वसन्त कालीन दिवस रात्रि की अपेक्षा दीर्घ होता है कमल विकास का निमित्त कारण सूर्य का तेज है। सूर्य तेज के हट जाने मात्र से ही कमल का विकास समाप्त हो जाता है और वह संकुचित हो जाता है।

यह कहा जाय कि वहाँ पर भी मुकुल के संस्कार से मुकुल भाव की प्राप्ति होने से ही विकास का नाश हो जाता, किरण के अपाय मात्र से विकास का अपाय नहीं होता है, अतः निमित्तकारण के नाश से कार्य का नाश नहीं होता है।

वसन्तकालीन दिवस में चिरकाल तक विकास की परिणति रहने से विकास परिणाम संस्कार का आधिक्य रहने पर भी संस्कारवशात् सूर्य किरण के न रहने पर विकास नहीं रहता वरन सूर्य किरण के अपाय के साथ विकास का भी अपाय हो जाता है। यहां पर चिरकाल तक विकास का भी संस्थान रहने पर संस्कार वश से उसके विकास को सूर्य किरण के बिना अवस्थित नहीं रख पाता है। अपितु

---

१ इहापि तर्हि पूर्वसंस्थानस्य चिरकालं संस्थानसंस्कारबलाद् विरुद्धकार्योदये प्रतिबिम्बापाय इति चेत्, न, उत्पन्नदर्पणमात्रे चिरकालावस्थितमुखपरिणामसंस्कारेऽपि बिम्बापायमात्रात् प्रतिबिम्बापगमदर्शनादि······ वि०, पृ० ३४०

सूर्य किरण रूप निमित्त कारण के अपाय होने से ही विकास का अपाय हो जाता है वैसे ही यहाँ भी चिरकाल तक दर्पण-अवस्थित प्रतिबिम्ब का अपाय भी बिम्ब के नाश के साथ ही हो जाता है। विकास के निमित्त कारण सूर्य किरण के अपाय से विकास का अपाय मुकुलीभाव की प्राप्ति मानने पर जीर्ण कमल की सूर्य किरण के नाश होने से मुकुलीभाव की प्राप्ति होगी; किन्तु वैसा नहीं होता है; अतः प्रथमतः मुकुल हेतुभूत पार्थिवका अवयव व्यापार ही मुकुलीभाव का कारण है, इसोलिए उसकी समाप्ति होने से जीर्ण पुष्प में मुकुलता नहीं आती। फलतः पार्थिव आदि अवयव-जन्य मुकुलता है निमित्त कारण के अपाय से जन्य नहीं है, अतः इस दृष्टान्त के आधार पर निमित्त रूप बिम्ब के नाश से प्रतिबिम्ब का नाश की कल्पना ठीक नहीं है। इस प्रकार विकास-विपरीत कार्य जनक व्यापार को मुकुलीभाव का साधक मानने पर प्रकृत में भी मुख प्रतिबिम्ब से विपरीत कार्य की उत्पत्ति देखने से विपरीत कार्य परिणाम के हेतु की कल्पना करे। मुकुल के समान आदर्श में पूर्व रूप परिणाम का हेतु नहीं है। मुकुलीभाव की उत्पत्ति से जैसे पूर्वरूप परिणाम हेतु को सद्भाव है। आदर्श की उत्पत्ति उसका निर्माता कारू (शिल्पी) के कर्म से जन्य आदर्श का जन्य होता है अतः आदर्श की उत्पत्ति में निश्चित कारण है कारू का कर्म उसके अभाव में प्रतिबिम्ब रूप मुख से विरुद्ध आदर्श तिल का जन्म नहीं हो सकता है[1]।

पूर्वोक्त विश्लेषण से निमित्त के नाश से नैमित्तिक कार्य का नाश नहीं होता है यह सिद्ध होने पर भी यह सार्वत्रिक नहीं है। क्योंकि कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें निमित्त के अपाय से नैमित्तिक का अपाय भी देखा गया है किसी विषय के ज्ञान में जिस विषय का ज्ञान होता है वह विषय उस ज्ञान का निमित्त होता है। जबतक उस ज्ञान का विषय रहता है तब तक उसका वृत्ति ज्ञान होता है। शुक्ति में रजत गोचर जो वृत्तिज्ञान है उस ज्ञान और रजत का इतर विषय का संचार होने पर नाश होता है रजताकार वृत्तिज्ञान तबतक ही रहता जबतक शुक्ति रूप विषयान्तर का संचार नहीं होता है अतः निमित्त के नाश से नैमित्तिक कार्य का नाश नहीं होता है ऐसी बात नहीं है।

---

१ (क) पं० पा०, पृ० ३४१
(ख) वि०, पृ० ३४१

पूर्व प्रसंग में निमित्त के नाश से द्रव्य का नाश होता है यह प्रसंग हैं उसका विश्लेषण चल रहा है कि निमित्त के नाश से भी द्रव्य का नाश नहीं होता है प्रकृत में वृत्ति का नाश कहा है वृत्ति तो द्रव्य नहीं है अतः द्रव्य रूप प्रतिबिम्ब के नाश में यह उदाहरण नहीं हो सकता है। घट विषयक वृत्ति ज्ञान में घटरूप संयोग का आश्रय ही वृत्ति ज्ञान हुआ। क्योंकि वृत्तिज्ञान का घट के साथ संयोग सम्बन्ध ही माना पड़ेगा क्योंकि वेदान्तिओं के यहां संयोग से इतर सम्बन्ध है नहीं और संयोग सम्बन्ध के स्वीकार में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। क्योंकि विवरण ग्रन्थ में वृत्ति से ससृष्ट घटादि चैतन्य का अवच्छेदक होता है यह स्वीकार किया है तादात्म्य सम्बन्ध को वृत्ति और घट के साथ स्वीकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि तादात्म्य स्वीकार करने से ज्ञान रूप घट होने पर बौद्धमत का प्रवेश होगा अगत्या संयोग ही आचार्य का अभिमत है यह मानना पड़ेगा : संयोग सम्बन्ध द्रव्य-द्रय में ही रहता है इतर में नहीं, अतः वृत्तिज्ञान को द्रव्य ही मानना पड़ेगा। इस-लिए द्रव्य का निमित्त के नाश से नाश होता है कि नहीं इसमें यह उदाहरण भी उचित ही है। ज्ञान का विषय के साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध स्वीकार करने से ही जब कार्य चल सकता है तब संयोग सम्बन्ध स्वीकार करने की क्या आवश्य-कता है ? घट केवल वृत्ति ज्ञान का विषय है एतावता प्रमातृ चैतन्य के साथ अभेद होने से घट से युक्त घटावच्छिन्न चैतन्य का अभिव्यंजक है। यह मानने पर अनु-मान के द्वारा जिन विषयों का ज्ञान होता है वहां भी अनुमेय विषय के साथ वृत्ति ज्ञान का चेतन्य के साथ विषयविषयिभाव सम्बन्ध होने से स्वावच्छिन्न चैतन्य का अभिव्यंजक होने लगेगा।

इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण का भी निमित्त के नाश से ही नाश होता है। तन्तुसंयोग आदि के नाश से पट का नाश होता है, वेदान्त सिद्धान्त में तन्तुसंयोग भी तो निमित्तकारण ही है, अतः निमित्तकारण के नाश से पट का नाश देखा गया है। इसी प्रकार काष्ठ और दीप ज्वाला और प्रभा में वैशेषिकों केयहाँभी निमित्त कारण के नाश से नाश होता है यह मानना पड़ेगा क्योंकि काष्ठ और दीप के नाश से ज्वाला और प्रभा का नाश होता है। वहाँ अब काष्ठ और दीप के नाश से ज्वाला और प्रभा के अवयवासंयोग का नाश होता है और उस नाश से ज्वाला और प्रभा का नाश विवक्षित है। इस उदाहरण से तो यह कल्पना करके भी कार्य हो सकता है कि तेजो द्रव्य से अतिरिक्त का निमित्त नाश के अधीन ही नाश नहीं होता है।

अदृष्ट सृष्टि का निमित्त कारण है अदृष्ट के नाश से प्रलय में सभी वस्तुओं का नाश स्वीकार करते हैं, अतः निमित्त के नाश से नैमित्तिक कार्य का नाश होता है। इसलिए बिम्बरूप निमित्त के नाश से प्रतिबिम्ब का नाश स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है।

पूर्व में द्रुतताम्रादि के उदाहरण में कठिन द्रव्य की उत्पत्ति से द्रवता का नाश होता है विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति पूर्व कार्य की नाशिका है, निमित्त कारण का अपाय कार्य का नाशक नहीं है। यह भी ठीक नहीं है। कारण ताम्र की द्रवता काल में द्रव्य का आरम्भक संयोग तो विरल रहता है। अतः कठिन द्रव्य की उत्पत्ति नहीं मान सकते हैं जिसके आधार पर विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति पूर्व उत्पन्न कार्य की विनाशिका है, इस सिद्धान्त को माना जाय। द्रवता की अवस्था में द्रव्यारम्भक विरल संयोग के नाश होने पर कठिन द्रव्य का आरम्भक संयोग का समवाय है। अतएव द्रुतद्रव्य का नाश है न कि विरुद्ध कठिन द्रव्य रूप कार्य की उत्पत्ति से उसका नाश है। तेज का ताम्र द्रव्य के साथ जो संयोग है उस संयोग के नाश होने से द्रुतावस्थापन्न द्रव्यारम्भक विरल संयोग का नाश होता है और उसके नाश से द्रुतताम्र द्रव्य का नाश है। निमित्त का नाश उसके नाश का प्रयोजक नहीं है। वेदान्त मत में ताम्रावयव संयोग रहने पर भी विरोधी तेज द्रव्य के संयोग के नाश होने पर ताम्र की काठिन्य अवस्था उत्पन्न होती है। अतः निमित्त के नाश से विरोधी कार्य की उत्पत्ति से द्रव्य का नाश नहीं है।

दूसरी बात यह भी है कि दर्पण को मुखाकार परिणत करने के लिए उसका अग्नि संयोग एवं छेदन आदि अनेक प्रयत्न की अपेक्षा होगी। दाह एवं छेदन आदि उपाधि स्वच्छता में ही हेतु है दर्पण का प्रतिबिम्बाकार परिणत में हेतु नहीं है। अतः अग्नि संयोग एवं छेदन के बिना भी प्रतिबिम्बाकार में दर्पण की परिणति होने से यह कल्पना हो सकती है। अतः प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति में कोई आपत्ति नहीं है। दर्पण के आरम्भक अवयव उद्भुत स्पर्शवान् है। दर्पण के अवयवों का त्वक् के द्वारा स्पर्श का ज्ञान होता है। अतः दर्पण की प्रतिबिम्बाकार में परिणति होने पर उद्भूत स्पर्श द्रव्य परिणामी होने पर उसका भी त्वक् से ज्ञान होने लगेगा। प्रतिबिम्ब दर्पण के उपरिभाग में रहता तब तो उसका त्वक् स्पर्श होता किन्तु वह तो दर्पण के अन्दर है, अतः उसका त्वक् से स्पर्श नहीं होता है।

कठिन द्रव्य के अन्तराल में अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। वाह्यदर्पण के अवयवों से व्यवधान होने के कारण प्रतिबिम्ब का त्वक् से स्पर्श नहीं होता है। यह मानने पर दर्पण के अवयवों से व्यवधान होने पर प्रतिबिम्ब का नेत्र से प्रत्यक्ष कैसे होगा ? स्वच्छ द्रव्य नयन का व्यवधायक नहीं होता है अतः दर्पणान्तराल में स्थित प्रतिबिम्ब की नेत्र के द्वारा उपलब्धि में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। स्वच्छ द्रव्य अपने अवयवों से अनारब्ध भिन्न पदार्थों की उपलब्धि में बाधक न होने पर भी अन्तस्थ अवयवों से आरब्ध अन्तराल दर्पण प्रदेश में होने से अन्तराल में स्थित उसके अवयव रूपादि की अनुपलब्धि होने से उसके अन्तराल पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती है। दर्पण के पृष्ठ-देश में स्थित कांच आदि से ही व्यवहित है फिर भी उसका नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं किया जाता है[1]।

यदि यह कहा जाय कि प्रतिबिम्ब द्रव्यान्तर से आरब्ध है। अतः स्वावयव आरब्ध न होने के कारण उसके चाक्षुप प्रत्यक्ष में किसी प्रकार की बाधा नहीं है। दर्पण के आरम्भक पदार्थ की वर्तमान दशा में दूसरा द्रव्य उसका आरम्भक नहीं हो सकता है। कारण, एक ही जगह एक साथ दो द्रव्यों का समवाय नहीं रह सकता है। दर्पण संयुक्त अन्य अवयवों से उसका आरम्भ है यह भी नहीं मान सकते हैं। कारण, गजवृक्षादि के प्रतिबिम्ब काल में दर्पण दुर्वह हो जायेगा। दर्पण पार्थिव है इसका परिणाम प्रतिबिम्ब को मानने पर उसमें भी गुरुत्व रहेगा। कारण, पार्थिव गुरुत्वरहित नहीं होता है। अलौकिक कारण की प्रतिबिम्ब की उत्पत्ति में कारण रूप से कल्पना करने पर कल्पना गौरव है। दूसरी बात यह है कि ग्रीवास्थ मुख से अभिन्न रूप में अथवा अत्यन्त सदृश रूप से अनुभूयमान प्रतिबिम्ब में विलक्षण कारण जन्य मानना भी उपपन्न नहीं होता है। अतः दर्पण में प्रतीयमान मुख ग्रीवास्थ ही है। मुख से अभिन्न रूप में प्रत्यभिज्ञान होने से अर्थात् उससे भेद का निरूपण न होने से भेद मानना सम्भव नहीं है।

---

१ कारुकमपेक्षं चादर्शतलजन्मेति भावः। किं च—सत्यपि बिम्बसन्निधाने दर्पण-द्रव्यं मुखाकारं कर्तुं दाहच्छेदादिबहुप्रयत्नदर्शनात्, स्पर्शगोचरत्वाभावाऽच्च। अवयवव्यवधाने चाक्षुपत्वमपि न स्यादित्यभ्युच्चयः। (वि०, पृ० ३४१)

बिम्ब और प्रतिबिम्ब की एकत्व सिद्धि में निम्नलिखित अनुमान प्रयोग भी किया जा सकता है—दर्पण में अन्यमुख नहीं है, अन्यमुख की उत्पत्ति के कारण न रहने से, जैसे खरहे के माथे में शृंग। इस प्रकार भेद का अवभासन असंभावित विषय होने से अभेद की अनुभूति होने से वस्त्वन्तर की सिद्धि नहीं होती है। परस्पर विरुद्ध अर्थ में एक का निषेध होने से एक सिद्ध होता है प्रकृत में भेद का निषेध होने से अभेद की अर्थतः सिद्धि हो जाती है।

१—(क) न दर्पणादौ मुखव्यक्त्यन्तरमस्ति, तज्जन्यकारणशून्यत्वात्, शशमस्तके विषाणवदिति। (वि०, पृ० ३४१)

(ख) तस्माद् भेदावभासस्यासंभावितविषयत्वेनाभेदस्यार्थसिद्धत्वात्।

(त० दी०, पृ० ३४१)